अष्टम अध्याय

संघवाद

नवम अध्याय

श्रेणी समाजवाद

छठी विचारधारा धार्मिक नेताओं की थी। इसके अनुसार धर्म का राज्य से उच्च स्थान है। हाब्स ने धर्म को "दीर्घकाय" के अधीन बताया।

राज्य :—हाब्स का राज्य एक निरपेक्ष संस्था है। निरपेक्षता के दो पहलू होते हैं—बाह्य तथा आन्तरिक।

बाह्य दृष्टि से निरपेक्षता का अर्थ है कि राज्य पर बाह्य नीति में किसी संस्था का प्रतिबन्ध नहीं होता है। हाब्स ने कहा था कि राज्य पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था, नैतिकता या सन्धि का बन्धन नहीं होता। उसके मतानुसार राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा प्राकृतिक स्थिति के व्यक्तियों का—असहयोगपूर्ण, स्पर्धापूर्ण तथा संघर्षपूर्ण। अतः अन्तर्राष्ट्रीय या बाह्य दृष्टि से राज्य पूर्णतया निरपेक्ष है।

आन्तरिक दृष्टि से निरपेक्षता का अर्थ है कि राज्य की सत्ता न किसी व्यक्ति, न व्यक्ति-समूह और न किसी नियम द्वारा सीमित है। जहाँ तक व्यक्तियों का सम्बन्ध है, हाब्स ने अनुबन्ध द्वारा व्यक्तियों को अधिकार-च्युत कर दिया था। उन्होंने अपने सब अधिकार राज्य को समर्पित कर दिये थे। अब राज्य में उनका कोई नैसर्गिक अधिकार न रहा। उन्हें राज्य-विरोध का अधिकार प्राप्त न था। राज्य की सत्ता व्यक्तियों या उनके अधिकारों द्वारा सीमित नहीं है।

क्या राज्य की सत्ता व्यक्ति-संघों द्वारा सीमित हो सकती है? नहीं, हाब्स का कहना था कि संघ तो प्राकृतिक मनुष्यों की अँतड़ियों में कीड़ों के समान थे। प्राकृतिक मनुष्यों का अन्त राज्योत्पत्ति से हो जाता है; और नये मनुष्यों का, जो नागरिक हैं, जन्म होता है। स्वभावतः प्राकृतिक मनुष्यों की अँतड़ियों तथा कीड़ों (संघों) का भी अन्त हो जाता है। अर्थात् राज्य में कोई भी स्वतंत्र संघ सम्भव नहीं है, संघों द्वारा सत्ता का सीमित रहना तो दूर रहा।

मध्यकालीन परम्परा के अनुकूल हाब्स के युग तक दैवी, नैसर्गिक तथा लौकिक नियमों को सर्वोपरि माना जाता था। राज्य इन नियमों के अधीन था। हाब्स ने राज्य को इन प्रतिबन्धों से मुक्त किया। इस सम्बन्ध में उसका ऐतिहासिक कथन दुहराना अनुचित न होगा। उसने कहा था कि वे नियम, जिनकी पृष्ठभूमि में राज्य की तलवार न हो, केवल शब्दमात्र हैं। अर्थात् दैवी नियम, नैसर्गिक नियम तथा लौकिक नियम का कोई अस्तित्व नहीं है, वे नियम नहीं हैं। केवल राजाज्ञा ही नियम है। हाब्स के सत्ताधिकारी राज्य पर धर्म, नैतिकता तथा

भूमिका

ो राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गई है। देश के एक विशाल ाग की वह मातृभाषा भी है। उसके साहित्य के सब अंगों को समृद्धि ; विना हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बन सकती। विशेष रूप से । विषयों के पाठ्य ग्रन्थों का निर्माण करना अत्यंत आवश्यक है। खेद है यद्यपि इस कार्य के महत्व को सभी स्वीकार करते हैं किन्तु किसी निश्चित ाना के अनुसार यह कार्य नहीं हो रहा है। इने गिने हिन्दी-प्रेमी अध्यापक ग्रथों की रचना में संलग्न हैं। यदि ऐसे सब लेखकों को राज्य तथा ाशकों की ओर से प्रोत्साहन मिले तो इस दिशा में बड़ा काम हो ता है।

डाक्टर गणेशप्रसाद की गणना ऐसे ही उत्साही लेखकों में है जो हिन्दी आश्रय लेकर अपने विषय के ग्रन्थों को रचना में लगे हैं। डाक्टर ब काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में राजनीति के अनुभवी अध्यापक हैं। त पुस्तक आपके विस्तृत अध्ययन और श्रम का फल है। इस विषय पर । हिन्दी में बहुत थोड़ा ही साहित्य प्रकाशित हुआ है। विद्यार्थियों के रिक्त राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी इस ग्रन्थ से लाभान्वित हो सकते हैं। नीतिक विचारधारा के क्रमिक विकास का इतिहास बड़ा रोचक और ज्ञाप्रद है। इस विषय पर जितना अधिक साहित्य प्रकाशित हो उतना अच्छा है। इसके अध्ययन से हमारे विचारों में स्पष्टता आवेगी और हम काल का ध्यान कर तथा मानवीय मूल्यों को स्वीकार कर यह जान ो कि हमारे देश के लिये कौन सी विचारधारा उपयुक्त होगी।

आशा है कि हिन्दी संसार इस पुस्तक का आदर करेगा।

नरेन्द्र देव

रूसो

(Jean Jacques Rousseau, 1712-78)

रूसो एक महान् दार्शनिक था। आधुनिक युग की कई प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं के स्रोत उसकी कृतियों में मिलते हैं। रूसो के विचारों का प्रभाव राजनीति-दर्शन के अतिरिक्त साहित्य, दर्शन और शिक्षा पर भी पड़ा। आधुनिक राजनीतिक दर्शन की कई प्रवृत्तियों (व्यक्तिवाद, जनवाद, आदर्शवाद और निरपेक्षतावाद) पर रूसो के विचारों की छाप है। वह फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) का एक प्रवर्त्तक तथा दार्शनिक माना जाता है।

रूसो के दर्शन पर उसकी जीवनी का प्रभाव पड़ा था। ह्यर्नशॉ (F. J. C. Hearnshaw) का कहना है कि रूसो का ऐतिहासिक विश्लेषण उसकी जीवनी की प्रगति के समान है। ह्यर्नशॉ की यह धारणा भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण हो परन्तु यह सत्य है कि उसके व्यक्तिगत अनुभव का प्रभाव उसके दर्शन, मुख्यतः मनोविज्ञान, पर पर्याप्त रूप से पड़ा था। इस दृष्टि से उसके जीवन का संक्षिप्त अध्ययन मनोरंजक ही नहीं महत्त्वपूर्ण भी है।

रूसो का जन्म जेनेवा में हुआ था। उसके जन्म के समय ही उसकी माता का देहान्त हो गया था। उसका पिता एक घड़ीसाज था। पिता ने उसे नियमित रूप से शिक्षा नहीं दी थी। थोड़े ही वर्ष बाद पिता को जेनेवा छोड़ना पड़ा। १० वर्ष की अवस्था में रूसो ने एक पादरी के यहाँ नौकरी कर ली। तीन वर्ष बाद अयोग्यता तथा बुरी आदतों के कारण उसे नौकरी से हटा दिया गया। फिर तीन वर्ष उसने एक नक़्क़ाश के यहाँ नौकरी की। इन तीन वर्षों में वह पक्का झूठा और चोर बन गया।

आवारापन के कारण उसे नक़्क़ाश की नौकरी भी छोड़नी पड़ी। अब तो वह पक्का ही आवारा बन गया। परन्तु मित्रों ने सदा ही उसकी सहायता की। एक धनाढ्य स्त्री ने उसे कई बार शरण दी। इस स्त्री के निवास-स्थान पर उसे अध्ययन का अवकाश प्राप्त हुआ। वह पेरिस में कई वर्षों तक रहा। एक बार मित्रों ने तंग आकर उसे फ्रांसीसी राजदूत के दफ्तर (वेनिस) में नौकरी दिला

आन्तरिक कार्य-विभाजन का अन्त होने से एक जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इसलिए राज्य का हस्तक्षेप तथा नियंत्रण विकार-तुल्य है।

योग्य ही जीवित रहेगा :—स्पेन्सर ने जीवशास्त्र के एक दूसरे सुप्रसिद्ध नियम की ओट में भी राज्य के समाज-सेवक कार्यों के विपक्ष में तर्क उपस्थित किया। जीवन को उन्नतिशील बनाने में वे ही व्यक्ति सफल होते हैं जो सामाजिक वातावरण के अनुकूल अपना जीवन-यापन कर सकें। वर्षा ऋतु में कई जीवों का जन्म होता है। ये बरसाती जीव वर्षा ऋतु के उपरान्त जीवित नहीं रह पाते। कारण यह है कि वे नये वातावरण के अनुकूल अपनी जीवन-व्यवस्था को परिवर्तित करने में असमर्थ होते हैं। स्पेन्सर ने इस नियम को सामाजिक जीवन पर लागू किया। गरीब वे हैं, जो जीवन को सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल संचालित करने में असफल रहते हैं। जो योग्य है वही सफल होता है। यह एक प्राकृतिक, व्यापक एवं अपरिवर्तनशील नियम है।

एक योग्य व्यक्ति वातावरण के अनुकूल अपने जीवन की व्यवस्था परिवर्तित कर सकता है। वह अनुपयुक्त वातावरण में भी सफलता प्राप्त कर सकता है। किन्तु अयोग्य इस कार्य में असफल होते हैं। वे परिस्थिति के अनुकूल अपना जीवन परिवर्तित नहीं कर सकते। वे परिस्थिति के शिकार बन जाते हैं और जीवन में असफल होते हैं। अयोग्य प्राणियों की भाँति अयोग्य व्यक्ति भी समयानुकूल जीवन-यापन करने में असफल होते हैं। अयोग्य प्राणी मृत्यु के शिकार बनते हैं, अयोग्य व्यक्ति निर्धन और बलहीन बनते हैं, और मृत्यु के शिकार भी। अतः गरीब वह है, जो जीवन के संघर्ष में पिछड़ गया है एवं जो अयोग्य है। राज्य तथा समाज को इस प्राकृतिक नियम—"जो योग्य है, जीवित रहता है"—के विपरीत कोई कार्य नहीं करना चाहिये। एक गन्दी बस्ती के वासियों को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये। जो योग्य व्यक्ति होंगे वे अवश्य ही उस अस्वस्थ्य वातावरण में जीवित रह सकेंगे। जो अयोग्य होंगे वे बीमार होकर मर जायेंगे। राज्य इस व्यापक तथा अपरिवर्तनशील नियम के विपरीत कोई समाज-सेवक कार्य (सफाई, ..., जल आदि का प्रबन्ध) नहीं अपनाना चाहिये। तभी समाज योग्य पुरुषों का ... होगा, अयोग्य स्वतः निरन्तर तथा व्यापक संघर्ष की स्वतंत्र गति से लुप्त हो ...। योग्य व्यक्तियों के समाज का अर्थ है प्रगतिशील समाज। अतः "यद्भाव्यम्" के फलस्वरूप एक योग्य और प्रगतिशील समाज सम्भव होगा।

राज्य के कार्य :—इस प्रकार जीवशास्त्र के आधार पर स्पेन्सर ने व्यक्ति...

प्रथम अध्याय

अनुबन्धवाद

(CONTRACTUALISM)

नुबन्धवाद आधुनिक युग का सर्वप्रथम राजनीतिक सिद्धान्त है। राज्यशास्त्र में नुबन्धवाद का अर्थ है, राज्य का जन्म अनुबन्ध द्वारा हुआ है। साधारणतः इस सिद्धान्त को माजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त (The Social Contract Theory) कहते हैं। प्राचीन र्म-ग्रन्थों की कहानियों से विदित है कि उस समय भी राज्य एक अनुबन्धीय संस्था माना ता था। महाभारत में भीष्म पितामह के आदेश एवं बौद्ध ग्रन्थों की कथायें इसके क्षी हैं। अफलातून (Plato ४२७—३४७ ई० पू०) के युग में ग्रीस में भी अनुबन्ध का द्धान्त प्रचलित था। मध्यकालीन यूरोप का समाज अनुबन्धीय था। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक अनुबन्धवाद का प्रादुर्भाव १७वीं सदी में हुआ।

मध्यकालीन यूरोप सामन्तशाही था। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध बन्धवादी थे। सामन्तों और गरीब किसानों का सम्बन्ध, सामन्तों और राजा का बन्ध, सामन्तों का पारस्परिक सम्बन्ध, तथा राजाओं और सम्राट का सम्बन्ध न्धों पर आश्रित थे। राज्याभिषेक सम्बन्धी शपथ अनुबन्धीय थे। राजा अपने तों तथा प्रजा के सम्मुख सच्चरित्रता तथा न्यायपरायणता की प्रतिज्ञा करता था। रम्परा अभी तक चली आ रही है।

वीं सदी में एक्वानस (St. Thomas Aquinas १२२६—७४) ने कहा था कि जन्म, अधिकार और संचालन अनुबन्धों पर आश्रित है। प्रथम अनुबन्ध ने राजसत्ता या राज्य की स्थापना की। द्वितीय अनुबन्ध द्वारा जनता ने राज्य का

कुटुम्ब और समाज से ऊँची संस्था है।

राज्य मानव प्रगति की चरम सीमा है। इसलिए वह "विश्वात्मा" या ईश्वर के प्रतिविम्ब तुल्य है। हीगेल की यह धारणा धार्मिक विश्लेषण के अनुकूल है। ईसा, राम, कृष्ण, बुद्ध, आदि को अवतार इसलिए माना जाता है कि वे मर्यादा पुरुषोत्तम थे। हीगेल के अनुसार सामाजिक प्रगति में राज्य का भी वही स्थान है। आध्यात्म-शास्त्र के अनुसार इन अवतारों के उपदेशानुसार जीवन-यापन से मोक्ष प्राप्ति होती है। हीगेलवादी समाजशास्त्र के अनुसार राज्य की आज्ञा-पालन से व्यक्ति को स्वतंत्रता एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है क्योंकि राज्य "विश्वात्मा" (ईश्वर) का प्रतिविम्ब है। यही मानव जीवन का साध्य है।

हीगेल ने राज्य के स्वरूप का भी चित्रण द्वन्द्ववादी क्रिया द्वारा किया। अति प्राचीन काल में स्वेच्छाचारी राज्य था; यह 'वाद' था। इसके विपरीत जनतंत्र का जन्म हुआ; यह 'प्रतिवाद' था। इन दोनों के संघर्ष के फलस्वरूप एक संवैधानिक राजतंत्र का जन्म (संवाद) हुआ। यही सर्वोच्चतंत्र है। इसमें उक्त 'वाद' और 'प्रतिवाद' की अच्छाइयों का समावेश है। हीगेल के मतानुसार तत्कालीन जर्मन शासन ऐसा संवैधानिक राजतंत्र था।

सारांश में हीगेल का तर्क इस प्रकार का है। "विश्वात्मा" विश्व का संचालन करती है। उसके अनुसार जीवन-यापन ही आदर्श व्यक्ति का साध्य है। राज्य इस "विश्वात्मा" का प्रतिविम्ब है। इसलिए राज्यभक्ति ही आदर्श नागरिक का साध्य है। जर्मनी का संवैधानिक राजतंत्र सर्वोच्च व्यवस्था है। इसलिए आदर्श नागरिक के जीवन का ध्येय जर्मन राज्य की आज्ञा पालन करना है।

इस प्रकार हीगेल ने पुराने "दैवांश सिद्धान्त" को पुनर्जन्म दिया। १६वीं सदी के पूर्व इस सिद्धान्त का बोलबाला था। राज्य को दैवी संस्था बताया जाता था। राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि और जनसाधारण को राज्य एवं राजा का दास माना जाता था। १७वीं और १८वीं सदियों में जनवादी तथा अनुबन्धवादी विचारधारा ने इस सिद्धान्त का खंडन किया। चार्ल्स प्रथम की फाँसी (१६४९) के पश्चात् कोई भी दार्शनिक "दैवांश सिद्धान्त" का पूर्णतः अनुगामी न हुआ और न कोई भी व्यक्ति इस सिद्धान्त का प्रचारक ही हुआ। जनवादी जागर्ति के फलस्वरूप १९वीं सदी में कोई भी अधिनायकवादी यह आशा नहीं कर सकता था कि दैवांश सिद्धान्त के आधार पर जनता को राज्य का दास बनाया जा सके। हीगेल ने अपने उच्चकोटि के तर्क द्वारा परोक्ष रूप से राज्य को दैवी संस्था बनाया।

वैधानिक रूप निर्धारित किया। तीसरे अनुबन्ध से राजा की सत्ता को जन-इच्छा पर आश्रित किया गया। यदि राजा इन अनुबन्धों का उल्लंघन करे तो जनता उसे गद्दी से हटा कर दूसरा राजा नियुक्त कर सकती है। राज्य का सर्वप्रमुख कार्य सुव्यवस्था की स्थापना है। समाज सर्वोपरि है, शासन परिवर्तनीय। यह विचारधारा मध्यकालीन युग में प्रचलित थी।

१६वीं सदी तक मानव जीवन में धर्म की प्रधानता थी। फलतः राज्यशास्त्र धर्म-मिश्रित था। दैवांश सिद्धान्त (The Divine Origin Theory) प्रचलित था। सभी का विश्वास था कि राज्य का जन्म ईश्वर द्वारा हुआ है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। जो दार्शनिक राज्योत्पत्ति का श्रेय अनुबन्ध को देते थे वे भी इस कार्य में ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रमुख स्थान स्वीकार करते थे।

१६वीं सदी में धार्मिक सुधार (The Reformation) हुआ। यूरोप में दो धार्मिक सम्प्रदाय बने—परम्परागत रोमन कैथोलिक (Roman Catholic) और नया प्रोटेस्टैन्ट (Protestant)। प्रोटेस्टैन्ट सम्प्रदाय में कई उपसम्प्रदाय बने (ह्यूगेनोज़—Huguenots, प्रेसबिटेरियन—Presbyterian, प्यूरिटन—Puritan आदि)। फ्रांस में करीब ३६ वर्षों तक (१५६२—६८) नौ धार्मिक गृह-युद्ध हुए। एक पक्ष था रोमन कैथोलिक राजा, पादरियों और सामन्तों का। दूसरा पक्ष था ह्यूगेनोज़, व्यापारियों और कुछ सामन्तों का। प्रथम पक्ष के अनुयायी दैवांश सिद्धान्त की ओट में कर्तव्यपरायणता पर जोर देते थे। क्योंकि राज्य दैवी संस्था है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, इसलिये नागरिकों का कर्तव्य राजभक्ति है। द्वितीय पक्ष ने राज्योत्पत्ति का श्रेय अनुबन्ध को दिया। कहा गया कि अनुबन्ध द्वारा राजा को आदेश दिया गया है कि वह धर्म-रक्षा और सुव्यवस्था करे। राजा की सत्ता-निरपेक्ष नहीं है वरन् अनुबन्धों के पालन पर आश्रित है। ऐसी विचारधारा से प्रोत्साहित होकर ह्यूगेनोज़ ने जम कर केन्द्रीय सरकार का मुकाबला किया। उन्होंने कहा कि फ्रांस के नरेशों ने अनुबन्धों का उल्लंघन किया है। इन नरेशों ने सच्चे धर्म, काल्विनवाद (Calvinism) जिसके ह्यूगेनोज़ समर्थक थे, की स्थापना नहीं की। ह्यूगेनोज़ के मतानुसार फ्रांस के नरेशों ने उस आश्वासन का उल्लंघन किया जो उन्होंने ईश्वर के सम्मुख जनता को दिया था। इसलिये जनता का राज्य-विरोध न्यायसंगत है।

ह्यूगेनोज़ का दर्शन उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक (Vindiciae Contra Tyrannos) में मिलता है। कई वर्षों तक उनकी विचारधारा और यह पुस्तक निरपेक्षता-

और अधिकार सामाजिक हित पर आश्रित हैं।

(३) इसलिए समाज और राज्य को मनुष्य की नैतिक और भौतिक वृद्धि सहायक होना चाहिये। यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज और राज्य आर्थि एवं सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करे। सरकार का कर्तव्य है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे जिसमें नैतिकता सम्भव हो। कान्ट की भाँति ग्रीन भी राज्य के नियमों को "रुकावटों की रुकावट" मानता था। अर्थात् राज्य-नियम का ध्येय है कि वह नैतिक जीवन की रुकावटों को रोके (to hinder hindrances to good life)। यह भी ग्रीन का एक ऐतिहासिक कथन है। केवल ऐसी परिस्थिति में ही सच्ची स्वतंत्रता (स्वतंत्र नैतिक इच्छा) सम्भव हो सकती है। अज्ञानता तथा दरिद्रता की स्थिति में स्वतंत्रता सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सके। गन्दे मकान में रहनेवाला श्रमिक कैसे ऐसी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है?

इसी दृष्टिकोण से ग्रीन ने कहा कि राज्य प्रत्यक्ष तो नहीं, परन्तु परोक्षरूप से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसके द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं नैतिकता की वृद्धि हो सके। राज्य को उन प्रतिरोधक तत्त्वों को दूर करना चाहिये जो व्यक्ति की स्वतंत्रता और नैतिक वृद्धि में बाधक हों। अनिवार्य शिक्षा और मद्य-विक्रय-निषेध ग्रीन के अनुसार व्यक्तित्व की वृद्धि के लिए अत्यावश्यक हैं। क्योंकि अज्ञानता और नशे की परिस्थिति में व्यक्ति की स्वतंत्रता सम्भव नहीं हो सकती। इसलिए राज्य को अनिवार्य शिक्षा और मद्य-विक्रय-निषेधक प्रणाली की स्थापना करनी चाहिये। ग्रीन मद्यपान का इतना प्रबल विरोधी था कि उसने एक काफी-गृह (coffee-house) खोला, जिसके द्वारा नागरिक शराब गृहों की अपेक्षा काफी गृहों में अपना समय व्यतीत कर सकें। ग्रीन के मतानुसार एक मद्यप स्वतंत्र नहीं है, प्रत्युत परतंत्र है। क्योंकि उसका विवेक तो मद्य के प्रभाव से निष्क्रिय-सा हो जाता है, और वह अपने विवेक का समुचित प्रयोग नहीं कर सकता।

ग्रीन के अनुसार राज्य का कर्त्तव्य है कि नागरिकों को स्वच्छ तथा स्वास्थ्यवर्द्धक गृहों के निर्माण के लिये बाध्य किया जाये। तभी स्वतंत्रता की वृद्धि हो सकती है। व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों के विपरीत वह राज्य द्वारा आर्थिक और सामाजिक जीवन संचालन के पक्ष में था। इन अर्थशास्त्रियों का विरोध करते हुए ग्रीन ने कहा कि राज्य का कर्त्तव्य है कि श्रमिकों की दयनीय दशा में पर्याप्त सुधार करे। वह स्वतंत्र अनुबन्ध का भी विरोधी था। ऐसे अनुबन्ध से गरीब श्रमिकों को हानि पहुँचती है क्योंकि पूँजीपति

विरोधी दलों के लिये आदर्श तुल्य रही। १७वीं सदी में ब्रिटेन में गृह-युद्ध (१६४२—४६) हुआ। इसमें दो पक्ष थे—निरपेक्ष राजतंत्रीय और संसदवादी। निरपेक्ष राजतंत्र के समर्थक राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। इस मत का सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्रथम स्टुअर्ट नरेश जेम्स प्रथम (James I १६०३—२४) था। उसका और उसके पुत्र चार्ल्स प्रथम (Charles I १६२४ - ४६) का कहना था कि दैवी प्रतिनिधि के नाते राजा का प्रजा की जान और माल पर पूर्ण अधिकार है। संसदवादी पक्ष में व्यापारियों और मध्यम वर्ग का बहुमत था। इस पक्ष के मतानुसार राजा की सत्ता सीमित है। राजा लौकिक नियमों तथा संसदीय मत का उल्लंघन नहीं कर सकता। जनता की परोक्ष या प्रत्यक्ष अनुमति विना राजा व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कर नहीं लगा सकता। संसदीय नेताओं के विचार की पृष्ठभूमि में ह्यूगेनोज़ का अनुबन्धवाद था। उन्होंने ह्यूगेनोज़ के विचारों को संशोधित रूप में स्वीकार किया। परन्तु इन नेताओं ने किसी विशेष दर्शन का निर्माण नहीं किया।

ह्यूगेनोज़ ने अनुबन्ध को धर्म से स्वतंत्र नहीं माना था। हाब्स (Thomas Hobbes १५८८—१६७९) ही सर्वप्रथम वेत्ता था जिसने अनुबन्धवाद को धर्म से मुक्त कर पूर्णतया राज्यशास्त्रीय रूप दिया। हाब्स के पश्चात् करीब सौ वर्ष तक यह सिद्धान्त प्रचलित रहा। इस सिद्धान्त का दूसरा विख्यात दार्शनिक लॉक (John Locke १६३२—१७०४) और तीसरा रूसो (Jean Jacques Rousseau १७१२—७८) था। इन तीनों दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का प्रयोग अपने भिन्न-भिन्न राजनीतिक दृष्टिकोणों की पुष्टि के लिये किया। इसके द्वारा हाब्स ने निरपेक्ष राजतंत्र, लॉक ने सीमित राजतंत्र, और रूसो ने प्रत्यक्ष जनवाद को न्यायसंगत बताया। प्राकृतिक स्थिति, अनुबन्ध और राज्य का कृत्रिम रूप—इन तीन विषयों में तीनों दार्शनिकों की विचार-समता थी।

इस सम्बन्ध में हिन्दू राजनीतिशास्त्र के विषय का संक्षिप्त परिचय असंगत न होगा। स्वर्गीय जायसवाल और अन्य लेखकों का मत है कि प्राचीन भारतवर्ष में राज्य को अनुबन्धीय संस्था माना जाता था। महाभारत तथा बौद्ध साहित्य की कथाओं और राज्याभिषेक-शपथ के उद्धरण दिये जाते हैं। जहां तक कहानियों का सम्बन्ध है उनकी तुलना ह्यूगेनोज़ के विचारों से की जा सकती है। ऐसी कहानियां बाइबिल (the Bible) जैसी धार्मिक पुस्तकों में भी मिलती हैं। राज्याभिषेक-शपथ की प्रथा प्रायः सभी देशों में अति प्राचीन काल से चली आती है। हिन्दू अनुबन्धवाद धर्म से स्वतंत्र नहीं था। उसकी तुलना हाब्स, लॉक और रूसो के दर्शन से नहीं की जा सकती।

है। उत्पादन बढ़ाता है पर मनुष्यों की आय नहीं बढ़ती, अर्थात बाजार मन्दा रहता है। अधिक उत्पादन का संकट हर दस वर्ष बाद आता है। इसे दूर करने के लिए पहले औपनिवेशिक युद्ध होते हैं और फिर महायुद्ध।

महाजनी पूँजीवाद :—लेनिन ने मार्क्सवाद का स्पष्टीकरण करते हुए पूँजीवाद की ऐतिहासिक व्याख्या की। उसने बताया कि पूँजीवाद के विकास के तीन स्तर हैं— (१) व्यापारिक पूँजीवाद, (२) व्यावसायिक पूँजीवाद, (३) महाजनी पूँजीवाद। आधुनिक युग महाजनी पूँजीवादी युग है। इस युग में यूरोप के पूँजीपति पिछड़े हुए देशों में पूँजी लगाते हैं और उस पूँजी के सूद द्वारा धन एकत्र करते हैं। पूँजी का अर्थ केवल धन ही नहीं है वरन् बड़े-बड़े कारखाने भी। इन कारखानों का संचालन औपनिवेशिक देशों के पूँजीपतियों द्वारा होता है, किन्तु कारखानों के मूल्य का सूद साम्राज्यवादी पूँजीपति को मिलता है। ये पूँजीपति कोई भी समाज-सेवा या सामाजिक लाभ का काम नहीं करते। वे परोपजीवी हैं। यह साम्राज्यवादी युग है। लेनिन ने कहा है, साम्राज्यवादी युग ही समाजवादी क्रान्ति का आरम्भ-काल है। साम्राज्यवादी स्तर पूँजीवाद की मरणासन्न स्थिति है। क्योंकि महाजनी या साम्राज्यवादी युग में पूँजीवाद के आन्तरिक विरोध चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं। समाजवादी या सर्वहारा क्रान्ति ही इन विरोधों का अन्त कर सकती है। महाजनी पूँजीवाद में तीन आन्तरिक विरोध हैं।

पहला विरोध पूँजी और श्रम के बीच है। आज उद्योग-प्रधान देशों में पूँजीवादियों के ट्रस्टों और सिंडिकेटों, बंकों और बंकशाहों का देश की पूँजी और व्यवसायों पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया है। यह साम्राज्यवाद का प्रथम लक्षण है। ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों का वैधानिक संघर्ष अपर्याप्त है। इजारेदार और बंकशाह वैधानिक संघर्ष से बाध्य होकर श्रमिकों की दशा नहीं सुधारेंगे। (वैधानिक संघर्ष के रूप हैं—मजदूर सभाएँ, सहयोग-समितियाँ, संसदीय निर्वाचन और संसदीय दलों का आन्दोलन।) मजदूरों को क्रान्ति-मार्ग अपनाना ही होगा। क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का अन्त करने से ही श्रमिकों की दशा सुधर सकती है। अतः साम्राज्यवादी पूँजीवाद मजदूर वर्ग को क्रान्ति करने के लिए बाध्य करता है।

दूसरा विरोध है, बंकशाहों के विभिन्न गुटों तथा साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच। यह विरोध विभिन्न देशों में पूँजीवाद के असमान विकास के कारण उत्पन्न होता है। यूरोप में सर्वप्रथम इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति हुई। फ्रांस ने भी औद्योगिक क्षेत्र में इंगलैंड का अनुसरण किया। १९वीं सदी में इन्हें कच्चे माल के स्रोत एवं तैयार माल के

थामस हाब्स

(Thomas Hobbes, 1588—1679)

हाब्स का जन्म ५ अप्रैल १५८८ में ब्रिटेन के दक्षिण तट पर स्थित मेलमेसवरी नगर में हुआ था। प्राकृतिक अवधि के पूर्व ही उसकी माता ने भयभीत होकर उसे जन्म दिया था। उसके भय का कारण ऐतिहासिक आर्मेडा का मेलमेसवरी में लग कर इंगलैंड पर आक्रमण करने की अफवाह थी। इसलिये हाब्स ने अपने जीवन में बड़ी रोचक युक्ति लिखी कि वह और भय जुड़वाँ पैदा हुए हैं। हाब्स के जीवन की कुछ अन्य घटनायें भी बताती हैं कि वह भय से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। कहा जाता है कि जब इंगलैंड में सन् १६४० की दीर्घ संसद (Long Parliament) की बैठक हुई तो भयभीत होकर ब्रिटेन से भागने वालों में वह सर्वप्रथम व्यक्ति था। १६६६ में लन्दन के ऐतिहासिक अग्निकांड और प्लेग के बाद हाब्स ने भयभीत होकर चर्च जाना आरम्भ कर दिया था। उसके राजनीतिक दर्शन का भी मूलतत्त्व यही है कि मनुष्यों ने भयभीत होकर राज्य की स्थापना की। बार्कर (E. Barker) का मत उक्त धारणा के विपरीत है। उसका कहना है कि हाब्स अपनी ही तरह सोचता और जीवन व्यतीत करता था। अर्थात् वह स्वतंत्र मनोवृत्ति का मनुष्य था।

शिक्षा ग्रहण करने के बाद हाब्स ने एक अमीर घराने में अध्यापन का काम प्रारंभ किया। उसने कई वर्षों तक यूरोप में भ्रमण किया। भ्रमण काल में वह फ्रांस में इंगलैंड के भावी सम्राट चार्ल्स द्वितीय (Charles II) का शिक्षक रहा। वह डेकार्ट (Decartes), गैलीलियो (Galileo) और हर्वे (Harvey) आदि दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आया। उसने तत्कालीन वैज्ञानिक आविष्कारों को समाजशास्त्र पर लागू किया। वह स्वयं भी जीवन भर गणित और दर्शन का विद्यार्थी रहा।

हाब्स ने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें से राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी तीन मुख्य हैं—The Elements of Law, १६४०—De Cive, १६४२—Leviathan, १६५१। इनमें सब से अधिक महत्वपूर्ण लेवियाथन है। इस पुस्तक में उसका राजनीतिक दर्शन मिलता है।

समस्या :—हाब्स ब्रिटेन के गृह-युद्ध काल (१६४२—४६) का दार्शनिक था। स्वभावतः गृह-युद्ध काल में राज्य, नियम, राजसत्ता और नागरिकता सम्बन्धी भिन्न-

संस्था है।

(२) यह एक जनतंत्रीय संस्था है। सभी देश ब्रिटिश संसदीय जनवाद के अनुवर्तक हैं। इससे उत्तम संघ मानव इतिहास में कोई नहीं हुआ है।

(३) स्वतंत्रता के कुछ सिद्धान्तों का प्रयोग भी इस संघ के अंगों में किया गया है, भले ही वह प्रयोग अपूर्ण क्यों न हो। साधारणतः भाषण और धर्म की स्वतंत्रता राष्ट्र-मंडल के सभी देशों में है।

(४) इस राष्ट्रमंडल में नियम-प्रधान-शासन (Rule of Law) की प्रतिष्ठा है, कोई भी मनुष्य अकारण बन्दी नहीं बनाया जा सकता। प्रत्येक बन्दी को शीघ्रातिशीघ्र उसके अपराध की सूचना दी जाती है।

(५) राष्ट्रमंडल के नियम परिवर्तनशील हैं; इस कारण जनता को अत्याचारों से बचने का अवसर प्राप्त है।

(६) इस राष्ट्रमंडल में रक्षा का संयुक्त उत्तरदायित्व है।

समष्टिवादी ऐसे राष्ट्रमंडल को एक सुदृढ़ और सर्वांगपूर्ण राशि मानते हैं। वह केन्द्रीकरण के साथ-साथ विकेन्द्रीकरण का भी प्रतीक है। इस सजीव और जागरित संस्था में सर्वदा परिवर्तन होते आये हैं। ये परिवर्तन जनता को प्रजातंत्र की ओर ले जाते हैं। राष्ट्रमंडल का कोई भी अंग उससे पृथक हो सकता है।

समष्टिवादी दर्शन मध्यममार्गीय दर्शन कहा जा सकता है। वह साम्राज्यवाद का विरोधी है और साथ ही पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य का भी। वह समाज और अर्थ पर पूँजीपतियों का एकाधिकार नहीं चाहता और साथ ही साथ श्रमिकों का एकाधिकार भी नहीं। वह व्यक्तिवाद का विरोधी है और साथ ही अधिनायकवाद का भी। वह रूढ़िवादी परम्परा का विरोधी है और साथ ही साथ एक पूर्ण नवीन समाज का भी। इस दर्शन का ध्येय स्वतंत्रता और सुव्यवस्था का समन्वय है। डार्विन का कहना था कि हम अपनी योजनाओं तथा दर्शन द्वारा पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों संसार की अच्छाइयों का मिश्रण करना चाहते हैं, अर्थात् समष्टिवादी एक ओर पूँजीवादी प्रजातंत्र की वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रेमी हैं और दूसरी ओर साम्यवादी अर्थ-योजना के अनुयायी।

आधुनिक योजनायें:—फेबियनवाद की परम्परानुसार आधुनिक समष्टिवादी भी राज्य के ढाँचे को अधिक जनवादी बनाना चाहते हैं। प्रायः सभी देशों के समाजवादी या समष्टिवादी दल प्राचीन परम्परा की अच्छी विशेषताओं को सुरक्षित रखना चाहते हैं। वे संसदीय जनतंत्र को अधिक जनतंत्रीय बनाने का आन्दोलन करते

भिन्न विचारधारायें प्रचलित थीं। इनमें राजसत्ता का प्रश्न सर्वप्रमुख था। राजसत्ता सम्बन्धी छः मत थे।

१. स्टुअर्ट राजा अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। जेम्स प्रथम (James I) का दैवी अधिकार का सिद्धान्त इतिहास और राजनीतिशास्त्र में सुप्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, नागरिकों के प्रति नहीं। यह विचार राजा को निरपेक्ष सत्ताधारी बनाता है।

२. संसद के नेताओं का कहना था कि राजसत्ता राजा और संसद में निहित है। राजा के कार्य संसद की अनुमति के अनुसार होने चाहिये। राजा की सत्ता सीमित है।

३. दार्शनिकों के अनुसार नैसर्गिक नियम सर्वोपरि हैं। कोई भी संस्था उनका उल्लंघन नहीं कर सकती।

४. मीमांसकों के मतानुसार लौकिक नियम (Common Law) सर्वश्रेष्ठ थे। इनका उल्लंघन न तो राजा कर सकता है और न संसद ही।

५. जनतंत्रवादियों का कहना था कि आज्ञा-पालन अनुबन्ध के पालन पर आश्रित है। राज्य का जन्म अनुबन्ध द्वारा हुआ है। यदि राजा अनुबन्ध का उल्लंघन करे तो नागरिक राज्य का विरोध कर सकते हैं।

६. कैथोलिकों और काल्विनिस्टों के अनुसार धर्म सर्वश्रेष्ठ है, राज्य उसके अधीन।

उक्त मतभेद (मुख्यतः प्रथम और द्वितीय) गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि में थे। हाब्स ने अपने काल के सर्वश्रेष्ठ प्रश्न—राजसत्ता कहाँ निहित है—का उत्तर देने का प्रयास किया। हाब्स का दार्शनिक ध्येय था सुव्यवस्था की अनिवार्यता; चाहे वह सुव्यवस्था एक नरेश द्वारा स्थापित हो या क्रामवेल (Oliver Cromwell १५९९ – १६५८) जैसे शासक द्वारा। वह अपने पाठकों को यह चेतावनी देना चाहता था कि सुव्यवस्था या राज्य मानव जीवन के लिये आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है। इस सम्बन्ध में उसने सर्वप्रथम यह खोज की थी कि आखिर व्यक्तियों ने राज्य की स्थापना क्यों की?

प्राकृतिक स्थिति :—अनुबन्धवाद के अनुसार मानव इतिहास दो भागों में विभक्त है—राज्य से पूर्व की स्थिति और राज्य। राज्य के पूर्व की स्थिति को प्राकृतिक स्थिति (The State of Nature) कहते हैं। हाब्स ने भी इस विभाजन को अपनाया। प्राकृतिक स्थिति के चित्रण के हेतु उसने मनुष्य का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया। उसने उस मानव-प्रवृत्ति की खोज की जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों ने प्राकृतिक स्थिति को त्याग कर राज्य स्थापित किया।

द्वादश अध्याय

फासीवाद

(FASCISM)

यह अधिनायकवादी निरपेक्षतावादी या सर्वाधिकारवादी दर्शन है। इसके अनुसार राज्य साध्य, तथा व्यक्ति साधन है। परन्तु सभी अधिनायकवादी, निरपेक्षतावादी या सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं को फासीवादी नहीं कहा जा सकता। नादिरशाह की नादिरशाही, नैपोलियन का अधिनायकवाद या ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निरंकुशता फासीवादी नहीं थीं।

यह दर्शन बीसवीं सदी की देन है। इसका प्रादुर्भाव कुछ विशेष परिस्थितियों में हुआ था। यह सत्य है कि इस दर्शन की विशेषताओं के स्रोत पूर्ववर्ती वेत्ताओं की विचारधाराओं में मिलते हैं। यह भी सत्य है कि फासीवादियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहास से दमन नीति का पाठ पढ़ा था। परन्तु प्रथम महायुद्ध (१९१४—१९१८) के पश्चात् ही इस दर्शन का जन्म हुआ।

अक्टूबर १९२२ में मुसोलिनी (Benito Mussolini १८८३—१९४३) ने इटली में, जनवरी १९३३ में हिटलर (Adolf Hitler १८८९—१९४५) ने जर्मनी में, और १९३९ में गृहयुद्ध में सफलता प्राप्त कर फ्रैंको (General Franco) ने स्पेन में फासीवादी व्यवस्था कायम की। इस दर्शन के जन्मदाता मुसोलिनी ने १९२५ में घोषित किया था कि फासीवाद कोई निर्यात की वस्तु नहीं है। परन्तु परोक्ष रूप से वह स्वयम् अन्य देशों (मुख्यतः आस्ट्रिया) की प्रतिक्रियावादी संस्थाओं को प्रोत्साहन देता रहा। हिटलरशाही की स्थापना के पश्चात् फासीवादी विचारधारा का यूरोप के देशों में खुल्लम-खुल्ला प्रचार

प्राकृतिक स्थिति के चित्रण में उसने तत्कालीन भौतिक शास्त्र की प्रणाली का प्रयोग किया। इस प्रणाली को दि रिज़ल्यूटिव-कम्पोज़िटिव मेथड (The Resolutive-Compositive Method) कहते हैं। जब इंजिन खराब हो जाता है तो मिस्त्री उसके कल पुर्जों को पृथक करता है। इस क्रम द्वारा उसे इंजिन की खराबी ज्ञात होती है। खराबी को दूर कर वह फिर उन पुर्जों को जोड़ता है और इंजिन को गति-योग्य बनाता है। हाब्स ने प्राकृतिक स्थिति का अनुमान किया। उसने उस त्रुटि की खोज की जिसके फलस्वरुप वह स्थिति स्थायी न रह सकी। अर्थात् व्यक्तियों में कौन-सी ऐसी त्रुटि थी जिसने उन्हें राज्यविहीन स्थिति को त्यागने के लिये बाध्य किया।

इस त्रुटि का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हाब्स ने साधारण व्यक्ति का विश्लेषण किया। उसने देखा कि सभ्य समाज में जब एक मनुष्य यात्रा करता है तो अस्त्र-शस्त्रों और साथियों द्वारा स्वयं को सुरक्षित रखता है। जब एक व्यक्ति घर में सोता है तो दरवाजे बन्द कर लेता है। जब वह स्वयं घर में रहता है तब भी सन्दूक में ताला लगाता है। यह दशा तो तब है जब व्यक्ति जानता है कि समाज और राज्य के नियम तथा कर्मचारी उसके रक्षक हैं, तो समाज और राज्य की अनुपस्थिति में मनुष्य कैसे रहे होंगे? हाब्स ने सभ्य समाज के मनुष्यों की त्रुटियों को प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों पर लागू किया। इस चित्रण को तर्क-संगत बताने के लिये उसने अपने पाठकों से कुछ सीधे प्रश्न पूछे। एक नागरिक की अपने साथियों के प्रति क्या भावना है जब मकान में रहते हुए भी वह सन्दूक में ताला बन्द करता है? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि जब सभ्य मनुष्यों की एक दूसरे के प्रति ऐसी बुरी भावना है तब प्राकृतिक स्थिति में तो ऐसी दुर्भावना और भी प्रबल रही होगी।

हाब्स एक मनोवैज्ञानिक भी था। उसके अनुसार मनुष्य स्वार्थी है। प्रकृति से ही मनुष्य की आत्मा को सहयोगी होकर रहने में दुख होता है, सुख नहीं। मनुष्य तब तक सहयोगी होकर नहीं रहते जब तक एक सत्ताधारी अपनी शक्ति द्वारा उन्हें ऐसा रहने के लिये बाध्य नहीं करता। फलतः प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य अलग-अलग रहते थे। क्योंकि तब न कोई सुव्यवस्था थी और न कोई सत्ताधारी ही।

परन्तु ऐसे सहयोग-रहित व्यक्ति कैसे थे? हाब्स ने कहा कि प्रकृति से ही सब मनुष्य समान थे। शरीर एवं मस्तिष्क की शक्ति का योग बताता है कि सभी मनुष्य बराबर थे। यदि 'क' शारीरिक दृष्टि से 'ख' से कमजोर था तो 'क' अपनी शारीरिक कमजोरी को मस्तिष्क की शक्ति से पूरा करता था। चतुर षड्यंत्र द्वारा

कही। वे अब श्रमिक आन्दोलन को, जो काफी जागरूक तथा सुसंगठित था, अपने नैराश्य का कारण समझने लगे। वे हिटलर के अनुयायी बने और सदा श्रमिक बैठकों तथा प्रदर्शनियों को बाहुबल द्वारा भंग करने में तत्पर हुए।

निम्न मध्यम वर्ग का दृष्टिकोण :—हिटलर के आन्दोलन को निम्न मध्यम वर्ग से पर्याप्त सहायता मिली। वह स्वयं जन्म से ही इस वर्ग का सदस्य था। आधुनिक समाज में इस वर्ग के साधारण सदस्य की मनोवृत्ति कुछ ऐसी होती है। वह अमीर होना चाहता है। उसका आदर्श व्यक्ति वह है जो निजी परिश्रम द्वारा जीवन में सफल हो। उसके जीवन का लक्ष्य अपने से उच्च वर्ग की सदस्यता की प्राप्ति है। यदि वह स्वयं सफल नहीं हो पाता तो आशा करता है कि कदाचित् उसका पुत्र जीवन में सफल हो और धनी व्यक्ति बने। अतः वर्गीय समाज में वह सदा उच्च वर्ग की ओर देखता रहता है।

आधुनिक समाज में वह सभी ओर से दबाया जाता है। उच्च वर्ग उसका शोषण करता रहता है। यदि वह एक साधारण लेखक है तो उसका शोषण प्रकाशकों द्वारा ; यदि वह किसी कार्यालय का कर्मचारी है तो उसका शोषण पदाधिकारियों द्वारा होता है। वह अनुभव करता है कि दिन और रात वह निरन्तर कार्य करता रहता है और भौतिक लाभ अन्य व्यक्तियों का होता है। वह निराश हो जाता है और कभी-कभी स्वतंत्र होने की चेष्टा भी करता है। अमेरिका ऐसे देशों में लेखक गण कभी-कभी गांवों में जाकर स्वतंत्र समितियों का संगठन करते हैं। वे इनको (स्वतंत्र समितियों को) सामाजिक तथा कौटुम्बिक परतंत्रता से मुक्त होने में सहायक समझते थे।

एक निम्न मध्यम वर्गीय सदस्य सदा श्रमिकों तथा अन्य निम्न वर्गीय सदस्यों को अपने आधीन रखना चाहता है। अपने से निम्न श्रेणी की परतंत्रता में उसे आत्मसन्तुष्टि होती है। समाज में उसका शोषण होता है और उसका दमन किया जाता है। इसलिए वह भी अपने से नीचे की श्रेणी का शोषण करना तथा उसे अपने आधीन रखना चाहता है। श्रमिकों की यह घोषणा कि वे भावी समाज के निर्माता होंगे, उसे विष-तुल्य लगती है। वह न तो इस स्थिति को चाहता है और न सोच ही सकता है कि कभी श्रमिक शासक हो सकेंगे। वह श्रमिक आन्दोलन तथा उसके ध्येयों का हार्दिक विरोध करता है।

या अन्य व्यक्तियों से मिलकर वह 'ख' का मुकाबला कर सकता था। अतः प्राकृतिक स्थिति के व्यक्तियों में समानता थी।

ऐसे समाज में मनुष्यों के जीवन का लक्ष्य क्या था? हाब्स के मतानुसार यह लक्ष्य था स्वार्थ-पूर्ति। स्वार्थ-पूर्ति के लिये मनुष्य शारीरिक और बौद्धिक शक्ति का प्रयोग करता था। समाज के व्यक्ति निजी स्वार्थ-पूर्ति सहयोग से भी कर सकते हैं। किन्तु प्राकृतिक मनुष्य के जीवन में सहयोग का कोई स्थान न था। अतः वह मनुष्य स्पर्धा द्वारा ही निजी स्वार्थ-पूर्ति करता था। स्पर्धा का अर्थ है संघर्ष तथा अन्य व्यक्तियों पर अपना आधिपत्य स्थापित करना। आधिपत्य-स्थापन का अर्थ है अन्य व्यक्तियों द्वारा अपनी कीर्ति की स्वीकृति। कीर्ति-स्वीकृति तभी सम्भव है जब व्यक्ति स्वयं कीर्तिमान हो। सारांश यह है कि प्राकृतिक मनुष्यों ने अपने आन्तरिक लक्ष्य (स्वार्थ-पूर्ति) के हेतु कीर्ति-वृद्धि को ही अपना जीवन-साधन बनाया।

यदि प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य असमान होते तो अवश्य ही उनमें से एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता, उनसे अपनी कीर्ति स्वीकार करा लेता। परन्तु हाब्स ने प्राकृतिक मनुष्यों को असमान नहीं, वरन् समान बनाया। इस समानता ने एक गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न कर दी होगी। समानता की स्थिति में कीर्ति स्थापन (स्थायी या अस्थायी) कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी है। कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्तियों पर अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सकता। कोई भी व्यक्ति अन्य समान व्यक्तियों से निजी कीर्ति स्वीकार नहीं करवा सकता। फलतः प्राकृतिक स्थिति में सभी व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ति (कीर्ति-वृद्धि) के हेतु निरन्तर संघर्ष करते रहे होंगे।

एक दृष्टान्त लीजिये—दो व्यक्ति हैं, ये समान हैं, और कीर्ति-वृद्धि चाहते हैं। 'क' व्यक्ति 'ख' पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है, उससे अपनी कीर्ति स्वीकार कराना चाहता है। वह 'ख' को मारना नहीं चाहता, क्योंकि 'ख' की मृत्यु से कीर्ति की स्वीकृति सम्भव नहीं है। इसलिये वह 'ख' पर केवल आधिपत्य स्थापित करना चाहता है। परन्तु 'ख' भी 'क' के समान है। ऐसी परिस्थिति में दोनों में निरन्तर संघर्ष होता रहेगा। निरन्तर संघर्ष की स्थिति में एक समय ऐसा आयेगा जब वे दोनों घायल हो जायेंगे। घायल होने पर उन्हें मृत्यु का भय होगा। ऐसा भय प्राकृतिक स्थिति में व्यापक रहा होगा। क्योंकि सभी समान व्यक्तियों का लक्ष्य कीर्ति-वृद्धि था।

(Young Plan) बनी। अस्थायी रूप से जर्मनी की आर्थिक अवस्था सुधरी। परन्तु वास्तव में ये योजनाएँ केवल कामचलाऊ थीं।

जब १६२६—३१ का विश्व आर्थिक संकट उपस्थित हुआ तो जर्मनी की डगमगाती हुई आर्थिक व्यवस्था घोर संकट में पड़ी। विश्व के सभी देशों में बेरोजगारों की संख्या बढ़ी। कई व्यवसाय बन्द हो गये। जर्मनी की हालत अन्य देशों से अधिक खराब थी। ऐसी परिस्थिति में मध्यम वर्ग की उदासीनता तथा निराशा की सीमा न रही। धनी वर्ग की आय कम हुई, परन्तु वे निर्धन न हुए। दीन कृषक और श्रमिक की भी दीनता बढ़ी, परन्तु यह उनके लिए एक नयी परिस्थिति न थी। मध्यम वर्ग के लिए एक गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हुई। शूमैन (F. Schumann) ने आँकड़ों द्वारा बताया है कि जर्मनी में मध्य वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ती आयी थी और उस पर विश्व संकट का आर्थिक दुष्प्रभाव अधिक व्यापक रूप में पड़ा। उक्त डावज़ प्लान के फलस्वरूप इस वर्ग की आर्थिक दशा सुधरने लगी थी। परन्तु विश्व आर्थिक संकट से अब फिर उसकी दशा बिगड़ गयी। कई मध्यम वर्गीय सदस्य बेरोजगार हो गये। उनकी छोटी-सी पूँजी का अन्त भी समीप ही था। आर्थिक संकट से अधिक मनोवैज्ञानिक संकट था। उन्हें वह दिन समीप दिखाई देने लगा जब वे अपने सामाजिक स्तर से लुढ़क कर श्रमिक स्तर पर पहुँच जायेंगे। इस विचार ने उन्हें व्याकुल बना दिया। अब वे उस परिस्थिति पर पहुँचने वाले थे जिसको वे सदा घृणित दृष्टि से देखते आये थे।

ऐसी परिस्थिति में हिटलर के भाषण तथा योजनाओं ने जादू का काम किया। उसने बताया कि जर्मनी की आर्थिक दुर्व्यवस्था का कारण यहूदी बैंकशाही, यहूदी साम्यवाद, और वर्साई की सन्धि है। हिटलर की योजना समाजवाद-विरोधी तथा पूँजीवाद-विरोधी थी (पूँजीवाद का विरोध केवल ढोंग मात्र था)। ऐसी योजना मध्यम वर्ग के विचारानुकूल सिद्ध हुई। मध्यम वर्ग समाजवाद-विरोधी इसलिए होता है कि वह सोचता है कि कहीं समाजवादी व्यवस्था में कठिन परिश्रम से प्राप्त उसकी पूँजी का अन्त न हो जाय। वह पूँजीवाद-विरोधी इसलिए है कि धनिक वर्ग उसका शोषक है और वह स्वयं पूँजीपति नहीं बन सकता। हिटलर ने आश्वासन दिया था कि सत्ता प्राप्ति के पश्चात् वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद का अन्त करेगा और राष्ट्रीय समाजवाद तथा पूँजीवाद की स्थापना

इस सम्बन्ध में यह बताना उचित होगा कि हाब्स ने तत्कालीन भौतिक शास्त्र और जीवशास्त्र की खोजों को समाजशास्त्र पर लागू किया। गैलीलियो और केप्लर ने नक्षत्रों की गति-विधि सम्बन्धी खोज की थी। हाब्स के मित्र हर्वे ने रक्त-संचरण के विषय में अनुसन्धान किया था। हाब्स ने समाजशास्त्रीय गति-विधि की खोज की। उसने कहा कि मानव जीवन में भी वैसी गति-विधि व्यापक है जैसे नक्षत्रों में तथा प्राणियों के रक्त में। गैलीलियो और केप्लर ने कहा था कि नक्षत्रों की गति से संसार संचालित होता है। हर्वे ने कहा कि रक्त-गति से मनुष्य जीवित रहता है। हाब्स ने बताया कि संघर्ष-गति ही मानव जीवन का सार है। जैसे नक्षत्र-गतिविधि की अनुपस्थिति से विश्व का अन्त हो जायगा, और रक्त-गति के अन्त से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है वैसे ही संघर्ष-गति का अन्त केवल मृत्यु पर ही होता है। हाब्स ने इस निरन्तर संघर्ष का लक्ष्य स्वार्थ-पूर्ति तथा कीर्ति-वृद्धि बताया था।

इस निरन्तर और व्यापक संघर्ष के फलस्वरूप प्राकृतिक स्थिति के समान तथा स्वार्थी मनुष्य एक दूसरे के शत्रु बन गये थे। वे सभी युद्ध में रत थे। इसलिये प्राकृतिक स्थिति एक युद्ध-स्थिति थी। उस प्राकृतिक स्थिति में व्यक्तिगत सम्पत्ति, संस्कृति, विद्या, कला, नवविद्या, आयात-निर्यात, बड़ी इमारतें, यातायात, विश्व-ज्ञान, समय-ज्ञान और समाज कुछ भी सम्भव नहीं थे। व्यक्तियों को नैतिकता और अनैतिकता, भलाई और बुराई, वैध और अवैध का ज्ञान न था। लोगों को "हत्या" (साधारण मृत्यु नहीं) का भय निरन्तर बना रहता था। जीवन एकाकी, निर्धन, जंगली, घृणित एवं क्षणिक (solitary, poor, brutish, nasty and short) था। हाब्स की प्राकृतिक स्थिति मात्स्यन्याय की स्थिति थी। प्राचीन भारत के ग्रन्थों में ऐसी परिस्थिति का वर्णन है किन्तु हाब्स के विश्लेषण, दर्शन, तर्क, मनोविज्ञान आदि का नहीं। (मात्स्यन्याय उस स्थिति को कहते हैं जिसमें जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त लागू हो।) ऐसी निरन्तर युद्ध-स्थिति में "हत्या" का भय व्यापक था। जीवन असह्य हो गया था क्योंकि कीर्ति स्थापना के हेतु सभी एक दूसरे के शत्रु थे।

नैसर्गिक नियम:—उक्त असह्य स्थिति की पृष्ठभूमि में हाब्स का यह विश्वास था कि मनुष्य एक प्रेरणा-प्रभावित प्राणी है। हाब्स ने व्यक्ति के जीवन में प्रेरणा को सर्वोच्च स्थान दिया था। प्रेरणा ही प्राकृतिक मनुष्य की ऐसी स्थिति का कारण बनी। परन्तु हाब्स के उच्च कोटि के तर्क और विश्लेषण का अन्त यहीं नहीं होता। उसके मतानुसार व्यक्ति एक विवेकशील प्राणी भी है, केवल प्रेरणाओं की कठपुतली नहीं।

थे, अन्यत्र नहीं। इसलिए आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड ऐसे देशों को जर्मन अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के हेतु हिटलरशाहीने हड़प कर लिया। थोड़े से ज़र्मनों की एकता के बहाने लाखों बहुसंख्यक आष्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैंड निवासियों को दास बनाया गया।

ऐसे जातीय राष्ट्रवाद के फलस्वरूप एक और समस्या उत्पन्न हुई। सभी देशों में अल्पसंख्यक जर्मन देश-द्रोही बने। उन्होंने हिटलर के पांचवे दस्ते का काम किया, जर्मन सेनाओं तथा सरकार को मदद पहुँचायी और जर्मन साम्राज्य की वृद्धि में सहायक बने। प्रचार द्वारा उनके मस्तिष्क में यह ठूँस दिया जाता था कि वे एक ऐसी जाति के सदस्य हैं जो सर्वश्रेष्ठ है और जिसका विश्व-पराजय करना प्रकृति-दत्त लक्ष्य एवं अधिकार है। मेक्गेवर्न (W. M. McGovern) का कहना है कि हिटलर एक आस्ट्रिया निवासी जर्मन था। इसलिए अपने को शुद्ध जर्मन बताने के लिए उसने जर्मन राष्ट्र के अन्तर्गत उन जर्मनों को भी बताना आवश्यक समझा जो जर्मनी से बाहर निवास करते आये थे। अन्य आस्ट्रियन जर्मनों की भाँति हिटलर भी अपने को एक जर्मनी जर्मन से जर्मन जाति का अधिक भक्त मानता था। यह वैसे ही है जैसे एक नया मुसलमान ज्यादा प्याज खाता है तथा ज्यादा नमाज पढ़ता है।

स्वभावतः यह विचारधारा साम्राज्यवादी थी। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी साम्राज्य-वृद्धि की ओर अग्रसर हुआ। यह सब अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा शान्ति के विपरीत था। उग्र राष्ट्रवाद या साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीयता का विलोम है। जातीय सिद्धान्त द्वारा जर्मन युवकों में एक नशा पैदा कर दिया गया था। वे सभी विश्व-विजय का सपना देखते थे। यह अफीम रूपी धारणा देश के सैनिक अनुशासन तथा सैनिक संगठन में सहायक बनी।

जनवाद एवं स्वतंत्रता विरोधी :—फासीवाद की भाँति नात्सीवाद भी जनवाद तथा स्वतंत्रता का विरोधी था। जैसा कि ऊपर बताया गया है वह व्यक्तियों की समानता का खंडन करता था। उसके अनुसार जनता में उत्कृष्ट और निकृष्ट कोटि के व्यक्ति होते हैं। उत्कृष्ट का निकृष्ट पर एकाधिकार स्वाभाविक है। ऐसे वातावरण में जनवाद कैसे सम्भव हो सकता है। नात्सियों के अनुसार वही व्यक्ति स्वतंत्र है जो एक स्वतंत्र राष्ट्र का सदस्य है। राष्ट्रीय राज्य की आज्ञाओं के पालन करने में ही

प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों को उनकी प्रेरणाओं ने ऐसी स्थिति में पहुँचाया जिसमें उन्हें "हत्या" निरन्तर भयभीत किये रहती थी। तब उन व्यक्तियों ने अपने विवेक का प्रयोग किया। उन्हें विदित हुआ कि कुछ नैसर्गिक नियम (Natural Laws) भी हुआ करते हैं तथा उनका भी जीवन में अस्तित्व होता है। ये नियम ईश्वर की आज्ञा की भाँति होते हैं। उनका पालन करना व्यक्ति के लिये अनिवार्य है।

हाब्स ने १९ नैसर्गिक नियम गिनाये जिनमें वह केवल तीन को ही मुख्य मानता था। प्रथम नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को शान्ति-स्थापना का प्रयत्न करना चाहिये। द्वितीय नियम के अनुसार जब अन्य व्यक्ति भी राजी हों तो प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति-स्थापना और व्यक्तिगत सुरक्षा के हेतु अपने सब अधिकारों का परित्याग करने को प्रस्तुत रहना चाहिये। तृतीय नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अनुबन्धों का पालन करना चाहिये।

असह्य प्राकृतिक स्थिति से मनुष्य तंग आ गये थे। समानता, प्रेरणा, स्पर्धा, संघर्ष और शक्ति-मद ने उन्हें ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया था। "हत्या" का भय निरन्तर और सर्वव्यापक हो गया था। प्राणों की सुरक्षा अनिश्चित थी। केवल विवेक और इस पर आवृत तीन नैसर्गिक नियम ही उनकी दशा सुधार सकते थे। अब उन्होंने विवेक द्वारा उस असह्य स्थिति से मुक्त होने का प्रयत्न किया।

अनुबन्ध :—असह्य प्राकृतिक स्थिति से छुटकारा पाने के लिये मनुष्यों ने प्रेरणा का परित्याग किया और विवेक को जीवन का पथप्रदर्शक बनाया। उन्होंने उक्त तीन प्राकृतिक नियमों का आश्रय लिया। वे एक स्थान पर एकत्र हुए। एक अनुबन्ध किया। प्रत्येक व्यक्ति ने शपथ दुहराई कि "यदि आप लोग भी अपने सब अधिकारों को इसी भाँति समर्पित करने को तत्पर हों तो मैं अपने सब अधिकारों को इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को समर्पित करता हूँ।" इस शपथ-कार्य द्वारा प्राकृतिक स्थिति का अन्त हुआ और समाज तथा राज्य का जन्म। मानव इतिहास का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने, जिसको व्यक्तियों ने अपने सब अधिकार समर्पित किये थे, राजसत्ताधारी का स्थान ग्रहण किया। वस्तुतः हाब्स व्यक्ति-विशेष की राजसत्ता का समर्थक था, व्यक्ति-समूह की राजसत्ता का नहीं। एक व्यक्ति की राजसत्ता के पक्ष में हाब्स ने कई कारण उपस्थित किये थे। अतः हाब्स के मतानुसार राज्य में राजसत्ताधारी एक ही व्यक्ति-विशेष होता है। इसी व्यक्ति को प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों ने अपने सब अधिकार समर्पित किये थे।

समाजवाद और पूँजीवादी सभ्यता के मध्य हाग्स के "द्रीर्वकाय" की भाँति माना। (हाग्स का "द्रीर्वकाय" प्राकृतिक स्थिति और सभ्य समाज के मध्य एक दीवार की भाँति था)।

इसीलिए पाश्चात्य शक्तिशाली देशों, मुख्यतः ब्रिटेन ने, हिटलर को प्रत्यक्ष या परोक्ष-रूप से पर्याप्त सहायता दी। १६३१ से १६४५ तक ब्रिटेन में टोरी दल (Tory Party), जो पूँजीपतियों का दल है, का बोलबाला था। इस दल की सरकारों ने हिटलर के जर्मनी का १६३६ तक साथ दिया। कारण कई थे। हिटलरशाही ही जर्मनी को समाजवादी बनने से रोक सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय दाँव-पेंच की दृष्टि से फ्रांस के विपरीत जर्मनी को दृढ़ बनाना ब्रिटेन के लिए आवश्यक था। हिटलर ने स्वयं को समाजवाद-विरोध का अग्रदूत घोषित किया था। १६३६ के निकट जर्मनी, इटली तथा जापान ने एक साम्यवाद-विरोधी समझौता (Anti-Comintern Pact) किया था। ब्रिटेन के शासकों ने इस समझौते में अपनी मृगमरीचिका देखी। उन्होंने हिटलर को साम्यवाद का विध्वंसक समझ कर सहायता दी। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों या रूढ़िवादियों की यह मृगतृष्णा थी कि जर्मनी, इटली और जापान के रूस पर आक्रमण के फलस्वरूप इन तीनों देशों की शक्तियों में ह्रास होगा। वे ब्रिटेन से युद्ध सामग्री खरीदेंगे जिससे ब्रिटेन आर्थिक दृष्टि से बलवान बनेगा। विश्व साम्राज्य के बँटवारे का प्रश्न हल होगा; क्योंकि यह तीनों देश विशाल रूस को बाँट कर सन्तुष्ट हो जायेंगे और साथ ही साथ रूसी समाजवाद का भी अन्त होगा।

इसीलिए ब्रिटेन के शासकों ने हिटलर और उसके दल को प्रोत्साहन दिया। बड़े-बड़े टोरी नेता हिटलर के मेहमान रहे थे। वे नात्सी अर्द्ध-सैनिक प्रदर्शनियों से मोहित हुए थे। कुछ टोरी नेता, जैसे लार्ड लन्डनडरी (Lord Londonderry), हिटलर को शान्तिप्रिय व्यक्ति मानते थे। जैसा कि फासीवाद के सम्बन्ध में बताया गया है ब्रिटेन में कुछ फासीवादी तथा अर्द्ध-फासीवादी संस्थाओं की स्थापना हुई थी। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ये संस्थाएँ काफी हद तक पनपती रहीं। जैसे ब्रिटिश लेबर पार्टी में कुछ प्रच्छन्न साम्यवादी पाये जाते हैं, वैसे ही ब्रिटिश टोरी पार्टी में प्रच्छन्न फ़ासीवादी। कुछ वामपक्षी श्रमिक सोवियत रूस से प्रेरित होते हैं, वे उसे आदर्श श्रमिक व्यवस्था मानते हैं। वैसे ही कुछ प्रतिक्रियावादी टोरी फासी व्यवस्था को स्वर्गतुल्य समझते हैं, क्योंकि उसमें श्रमिक आन्दोलन का पूर्णतया अभाव है। यह सब

क्या सभी मनुष्यों ने अनुबन्ध में भाग लिया था? नहीं, केवल बहुसंख्यक ने ही। बहुसंख्यक ने अनुबन्ध तथा राज्य-स्थापना में भाग लेकर नागरिकता ग्रहण की। अल्पसंख्यक ने शपथ न ली। उन्होंने प्राकृतिक स्थिति में ही रहने का निर्णय किया, एवं उस स्थिति की दशा का शिकार होना उचित समझा। यदि इस अल्पसंख्या की बहुसंख्या द्वारा हत्या हो जाय तो हाब्स के मतानुसार यह कार्य अनुचित न होगा। क्योंकि इस अल्पसंख्या ने "हत्या" की स्थिति को स्वेच्छा से स्वीकार किया था।

हाब्स के अनुसार राजसत्ताधारी का अनुबन्ध में कोई पक्ष न था। यह व्यक्ति-विशेष अनुबन्ध से पृथक था। अनुबन्धीय शपथ से व्यक्तियों ने इस व्यक्ति-विशेष को अपने सब अधिकार समर्पित किये थे किन्तु उससे कोई शपथ न लिवाई थी। वैसे तो यह न्यायसंगत नहीं मालूम पड़ता, परन्तु हाब्स का चित्रण इसे उचित बताता है। "हत्या" से बचने के लिये व्यक्तियों के पास कोई दूसरा उपाय न था। ठीक ही कहा जाता है "मरता क्या न करता।" असह्य स्थिति से मुक्ति-प्राप्ति के लिये प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों ने शर्तरहित अपने अधिकारों का परित्याग करना उपयुक्त समझा।

मानव देव :—हाब्स इस व्यक्ति-विशेष को "दीर्घकाय", या आदर के भाव से "मानव देव", कहता था। उसकी राजनीतिक पुस्तक का नाम ही "दीर्घकाय" (लेवियाथन Leviathan १६५१) है। जैसे पीड़ितगण अपने देवता के सम्मुख शपथ लेते हैं, वैसे ही प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों ने इस "मानव-देव" के सम्मुख उक्त शपथ दुहरायी। जैसे देवता कोई शपथ नहीं लेता, वैसे ही इस "मानव देव" ने भी कोई प्रण नहीं किया। एक देवता की भाँति यह "मानव देव" पूर्णतया स्वतंत्र और स्वेच्छाचारी बना।

हाब्स की उक्त पुस्तक के मुखपृष्ठ पर "दीर्घकाय" का चित्र है। यह चित्र सत्ताधारी "दीर्घकाय" की विशेषताओं का स्पष्टीकरण करता है। "दीर्घकाय" का शरीर छोटे-छोटे मनुष्यों के शरीरों से बना है। इससे स्पष्ट है कि इस सत्ताधारी "दीर्घकाय" या "मानव देव" के अधिकार साधारण व्यक्तियों के नैसर्गिक अधिकारों के पुञ्जीभूत हैं। इससे यह भी विदित होता है कि यह "दीर्घकाय" इन सब व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। उसके व्यक्तित्व में इन सबका व्यक्तित्व निहित है। इस "दीर्घकाय" के एक हाथ में तलवार है जो उसकी राजकीय शक्ति का प्रदर्शक है। उसके दूसरे हाथ में धर्मास्त्र है जो बताता है कि वह धर्म का भी संरक्षक और संचालक है। इस "दीर्घकाय" के पृष्ठ देश में एक नगर, एक दुर्ग और एक गिरिजा घर है। इससे विदित होता है कि वह इन सब का स्वामी है।

मात्स्यन्याय और सभ्यता के मध्य यह "दीर्घकाय" एक दीवार की भांति खड़ा है। इस "दीर्घकाय" के जन्म के पूर्व मानव जाति प्राकृतिक अवस्था में रहती थी। तब न कोई सामान्य शक्ति थी, न कोई कानून था। न न्याय और अन्याय का ज्ञान, न सत्य और असत्य का बोध ही सम्भव था। "दीर्घकाय" के जन्म से ही समाज और राज्य का जन्म होता है। वह इन दोनों का प्रतीक है। उसके जन्म से ही ज्ञान, संस्कृति, कला, साहित्य, व्यवसाय, आयात-निर्यात, इमारतें, यातायात, विश्व-ज्ञान, समय-ज्ञान आदि सम्भव हुए। अतः यह "मानव देव" ही सभ्यता, मानवता, समाज, और राज्य का जन्मदाता है।

हाब्स ने ऐसे विश्लेषण द्वारा तत्कालीन गृहयुद्ध सम्बन्धी विचारधाराओं का मुंह-तोड़ उत्तर दिया। पहली विचारधारा के अनुसार राज्य का जन्म ईश्वर द्वारा हुआ था और इसलिये राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। हाब्स ने स्पष्टतया बताया कि राज्य का जन्म अनुबन्ध द्वारा हुआ, ईश्वर द्वारा नहीं। राजा को निरपेक्ष अवश्य बताया परन्तु दैवी सिद्धान्त के आधार पर नहीं।

द्वितीय विचारधारा संसदीय नेताओं की थी। इसके अनुसार राजसत्ता राजा और संसद में विभक्त मानी जाती थी। हाब्स ने बताया कि राजसत्ता विभक्त नहीं है और न हो ही सकती है। क्योंकि अनुबन्ध से व्यक्तियों ने सब अधिकार "दीर्घकाय" को समर्पित कर दिये थे। सत्ता के विभाजन का अर्थ है उसका अन्त करना।

तीसरी विचारधारा दार्शनिकों की थी। उनका कहना था कि नैसर्गिक नियम सर्वोपरि हैं। चौथी विचारधारा मीमांसकों की थी। इसके अनुसार लौकिक नियम सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। हाब्स ने एक युक्तियुक्त वाक्य द्वारा इन दोनों विचारधाराओं का खण्डन किया। उसका कहना था कि वे नियम जिनकी पृष्ठभूमि में राज्य की तलवार न हो केवल शब्द मात्र हैं। अर्थात् केवल "दीर्घकाय" की घोषणायें ही नियम हैं।

पाँचवीं विचारधारा जनवादियों की थी। इसके अनुसार राज्य का जन्म अनुबन्ध द्वारा हुआ है। यदि राज्य इस अनुबन्ध का उल्लंघन करता है तो नागरिकों का राज्य-विरोध न्यायसंगत है। हाब्स ने बताया कि अनुबन्ध से नागरिकों ने सब अधिकार राज्य को समर्पित किये थे। इसलिये अब उनके पास राज्य-विरोध का अधिकार नहीं रहता। व्हान (C. E. Vaughan) ने ठीक ही कहा था कि हाब्स ने जनवादियों की बन्दूक (अनुबन्ध) उन्हीं की ओर दागी। अर्थात् उसी अनुबन्धवाद को हाब्स ने निरंकुशता की सेवा में प्रस्तुत किया जिसे जनवादी सीमित सत्ता के लिये प्रयोग करते थे।

परम्परा का प्रतिबन्ध न था। (दैवी नियम का आधार धर्म था, नैसर्गिक नियम का नैतिकता और लौकिक नियम का परम्परा)।

राज्य की निरपेक्ष सत्ता का वास्तवीकरण कौन करता है? राज्य में कौन सत्ताधारी है? अर्थात् राज्य की निरपेक्षता का द्योतक कौन है? "दीर्घकाय" ही वास्तविक सत्ताधारी है। इसी "दीर्घकाय" को व्यक्तियों ने अपने सब अधिकार समर्पित किये थे। यह "दीर्घकाय" कौन है? हाब्स ने कहा था कि व्यक्तियों ने एक व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-संघ को अनुबन्ध द्वारा सब अधिकार दिये थे। हाब्स ने व्यक्ति-विशेष को व्यक्ति-संघ (कुलीनतंत्र या जनतंत्र) की अपेक्षा मान्यता दी थी। क्योंकि राजतंत्र में ही एकता, मंत्रणा की गुप्तता, नीति का स्थायित्व, व्यभिचार की कमी, और चापलूसों तथा तानाशाहों की कमी सम्भव है। अन्य व्यवस्थाओं (कुलीनतंत्र या जनतंत्र) में ये गुण नहीं पाये जाते। अतः हाब्स का निरपेक्ष सत्ताधारी एक व्यक्ति-विशेष या नरेश है।

राज्य की सत्ता निरपेक्ष के साथ-साथ अविभाज्य, स्थायी और अदेय भी है। यह सत्ता अविभाज्य है क्योंकि अनुबन्ध द्वारा केवल एक ही "दीर्घकाय" रूपी व्यक्ति-विशेष को अधिकार दिये गये थे। राजसत्ता को विभक्त करने का अर्थ है उसका अन्त करना। वह केवल एक ही संस्था में निहित हो सकती है।

राज्य की राजसत्ता उसकी स्थायी और अदेय विशेषता है। यह राज्य का प्राण स्वरूप है। इसकी अनुपस्थिति में राज्य का अन्त हो जाता है। हाब्स ने बताया कि सत्ताधारी "दीर्घकाय" के जन्म से राज्य तथा समाज का जन्म हुआ था। यह "दीर्घकाय" या राजसत्ता ही राज्य का द्योतक है। उसकी अनुपस्थिति में न राज्य और न समाज ही सम्भव है। इस सत्ताधारी के जन्म के पूर्व प्राकृतिक स्थिति थी और इसके अन्त हो जाने पर फिर वह स्थिति व्यापक हो जायगी। इसलिये राजसत्ता ही राज्य का स्थायी और अदेय गुण है।

अतः हाब्स के अनुसार राजसत्ता निरपेक्ष, अविभाज्य, स्थायी और अदेय है। हाब्स का राज्य अद्वैतवादी है, और हाब्स आधुनिक युग का सर्वप्रथम अद्वैतवादी दार्शनिक है। (इस सम्बन्ध में अद्वैतवाद वाला अध्याय देखिये।) हाब्स के राज्य के अधिकार असीमित थे। उसका कार्यक्षेत्र व्यापक था, वह नागरिक जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित था। उसका हस्तक्षेप केवल कार्यों पर ही नहीं, वरन् विचारों पर भी था। क्योंकि विचार ही तो कार्य के प्रयोजक हैं। यदि राज्य द्वारा व्यक्तियों के विचार नियंत्रित होंगे, तो स्वतः उनके कार्य भी नियंत्रित हो जायँगे। राजसत्ताधारी "दीर्घकाय"

सर्वोच्च न्यायाधीश और सर्वश्रेष्ठ सेनापति है। वही दीवानी विधियाँ निर्धारित करता है; वह नागरिकों को दंड देता है और कीर्ति प्रदान करता है। सन्धि-विग्रह तथा नियुक्तियाँ करना उसका एकाधिकार है। अतः हाब्स का "दीर्घकाय" सर्वाधिकारी भी है।

नागरिक अधिकार :—हाब्स की समस्या थी सुव्यवस्था की स्थापना। यही उसके दर्शन का सार था। परन्तु इस सार-पूर्ति में वह नागरिक-स्वतंत्रता को भूल ही गया। उसने राज्य को साध्य और नागरिक को साधन बनाया। उसके दर्शन में राज्य सर्वेसर्वा है, व्यक्ति कुछ भी नहीं।

हाब्स ने अपने पाठकों को बताया कि यदि वे राज्य का अन्त करेंगे, तो वे स्वतः प्राकृतिक स्थिति की "हत्या" के निरन्तर भय के शिकार होंगे। उसने इस बात पर जोर दिया कि जीवन-रक्षा के हेतु ही राज्य का जन्म हुआ था। इसलिये नागरिकों का हित इसी में है कि वे राजाज्ञा का पालन करें। हाब्स ने राज्य-दासता को व्यक्ति-हित के दृष्टिकोण से न्यायसंगत बताया। यह उसकी अपूर्व बुद्धि का निर्देशक है।

परन्तु सम्भव है कि कुछ नागरिक जीवनरक्षा को ठुकराकर राज्य-दासत्व का अन्त करना चाहें तथा राज्य-विरोध करें। ऐसी परिस्थिति के लिये भी हाब्स ने उचित उपाय प्रस्तुत किया। उसके मतानुसार राज्य का जन्म नैसर्गिक नियमों पर आधारित था और व्यक्तियों ने इन्हीं नियमों को निजी जीवन का पथप्रदर्शक बनाकर राज्य की स्थापना की। इसलिये राज्य-विरोध का अर्थ है नैसर्गिक नियमों का विरोध तथा नैतिकता का परित्याग। क्योंकि इन नियमों का आधार नैतिकता थी। हाब्स का तीसरा महत्वपूर्ण नैसर्गिक नियम था, व्यक्ति अपने अनुबन्धों का पालन करता है। राज्य-विरोध का अर्थ है इस नियम का उल्लंघन। अतः हाब्स के अनुसार यदि कोई नागरिक जीवन-सुरक्षा के हेतु राज्यभक्ति या राज्यदासता को नहीं अपनाता तो कम से कम नैतिकता के नाते तो उसे इस स्थिति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। उसने नागरिक को राज्यदासता की जञ्जीरों से पूर्णतया जकड़ दिया था। व्यक्ति के कार्यों का आधार निजी स्वार्थ या नैतिकता है। हाब्स ने राज्यदासता को इन दोनों के नाते न्यायसंगत तथा अनिवार्य बताया।

प्राकृतिक स्थिति के मनुष्य ने अपने सब नैसर्गिक अधिकार "दीर्घकाय" को समर्पित कर दिये थे। राज्य के जन्म से व्यक्ति अधिकार-च्युत हो गया। अब जो कुछ भी अधिकार उसे प्राप्त हैं वे "दीर्घकाय" की देन हैं। नागरिक की स्वतंत्रतायें राज्य द्वारा प्राप्त होती हैं। वह केवल उन्हीं स्वतंत्रताओं का अधिकारी है जिन्हें राज्य प्रदान करे—जैसे क्रय-विक्रय, निवास स्थान, भोजन-व्यवस्था, बच्चों का पालन-पोषण आदि।

इनके अतिरिक्त कोई भी स्वतंत्रता सम्भव नहीं हो सकती। अतः राज्य में कोई भी नैसर्गिक अधिकार नहीं होता।

हाँ, एक विषय में हाब्स ने व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की थी। मनुष्यों ने जीवन रक्षा के हेतु राज्य की स्थापना की और उसकी दासता को स्वीकार किया। यही स्वार्थ सुव्यवस्था की धात्री बना। यही उपयोगिता (स्वार्थ) राज्य का आधार है। यह उपयोगिता पूर्णतया व्यक्तिवादी है। इसी नाते सेबाइन (S. G. Sabine) का कहना है कि हाब्स पूर्णतया उपयोगितावादी तथा व्यक्तिवादी है। इसी व्यक्तिवाद ने उसके दर्शन को तत्कालीन क्रान्तिकारी रूप दिया। इसी उपयोगिता को हाब्स राज्य के सर्वाधिकार और निरपेक्षता का आधार मानता है। साथ ही साथ इसी उपयोगिता के आश्रय पर वह राज्य-विरोध को भी न्यायसंगत बतलाता है। यह उसकी अपूर्व बुद्धि का निर्देशक नहीं तो क्या ?

जीवन-रक्षा की उपयोगिता ही राज्य की धात्री है। राज्य उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि राज्य का नियम नागरिक की जीवन-रक्षा पर आघात करता है तो नागरिक को ऐसे नियम का विरोध करने का अधिकार है। एक नागरिक उस राजाज्ञा का न्यायपूर्वक उल्लंघन कर सकता है जो उसे अपनी हत्या या अपने शरीर को घायल करने का आदेश दे। नागरिक को यह भी स्वतंत्रता है कि यदि वह चाहे तो अपना अपराध न्यायालय में स्वीकार न करे। यदि एक नागरिक प्रकृति से ही डरपोक है तो वह युद्ध-क्षेत्र से भाग सकता है। उसका यह कार्य न्यायसंगत माना जायेगा। नागरिक राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र नहीं कर सकते। यह अवैध है। परन्तु षड्यन्त्र आरम्भ करने पर वह अपनी सुरक्षा के लिये न्यायपूर्वक अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार हाब्स के मतानुसार केवल जीवन-रक्षा ही राज्य के एकाधिकार को सीमित कर सकती है। जीवन-रक्षा ही एक ऐसा नैसर्गिक अधिकार है जो राज्य में भी सम्भव है।

समीक्षा :—हाब्स के पूर्व सभी दार्शनिक राज्योत्पत्ति का श्रेय ईश्वर को देते थे। इस विषय में राज्यतंत्र के समर्थकों तथा विरोधियों में मतैक्य था। अनुबन्धवादी नेता (जैसे ह्यूगेनोज़) भी ईश्वर को राज्य का जन्मदाता मानते थे; हाब्स ही सर्वप्रथम नेता था जिसने राज्य को एक कृत्रिम एवं मानवीय संस्था बताया। उच्च कोटि के तर्क तथा विश्लेषण द्वारा उसने व्यक्ति-हित को राज्योत्पत्ति का श्रेय दिया। इस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के फलस्वरूप जनता राज्य जैसी मानवीय संस्था के जन्म, ध्येय, कार्य तथा रूप के

विषय में मनन करने लगी। दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के वातावरण में यह सब सम्भव न था। परिवर्तित दृष्टिकोण ही राजनीति शास्त्र का, जो राज्य से सम्बन्धित है, जनक बना। अतः परोक्ष रूप से हाब्स राज्यशास्त्र का जन्मदाता है।

यूरोप में १४वीं तथा १५वीं सदियों से जागरित-युग (the Renaissance) आरम्भ हुआ था। यह जागर्ति आधुनिक युग की धात्री है। एक नयी विचारधारा, एक नया दृष्टिकोण, एक नये मानव का जन्म शनैः शनैः हुआ। धीरे-धीरे मध्यकालीन सभ्यता का अन्त हुआ। हाब्स के युग तक राजनीतिक क्षेत्र में मध्यकालीन प्रवृत्तियाँ और संस्थाएँ अस्तित्वहीन हो चली थीं। उनका स्थान केन्द्रस्थ राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया था। हाब्स ने इस प्रगति को दार्शनिक रूप दिया। हाब्स ही सर्वप्रथम वेत्ता था जिसने बताया कि मध्यकालीन परम्पराओं (दैवी नियम, नैसर्गिक नियम, जीवन में धर्म की प्रधानता, लौकिक नियम और स्थानीय संघ) का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। एकमात्र अस्तित्व तो केवल "दीर्घकाय" रूप राज्य का है। अतः हाब्स ने दार्शनिक दृष्टिकोण से उस प्रवृत्ति की परिपक्वता का उल्लेख किया जिसका बीजारोपण जागरित युग में हुआ था। वह आधुनिक युग का सर्वप्रथम दार्शनिक था।

एक और दृष्टिकोण से हाब्स आधुनिक राजनीति शास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। प्राचीन और मध्यकाल में प्रायः सभी वेत्ता नियम, समाज तथा राज्य को सर्वोपरि मानते थे। कर्त्तव्यपरायणता का अर्थ है सर्वोपरि नियमों, सामाजिक नियमों तथा राज्याज्ञाओं के अनुसार जीवन-यापन। मनुष्य इन सर्वोपरि संस्थाओं के अधीन माना जाता था। आधुनिक युग में व्यक्ति-हित की भावना ही नियम, समाज तथा राज्य की धात्री मानी जाती है। ये सर्वोपरि नहीं, अपितु मानवीय हैं। कर्तव्यपरायणता के स्थान पर आज एक जनवादी नागरिक अधिकारों को सर्वोच्च स्थान देता है। स्ट्रौस (L. Strauss) का मत है कि यदि यही आधुनिक तथा प्राचीन दृष्टिकोणों की विभिन्नता का निर्देशक है, तो हाब्स ही आधुनिक राजनीति दर्शन का जन्मदाता है। क्योंकि हाब्स ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने बताया कि व्यक्ति-हित (व्यक्ति का जीवित रहने का अधिकार) ही राज्य तथा समाज का जनक है और राज्याज्ञा के अतिरिक्त कोई भी वास्तविक नियम नहीं है। अतः हाब्स ही सर्वप्रथम वेत्ता था जिसने यह कहा कि सुव्यवस्था का ध्येय व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा है। ये अधिकार ही सर्वोपरि हैं; नियम, समाज तथा राज्य नहीं। कर्तव्यपरायणता का स्थान अधिकारों ने लिया। यह व्यक्ति-हित हाब्स को आधुनिक व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद तथा भौतिकवाद का परोक्ष रूप से अग्रदूत बनाता है।

हाब्स ने तत्कालीन बढ़ते हुए पूँजीपतियों को राज्य की अनिवार्यता का पाठ पढ़ाया। अपने चित्रण द्वारा उसने उन्हें आदेश दिया कि राज्य की अनुपस्थिति में उनकी तथा उनकी बहुमूल्य सम्पत्ति की क्या दशा होगी। यह भय इन पूंजीपतियों का पथप्रदर्शक बना, वे सुव्यवस्था-प्रेमी बने। इसलिये १९वीं सदी के महान् दार्शनिक हीगेल (G. F. W. Hegel) ने कहा था कि राज्य के पूर्व की स्थिति हाब्स के चित्रण के अनुकूल रही होगी। (हीगेल के दर्शन के विषय में आदर्शवाद का अध्याय देखिये।) भले ही तत्कालीन पूँजीपतियों ने, जो संसदीय नेता थे, हाब्स के दर्शन को न अपनाया हो; परन्तु यह कटु सत्य है कि हाब्स के दर्शन का प्रमुख अंग (भय तथा व्यक्ति-हित राज्य का आधार है) उन्होंने अवश्य स्वीकार किया। इस दृष्टि से भी हाब्स के दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है।

परन्तु इस अपूर्व बुद्धि वाले व्यक्ति ने विश्व को एक संकुचित दृष्टिकोण से देखा। उसने व्यक्ति का केवल एक ही रूप परिलक्षित किया। यह रूप था—निजी कीर्ति की वृद्धि और दूसरों की बरबादी। उसने मानव समाज की बुराइयों का छिद्रान्वेषण किया। इस सम्बन्ध में रूसो कृत आलोचना अत्यन्त उपयुक्त होगी। रूसो ने कहा कि हाब्स का प्राकृतिक मनुष्य कैसा विचित्र प्राणी रहा होगा जो अपना सुख अपने बन्धुओं की बरबादी में पाता रहा हो। यह कैसे सम्भव है कि ऐसी जाति दो पीढ़ियों से अधिक जीवित रह सकी। यदि वास्तव में आदि मनुष्य की मनोवृत्ति ऐसी ही थी, जैसा हाब्स ने बताया था, तो अवश्य ही किसी न किसी रूप में वह मनोवृत्ति सभ्य समाज में प्रवेश करती। तब हम अपने बच्चों और बन्धुओं की मृत्यु पर प्रसन्न होते। जब कभी भी हम किसी व्यक्ति को सोते या असहाय पाते, तो हमारी सर्वप्रथम भावना उसे मारने की होती। दया और सहानुभूति को हम राक्षस की विशेषता समझते।

अतः हाब्स का दर्शन ऐसे त्रुटिपूर्ण मनोविज्ञान पर आश्रित है। ऐसा "राक्षस" (हाब्स का प्राकृतिक मनुष्य) कैसे राज्य जैसी सर्वोच्च राजनीतिक संस्था का निर्माण कर सकता है? यह असम्भव-सा लगता है। परन्तु यहाँ हाब्स की अपूर्व बुद्धि उसकी सहायता करती है। हाब्स ने कहा कि व्यक्ति का जीवन प्रेरणा तथा विवेक से संचालित होता है। प्रेरणा-प्रभावित जीवन ने प्राकृतिक मनुष्य को असह्य स्थिति में पहुँचाया। अब उसने विवेक की शरण ली। नैतिकतापूर्ण नैसर्गिक नियमों का अनुकरण करते हुए एक अनुबन्ध द्वारा उसने राज्य तथा समाज का निर्माण किया। वैसे तो यह वर्णन त्रुटिपूर्ण नहीं लगता। परन्तु विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हाब्स ने एक

असम्भव परिस्थिति का चित्रण किया था। इसके चित्रण के अनुसार एक ही क्षण में प्राकृतिक मनुष्यों ने स्पर्धापूर्ण जीवन का परित्याग कर सहयोगी जीवन को अपनाया। वर्षों के प्रेरणा-प्रभावित जीवन का पल भर में विवेक द्वारा अन्त हो गया। व्हान का कहना है कि ऐसा परिवर्तन या कायाकल्प धार्मिक तथा काल्पनिक कहानियों में भी नहीं मिलता। यह कैसे सम्भव है कि वे मनुष्य जो एक क्षण एक दूसरे के गले पर छुरी मारने को तत्पर थे, दूसरे क्षण एक दूसरे के गले मिलने लगे। मानव इतिहास में ऐसे कायाकल्प का कोई दृष्टान्त नहीं है। सत्य तो यह है कि जीवन में प्रेरणा और विवेक का साथ-साथ स्थान है। प्रायः सभी कार्यों में दोनों का स्थान होता है। हाँ, ऐसा अवश्य होता है कि किसी क्षण प्रेरणा की प्रधानता होती है और किसी क्षण विवेक की। इसके विपरीत हाव्स ने बताया कि वर्षों तक मानव जीवन प्रेरणा से ही संचालित होता था और ऐसे जीवन का अन्त अचानक विवेक द्वारा हुआ। यह अनुचित तथा अनैतिहासिक है।

हाव्स का अनुबन्ध तथा राज्य भी न्यायसंगत नहीं विदित होता। असह्य प्राकृतिक स्थिति से छुटकारा पाने के लिये तत्कालीन स्थिति के व्यक्तियों ने एक "दीर्घकाय" की स्थापना की। उन्होंने स्वेच्छा से इस "मानव-देव" की दासता स्वीकार की और वैयक्तिक स्वतंत्रता का परित्याग किया। लॉक ने ऐसे अनुबन्ध को न्यायरहित बताया। उसके अनुसार हाव्स का चित्रण ऐसा था। प्राकृतिक स्थिति का "हत्या" का भय काफी दूर था। वह एक ऐसी लोमड़ी या जंगली बिल्ली की भाँति था जो दूर हो। इस दूरस्थ लोमड़ी तथा बिल्ली रूपी "हत्या" से बचने के लिये प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों ने एक शेर रूपी "दीर्घकाय" की शरण ली। यह अनुचित-सा लगता है। रूसो ने भी ठीक कहा था कि जीवन और स्वतंत्रता प्रकृति की देन है। अतः स्वतंत्रता के परित्याग का अर्थ है मनुष्यता का परित्याग। कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से स्वतंत्रता तथा मानवता का परित्याग नहीं करेगा। परन्तु हाव्स के अनुसार व्यक्तियों ने "दीर्घकाय" की दासता स्वीकार की थी। अतः उसका विश्लेषण अनुचित तथा अप्राकृतिक-सा विदित होता है।

यह तो सत्य है कि हाव्स के दर्शन को न तो तत्कालीन राजतंत्र-प्रेमियों ने अपनाया था और न संसदीय नेताओं ने ही। राजतंत्र के भक्त दैवांश सिद्धान्त के अनुगामी थे। उस सिद्धान्त के अनुसार राजा का अधिकार दैवी तथा पैतृक माना जाता था। हाव्स ने राजतंत्र को न्यायसंगत तो अवश्य बताया, परन्तु उसका श्रेय अनुबन्ध तथा वास्तविकता को दिया। हाव्स वास्तविकता का अनुगामी था। उसके अनुसार

केवल राज्याज्ञा ही नियम है, क्योंकि उसका वास्तवीकरण राज्य की तलवार द्वारा हो सकता है। उसने यह भी कहा था कि वही शासक नागरिकों की भक्ति का पात्र माना जा सकता है जो सुरक्षा के कर्तव्य का वास्तवीकरण कर सके। अतः शासक का कोई दैवी तथा पैतृक अधिकार नहीं है; उसका अधिकार वास्तविकता से निर्धारित होता है। (कहा जाता है कि हाव्स ने क्रामवेल के शासन को न्यायसंगत बताने का दार्शनिक प्रयत्न किया था।) संसदीय नेताओं ने, जो सीमित राजतंत्र के अनुयायी थे, हाव्स के निरपेक्षतावादी दर्शन को स्वीकार न किया। स्वकालीन अनुयायियों की अनुपस्थिति में भी हाव्स एक युग-प्रवक्ता था, उसकी "लेवियाथन" एक युग-पुस्तक है, और उसका "दीर्घकाय" एक युग-संस्था।

जान लॉक

(John Locke, 1632-1704)

अनुबन्धवाद का दूसरा दार्शनिक जान लॉक था। उसके और हाव्स के दर्शन में आकाश पाताल का अन्तर है। केवल समानता यही है कि दोनों विचारक अनुबन्धवादी हैं। जहाँ हाव्स का दर्शन निरपेक्ष राजतंत्र का पक्षपाती है, वहाँ लॉक ने सीमित राजतंत्र की दार्शनिक पुष्टि की।

लॉक का जन्म एक मध्यमवर्गीय कुटुम्ब में हुआ था। उसका पिता प्यूरिटन सम्प्रदाय का अनुयायी था। १६४२-४९ के गृह-युद्ध काल में उसका पिता संसदीय सेना में एक पदाधिकारी बना। बचपन ही से लॉक का जीवन उदारवादी वातावरण में व्यतीत हुआ था। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वह वहाँ अध्यापक नियुक्त हुआ। वह यहाँ सुप्रसिद्ध वैज्ञानिकों के सम्पर्क में आया। १६६७ में वह लार्ड शेफ्ट्सबरी (Lord Shaftesbury) का निजी सहायक नियुक्त हुआ। लार्ड शेफ्ट्सबरी के साथ वह १६७५ तक रहा। शेफ्ट्सबरी ह्विग दल (Whig Party) का नेता था। इस सम्पर्क द्वारा लॉक को स्वकालीन राजनीति का ज्ञान हुआ। १६७५-७९ में वह क्षयरोग की चिकित्सा के लिए दक्षिणी फ्रांस में रहा। वहाँ एकान्त वातावरण में उसके राजनीतिक विचारों का बीजारोपण हुआ। १६७९-८२ में वह ब्रिटेन में रहा। शेफ्ट्सबरी के सम्पर्क के कारण वह शान्तिमय जीवन व्यतीत न कर सका। अन्य ह्विगों

की भाँति शेफ्टसबरी भी राज्यद्रोही समझा जाता था क्योंकि वह जेम्स द्वितीय को राजा बनाने के पक्ष में न था। लॉक भी राज्यद्रोही समझा जाने लगा।

तंग आकर १६८३ में लॉक हालैंड पहुँचा। १६८८ तक उसने वहाँ राजनीतिक शरणार्थी का जीवन व्यतीत किया। वह अन्य राजनीतिक शरणार्थियों के सम्पर्क में आया। लॉक पहले ही से निरपेक्षता-विरोधी विचारधारा का समर्थक था। निरपेक्षता विरोधी शरणार्थियों के साथ वाद-विवाद से उसकी विचारधारा को पुष्टि मिली। १६८३-८४ में उसने कुछ राजनीतिक पुस्तकें लिखीं। १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति के बाद वह ब्रिटेन लौटा। यहाँ १६९० में उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक (Two Treatises of Government) प्रकाशित हुई। उसकी अन्य पुस्तकें पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं। परन्तु राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से केवल यही पुस्तक महत्त्वपूर्ण है।

साधारणतः लॉक १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति का दार्शनिक कहा जाता है। उसने इस क्रान्ति के संवैधानिक परिवर्तनों को दार्शनिक दृष्टि से न्यायसंगत बताया। इस क्रान्ति से ह्विग मनोवृत्ति की विजय हुई थी। लॉक इस मनोवृत्ति का समर्थक था। रक्तहीन क्रान्ति और ह्विग मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि कुछ ऐसी थी। १६६० में ब्रेडा की घोषणा (Declaration of Breda) से संसदीय नेताओं ने चार्ल्स द्वितीय को राज्य-पद के लिये आमंत्रित किया था। इस घोषणा द्वारा राजा को आदेश दिया गया था कि वह संसद की अनुमति के बिना कोई नियम न बनाये। १६८५ में जेम्स द्वितीय, जो चार्ल्स द्वितीय का भाई था, गद्दी पर बैठा। जेम्स ने अपनी धार्मिक नीति से तत्कालीन दोनों दलों (टोरी और ह्विग) को अप्रसन्न कर दिया था। इन दोनों दलों ने मिलकर उसे राज्य-पद त्यागने के लिये बाध्य किया। संसद ने घोषित किया कि जेम्स द्वितीय ने अनुबन्ध (ब्रेडा की घोषणा) का उल्लंघन किया है और इसीलिये वह राज्य-पद से हटाया गया। इसके बाद विलियम और मेरी को राज्य-पद के लिए आमंत्रित किया गया। और इस प्रकार एक नवीन संवैधानिक युग आरम्भ हुआ।

इस नवीन शासन-प्रणाली को संवैधानिक रूप दो मुख्य नियमों द्वारा मिला—बिल ऑफ राइट्स (The Bill of Rights) और ऐक्ट ऑफ सेटल्मेंट (The Act of Settlement)। इन नियमों से कार्यपालिका संसद के अधीन बनी। संसद का राज्यकोष, राज्यनीति तथा सेना आदि पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित हुआ। इसी रक्तहीन क्रान्ति तथा इन्हीं नियमों के फलस्वरूप राजा नाममात्रीय सत्ताधारी बना और संसद सत्ताधारी संस्था बनी। जनवाद का बीजारोपण हुआ, और निरपेक्ष राजतंत्र का अन्त। मानव

प्रगति के इतिहास में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वभावतः इस क्रान्ति के दार्शनिक जान लॉक की विचारधाराओं का भी आधुनिक युग में उच्च स्थान है।

समस्या :—हाब्स के समक्ष सुव्यवस्था तथा राज्य की स्थापना की समस्या थी। इसके विपरीत लॉक का लक्ष्य था कि कैसे एक आदर्श सुव्यवस्था को न्यायसंगत बनाया जाय। यह आदर्श सुव्यवस्था थी, सीमित राजतंत्र। जहां हाब्स का ध्येय निरपेक्षता को न्यायसंगत बताना था; वहाँ लॉक संसदीय सत्ता तथा सीमित राजतंत्र की पुष्टि करना चाहता था। इस आधारभूत भेद के कारण इन दोनों वेत्ताओं के विश्लेषण भिन्न हैं।

प्राकृतिक स्थिति:—हाब्स की भाँति लॉक भी मानव इतिहास को दो भागों में विभक्त करता है—प्राकृतिक स्थिति और राज्य। परन्तु लॉक का चित्रण हाब्स से भिन्न है। हाब्स ने सभ्य मनुष्य की बुराइयों को प्राकृतिक स्थिति पर लागू किया। लॉक ने ऐसे मनुष्य के सद्गुणों को प्राकृतिक मनुष्य पर आरोपित किया।

लॉक के मतानुसार सर्जनहार ने मनुष्य को विवेकशील और सामाजिक प्राणी बनाया है। उसने मनुष्य के लिए नैसर्गिक नियम भी बनाये हैं। नैसर्गिक नियम नैतिकतापूर्ण हैं—जैसे सत्य बोलना अच्छा है, झूठ बोलना पाप है। इन नैसर्गिक नियमों को प्रत्येक व्यक्ति विवेक द्वारा जान सकता है। सामाजिकता और ये नियम व्यक्ति को प्रकृति से ही शान्ति-प्रिय, स्वतंत्रता-प्रिय और भ्रातृभाव-प्रिय बनाते हैं।

सर्जनहार ने मनुष्य को भूमि और उसके पदार्थ प्रदान किये हैं। ये सर्वसामान्य थे। साथ ही साथ स्रष्टा ने व्यक्ति को श्रम-शक्ति भी प्रदान की है। इस श्रम-शक्ति द्वारा व्यक्ति सामान्य वस्तुओं में से कुछ वस्तुओं को अपने प्रयोग में लाता है। ऐसी वस्तुएँ उसकी निजी सम्पत्ति बन जाती हैं। उदाहरणार्थ, नदी का पानी सर्वसामान्य वस्तु है। यदि एक मनुष्य उस पानी की कुछ मात्रा अपने श्रम द्वारा घर में लाकर रखले तो वह पानी उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति बन जाती है। श्रममिश्रण से ही एक वस्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति का रूप धारण करती है। लॉक का कहना था कि श्रममिश्रण का अर्थ है—व्यक्तित्व का मिश्रण।

प्राकृतिक मनुष्य एक विवेकशील, सामाजिक तथा नैतिक प्राणी था। वह नैतिकता-पूर्ण नैसर्गिक नियमों का अनुयायी था। प्राकृतिक स्थिति के मनुष्य एक दूसरे के व्यक्तित्व, व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार का आदर करते थे। वह स्थिति सुख, शान्ति, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की थी।

यदि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों के अधिकार पर आघात करता था, तो उसे नैसर्गिक

नियमों के अनुसार उचित दंड दिया जाता था। यह मान लिया जाता था कि अपराधी ने सर्वव्यापक नैसर्गिक नियमों के अतिरिक्त अन्य रीतियों को अपने जीवन का आधार बनाया है। क्योंकि नैसर्गिक नियम तो शान्ति और सुव्यवस्था के द्योतक थे। परन्तु दंड कौन देता था और कैसे दिया जाता था? सभी व्यक्ति विवेकशील थे। वे नैसर्गिक नियम को स्वतः जान लेते थे। पीड़ित स्वयं अपराधी को उचित दंड दे सकता था। दंड की मात्रा विवेक द्वारा निर्धारित होती थी। यह सर्वव्यापक नैसर्गिक नियम "जो जैसा करेगा, वैसा पायेगा" पर आश्रित था। दंड को कार्यान्वित करने में अन्य व्यक्ति पीड़ित की सहायता करते थे।

परन्तु थोड़े समय बाद प्राकृतिक स्थिति में कुछ असुविधाएँ उत्पन्न हुईं। सुखमय और न्यायपूर्ण जीवन में कुछ बाधाएँ पड़ीं। ये असुविधाएँ निम्नलिखित थीं :—

(१) कोई निश्चित, व्यवस्थित और स्पष्ट नियम न था। वैसे तो नैसर्गिक नियम स्पष्ट थे, परन्तु व्यक्ति पक्षपाती और अज्ञानी थे। वे अध्ययन नहीं करते थे। इसलिये उन्हें नियमों की पूर्ण जानकारी न थी। प्रायः सभी मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार इन नियमों को लागू करते थे। इसलिये लिखित और निश्चित नियम एवं मापदंड की आवश्यकता पड़ी जिससे भले-बुरे की परख स्पष्टतया हो सके।

(२) कोई निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश न था। प्रत्येक व्यक्ति अपने मामले में स्वयं ही न्यायाधीश हुआ करता था। ऐसी स्थिति में निष्पक्ष निर्णय सम्भव नहीं हो सकता था। अपने तथा अपने नातेदारों के विषय में व्यक्ति पक्षपात किया करता था। अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में लापरवाही का प्रदर्शन स्वाभाविक था। इस प्रकार एक स्वतंत्र न्यायाधीश की आवश्यकता विदित हुई।

(३) निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये भी कोई साधन नहीं था। अन्य व्यक्ति दंड को कार्यान्वित करने में पीड़ित की सहायता तो करते थे, परन्तु यह सहायता पूर्णतः स्वेच्छात्मक थी। कभी-कभी व्यक्ति आलस्य का भी प्रदर्शन करते थे। ऐसी परिस्थिति में निर्णय को लागू करने में असुविधा होती थी। पुलिस का होना आवश्यक लगा।

अनुबन्धः—प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों ने उक्त तीन असुविधाओं को दूर करने के लिये एक सभ्य समाज का निर्माण किया। हाब्स के परम्परानुसार लॉक ने सभ्य समाज (Civil Society) के जन्म का श्रेय अनुबन्ध को दिया है। परन्तु जहाँ हाब्स के अनुसार अनुबन्ध से व्यक्तियों ने सब अधिकार एक "दीर्घकाय" को समर्पित

किये थे, वहाँ लॉक के अनुसार व्यक्तियों ने केवल कुछ ही अधिकार सभ्य समाज को प्रदान किये। ये अधिकार उक्त असुविधाओं से सम्बद्ध थे। अन्य सब अधिकार व्यक्तियों ने अपने पास रखे।

वे समर्पित अधिकार क्या थे? सभ्य समाज को नैसर्गिक नियमों के अनुसार नियम-निर्माण का अधिकार दिया गया। वह निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश नियुक्त कर सकता था। साथ ही साथ नागरिक-समाज को यह भी अधिकार प्राप्त हुआ कि वह न्यायाधीश के निर्णय को कार्यान्वित कर सके। नागरिक-समाज को यह अधिकार प्राप्त न था कि वह नैसर्गिक नियमों या व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आघात कर सके। लॉक ने नैसर्गिक नियमों को सर्वव्यापक तथा सर्वोपरि माना था। व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के हेतु ही व्यक्ति ने सभ्य समाज की स्थापना की और असुविधा-सम्बन्धी उक्त तीन निजी अधिकारों का परित्याग किया।

सभ्य समाज की स्थापना से व्यक्तियों ने यह स्वीकार किया कि भविष्य में अपने जीवन-सम्बन्धी विषयों में वे बहुमत का निर्णय स्वीकार करेंगे। अतः इस नागरिक-समाज का संचालन बहुमत से होने लगा। यह समाज एक व्यक्ति-समूह था। इस समाज को अनुभव हुआ कि वह उक्त असुविधाओं को दूर करने में असमर्थ है। कारण स्पष्ट है—सैकड़ों मनुष्य न तो नियम-निर्माण कर सकते हैं और न न्यायालय तथा कार्यपालिका का ही काम।

इसलिये नागरिक-समाज ने एक व्यवस्थापिका सभा या संसद की स्थापना की। इस सभा को नियम-निर्माण सम्बन्धी अधिकार दिये गये। सभ्य समाज की भाँति यह सभा भी नैसर्गिक नियमों और व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकती थी। उसका कार्य केवल नैसर्गिक नियमों के अनुसार नियम सृजन करना था व्यवस्थापिका सभा की बैठकें स्थायी नहीं हुआ करती थीं और न हो ही सकती थीं। इसलिए संसद ने एक स्थायी कार्यपालिका की स्थापना की। इसका कार्य केवल नियमों को कार्यान्वित करना था। कुछ परिस्थितियों में कार्यपालिका नियम-निर्माण में भी भाग ले सकती थी। संसद को न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त था। न्यायाधीश नैसर्गिक नियमों पर आश्रित लिखित नियमों के अनुसार निर्णय करते थे। इस प्रकार राज्य के तीनों अंगों (संसद, कार्यपालिका और न्यायपालिका) की स्थापना हुई।

यहाँ एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है—सरकार या राज्य का जन्म कैसे हुआ?

लॉक इस विषय में स्पष्ट नहीं था। उसके विश्लेषण से विदित होता है कि शायद वह राज्य के जन्म का श्रेय अनुबन्ध को नहीं, वरन् एक निष्पक्ष लेख (Trust Deed) को देता है। इसलिए यह कहना गलत है कि लॉक के अनुसार दो अनुबन्ध हुए थे–एक से नागरिक-समाज की स्थापना और दूसरे से राज्य की। वास्तव में धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार सरकार के अंगों की स्थापना हुई। इन अंगों को संरक्षक बनाया गया। अतः लॉक के अनुसार मानव इतिहास में केवल एक ही अनुबन्ध हुआ था, दो नहीं। यह अनुबन्ध सामाजिक अनुबन्ध था, राजनीतिक नहीं। इससे सभ्य समाज का जन्म हुआ था, राज्य का नहीं। इस स्पष्टीकरण का श्रेय बार्कर को है।

राज्यः—लॉक ने अपनी पुस्तक में 'राजसत्ताधारी' शब्द का प्रयोग एक बार भी न किया। वह राज्य को राजसत्ताधारी संस्था नहीं मानता था। उसका राज्य एक संरक्षक की भाँति था। लॉक का राज्य प्रतिबन्धों से जकड़ा हुआ था।

राज्य की सत्ता सीमित थी। नैसर्गिक नियमों का उल्लंघन किसी भी परिस्थिति में न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। यदि सरकार इन नियमों का उल्लंघन करे तो लॉक के मतानुसार नागरिक-समाज (अर्थात् व्यक्ति) उस सरकार को हटा कर दूसरी की स्थापना कर सकता था। वैसे तो लॉक व्यवस्थापिका सभा को राज्य का प्राण मानता है। परन्तु यह सभा संरक्षक-मात्र है। वह नैसर्गिक नियमों और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आघात नहीं कर सकती। (यहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्पष्टीकरण आवश्यक है। लॉक के अनुसार इस सम्पत्ति में जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार निहित हैं।)

राज्य के कार्य सीमित थे। शिक्षा का प्रबन्ध करना, राज्य का कर्तव्य नहीं था। राज्य का कर्तव्य यह भी नहीं था कि वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नागरिकों की नैतिक प्रगति के सम्बन्ध में नियम बनाये। क्योंकि लॉक तो मनुष्य को प्रकृति से ही नैतिक मानता था। राज्य या नागरिक-समाज के पूर्व भी व्यक्ति नैतिक था। ऐसे व्यक्ति के लिये नैतिकता-सम्बन्धी नियम बनाने की कोई आवश्यकता न थी। अतएव राज्य का कार्य सुरक्षा और सुव्यवस्था तक ही सीमित होना चाहिये।

लॉक का राज्य एक संरक्षक (Trustee) था। नागरिक-समाज संरक्षण-कर्ता (Trustor) और भोक्ता (Beneficiary) भी था। एक निष्पक्ष लेख के ये तीन पक्ष माने जाते हैं। लॉक ने स्वयं इनका प्रयोग नहीं किया था, परन्तु उसके विश्लेषण की ये तुलनायें असंगत नहीं हैं। एक संरक्षक का भोक्ता के प्रति कोई अधिकार नहीं

होता, उसका केवल कर्तव्य ही होता है। "अ" संरक्षक को एक हजार रुपये "ब" की शिक्षा के लिये दिये गये। "अ" का कर्तव्य इस धन को "ब" की शिक्षा के लिये उपयोग में लाना है। उसे यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह उस धन को मनमाने रूप से व्यय करे। लॉक का संरक्षक-राज्य अपने अधिकारों को केवल नागरिक समाज की प्रगति के लिये ही प्रयोग में ला सकता था। वह सेवक था, स्वामी नहीं। एक संरक्षण-कर्ता की भाँति नागरिक-समाज को यह अधिकार प्राप्त था कि यदि राज्य की सरकार संरक्षण-कार्य उचित रूप से न करे, तो वह उसे हटाकर दूसरे संरक्षक को नियुक्त कर सकता है। (लॉक का यह सिद्धान्त १६८८ की क्रान्ति से सम्बद्ध है। संसद ने घोषित किया था कि जेम्स द्वितीय को राज-पद से इसलिये पृथक कर दिया गया था कि उसने उन सीमाओं का उल्लंघन किया जो १६६० में ब्रेडा की घोषणा द्वारा राजतंत्र पर लगा दी गयी थीं। उसके स्थान पर विलियम और मेरी राज-पद पर नियुक्त किये गये थे।)

इस प्रकार लॉक का राज्य जन-स्वीकृति पर आश्रित था। यदि राज्य के किसी अंग के संचालक मनमाने रूप से शासन करेंगे, तो उन्हें हटाया जा सकता है। नागरिक-समाज ही सर्वोच्च है। उसी ने संरक्षक राज्य की स्थापना की और उसीकी प्रगति राज्य का ध्येय है। उसे सरकार को हटाने और नयी सरकार की स्थापना का पूर्ण अधिकार है। नागरिक-समाज का अर्थ है नागरिकों की बहुसंख्या। अतः बहुसंख्यक व्यक्तियों की स्वीकृति सरकार के लिये नितान्त आवश्यक है। जिस समय सरकार इस स्वीकृति के विपरीत कार्य करती है, उस समय वह बदली जा सकती है। लॉक के दर्शन में व्यक्ति को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह प्रौढ़ होने पर राज्य की नागरिकता स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।

लॉक के अनुसार राज्य को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति पर मनमाना कर लगा सके। व्यक्ति, उसकी सम्पत्ति और नैसर्गिक नियम ही लॉक की दृष्टि में सर्वोच्च हैं। व्यक्ति की सम्पत्ति की सुरक्षा के हेतु ही नागरिक-समाज तथा राज्य की स्थापना हुई थी। इस सम्पत्ति पर राज्य तभी कर लगा सकता है जब व्यक्ति स्वयं या अपने प्रतिनिधियों द्वारा बहुमत से स्वीकृति दे।

लॉक ने राज्य-निरपेक्षता पर एक और भी प्रतिबन्ध लगाया था। सरकार के किसी भी अंग में अधिकारों का एकत्रीकरण नहीं होना चाहिये। संसद सर्वश्रेष्ठ संस्था है। कार्यपालिका के कर्तव्य पृथक हैं। लॉक ने कुछ संघीय कार्य भी गिनाये हैं।

ये हैं—युद्ध, शान्ति और सन्धि सम्बन्धी। इन कार्यों को पृथक मानते हुए भी उसने इन्हें कार्यपालिका को ही सौंपा था। लॉक ने न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार संसद को दिया था। परन्तु साथ-ही-साथ वह न्यायपालिका को कार्यपालिका का अंग मानता था। लॉक के इस वर्णन में शक्ति-विभाजन (Separation of Powers) के सिद्धान्त की झलक मात्र मिलती है। इसके आधार पर अट्ठारहवीं सदी में फ्रांस के वेत्ता मान्टेस्क्यू (Montesquieu) ने इस सिद्धान्त का पूर्णतः विश्लेपण किया और इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का एकमात्र आधार माना।

लॉक का राज्य एक सेवक संस्था था। वह संरक्षक था, स्वामी नहीं। जन-स्वीकृति इसका आधार थी, और जन-सेवा इसका लक्ष्य। व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति (जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति) की सुरक्षा तथा नैसर्गिक नियमों को लिपिवद्ध करना उसका एकमात्र कार्य था। बहुसंख्यक नागरिक-समाज उसका स्वामी था। परोक्ष रूप से व्यक्ति ही लॉक का सत्ताधारी था, राज्य नहीं। परन्तु व्यक्ति या नागरिक-समाज सुप्त सत्ताधारी हैं।

विद्रोह का अधिकार :—हाब्स ने व्यक्ति को "दीर्घकाय" का दास बनाया था। उसके मतानुसार नागरिक को राज्य के विरुद्ध कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं है। असह्य प्राकृतिक स्थिति से मुक्त होने के लिए हाब्स के प्राकृतिक मनुष्यों ने अपने सब अधिकार एक "मानव देव" को प्रदान कर दिये थे। इसके विपरीत लॉक के दर्शन में व्यक्ति का स्थान सर्वोच्च है, राज्य का नहीं। कुछ असुविधाओं को दूर करने के लिए मनुष्यों ने नागरिक-समाज तथा राज्य को सीमित अधिकार प्रदान किये थे। उन्होंने राज्य-विरोध का अधिकार अपने पास रखा था।

लॉक ने कार्यपालिका के अधिकारों को सीमित किया था। वह केवल उन्हीं नियमों को कार्यान्वित कर सकती है, जो संसद द्वारा बने हों। कार्यपालिका मनमाने तौर पर शासन नहीं कर सकती। लॉक ने स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ गिनायी थीं जिनमें कार्यपालिका का विरोध न्यायसंगत माना जा सकता है। ये थीं—राजा का मनमाना स्वशासन, संसद के कार्यक्रम और निर्वाचन में हस्तक्षेप, देश को विदेशी सत्ता के आधीन करना और संरक्षण कार्य में असफल होना। वास्तव में लॉक ने तत्कालीन संसदीय मांगों को दार्शनिक रूप दिया। उसके दर्शन में केवल वे ही दृष्टान्त राज्य-विरोध की दृष्टि से न्यायसंगत हैं जिन्हें ब्रिटेन ने १६८८ की क्रान्ति का आधार माना था। लॉक ने केवल राजतंत्र (कार्यपालिका) की सत्ता

को ही सीमित नहीं बनाया, अपितु संसद् पर भी प्रतिबन्ध लगाये। वह निरपेक्षता का शत्रु था—निरपेक्षता चाहे राजा की हो या संसद् की। उसने स्टुअर्ट नरेशों के एकाधिकार को तो न्यायरहित बताया ही, साथ ही दीर्घ संसद् की निरपेक्षता की भी परोक्ष रूप से आलोचना की थी। वह संसद् को राज्य का प्राण तो अवश्य मानता था, परन्तु निरपेक्ष नहीं। संसद् मनमाने नियम नहीं बना सकती। ये नियम सर्वोपरि नैसर्गिक नियमों के विपरीत नहीं हो सकते। लॉक के अनुसार संसद् नियम-निर्माण का कार्य किसी अन्य व्यक्ति अथवा संस्था को नहीं सौंप सकती। ऐसी परिस्थितियों में नागरिक-समाज द्वारा उसे अधिकारच्युत किया जा सकता है और एक नयी संसद् की स्थापना भी जा सकती है।

लॉक ने निरपेक्ष राजतंत्र को न्यायरहित बताया। एक निरपेक्ष शासक अपने मुकदमे में स्वयं ही न्यायाधीश होता है। उसके अपराध का निर्णय किसी स्वतंत्र निर्णायक मंडल द्वारा नहीं होता। वह उसी स्थिति में है जिसमें प्राकृतिक स्थिति का व्यक्ति था। वह व्यक्ति अपने मामले में स्वयं ही न्यायाधीश हुआ करता था। यही नहीं, एक निरपेक्ष राजा अपनी निरपेक्षता को प्रचार और धर्म आदि द्वारा न्यायसंगत बनाने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से उसका शासन प्राकृतिक स्थिति से भी गया बीता है। प्राकृतिक स्थिति को मनुष्यों ने क्यों त्यागा था? मुख्यतः इसलिए कि व्यक्ति अपने मामले में स्वयं न्यायाधीश हुआ करते थे। और इससे उचित न्याय की सम्भावना नहीं रहती थी। तो अब निरपेक्ष राजा के शासन को व्यक्ति क्यों स्वीकार करेंगे? लॉक का कहना था कि जो भी राजा निरपेक्षता को अपनाता है, वह स्वयं को प्राकृतिक स्थिति में डाल देता है। इसलिये नागरिकों को उसे पदच्युत करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये। अपराध उसी का है, उसने राज्य और नागरिक-समाज के बन्धनों का उल्लंघन किया है। ऐसी परिस्थिति में राज्य-विरोध पूर्णतः न्यायसंगत है। यदि कोई नरेश यह समझे कि उसके असाधारण अधिकार (Prerogatives) जन्मसिद्ध हैं, तो वह भ्रम में है। उसके सब अधिकार उसे जनता द्वारा प्राप्त हुए हैं। यदि जनता इन्हें वापस लेती है, तो वह कोई अन्याय नहीं करती।

जब कभी भी संसद् या व्यवस्थापिका सभा संरक्षण की सीमाओं का उल्लंघन करे या संरक्षण-कार्य में असफल हो, तब नागरिकों का अधिकार है कि वे संसद् को पद से हटा दें। संसद् अपराधी है, नागरिक-समाज नहीं। नागरिक-समाज सदा ही

सर्वश्रेष्ठ संस्था है। जनता या नागरिक-समाज को सदा संवैधानिक रूप से अत्याचारी शासक (चाहे वह राष्ट्रीय हो या विदेशी) का विरोध करने का अधिकार है। यदि संवैधानिक विरोध पर्याप्त न हो तो नागरिक-समाज हिंसात्मक विधि का भी प्रयोग कर सकता है। सरकार को भंग करने का अर्थ समाज को भंग करना नहीं है। यदि सरकार को हटा दिया जाय, तो व्यक्ति नागरिक-समाज में रहेंगे, प्राकृतिक स्थिति में नहीं। वस्तुतः विरोध का अधिकार सीमित राजतंत्र का एक रूप है। लॉक का मत था कि जनता तथा नागरिक-समाज ही सत्ताधारी है, राज्य सेवक तथा संरक्षक। जनता कभी भी अपने अधिकार का परित्याग न करेगी और न उसे ऐसा करना ही चाहिये। उसका यह अधिकार चिरस्थायी है।

लॉक व्यक्तियों की राजनीतिक सतर्कता के पक्ष में था। लास्की (H. J. Laski) ने ठीक ही कहा है कि लॉक की दृष्टि में सतर्कता ही स्वतंत्रता की भगिनी है। नागरिक अपनी स्वतंत्रता को तभी तक सुरक्षित रख सकते हैं जब वे सदा सतर्क रहें, जब वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहें, तथा जब वे सदा यह देखते रहें कि सरकार संरक्षण का कार्य ठीक से कर रही है या नहीं। यह सिद्धान्त आधुनिक जनवाद के लिए बड़ी देन है। परन्तु लॉक ने जनता को राज्य संचालक नहीं बनाया था। वह जनता को एक सुप्त सत्ताधारी मानता था। जनता अपनी सत्ता का प्रयोग हर समय नहीं कर सकती। कुछ विशेष परिस्थितियों में ही उसका प्रयोग होता है। लॉक का कहना था कि राज्य-विरोध केवल बहुमत की स्वीकृति से होना चाहिये। यह प्रतिबन्ध भी जनता की सत्ता को सीमित बनाता है। उसने स्वयं स्वीकार किया था कि ऐसी विशेष परिस्थितियाँ कम ही आया करती हैं; क्योंकि जनता परम्परा का विरोध साधारणतः नहीं करती। अतः लॉक का दर्शन प्रतिबन्धों का दर्शन है—राज्यसत्ता पर प्रतिबन्ध और जन-सत्ता पर प्रतिबन्ध।

समीक्षा:—(१) लॉक की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने समाज को (Community) अपने दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और सरकार को समाज के अधीन बनाया। यह विचारधारा मध्यकालीन यूरोप से चली आ रही थी। १३वीं सदी में थामस एक्वानस ने कहा कि शासकों का समाज के प्रति उत्तरदायित्व है, उनका कार्य सुव्यवस्था और सुशासन है; वे नैतिक नियमों (चिरस्थायी नियम, दैव नियम और नैसर्गिक नियम) के अधीन हैं। समाज ही सर्वश्रेष्ठ है, सरकार एक

संरक्षक की भाँति है। १६वीं सदी में ब्रिटेन में हूकर (Richard Hooker) ने इस परम्परा को पुनः जागरित किया था। उसने कहा कि आंग्ल-समाज चिरस्थायी एवं सर्वश्रेष्ठ है। परिस्थिति के अनुकूल सरकारें बदलती रहती हैं; और धार्मिक मतभेदों से सामाजिक एकता पर ठेस नहीं लगती।

लॉक ने हूकर की विचारधारा को अपनाया। वह स्वयं इसको परोक्ष रूप से स्वीकार करता है। उसने भी समाज (सभ्य-समाज या नागरिक-समाज) को सर्वश्रेष्ठ और चिरस्थायी माना। समाज द्वारा सरकारें बदली जा सकती हैं। सरकार के भंग होने पर समाज भंग नहीं होता। तथ्य यह है कि आंग्ल-समाज स्थायी है। वास्तव में लॉक ने तत्कालीन समाज के वर्गीकरण को चिरस्थायी रूप दिया। उसकी आदर्श योजना में राजतंत्र और लार्ड सभा (House of Lords) का भी स्थान है। उसके दर्शन की पृष्ठभूमि में यह धारणा थी कि बेमेल तथा विरोधात्मक वर्गों का सामंजस्य सम्भव है। ऐसी धारणा ब्रिटेन में १६वीं और १७वीं सदियों के शासक-वर्ग में व्यापक थी। १६८८ के संसदीय नेता भी इस विचारधारा के अनुयायी थे। स्वभावतः इस सामाजिक सामंजस्य और सामाजिक सत्ता को दार्शनिक रूप देने का श्रेय रक्तहीन क्रान्ति (१६८८) के दार्शनिक लॉक को था।

१८वीं सदी के ह्निग नेताओं ने भी इस परम्परा को अपनाया। बर्क (Edmond Burke) ने उस सदी के अन्त में इसको पुनः दार्शनिक रूप दिया, जो आधुनिक रूढ़िवाद का आधार बना। रूढ़िवादी दर्शन का यह तथ्य है कि बेमेल वर्गों और सामाजिक मतभेदों की उपस्थिति में भी देशवासियों को चिरस्थायी सामाजिक एकता भंग नहीं करनी चाहिये। अतः लॉक ने मध्यकालीन परम्परा को आधुनिक युग के नये वातावरण में प्रस्तुत किया। (यह मध्यकालीन विचारधारा हिन्दू धर्म से मिलती जुलती है। हिन्दू समाज को भी चिरस्थायी माना जाता है। वर्णव्यवस्था इसकी एकता में बाधक नहीं मानी जाती। शासकवर्ग समाज और धर्म के प्रति उत्तरदायी माने जाते थे। राज्य के नियम धर्म या नैतिक नियमों के आधीन थे। समाज और वर्णाश्रम धर्म चिरस्थायी था।)

(२) लॉक ने व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति को अपने दर्शन में उच्च स्थान दिया। उसके दर्शन का तथ्य था कि व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति (जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति) की सुरक्षा के लिए ही नागरिक-सामाज तथा राज्य की स्थापना हुई है। यदि सरकार इस संरक्षण और रक्षा के कार्य में असफल होती है, तो नागरिक इसे बदल सकते हैं।

यह विचारधारा हाब्स की परम्परा के अनुसार है। हाब्स ने कहा था कि जीवन रक्षा के हेतु ही राज्य का जन्म हुआ था। जीवन रक्षा राज्य का सर्वश्रेष्ठ कार्य है। हाब्स के मनोविज्ञान को लोगों ने स्वीकार नहीं किया। परन्तु यह सभी ने स्वीकार किया कि व्यक्ति की स्वार्थपूर्ति ही राज्य का आधार है। यह विचारधारा १६८८ के संसदीय नेताओं के दर्शन की पृष्ठभूमि में थी। उनका अटूट विश्वास था कि व्यक्ति की सम्पत्ति पर राज्य आघात नहीं कर सकता; इसी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए राज्य है। लॉक ने इस स्वार्थ पूर्ति (व्यक्तिगत सम्पत्ति) की सुरक्षा को दार्शनिक रूप दिया।

लॉक की यह विचारधारा परोक्ष रूप से १८ वीं और १९ वीं सदी के व्यक्तिवाद का आधार बनी। स्वतंत्रता प्रेमी दार्शनिकों ने व्यक्ति को सदा ही उच्च स्थान दिया है। वे सब लॉक की विचारधारा से प्रेरित हुए हैं। उन्होंने भी राज्य को दासतुल्य बनाया और व्यक्ति को स्वामी।

परन्तु लॉक का विश्लेषण त्रुटिपूर्ण-सा लगता है। एक ओर तो वह समाज को सत्ताधारी बनाता है और दूसरी ओर व्यक्ति को। वास्तव में या तो समाज ही सत्ताधारी हो सकता है या व्यक्ति। सेबाइन (S. G. Sabine) ने ठीक ही कहा है कि लॉक का दर्शन इस दृष्टि से बेमेल-सा है। समाज और व्यक्ति दोनों साथ ही साथ सत्ताधारी नहीं हो सकते। (या तो वर्णाश्रम धर्म ही सत्ताधारी है या नागरिक, अछूत सहित)।

(३) लॉक के दर्शन का प्रभाव आधुनिक व्यक्तिवाद पर पड़ा था। बहुत हद तक वह यूरोप के उदारवादी दर्शन का जन्मदाता माना जाता है। उसने उस परम्परा का बीजारोपण किया जिसके अनुसार राज्य एक आवश्यक विकार माना जाता है। लॉक ने कहा था कि व्यक्ति प्रकृति से ही नैतिक है। इसलिये राज्य को नैतिकता तथा शिक्षा सम्बन्धी कोई भी कार्य नहीं अपनाना चाहिये। राज्य का कार्य केवल सुरक्षा तक ही सीमित होना चाहिये।

परन्तु लॉक की धारणा मूलतः गलत है। उसके अनुसार सभ्य समाज के पूर्व से ही व्यक्ति नैतिक था। यदि लॉक का चित्रण न्याययुक्त है, तो ऐसे नैतिकतापूर्ण व्यक्तियों को राज्य की स्थापना की आवश्यकता क्यों पड़ी? यदि प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों का जीवन नैतिकतापूर्ण था, तो प्राकृतिक स्थिति क्यों असुविधाजनक हो गयी? वास्तव में नैतिकता का बोध समाज की देन है, वह प्राकृतिक स्थिति में सम्भव नहीं। फिर मनुष्य जाति का इतिहास एक अवनति का इतिहास नहीं है जैसा लॉक ने बताया था। लॉक ने यह कहीं नहीं बताया कि उसका नैतिकतापूर्ण व्यक्ति कैसे अवनति की ओर अग्रसर हुआ

और असुविधाजनक परिस्थिति में पहुँचा। यही नहीं, लॉक की प्राकृतिक स्थिति के मनुष्य को केवल नैतिक ही नहीं वरन् संवैधानिक ज्ञान भी था। लॉक ने कहा कि नागरिक समाज की स्थापना से व्यक्तियों ने स्वयं को बहुमत के अधीन बनाया। वास्तव में नैतिकता की भाँति बहुमत का ज्ञान भी सभ्य समाज की देन है।

(४) लॉक ने राज्य को जनस्वीकृति के अधीन बनाया। बहुसंख्यक जनता सरकार को बदल सकती है। राज्य जनता के प्रति उत्तरदायी है। वह नैतिकता से परे नहीं है वरन् नैतिकता के अधीन है। व्यक्ति की स्वतंत्रता और समृद्धि की सुरक्षा राज्य का सर्वप्रथम कार्य है। व्यक्ति या व्यक्ति-समूह सत्ताधारी है। उसे राज्य-विरोध का अधिकार है। राज्य केवल एक संरक्षक है, स्वामी नहीं। लॉक ने सुप्रसिद्ध शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का भी बीजारोपण किया था। ये विचार (जनस्वीकृति, राज्य-विरोध, शक्ति-विभाजन और संरक्षक राज्य) आधुनिक जनवाद के स्तम्भ माने जाते हैं। यहाँ यह बताना अनुचित न होगा कि लॉक जनवाद के सार का जन्मदाता है, ढाँचे का नहीं। क्यों उसने राजतंत्र और लार्ड सभा—ऐसी प्रतिक्रियावादी संस्थाओं को अस्वीकार नहीं किया।

परन्तु लॉक ने राज्य को पूर्णतः व्यक्ति की स्वेच्छा का दास बना दिया था। यदि राज्य नैसर्गिक नियमों का उल्लंघन करता है; तो नागरिक उसे बदल सकते हैं। लॉक के मतानुसार नैसर्गिक नियम साधारण और स्पष्ट थे। विवेक द्वारा प्रत्येक व्यक्ति उन्हें समझ सकता है। तथ्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति नैसर्गिक नियम के उल्लंघन की आड़ में राज्य का विरोध कर सकता है। फिर लॉक के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रौढ़ होने पर राज्य की नागरिकता स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। यह स्वेच्छा की चरम सीमा है। ऐसी परिस्थितियों में राज्य का संचालन कठिन ही नहीं; असम्भव भी हो सकता है।

(५) लॉक की सम्पत्ति के सिद्धान्त का आधुनिक अर्थशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। लॉक का कहना था कि व्यक्तित्व-मिश्रण या श्रम-मिश्रण द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म होता है। यह सिद्धान्त ड्राइवर (C. H. Driver) के मतानुसार एक अविस्फुटित बम की तरह था। इसी सिद्धान्त के आश्रय में भविष्य के क्रान्तिकारी और समाजवादी अर्थशास्त्र का विकास हुआ। श्रम-सिद्धान्त को १९ वीं सदी के नेताओं ने अपनाया। कोबेट (Cobbett); हाजस्किन (Hodgskin); ग्रे (Grey); रेवेन्सटन (Ravenston) ने इस सिद्धान्त को अपने दर्शनों में अपनाया। रिकार्डो (David Ricardo) ने इस सिद्धान्त के आधार पर यह विश्लेषण किया कि श्रम द्वारा

वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। मार्क्स (Karl Marx) ने इस सिद्धान्त को अपने क्रान्तिकारी दर्शन का एक प्रमुख आधार बनाया। आज सभी साम्यवादी इस सिद्धान्त के अनुगामी हैं।

लॉक के श्रम-सिद्धान्त का दार्शनिक प्रगति पर तो अवश्य प्रभाव पड़ा; परन्तु यह सिद्धान्त जनता की आर्थिक दुर्व्यवस्था का कारण भी बना। मध्यकालीन व्यवस्था में भूमि के स्वामी संरक्षक समझे जाते थे। इस नाते वे गरीब जनता के सहायक माने जाते थे। १६८८ के क्रान्ति के पूर्व ब्रिटेन में आर्थिक परिवर्तनों के कारण सम्पत्ति के स्वामी भूमि को निजी सम्पत्ति मानने लगे। अब संरक्षक की भावना धीरे-धीरे लुप्त हुई। संसदीय नेताओं ने स्टुअर्ट नरेशों का विरोध निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त के आधार पर किया था। उनका कहना था कि नरेश किसी नागरिक की सम्पत्ति पर, बिना उसके या उसके प्रतिनिधि की स्वीकृति के कर नहीं लगा सकता। कहा जाता है कि १७ वीं सदी का नरेश-संसद संघर्ष वास्तव में राजा के दैवी अधिकार और सम्पत्ति के दैवी अधिकार से सम्बद्ध था। १६८८ के संसदीय नेताओं की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में निजी सम्पत्ति का सिद्धान्त भी था। इस विचारधारा को लॉक के श्रम सिद्धान्त ने दार्शनिक पुष्टि दी।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार लार्ड ऐक्टन (Lord Acton) का कहना है कि लॉक कुलीनतंत्र की सरकार का दार्शनिक था। अब सम्पत्ति के स्वामियों ने खुले आम पुरानी परम्परा को ठुकराया एवं श्रम सिद्धान्त द्वारा भूमि आदि को निजी सम्पत्ति समझा और यह घोषित भी किया। वे निर्दोष बनें। उन्होंने गरीब किसानों और बेरोजगारों के प्रति कोई सहानुभूति न दिखायी। निजी सम्पत्ति पर कर लगाने की प्रथा का उन्होंने विरोध किया। इस नवीन विचारधारा के फलस्वरूप १८वीं सदी के ब्रिटेन में बहुसंख्यक जनता की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। दार्शनिक दृष्टि से भी लॉक का सम्पत्ति का सिद्धान्त न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। इस सिद्धान्त के साथ-साथ पैतृक सम्पत्ति का सिद्धान्त भी मिला हुआ है। यदि लॉक के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाय तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि प्राकृतिक स्थिति में पैतृक सम्पत्ति की प्रथा व्यापक थी। वास्तव में यह प्रथा सुव्यवस्था तथा सभ्य समाज की देन है। प्राकृतिक स्थिति में यह सम्भव न थी।

(६) लॉक के दर्शन का प्रभाव ब्रिटेन के अतिरिक्त फ्रांस, अमेरिका आदि देशों में भी पड़ा। जैसा ऊपर बताया गया है, ब्रिटेन में उसके दर्शन द्वारा १८वीं

सदी के आर्थिक-अन्याय और ब्रिटिश रूढ़िवाद का जन्म हुआ। (ब्रिटेन के मनोविज्ञान और आध्यात्म दर्शन को भी लॉक की एक बड़ी देन है। उसने उस परम्परा का बीजारोपण किया जिसके अनुसार ज्ञान का स्रोत अनुभव माना जाता है। परोक्ष रूप से इस विचारधारा द्वारा उपयोगितावाद का जन्म हुआ।) परन्तु फ्रांस और अमेरिका में लॉक के विचारों का प्रभाव जनवादी था। अमेरिका की स्वतंत्रता के नेता (१७६५-७१) और फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) के नेता लॉक के द्वारा प्रचारित व्यक्तिगत स्वतंत्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, जनस्वीकृति, बहुमत द्वारा राज्य और शक्ति-विभाजन के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए। कहा जाता है कि अमेरिका के संविधान-निर्माता लॉक की पुस्तक (Two Treatises of Government) को बाइबिल के समान मानते थे। लॉक के सिद्धान्तों को संवैधानिक रूप दिया गया। लॉक ने नैसर्गिक नियमों को राज्य-नियमों से उच्च स्थान दिया था। इसी परम्परा के अनुसार अमेरिका के संविधान में संवैधानिक नियमों का राज्य के नियमों से उच्च स्थान है। फ्रांस के प्रगतिशील नेता १६८८ के पश्चात् के ब्रिटेन को अपना आदर्श मानते थे। स्वभावतः लॉक का दर्शन फ्रांस के क्रान्तिकारियों के लिये पथ-प्रदर्शक बना। अस्तु, लॉक के दर्शन का इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

परन्तु साथ ही साथ उसका सिद्धान्त ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत है। उस की विचारधारा पर अमेरिका के तत्कालीन इतिहास का प्रभाव पड़ा था। अमेरिका और अन्य पिछड़े हुए देशों के मूल निवासियों का चित्रण उस समय के यूरोपियन साहित्य में प्रचलित था। इस चित्रण के आधार पर लॉक ने प्राकृतिक मनुष्य और स्थिति का वर्णन किया था। परन्तु यह असन्तोषजनक है। वहान ने ठीक ही कहा है कि लॉक यूरोप के विषय में लिखता है परन्तु पाठकों के सम्मुख अमेरिका की ओहियो नदी के तट पर रहने वाले व्यक्तियों के समाज का विश्लेषण करता है। रूसो के मतानुसार लॉक ने सभ्य समाज के व्यक्ति के सद्गुणों को प्राकृतिक स्थिति पर लागू किया। इस प्रकार लॉक का विश्लेषण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सत्य नहीं है।

दी। अयोग्यता आदि के कारण इस नौकरी पर वह केवल दो ही वर्ष (१७४३-४४) तक टिक सका। अब फिर उसने मित्रों को तंग करना शुरू किया। अततः समाज से तंग आ कर उसने शिष्ट समाज से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और गरीबों की बस्तियों में रहना प्रारम्भ किया। उसने शराब की दूकान की एक नौकरानी से मैत्री की। इस स्त्री से उसने विवाह तो नहीं किया, परन्तु पांच बच्चे अवश्य पैदा किये।

अक्टूबर १७४९ में उसने एक विज्ञप्ति देखी। इस विज्ञप्ति में सबसे अच्छे निबन्ध के लिए पारितोषिक की घोषणा की गई थी। निबन्ध का विषय था—"क्या विज्ञान और कला की प्रगति से नैतिकता की वृद्धि हुई या अवनति?" (Has the Progress of Sciences and Arts contributed to corrupt or purify Morals?) रूसो ने एक सुन्दर निबन्ध लिखा और पारितोषिक प्राप्त किया। यह निबन्ध उसके जीवन में परिवर्तन का कारण बना। रूसो का ही एक ऐसा निबन्ध था जिसने बताया कि विज्ञान और कला की वृद्धि से सभ्यता और नैतिकता की वृद्धि नहीं हुई, प्रत्युत पतन ही हुआ। उस काल के फ्रांस के बुद्धिजीवियों के लिए यह पूर्णतया नवीन विचारधारा थी। इस लेख के पश्चात् रूसो ने कई लेख तथा कई पुस्तकें लिखीं।

आवारा रूसो एक दार्शनिक बना। १७४९ में उसका कला और विज्ञान पर निबन्ध (The Discourse on Arts & Sciences) प्रकाशित हुआ। १७५४ में असमानता के जन्म पर उसने एक पुस्तक (The Discourse on the Origin and the Foundation of Inequalities of Men) प्रस्तुत की। इस पुस्तक में प्राकृतिक स्थिति तथा राज्य और समाज के जन्म का वर्णन मिलता है। १७५८ में उसने अर्थशास्त्र (Introduction to Political Economy) पर एक लेख लिखा। इस लेख में रूसो की आदर्श सामान्य इच्छा (General Will) और आदर्श राज्य का वर्णन है। १७६२ में उसने दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं (The Social Contract और The Emile)। 'येमिल' शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक है। उसने प्रचलित शिक्षा-प्रणाली, मुख्यतः धर्म-प्रभावित शिक्षा, का विरोध किया। सुप्रसिद्ध पुस्तक "सामाजिक अनुबन्ध" में उसके राजनीतिक दर्शन और आदर्श राज्य की व्याख्या मिलती है।

'येमिल' के प्रकाशन के फलस्वरूप उसे फ्रांस छोड़ना पड़ा। पादरियों ने उसकी पुस्तक को जलवाया। सरकार ने भी पादरियों का पक्ष लिया। रूसो अपने जन्मस्थान जेनेवा पहुँचा, परन्तु वहाँ भी उसे रहने की आज्ञा न मिली। अपने शेष जीवन काल

में वह ब्रिटेन, प्रशा आदि देशों में भटकता रहा। कभी-कभी वह अर्द्धविक्षिप्त की दशा में हो जाता था। जीवन के इस अंतिम भाग में उसने अपनी जीवनी (The Confessions) लिखी। उसने पोलैंड और कार्सिका के लिए आदर्श संविधान भी प्रस्तुत किये।

विशेषतायें :—रूसो की जीवनी का प्रभाव उसके विचारों पर पड़ा था। बचपन से उसकी धर्म की ओर रुचि थी। धार्मिक दृष्टिकोण से मानव-जाति का इतिहास एक अवनति का इतिहास है। रूसो ने भी मानव इतिहास का चित्रण इसी प्रकार किया। वह कई वर्षों तक आवारा रहा। उसका कहना था कि उसका ऐसा जीवन सामाजिक परिस्थितियों के कारण था। फिर आवारा और निकम्मा होते हुए भी उसके मित्रों ने उसे सदा सहायता दी। इस अनुभव ने रूसो में यह धारणा प्रबल की कि प्रकृति से मनुष्य नेक है, समाज उसे बुरा बना देता है। यह धारणा उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का तथ्य है। बचपन में ही उसका पिता उससे कहा करता था "जॉन जाक रूसो! अपने देश को प्यार करो।" रूसो अपने जीवन-काल के अन्त तक अपने आदर्श जन्मस्थान को नहीं भूला। उसका आदर्श राज्य जेनेवा के शासन का प्रतिबिम्ब है।

रूसो की ख्याति का कारण यह था कि उसका दर्शन जनसाधारण के हृदय के अनुकूल था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पूर्व किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उनका असीमित शोषण किया जाता था। मध्यम वर्ग में निराशा और उदासीनता छाई हुई थी। उस युग के विद्वानों (वाल्टेयर Voltaire, डिडीरो Diderot आदि) के अनुसार मनुष्य एक विवेकशील प्राणी माना जाता था। उनका कहना था कि मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है। यदि व्यक्तियों को तर्क द्वारा बता दिया जाय कि सभ्यता की निरन्तर प्रगति होती आयी है तो वे स्वयं ही सच्चे और अच्छे मार्ग को अपनायेंगे। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप मानव-जाति स्वतः प्रगति की ओर अग्रसर होगी। रूसो ने इन सब महान् विचारकों (जो Encyclopaedists के नाम से प्रसिद्ध थे) के विपरीत एक नवीन विचारधारा प्रस्तुत की।

रूसो के मतानुसार व्यक्ति के जीवन में भावना का स्थान विवेक से ऊँचा है। विज्ञान और कला की प्रगति से मानव की नैतिक अवनति हुई है, प्रगति नहीं। आधुनिक सभ्यता ने मनुष्य को व्यभिचारी और अनैतिक बना दिया है। समकालीन शिक्षा-प्रणाली त्रुटियों एवं दोषों से पूर्ण है। समाज में दमन और दुःख व्यापक है। सभ्यता के पूर्व व्यक्ति का जीवन आदर्शमय था। ऐसी नवीन विचारधारा निराशापूर्ण और उदासीन मध्यम वर्ग और गरीब किसानों के हृदय को अच्छी लगी। जहाँ तत्कालीन दार्शनिकों

कुशलता पर जोर दिया था, रूसो ने स्वतंत्रता को सर्वोच्च स्थान दिया। प्रायः सभी दार्शनिक राजतंत्र के समर्थक थे और संघों एवं धार्मिक संस्थाओं के विरोधी थे। रूसो का दर्शन राजतंत्र का कट्टर विरोधी था। इन विशेषताओं ने रूसो को बुद्धिजीवियों और गरीब किसानों का आदर्श दार्शनिक बनाया।

रूसो की तुलना गांधीजी से की जा सकती है। रूसो की भांति ही गांधीजी ने भी स्वकालीन विद्वानों की विचारधारा के विपरीत एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उसी की भाँति, और भारतीय उदारदल के नेताओं के विपरीत गांधीजी का कहना था कि आधुनिक सभ्यता शैतानतुल्य (Satanic) है। इस सभ्यता से नैतिकता और मानवता की प्रगति नहीं हुई है, प्रत्युत अवनति ही सब ओर दृष्टिगोचर है। रूसो की भांति गाँधीजी ने भी प्राचीन व्यक्ति और जीवन को आदर्शमय बताया। उसकी ही भांति गांधीजी की विचारधारायें निराशापूर्ण और उदासीन बुद्धिजीवियों और जनता के हृदय के अनुकूल थीं।

प्राकृतिक स्थिति :—अति प्राचीन प्राकृतिक स्थिति का चित्रण रूसो के पारितोषिक-प्राप्त निबन्ध में मिलता है। मनुष्य उस युग में नेक, सुखी, सीधे, चिन्तारहित, स्वस्थ, शान्तिप्रिय, एकान्त-प्रिय और सन्तुष्ट थे। कोई निजी घर न था और न सम्पत्ति ही। जहाँ मन में आता, व्यक्ति स्वतंत्रता-पूर्वक विचर सकता था। न तो विवाह की ही प्रथा थी और न कोई कुटुम्ब ही था। भूमि के उत्पादन से सभी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति हो जाती थी। कोई वस्त्र समस्या भी न थी। पूर्ण समानता और स्वतंत्रता व्यापक थी।

रूसो के इस चित्रण पर उसकी बचपन की धार्मिक प्रवृत्ति की छाया स्पष्ट है। यह प्राकृतिक स्थिति आदर्श स्वर्ण युग की याद दिलाती है। रूसो ने बताया कि प्राकृतिक स्थिति में आधुनिक समाज की बुराइयां (जैसा कि हॉब्स ने चित्रित किया था) नहीं थी। उस युग में आधुनिक समाज की भलाइयां (जैसा कि लॉक ने बताया था) भी न थी। उस युग में विशुद्ध प्राकृतिक मनुष्य थे। मनुष्य एक नेक जङ्गली (noble savage) की भांति था।

हाब्स की आलोचना करते हुए रूसो ने कहा कि प्राकृतिक स्थिति युद्ध की स्थिति नहीं थी। युद्ध तो वस्तुओं के लिए होता है, व्यक्तियों के लिए नहीं। वस्तुएं तथा निजी सम्पत्ति केवल राज्य या सभ्य-समाज में ही सम्भव हो सकती है, प्राकृतिक स्थिति में नहीं। इसलिए उस युग में युद्ध की सम्भावना करना सारहीन है।

लॉक के विपरीत रूसो का मत था कि प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य नैतिकतापूर्ण नहीं थे। नैतिकता तो समाज और राज्य की देन है। प्राकृतिक मनुष्य को भले-बुरे,

न्याय-अन्याय और मृत्यु का भी ज्ञान नहीं था। यहाँ यह बतलाना आवश्यक होगा कि रूसो ने परम्परागत प्राकृतिक नियमों के सिद्धान्त का पूर्णतः खंडन किया था। यह खंडन उसके एक अप्रकाशित अध्याय में, जो सामाजिक अनुबन्ध नामक पुस्तक में था, मिलता है। यह उसकी महान् दार्शनिक देन थी।

हाब्स और लॉक के चित्रण से रूसो का प्राकृतिक स्थिति का चित्रण अधिक न्याय-संगत मालूम होता है। वैसे तो प्राकृतिक स्थिति ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है, परन्तु यदि कभी ऐसी स्थिति रही हो, तो शायद रूसो के चित्रण के अनुकूल रही होगी। व्यक्ति स्वभाव से न तो इतना असामाजिक है जैसा कि हाब्स ने बताया था और न इतना नैतिकतापूर्ण ही है जैसा लॉक का मत था। शायद अति प्राचीन मनुष्य वैसा ही सीधा-सादा रहा हो जैसा कि रूसो ने बताया है।

सभ्यता और उसका जन्म :—मानव जाति प्राकृतिक स्थिति से कैसे सभ्य-समाज की ओर बढ़ी? रूसो की पुस्तक "असमानता का जन्म" (The Discourse on the Origin and the Foundation of Inequality) में सभ्य-समाज के जन्म और उसके आधुनिक रूप का चित्रण मिलता है। एक मनुष्य ने एक भूमि के टुकड़े को घेरा और कहा कि यह मेरा है। उसने अन्य भोले मनुष्यों से उस टुकड़े पर अपना अधिकार स्वीकार करवाया। रूसो का कहना था कि यह मनुष्य ही सभ्य-समाज का जन्मदाता है। इसके बाद अन्य मनुष्यों ने भी अन्य भूमि के टुकड़ों पर स्वामित्त्व स्थापित किया और अपने स्वामित्त्व को समाज से स्वीकार करवाया। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति और असमानता ही सभ्य-समाज की धात्री है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा और असमानता को स्थायी बनाने के लिए नियमों, पुलिस आदि की आवश्यकता पड़ी। धीरे-धीरे सरकार या राज्य के अंगों का जन्म हुआ। ये संस्थायें अमीरों के अत्याचार को स्थायी बनाने में सहायक बनीं। सभ्य-समाज के जन्म से दुःख और दरिद्रता का जन्म हुआ। जैसे-जैसे समाज और सभ्यता की वृद्धि हुई, वैसे-वैसे गरीबी, भूख, शोषण, हत्या, बीमारी आदि बढ़ती गई। यह अवनति का चित्र तत्कालीन फ्रांस की सामाजिक स्थिति का चित्र था।

रूसो की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सामाजिक अनुबन्ध' (The Social Contract) के प्रथम अध्याय का ऐतिहासिक प्रथम वाक्य ऐसा है—"मनुष्य स्वतंत्र जन्मा है, परन्तु सभी ओर जंजीरों से जकड़ा हुआ है" (Man is born free, and everywhere he is in chains)। अर्थात् अति प्राचीन मनुष्य स्वतंत्र था, लेकिन आज वह चारों ओर

समाज के प्रतिबन्धों से जकड़ा हुआ है। कुछ ऐसा ही विचार रूसो की पुस्तक 'येमिल' (The Emile) में भी मिलता है। ईश्वर ने मनुष्य को पवित्र बनाया है, समाज उसे अपवित्र बनाता है।

मनुष्य जाति की अवनति का उक्त चित्रण रूसो के व्यक्तिगत अनुभव का प्रतिबिम्ब है। उसने स्वीकार किया है कि वह स्वयं नेक था, परन्तु समाज की परिस्थितियों ने उसे बुरा तथा आवारा बना दिया। फिर इस आवारा रूसो को उसके मित्रों ने सहायता दी। यह सहायता भी व्यक्ति की सद्भावना का द्योतक है। रूसो का ऐसा अवनति का चित्रण धार्मिक ग्रन्थों के चित्रणों के अनुकूल था। रूसो का यह वर्णन उसकी धार्मिक शिक्षा के अनुकूल है। इस चित्रण का प्रभाव उस समय की जनता पर अत्यधिक पड़ा। गरीब किसान और अन्य उदासीन व्यक्ति तत्कालीन सभ्यता के आलोचक और अति प्राचीन सभ्यता के प्रशंसक बने। उनके हृदय में शोषित और दलित समाज के प्रति घृणा प्रबल हुई। इस घृणा को दार्शनिक पुष्टि मिली। गरीब किसान अपने सादगी के जीवन को गौरव से देखने लगे।

समस्या :—रूसो का उक्त सामाजिक चित्रण पुराणों के कलियुग के चित्रण की भाँति है। उसने चारों ओर अत्याचार, दुःख, दरिद्रता और अनैतिकता का राज्य देखा। उसके हृदय में इस दुर्व्यवस्था के प्रति सदा विद्रोहाग्नि जलती रहती थी। वह कुरीतियों का शत्रु था और स्वतंत्रता का प्रेमी।

रूसो पुनरुत्थानवादी न था। वह स्वीकार करता था कि अति प्राचीन स्वतंत्रता की पुनःस्थापना नहीं हो सकती। वह यह भी स्वीकार करता था कि सभ्यता की भौतिक देनों (इमारतें, यातायात, व्यवसाय, सम्पत्ति आदि) का अन्त नहीं किया जा सकता। वह ऐसी व्यवस्था का चित्रण अपने पाठकों के सम्मुख रखना चाहता था जिसमें नागरिकों की वास्तविक स्वतंत्रता सुरक्षित रहे और सभ्यता की देनें मानव के लिए उपयोगी बन सकें।

सुप्रसिद्ध 'सामाजिक अनुबन्ध' नामक पुस्तक में रूसो ने अपनी समस्या का वर्णन किया है। किस प्रकार एक ऐसी संस्था की स्थापना की जाय जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ संगठित होते हुए भी केवल अपनी इच्छा का ही पालन करे? अर्थात् स्वतंत्रता को सुरक्षित रखते हुए कैसे सुव्यवस्था स्थापित की जाय। रूसो की यह समस्या वास्तव में राजनीति-शास्त्र की स्थायी समस्या है।

अनुबन्ध :—रूसो की समस्या स्वतंत्रता और सुव्यवस्था का समन्वय थी। इस समस्या की पूर्ति के लिए उसने परम्परागत अनुबन्ध का प्रयोग किया। ए

हाब्स और लॉक द्वारा प्रतिपादित कुछ विषयों का समन्वय भी किया। परन्तु मूलतः उसका अनुबन्ध हाब्स और लॉक के अनुबन्धों से भिन्न था। जहाँ हाब्स की भाँति रूसो के अनुबन्ध से व्यक्तियों के सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण आवश्यक है, वहाँ लॉक की भाँति रूसो ने इन अधिकारों को एक ऐसे आदर्श संघ को दिया जो सब व्यक्तियों की एक राशि है। रूसो के अनुसार अ, ब, स, द व्यक्तियों को अपने सब अधिकारों को अ+ब+स+द संघ को अनुबन्ध द्वारा समर्पित करने चाहिए। इस नयी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा होगी। इस संघ-राज्य के नियम प्रत्येक व्यक्ति की स्वीकृति से निर्मित होंगे। ऐसे नियमों के पालन से व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव होगी।

हाब्स की आलोचना करते हुए रूसो ने कहा था कि स्वतंत्रता के परित्याग का अर्थ है मानवता का परित्याग। हाब्स के अनुबन्ध से व्यक्तियों ने अपने सब नैसर्गिक अधिकार एक "दीर्घकाय" को समर्पित कर दिए थे। इस समर्पण से व्यक्ति दासतुल्य बने और "दीर्घकाय" रूपी राज्य सर्वेसर्वा। रूसो ने कहा कि ऐसा अनुबन्ध न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। कोई भी व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता तथा मानवता का स्वयं अन्त नहीं करेगा। राज्य की सुव्यवस्था के हेतु स्वतंत्रता ऐसी बहुमूल्य वस्तु का हनन नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति मुफ्त में अपनी स्वतंत्रता का परित्याग नहीं करता। ऐसा परित्याग तो केवल एक पागल ही कर सकता है, और पागल न तो अनुबन्ध ही कर सकता है और न राज्य की स्थापना ही। हाब्स के सम्पूर्ण अधिकार-समर्पण के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए रूसो ने प्रत्यक्ष जनतंत्र की रचना की। रूसो के आदर्श राज्य में नागरिक दास तुल्य नहीं रहेगा। ऐसे राज्य के नियम नागरिक की अपनी इच्छा का प्रतिनिधित्व करेंगे, एक "दीर्घकाय" की स्वेच्छा का नहीं। रूसो की दृष्टि में ऐसा अधिकार-समर्पण, ऐसा अनुबन्ध और ऐसा राज्य न्यायसंगत कहा जा सकता है।

रूसो ने लॉक के प्रतिनिधि सिद्धान्त की भी आलोचना की। लॉक ने कहा था कि अनुबन्ध से व्यक्ति एक सभ्य-समाज का निर्माण करते हैं। इस सभ्य-समाज का सर्वप्रथम कार्य एक प्रतिनिधि सभा (धारा सभा) का निर्माण है। यह नियम-निर्मात्री सभा राज्य का प्राणस्वरूप है। रूसो प्रतिनिधित्व-प्रथा का कट्टर विरोधी था। प्रतिनिधित्व का अर्थ है स्वतंत्रता का हनन और व्यक्तित्व का अन्त। ब्रिटेन की निर्वाचन-प्रथा की आलोचना करते हुए उसने कहा कि वहाँ की जनता केवल निर्वाचन-काल में ही स्वतंत्र होती है। निर्वाचन के पश्चात् वह दास बन जाती है। आलस्य आदि के कारण

व्यक्ति या व्यक्ति-समूह न तो स्वयं रक्षित और न राज्य द्वारा ही रक्षित हो सकता है। वे करों के रूप में धन देकर सेना द्वारा व्यक्तिगत रक्षा का प्रबन्ध करते हैं और प्रतिनिधियों द्वारा सुव्यवस्था का। यह स्थिति दासत्व के अनुरूप है। ऐसे व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतंत्रता का परित्याग कर देते हैं। रूसो के अनुसार प्रतिनिधित्व-प्रथा सामन्तशाही युग से आरम्भ हुई। वह सामन्तवाद को न्यायरहित और सारहीन मानता था। ऐसी प्रथा में मानवता का पतन होता है। रूसो का आदर्श उसके जन्म-स्थान जेनेवा का प्रत्यक्ष जनतंत्र और ग्रीक युग के छोटे-छोटे नगर-राज्यों का प्रत्यक्ष जनवाद था।

ग्रीक दर्शन से प्रभावित हो कर रूसो ने लॉक की आलोचना एक और महत्त्वपूर्ण दृष्टि से की। लॉक के मतानुसार व्यक्ति प्रकृति से ही विवेकशील, सामाजिक और नैतिक प्राणी है। राज्य के पूर्व से ही व्यक्ति को न्याय-अन्याय का ज्ञान था। वह प्राकृतिक स्थिति में नैसर्गिक नियमों के अनुसार जीवन-यापन करता था। इसलिये राज्य का कर्त्तव्य व्यक्तियों को नैतिक बनाना या न्याय-अन्याय का बोध कराना नहीं है। यही विचारधारा रूसो के युग के व्यक्तिवाद की थी। यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति व्यापक और बलवान् थी। रूसो ने इसका पूर्णतः खंडन किया। उसने सदियों से विस्मृत ग्रीस की महान् दार्शनिक देनों का पुनरुत्थान किया। ग्रीक दर्शन का अनुकरण करते हुए उसने कहा कि नैतिकता, स्वतंत्रता और मानव प्रगति केवल राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। राज्य द्वारा ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की प्राप्ति करता है। राज्य बिना मनुष्य एक मक्खी की भांति है। अधिकार, कर्त्तव्यपरायणता, स्वतंत्रता, आत्मोत्थान, सम्पत्ति, नैतिकता और न्याय-अन्याय का ज्ञान राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकता है। राज्य नियम से ही न्याय-अन्याय की परख होती है। आज यह सब साधारण-सा ज्ञात होता है, परन्तु रूसो के युग में यह एक क्रान्तिकारी विचारधारा थी, यह तत्कालीन व्यक्तिवाद का मुँहतोड़ उत्तर थी।

राज्य :—रूसो का आदर्श राज्य सत्ताधारी होगा। इस राज्य की "सामान्य इच्छा" (General Will) ही सत्ताधारी होगी। लॉक का राज्य एक संरक्षक था, सत्ताधारी नहीं। हाब्स के सत्ताधारी राज्य का सर्वेसर्वा एक "दीर्घकाय" या "मानवदेव" था। रूसो का राज्य सत्ताधारी था और साथ ही साथ पूर्णतया जनवादी भी। यह राज्य एक सावयव की भाँति था। रूसो ने अपनी पुस्तक (Introduction to Political Economy) में राज्य की तुलना एक सावयव से की है। सत्ताधारी जनतंत्र या धारासभा सिर की भाँति है; नियम और परम्परा मस्तिष्क की भाँति; न्यायाधीश और सरकारी कर्मचारी [illegible]

के अंगों की भाँति; व्यापार-व्यवसाय और कृषि मुँह और पेट की भाँति; आय रक्त भाँति और नागरिक शरीर के अन्य अंगों की भाँति हैं। राज्य और नागरिकों सम्बन्ध सावयव और उसके अंगों के सम्बन्ध की भाँति है। जैसे सावयव की सुव्यव अंगों की सुव्यवस्था पर आश्रित है, वैसे ही राज्य की सुव्यवस्था नागरिकों की सुव्यव पर आश्रित है। जैसे अंगों की सुव्यवस्था सावयव की सुव्यवस्था पर आश्रित है, वैसे नागरिकों की सुव्यवस्था राज्य की सुव्यवस्था पर आश्रित है। अर्थात् राज्य और नागरिक की सुव्यवस्था और प्रगति अन्योन्याश्रित हैं।

इस आधार पर रूसो ने कहा कि राज्य को "सामान्य इच्छा" सदा ही नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करेगी। वह उनके स्थायी हित का प्रतिनिधित्व करेगी। वह सदा सत्य का प्रतिविम्ब होगी। यह "सामान्य इच्छा" सावयविक एकता का प्रदर्शन करती है। इसी आधार पर रूसो ने यह भी कहा था कि नागरिक सदा ही राज्य-हित में व्यक्तिगत-हित समझेगा। वह सदा राज्य की "सामान्य इच्छा" के अनुसार सोचेगा और जीवन-यापन करेगा। यदि कोई नागरिक ऐसा नहीं करता तो वह भ्रमित है, वह अपनी सामाजिक इच्छा का अनुकरण नहीं करता, वह वास्तविक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं है। ऐसे नागरिक को "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व करने वाले राज्य-नियम के अनुसार जीवन-यापन के लिए वाध्य किया जायेगा, अर्थात् स्वतंत्र होने के लिये वाध्य किया जायेगा। अतएव राज्य तथा उसकी इच्छा निरपेक्ष है। यह "सामान्य इच्छा" हाब्स के "दीर्घकाय" की भाँति सर्वाधिकारी है। अन्तर केवल यही है कि जहाँ हाब्स का "दीर्घकाय" एक व्यक्ति-विशेष है, रूसो का "दीर्घकाय" एक प्रत्यक्ष जनवादी संघ है। (रूसो की सामान्य इच्छा के वर्णन के लिये आदर्शवाद वाला अध्याय देखिये।)

मनुष्य की सद्भावना पर रूसो का अटूट विश्वास था। मनुष्य प्रवंचना का शिकार भले ही बन जाय पर दुराचारी नहीं बनाया जा सकता। प्रवंचना कैसे हो सकती है? रूसो के मतानुसार राजनीतिज्ञों और प्रचारकों द्वारा विशुद्ध मनुष्य प्रवंचना में डाला जा सकता है। राजनीतिक दल, समाचारपत्र आदि यंत्र ऐसी प्रवंचना के स्रोत हैं। ये यंत्र नागरिकों को कृत्रिम रूप से संस्थाओं में विभक्त कर देते हैं। नागरिक दलों के सदस्य बनते हैं और उनको इच्छा इन दलों की इच्छा से प्रभावित होती है। ऐसी परिस्थिति में राज्य की सावयविक इच्छा सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि राज्य में इन विभिन्न दलों या यंत्रों द्वारा कई "सामान्य इच्छाएँ" बन जाती हैं। इस दृष्टि से ऐसे राजनीतिक संघ तथा प्रचार-यंत्र आदर्श सुव्यवस्था के हेतु अनावश्यक ही नहीं, वाधक भी

। रूसो के आदर्श राज्य में इनका कोई स्थान नहीं होना चाहिये। इनकी अनुपस्थिति राज्य और नागरिक के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित होगा। नागरिक सदा ही किसी जनीतिक दल या अन्य संस्था के हित के बजाय राज्य के हित में अपना हित समझेंगे। "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन करेंगे। अतः रूसो एक अद्वैतवादी दार्शनिक ा। उसके आदर्श राज्य में संघों का कोई स्थान नहीं है। (हां, उसका कहना था कि दि किसी देश में ऐसी संस्थाएँ तथा दल हों, तो उन्हें इतनी अधिक संख्या में बढ़ा देना ाहिये कि वे अस्तित्वहीन हो जांय।)

रूसो ने कहा कि ऐसे आदर्श राज्य में स्वतंत्रता सम्भव होगी। जैसा ऊपर कहा या है, वह पुनरुत्थानवादी न था। उसने स्पष्टतः कहा था कि अति प्राचीन नैसर्गिक वतंत्रता की पुनः प्राप्ति तो हो नहीं सकती, परन्तु एक उच्च, वास्तविक, नैतिक एवं ागरिक स्वतंत्रता की प्राप्ति सम्भव है। "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन से ो ऐसी स्वतंत्रता सम्भव होगी। क्योंकि रूसो के मतानुसार सच्ची स्वतंत्रता उस नियम ा पालन करने में है जिसे हम स्वयं बनायें।

रूसो प्रतिनिधि-प्रथा का विरोधी था। उसके आदर्श राज्य में नागरिकों की सभा ो नियम-निर्माण का कार्य करेगी, प्रतिनिधि सभा नहीं। नियमों को कार्यान्वित करने ा लिए एक कार्यपालिका होगी। यह कार्यपालिका नागरिकों की सभा के प्रति पूर्णतः त्तरदायी होगी। यह कार्यपालिका ही सरकार है। रूसो का कहना था कि ऐसा नवाद अपने सदस्यों से स्थायी सतर्कता की आशा करता है। ऐसा जनवाद नित्य ातरे में रहता है क्योंकि अन्य व्यवस्थाओं (राजतंत्र, कुलीनतंत्र, प्रतिनिधि जनवाद, ादि) के विपरीत इसमें परिवर्तन का खतरा अधिक होता है। इसलिए ऐसा प्रत्यक्ष नवाद सदा अपने सदस्यों से आशा करता है कि उनके जीवन का आदर्श यह हो— में खतरनाक स्वतंत्रता को शान्तिपूर्ण दासत्व से अच्छा मानता हूँ।" ऐसे नागरिक ही स आदर्श व्यवस्था को स्थायी बना सकते हैं।

रूसो का ऐतिहासिक वाक्य था कि "जनवाणी ही देववाणी है।" इसलिए उसने सामान्य इच्छा" को निरपेक्ष, अदेय, अविभाज्य, स्थायी, निरन्तर और सत्य माना। द्वैतवादी राजसत्ता की सभी विशेषताएँ उस पर लागू की गयीं। रूसो ने ऐसी योजना ा हाब्स और लॉक की देनों का समन्वय किया। उसने हाब्स की निरंकुशता और ॉक की जन-स्वीकृति का मिश्रण किया। हाब्स की निरपेक्षता को जनवादी रूप और ॉक की जन-स्वीकृति को सक्रिय रूप दिया। यह "सामान्य इच्छा" एक कल्पित अवतार

की भाँति थी। एक अवतार द्वारा धार्मिक व्यक्ति कलियुग के अन्त और एक नये स्वर्ण-युग की स्थापना की आशा करते हैं। वैसे ही धर्म-प्रभावित रूसो भी "सामान्य इच्छा" द्वारा तत्कालीन सामाजिक दोषों के अन्त और आदर्श स्वतंत्रता की स्थापना की आशा करता है।

समीक्षा—रूसो स्वयं क्रान्ति का पक्षपाती न था। कई बार उसने क्रान्ति के विपक्ष में विचार प्रकट किये थे। १७५२ में उसने लिखा था कि क्रान्ति को उतना ही भयानक मानना चाहिये जितना उन बुराइयों को जिन्हें क्रान्ति दूर करना चाहती है। जीवन के अन्तिम भाग में उसने जेनेवा के नागरिकों को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उसने कहा कि अवश्य अपनी स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कीजिये, परन्तु मानव-हत्या के मुकाबले दासता को पसन्द कीजिये।

किन्तु उसकी कृतियों का सार क्रान्ति थी। उसके लेखों ने क्रान्ति की ज्वाला को भड़काया। उसने साधारण बातों को साधारण ढंग से प्रस्तुत किया और सीधी बातों को सीधे ढंग से। इससे वह जन साधारण का वेत्ता बना। जहाँ उसके काल के विद्वानों की आवाज केवल बुद्धिजीवियों तक सीमित रही, रूसो के विचार असंख्य जन-साधारण में प्रचलित हुए। उसने जनता के हृदय की बात जनता की भाषा में कही। अपने विश्लेषण में उसने व्यक्ति को पवित्र, सद्भावनापूर्ण और स्वतंत्र बताया। समाज ने व्यक्ति को व्यभिचारी, दलित, दुःखी और दास बना दिया है; अब केवल प्रत्यक्ष जनवादी व्यवस्था से ही व्यक्ति की स्वतंत्रता और नैतिकता सम्भव हो सकती है। ऐसी विचारधारा उस समय की उदासीन जनता के लिए क्रान्तिकारी थी। इस जनता ने दासता की जंजीरों को क्रान्ति द्वारा तोड़ने का प्रयत्न किया और प्रत्यक्ष जनवाद की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया। इसीलिए सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता राब्सपीयर (M. Robespierre) ने उसे फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का देवता घोषित किया था।

रूसो की कृतियों में कई अन्य बेमेल विचारधाराएँ मिलती हैं। इनमें सबसे बड़ी बेमेल विचारधारा व्यक्तिवाद और अधिनायकवाद सम्बन्धी है। कुछ पुस्तकों (The Discourse on Inequality, Émile ; और The Social Contract के आरम्भिक भाग) में वह पूर्णतः व्यक्तिवादी दर्शन का प्रतिपादक है। उन स्थलों पर वह अति प्राचीन युग (प्राकृतिक स्थिति) की नैसर्गिक स्वतंत्रता का पुजारी, अराजकतावादी स्वतंत्रता का प्रशंसक एवं सभ्य समाज का कट्टर विरोधी है। उसके इस चित्रण का तथ्य था कि स्वतंत्रता और समाज विरोधात्मक हैं, क्योंकि स्वतंत्र और नेक मनुष्य को समाज ने दास

और अनैतिक बना दिया है। ऐसी विचारधारा से प्रभावित होकर फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने तत्कालीन समाज का विरोध किया और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सुरक्षा के हेतु संघर्ष किया।" क्रान्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सभा (National Assembly) की घोषणाएँ इसी दृष्टिकोण से प्रभावित हुई थीं। यही विचारधारा भविष्य के व्यक्तिवादियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि में थी। व्यक्तिवादी भी स्वतंत्रता और सामाजिक हस्तक्षेप को विरोधात्मक समझते थे। बार्कर ने ठीक ही कहा है कि रूसो के ये लेख व्यक्तिवाद के प्राण की भाँति थे।

परन्तु रूसो की अन्य पुस्तकों में (The Discourse on Political Economy और The Social Contract के प्रारम्भिक भाग को छोड़ कर) पूर्णतः अधिनायकवादी विचारधारा का उल्लेख है। रूसो के आदर्श राज्य में व्यक्ति और व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है। सत्ताधारी "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन द्वारा ही स्वतंत्रता, नैतिकता, अधिकार आदि सम्भव हो सकते हैं। जो व्यक्ति "सामान्य इच्छा" का अनुकरण नहीं करता उसे ऐसे अनुकरण के लिए बाध्य किया जा सकता है अर्थात् उसे स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जायगा। यह राज्य सर्वेसर्वा है, व्यक्ति सम्बन्धी सभी वस्तुएँ उसके अधीन हैं। वह धर्म का संचालक ही नहीं वरन् उसका निर्माता भी है। राज्य द्वारा निर्मित नागरिकधर्म के उल्लंघन करने वाले को फाँसी का दंड दिया जायेगा। रूसो उसी वैयक्तिक स्वतंत्रता और व्यक्तित्व का हनन करता है जिसका वह "सामाजिक अनुबन्ध" नामक पुस्तक के आरम्भिक अध्यायों में भक्त विदित होता है। व्हान का तो यहाँ तक कहना है कि रूसो व्यक्ति का ही नहीं अपितु व्यक्तित्व का भी शत्रु है। हाँ, व्यक्ति के अस्तित्व की पुष्टि के लिए रूसो इतना तो अवश्य स्वीकार करता है कि सत्ताधारी "सामान्य इच्छा" का स्रोत जनमत है। परन्तु यह सुरक्षा-यंत्र पर्याप्त नहीं विदित होता। सामाजिक अनुबन्ध का प्रथम वाक्य है—"मनुष्य स्वतंत्र जन्मा है परन्तु सभी ओर जंजीरों से जकड़ा हुआ है।" इसी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में राज्य द्वारा निर्मित नागरिक धर्म की व्याख्या है। इससे अधिक बेमेल कृति क्या हो सकती है—एक ही पुस्तक में व्यक्ति की नैसर्गिक स्वतंत्रता और निरपेक्ष राज्य का आदर्श चित्रण। रूसो के अधिनायकवाद से फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के कुछ नेता (Jacobins, Robespierre और St.-Just आदि) प्रभावित हुए थे। इस दर्शन का प्रभाव आधुनिक आदर्शवाद और अधिनायकवाद पर भी पड़ा। (इस सम्बन्ध में आदर्शवाद वाला अध्याय देखिये।)

रूसो के दर्शन में एक और बेमेल विचारधारा मिलती है। रूसो ने एक आदर्श

राज्य का चित्रण किया और घोषित किया कि ऐसे राज्य में ही नागरिक की वास्तविक, नैतिक और नागरिक स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। "सामाजिक-अनुबन्ध" नामक पुस्तक के आरम्भिक भाग में यह विचारधारा स्पष्टतः मिलती है। ऐसा विदित होता है कि वह आदर्श स्वतंत्रता के व्यापक रूप का पक्षपाती है। परन्तु इसी पुस्तक में उसने यह भी विस्तृत रूप से बताया कि ऐसी स्वतंत्रता केवल कुछ ही देशों में सम्भव हो सकती है। उसने स्वतंत्रता और जलवायु में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करते हुए बताया कि स्वतंत्रता केवल परिमित जलवायु वाले देशों में ही सम्भव है। एक ही पुस्तक में व्यापक स्वतंत्रता का भक्त सीमित स्वतंत्रता का समर्थक बनता है।

रूसो के दर्शन की एक और बेमेल विचारधारा सम्पत्ति सम्बन्धी है। १७७५ में (The Discourse on Inequality में) उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाज और राज्य की धात्री बताया। समाज के दुःखपूर्ण चित्रण से कोई भी पाठक इस परिणाम पर पहुँचेगा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव के दुःख, दरिद्रता एवं दासता की जननी है। रूसो इस सम्पत्ति को चोरी की भाँति मानता है। उपर्युक्त पुस्तक के छः माह पश्चात् रूसो ने (The Discourse on Political Economy में) सम्पत्ति को भली वस्तु बताया, बुरी नहीं। १७६२ में "येमिल" में रूसो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को न्याययुक्त माना और उसकी रक्षा राज्य का ध्येय बताया। जीवन के अन्तिम भाग में "कार्सिका" (The Constitution of Corsica) नामक पुस्तक में उसने कहा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार सम्पत्ति का शत्रु उसका पुजारी बन जाता है।

रूसो के दर्शन में अन्य बेमेल विचार भी मिलते हैं। पहली पुस्तकों में वह स्वतंत्रता का अग्रदूत था। एक अन्तिम पुस्तक (The Government of Poland) में वह दासता को स्थायी रूप से उचित बताता है। पहले ग्रन्थों में वह जनवाद-प्रेमी था, उसने "सामान्य इच्छा" को सत्ताधारी बताया था। बाद के ग्रन्थों में वह सीमित राजतंत्र का समर्थक बना। "येमिल" पुस्तक में उसने नकारात्मक शिक्षा-प्रणाली को आदर्श बताया। बाद में "कार्सिका" और "पोलैंड" सम्बन्धी पुस्तकों में वह राजनियंत्रित शिक्षा का प्रशंसक बना। एक ओर उसने कला की निन्दा की और दूसरी ओर कला का निर्माण। एक ओर उसने परिवार और उसकी संस्थाओं को आदर्श और पवित्र समझा और दूसरी ओर उसका व्यक्तिगत जीवन पारिवारिक पवित्रता की दृष्टि से लज्जाजनक था।

रूसो का दर्शन त्रुटिपूर्ण था। उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी त्रुटिरहित न था। उसने धार्मिक दृष्टिकोण को राजनीतिक रूप दिया। यह विश्लेपण आधुनिक न था।

सत्य तो यह है कि मानव-जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है, अवनति का नहीं। ऐसी त्रुटियों के होते हुए भी रूसो की राजनीतिशास्त्र को कई देनें हैं। जनवाद, व्यक्तिवाद, आदर्शवाद और अधिनायकवाद पर उसकी विचारधारा की छाप स्थायी रहेगी। शायद ही कोई आधुनिक युग का दार्शनिक होगा जिसका दर्शन इतनी प्रवृत्तियों का उद्गम स्थान हो। अतः रूसो के दर्शन में कई प्रतिकूल प्रवृत्तियों का समावेश है।

समीक्षा

आज अनुबन्धवाद एक ऐतिहासिक विषय बन गया है। १६ वीं सदी में आदर्शवाद और उपयोगितावाद का प्रचार हुआ और कई समाजशास्त्रीय खोजें भी हुईं। इनके फलस्वरूप अनुबन्धवाद का खंडन प्रारम्भ हुआ। ऐसा होते हुए भी इस दर्शन की सत्ता बनी रही। आधुनिक राजनीतिशास्त्र में इसका एक महत्वपूर्ण स्थान है और रहेगा। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि आधुनिक राजनीतिशास्त्र के जन्म का श्रेय इसी दर्शन को है।

१६वीं, १७ वीं और १८ वीं सदियों के स्वतंत्रता-प्रेमियों के लिये यह दर्शन एक पथप्रदर्शक बना, यह विचारधारा उनके लिये आप्तादेश स्वरूप हुई। उस युग में इस दर्शन का वही क्रान्तिकारी रूप था जो आज मार्क्सवाद का है। १६ वीं सदी में धार्मिक स्वतंत्रता के समर्थकों (मुख्यतः ह्यूगेनोज़) ने अनुबन्ध द्वारा अपने निरपेक्षता विरोधी संघर्ष को न्याययुक्त बताया। १७ वीं सदी में इस दर्शन को राजनीतिक स्वतंत्रता के सेनानियों ने अपनाया। ब्रिटिश गृह-युद्ध (१६४२-४६) के संसदीय नेताओं की धारणाओं तथा ध्येयों की पृष्ठभूमि में अनुबन्धवादी विचारधारा थी। १६६० की ब्रेडा की घोषणा का अनुबन्धवादी रूप स्पष्ट है। (इस घोषणा से चार्ल्स द्वितीय को आमंत्रित किया गया था।) १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति को अनुबन्धवाद के आधार पर न्याय-संगत बताया गया। जान लॉक ने संसदीय नेताओं के अनुबन्धवादी दृष्टिकोण को दार्शनिक रूप दिया। १८ वीं सदी के सभी प्रगतिशील वेत्ताओं ने अनुबन्ध के सिद्धान्त को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्वीकार किया। रूसो की धारणा—आदर्श भावी समाज का जन्म अनुबन्ध द्वारा होगा—का प्रभाव फ्रांस के क्रान्तिकारियों पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। अतः यह दर्शन स्वतंत्रता-प्रेमियों के लिये प्राण-तुल्य बना। ये स्वतंत्रता के

सैनिक आधुनिक युग के अग्रदूत थे। स्वभावतः इनकी विचारधारा (अनुबन्धवाद) जनवाद तथा राज्यदर्शन की धात्री बनी।

एक दूसरे दृष्टिकोण से भी आधुनिक राजनीतिशास्त्र के जन्म तथा विकास में इस दर्शन का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। अनुबन्धवाद के पूर्व "दैवांश सिद्धान्त" का युग था। मध्यकालीन यूरोप में सभी वेत्ता इस सिद्धान्त के अनुयायी थे। उस समय राज्य को एक दैवी संस्था एवं राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। ऐसे अन्धविश्वास के वातावरण में वैज्ञानिक विचारधारा सम्भव नहीं थी। यदि पेड़-पौधों को ईश्वर-प्रदत्त माना जाय और यह भी माना जाय कि उनका संचालन उसी स्रष्टा द्वारा होता है, तो वैज्ञानिक जीवशास्त्र असम्भव और अनावश्यक हो जायगा। इसी प्रकार राज्य को अगर दैवी संस्था मान लिया जाय तो स्वतः राज्यशास्त्र भी निरर्थक हो जायगा। अनुबन्धवाद ने मध्यकालीन अन्धविश्वास को निर्मूल कर दिया। इस दर्शन का यह तत्त्व है कि राज्य एक मानवीय संस्था है, दैवी नहीं। फलतः बुद्धिजीवियों ने राज्य के जन्म, रूप, ध्येय, संगठन, अधिकार आदि विषयों पर विचारना आरम्भ किया। राजनीति-शास्त्र इन्हीं विषयों से गुम्फित है। भविष्य में मतभेद भी होने लगे। स्वभावतः राजनीति-शास्त्र ने वैज्ञानिक रूप धारण किया और प्रगति की ओर अग्रसर हुआ। यह सब तभी सम्भव हो सका जब राज्य को मानवीय संस्था स्वीकार किया गया, जिसका श्रेय अनुबन्धवाद को ही है। इससे विशिष्ट अन्य देन क्या हो सकती है ?

आधुनिक जनवादी विचारधारा तथा संगठन का श्रेय भी अनुबन्धवाद को ही है। मध्यकालीन यूरोप में राज्य ईश्वरप्रदत्त संस्था मानी जाती थी। लोगों का तर्क था ईश्वर का प्रतिनिधित्व करने के नाते यदि शासक अत्याचारी भी हो तब भी नागरिकों को अपनी सहनशीलता का परित्याग नहीं करना चाहिये। यही नहीं, पापी नागरिकों को दंड देने के लिये ईश्वर ने दुष्ट शासक की नियुक्ति की है। अतः नागरिकों का यह परम कर्तव्य है कि वे राजाज्ञा का पालन करते हुये धार्मिक जीवन-यापन करें। तभी ईश्वर अत्याचारी शासक का हृदय परिवर्तित कर उसे सन्मार्ग पर लाएगा। जरा सोचने की बात है कि भला ऐसे वातावरण में जनतंत्रीय संगठन और विचारधारा कैसे सम्भव हो सकती थी! ठीक इसके विपरीत अनुबन्धवाद ने स्पष्ट बताया कि राज्य का जन्म व्यक्तियों द्वारा हुआ है, ईश्वर द्वारा नहीं। व्यक्ति-हित ही समाज तथा राज्य का कारण, आधार तथा ध्येय है। यदि राज्य या सरकार इस ध्येय की पूर्ति न करे तो व्यक्ति उसे परिवर्तित कर सकते हैं। फलतः अब नागरिक अपने हितों की पूर्ति के लिये राज्य से

अनुरोध करने लगे, उन्होंने इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न संस्थाओं को स्थापित किया। मानव ने जनवादी युग में प्रवेश किया। जनवादी संगठन के साथ-साथ जनवादी विचारधारा की भी पुष्टि हुई। भिन्न-भिन्न मत बने और विचारों का व्यापक संघर्ष हुआ। इन सब का स्रोत परोक्ष रूप से अनुबन्धवाद ही था। यह सब तभी सम्भव हो सका जब राज्य को मानवीय संस्था माना गया, दैवी नहीं।

अतः अनुबन्धवाद आधुनिक राजनीतिक युग का जन्मदाता है। परन्तु यह दर्शन त्रुटिहीन नहीं है। इसकी आलोचना के पूर्व कुछ भ्रमों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। साधारणतया हाब्स, लॉक और रूसो के दर्शनों को अनुबन्धवादीय सामान्य सूत्र में बाँध कर सामान्य आलोचना की जाती है। यह अनुचित-सा लगता है, इनके दर्शन इसके निर्देशक हैं।

अनुबन्ध को ही लीजिये। हाब्स, लॉक और रूसो के दर्शन में अनुबन्ध का प्रयोग भिन्न-भिन्न ध्येयों की पूर्ति के लिए किया गया था। हाब्स ने अनुबन्ध द्वारा निरपेक्षता को, लॉक ने सीमित राजतंत्र को और रूसो ने प्रत्यक्ष जनवाद को न्याय-संगत बताने का प्रयत्न किया। हाब्स के अनुसार सभी राज्यों की उत्पत्ति अनुबन्ध द्वारा हुई है। लॉक ने कहा कि अनुबन्ध से केवल सभ्य-समाज का जन्म हुआ था, राज्य का नहीं। रूसो के मतानुसार भावी आदर्श राज्य का जन्म अनुबन्ध द्वारा होना चाहिये। फिर रूसो के विपरीत, हाब्स तथा लॉक के ऐतिहासिक विश्लेषण में अनुबन्ध का सर्वोच्च स्थान है। हाब्स और लॉक का दर्शन अनुबन्ध बिना अस्तित्वहीन-सा हो जाता है। व्हान के इस कथन में कुछ सत्यता अवश्य है कि यदि रूसो के वर्णन से अनुबन्ध को हटा दिया जाय तो वह अस्तित्वहीन नहीं हो जायेगा। यह कहना अनुचित न होगा कि हाब्स और लॉक ने अनुबन्ध को नितान्त आवश्यक समझा और रूसो ने केवल परम्परामात्र।

ऐसी दार्शनिक विभिन्नता की स्थिति में सामान्य आलोचना अधिक नहीं हो सकती। परन्तु साधारणतया आलोचक कई आलोचनाएँ गिनाते हैं। वास्तव में ये आलोचनाएँ तीनों अनुबन्धवादी वेत्ताओं के दर्शन पर लागू नहीं हो सकतीं। आलोचकों का मत है कि अनुबन्धवाद अनैतिहासिक है, क्योंकि किसी भी राज्य की उत्पत्ति अनुबन्ध द्वारा नहीं हुई। परन्तु यह आलोचना रूसो के विश्लेषण पर लागू नहीं होती। रूसो ने परम्परानुसार यह मान लिया था कि राज्य का जन्म अनुबन्ध द्वारा हुआ होगा। पर उसके दर्शन का मूल तथ्य यह था कि तत्कालीन राज्य एवं समाज के स्थान

पर एक अनुबन्ध द्वारा निर्मित आदर्श राज्य स्थापित होना चाहिये। यह भले ही कोरी कल्पना हो पर वह हाब्स तथा लॉक के विपरीत, अनुबन्ध को इतिहास का विषय नहीं बनाता। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि अधिकार केवल सुव्यवस्था में ही सम्भव हो सकते हैं, प्राकृतिक स्थिति में नहीं। हाँ, यह आलोचना हाब्स तथा लॉक के दर्शन पर अवश्य कसी जा सकती है, किन्तु रूसो के दर्शन पर नहीं। सत्य तो यह है कि यह धारणा—अधिकार केवल राज्य में ही सम्भव है—रूसो की ही देन है। इसलिये इस दर्शन पर केवल निम्नांकित सामान्य आलोचनाएँ सम्भव हैं :—

समाजशास्त्रीय:—सभी समाजशास्त्र-वेत्ता अरस्तू (Aristotle) के कथन—"मनुष्य सामाजिक प्राणी है"—को आधारभूत मानते हैं। सामाजिकता मनुष्य की प्रकृतिजन्य विशेषता है। किन्तु अनुबन्धवाद इसे अस्वीकार करता है। हाब्स ने कहा था कि व्यक्ति स्वभावतः सहयोग में रहने से दुःख का अनुभव करता है, सुख का नहीं। लॉक ने यह तो अवश्य ही स्वीकार किया था कि प्रकृति से व्यक्ति में भ्रातृत्व भावना होती है। किन्तु उसने भी सभ्य-समाज का श्रेय अनुबन्ध को ही दिया, मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति को नहीं। रूसो का प्राकृतिक मनुष्य भी सामाजिक प्राणी न था ; उसमें पारिवारिक भावना तक न थी। ऐसी धारणा समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्त—व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है—के विपरीत है। अतः समाजशास्त्रीय दृष्टि से अनुबन्धवाद आधाररहित है।

ऐतिहासिक:—आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मानव निरन्तर प्रगति करता आया है। (यह दृष्टिकोण बोदाँ, हीगेल तथा मार्क्स की देन है—आदर्शवाद और साम्यवाद वाले अध्याय देखिये)। इसके विपरीत लॉक तथा रूसो ने बताया कि मानव अवनति करता आया है, प्रगति नहीं। यह भावना मध्यकालीन एवं धार्मिक परम्परा की निर्देशक है, आधुनिक दृष्टिकोण की नहीं।

मानव इतिहास में कोई ऐसी तिथि नहीं जब युग परिवर्तन हुआ हो। १७८९ की फ्रांसीसी क्रान्ति और १९१७ की रूसी क्रान्ति से भी तुरन्त ही युग परिवर्तन नहीं हुआ। परन्तु हाब्स, लॉक और रूसो अनुबन्ध की तिथि को युग परिवर्तन तिथि मानते हैं। सम्भव है १७वीं और १८वीं सदियों में इतिहास का ऐसा ही दृष्टिकोण रहा हो। शायद तब युग परिवर्तन को साम्राज्य परिवर्तन की भाँति माना जाता रहा हो। इसलिये अनुबन्धवाद असत्य है।

मनोवैज्ञानिक:—सत्य तो यह है कि अनुबन्धवादी वेत्ता अनुबन्ध को जादू की

भांति मानते हैं। उदाहरणस्वरूप हाब्स का चित्रण विचारणीय है। १२ बजे तक प्राकृतिक स्थिति के व्यक्ति एक दूसरे के प्राणों के भूखे थे, किन्तु ठीक १२ बजकर १ मिनट पर अनुबन्ध के फलस्वरूप भ्रातृपूर्ण तथा "दीर्घकाय" के भोले-भाले सेवक बन गये। लॉक के अनुसार अनुबन्ध द्वारा व्यक्ति ने तुरन्त ही बहुमत प्रथा—जो वास्तव में पर्याप्त संवैधानिक अनुभव की देन है—को अपनाया। यह वैसा ही है जैसा कि एक तीसरी कक्षा के विद्यार्थी से लॉक के दर्शन के ज्ञान की आशा करना। रूसो के मतानुसार अनुबन्ध द्वारा क्षण भर में ही एक आदर्श एवं नैतिक नागरिक का जन्म होगा, और जो सदियों से शासित रहे हैं वे स्वयं ही शासक बन जायेंगे। इन अनुबन्धवादी दार्शनिकों ने राज्यशास्त्र को धर्म से स्वतंत्र अवश्य बनाया; परन्तु सम्भवतः वे धार्मिक तथा पौराणिक कथाओं के वातावरण से स्वयं को मुक्त न कर सके। क्योंकि ऐसा मनोवैज्ञानिक परिवर्तन केवल धार्मिक ग्रन्थों, पौराणिक कथाओं और उपन्यासों में ही मिलता है, जीवन में नहीं। वास्तव में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन वर्षों के वातावरण के फलस्वरूप शनैः-शनैः होता है। अतः अनुबन्धवाद काल्पनिक है।

राज्यशास्त्रीय :—इस दर्शन के अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था है। इस विचारधारा का खंडन १८वीं सदी के अन्तिम भाग से होने लगा था। ह्यूम (David Hume) और मुख्यतः बेन्थम (Jeremy Bentham) ने राज्योत्पत्ति का श्रेय उपयोगिता को दिया था। व्यक्ति को संघों में रहना हितकर विदित होता है, इसलिये वह संघ और फिर राज्य बनाता है। राज्य मानवीय संस्था अवश्य है, परन्तु उसका जन्म अनुबन्ध द्वारा नहीं वरन् उपयोगिता के फलस्वरूप हुआ। बर्क ने राज्य के जन्म का श्रेय परम्परागत अनुबन्ध को दिया था, परन्तु उसके दर्शन में अनुबन्ध का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। वास्तव में वह राज्य को एक अनिवार्य एवं आवश्यक संस्था मानता था।

अनुबन्ध ने एक ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जिसके फलस्वरूप जनता राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानने लगी। वह सोचने लगी कि राज्य व्यक्तियों ने बनाया है, वे उसे आवश्यकतानुसार बदल भी सकते हैं। यही विचारधारा फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) की पीठिका बनी। इसके विपरीत कुछ वेत्ताओं ने राज्य की तुलना शरीर से की। वस्तुतः रूसो की कृतियों में भी ऐसी विचारधारा मिलती है। यह सिद्धान्त सावयव सिद्धान्त के नाम से सुप्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य और व्यक्ति वैसे ही अन्योन्याश्रित हैं, जैसे शरीर और उसके अंग। अतः राज्य एक प्राकृतिक एवं आवश्यक संस्था है,

अनुबन्धीय नहीं। यह दर्शन १९वीं एवं २०वीं सदियों में प्रचलित हुआ। अतः राज्यशास्त्री दृष्टि से यह दर्शन असन्तोषजनक है।

[यहाँ यह वतलाना आवश्यक है कि १७वीं और १८वीं सदी में उ तीन दार्शनिकों के अतिरिक्त कई अन्य दार्शनिकों ने भी अनुवन्धवाद व अपनाया। इनमें वी. स्पिनोजा, एस. प्यूफेनडार्फ, अलरिक हूवर, सी. थामेसियर हर्ट, जे. एफ. वोहेमर, फ्रेडरिक महान, क्रिश्चियन वूल्फ, ई. डे वैटेल आदि नाम उल्लेखनीय हैं।]

सारांश

अनुवन्धवाद आधुनिक राज्यशास्त्र का सर्वप्रथम दर्शन है। इसके अनुसार राज्य का जन्म एक अनुवन्ध द्वारा हुआ है (हाव्स, लॉक) या आदर्श राज्य का जन्म अनुवन्ध द्वारा होना चाहिये (रूसो)।

हाव्स ही सर्वप्रथम वेत्ता था जिसने राज्य को मानवीय एवं कृत्रिम संस्था वताकर मध्यकालीन धर्मप्रधानता का खंडन किया। "लेवियाथन" (१६५१) नामक पुस्तक में उसने तत्कालीन दार्शनिक मतभेदों का उत्तर दिया और तत्कालीन राज्य-निरपेक्षता को न्यायसंगत वताया। उसने सभ्य मनुष्य की बुराइयों को अति प्राचीन व्यक्ति पर लागू किया और कहा कि प्राकृतिक स्थिति के समान, स्वार्थी एवं भावुक व्यक्तियों का जीवन एकाकी, निर्धन, जंगली, घृणित एवं क्षणिक वन गया था। निरन्तर युद्ध की स्थिति में "हत्या" का भय व्याप्त हुआ। इस असह्य स्थिति से मुक्त होने के लिए व्यक्तियों ने विवेक की शरण ली और नैसर्गिक नियमों को पथप्रदर्शक वनाया। एक अनुवन्ध द्वारा उन्होंने एक व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-संघ (हाव्स व्यक्ति के पक्ष में था) को अपने सव अधिकार समर्पित किये।

हाव्स इस व्यक्ति को "दीर्घकाय" या "मानवदेव" कहता है। "दीर्घकाय" राज्य एवं समाज का जन्मदाता तथा प्रतीक है। वह सभ्यता और प्राकृतिक स्थिति के मध्य एक दीवार की भाँति है। उसने कोई आश्वासन नहीं दिया है, वह निरपेक्ष है। वह नैतिकता, धर्म तथा परम्परा से परे है, क्योंकि उसीके जन्म से इनका भी प्रादुर्भाव हुआ है। इन पर आधारित नियम (दैवी, नैसर्गिक एवं लौकिक नियम) केवल शब्दमात्र हैं, क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में राज्य की तलवार नहीं रहती। राज्य में नागरिकों का कोई नैसर्गिक अधिकार सम्भव नहीं। उनका परित्याग तो अनुवन्ध

ते हो गया है। अतः राज्य-विरोध न्यायसंगत नहीं। हाब्स ने उपयोगिता या व्यक्ति-हित—"हत्या" का भय तथा जीवन-रक्षा—को राज्य की धात्री एवं लक्ष्य बताया। इसी व्यक्ति-हित के हेतु नागरिक राज्य-विरोध कर सकते हैं। अद्वैतवादी दर्शन का सम्राट—हाब्स संघों को प्राकृतिक मनुष्य की अँतड़ियों के कीड़ों की भाँति मानता था। उसके मतानुसार संघों का राज्य में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

हाब्स एक युग वेत्ता था; उसने राज्यशास्त्र एवं अनुबन्धवाद को धर्म से मुक्त किया और कर्तव्यों के स्थान पर अधिकारों को प्रधानता दी। उसकी पुस्तक एक युग पुस्तक है; उसमें राज्यशास्त्र को मनोविज्ञान, जीवशास्त्र और भौतिकशास्त्र से सम्बद्ध किया गया है। हाब्स का "दीर्घकाय" एक युगसंस्था है। वह जागृति-युग की मनोवृत्तियों एवं तत्कालीन निरपेक्षता का प्रतिबिम्ब है। परन्तु हाब्स का मनोविज्ञान अपरिपक्व है; उसका विश्लेषण अनैतिहासिक एवं उसकी निरपेक्षता न्याय-रहित है। उसने राज्य को साध्य एवं व्यक्ति को साधन बनाया है।

लॉक रक्तहीन क्रान्ति का दार्शनिक है। उसने सभ्य व्यक्तियों की भलाइयों को अति प्राचीन मनुष्यों पर लागू किया। उसका कहना है कि स्रष्टा ने व्यक्ति को विवेक, श्रम एवं सामान्य पदार्थ प्रदान किये हैं। विवेकशीलता ने अति प्राचीन मनुष्य को नैसर्गिक नियमों का ज्ञाता बनाया। श्रम-मिश्रण द्वारा व्यक्ति ने कुछ सामान्य वस्तुओं को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाया। फलतः प्राकृतिक स्थिति में शान्ति, स्वतंत्रता समानता, भ्रातृभावना एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा व्याप्त थी। कुछ समय के बाद यह स्थिति असुविधाजनक बनी। इन असुविधाओं (लिखित नियम, निष्पक्ष न्यायालय एवं निर्णयों को कार्यान्वित करने के साधनों की अनुपस्थिति) को दूर करने के लिए व्यक्तियों ने अनुबन्ध द्वारा एक सभ्य-समाज का निर्माण किया और बहुमतानुसार जीवन-यापन करने की शपथ ली। इस समाज को केवल उक्त असुविधाओं का निराकरण करने के ही अधिकार समर्पित किये गये। सुशासन के हेतु इस समाज ने धारा सभा का निर्माण किया। इस सभा ने कार्यपालिका एवं न्यायालय की स्थापना की। राज्य का जन्म एक निष्पक्ष लेख (Trust Deed) जैसे यंत्र द्वारा हुआ है, अनुबन्ध द्वारा नहीं। राज्य संरक्षक है, स्वामी नहीं।

लॉक का राज्य संरक्षक एवं सेवक था, सत्ताधारी या सर्वाधिकारी नहीं। उसके अधिकार सीमित थे। नैतिकता और शिक्षा उसके कार्यक्षेत्र से बाहर थे, क्योंकि व्यक्ति प्रकृति से ही नैतिक है। नैसर्गिक नियम और सम्पत्ति (जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति) सर्वोपरि हैं; राज्य इनका उल्लंघन नहीं कर सकता। यदि

नहीं, लॉक के मतानुसार यदि सरकार संरक्षण-कार्य में असफल हो या संरक्षण-सीमा का उल्लंघन करे, तो व्यक्ति एवं सभ्य-समाज उसे वदल सकते हैं। अतः नागरिक तथा सभ्य-समाज सुप्त सत्ताधारी हैं। (सत्ताधारी शब्द उसकी पुस्तक में कहीं नहीं मिलता)। परन्तु जहाँ लॉक ने एक तरफ राज्य की सत्ता को सीमित वनाया, वहाँ दूसरी तरफ नागरिक एवं सभ्य समाज के राज्य-विरोधी अधिकारों पर भी प्रतिवन्ध लगाया।

लॉक आधुनिक जनवाद के सार (जन-स्वीकृति द्वारा राज्य और व्यक्ति-हित की सत्ता) का जन्मदाता था। उसने राज्य को व्यक्ति की स्वेच्छा का दास वनाया। लॉक ने व्यक्ति को प्रकृतितः नैतिक मानकर राज्य को समाजोन्नति-सम्वन्धी कार्यों से वंचित किया। उसके श्रमजन्य सिद्धान्त का अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इस सिद्धान्त की आड़ में गरीवों पर भीषण अत्याचार हुए। लार्ड ऐक्टन ने लॉक को कुलीनतंत्र की सरकार का दार्शनिक वताया है। लॉक का ऐतिहासिक चित्रण त्रुटिपूर्ण है।

रूसो के जीवन के पहलुओं (धार्मिक शिक्षा, प्रत्यक्ष जनवादी जेनेवा में जन्म, आवारापन और मित्रों की सहानुभूति) का प्रभाव उसके दर्शन पर पड़ा था। उसके अनुसार अति प्राचीन मनुष्य एक नेक जंगली था। वह अवोध व्यक्ति परिवार-रहित जीवन-यापन करता था। आदर्श प्राकृतिक स्थिति का अन्त व्यक्तिगत सम्पति के प्रादुर्भाव से हुआ। यह सम्पत्ति-प्रथा ही सभ्य-समाज और राज्य की धात्री है। रूसो ने कला तथा वैज्ञानिक सभ्यता की उन्नति और नैतिकता का पतन–दोनों को पर्यायवाची वताया। उसने कहा कि मनुष्य स्वतंत्र और पवित्रजन्मा है; समाज ने उसे दास और अपवित्र वना दिया है। रूसो ने सभी ओर दमन, व्यभिचार और अत्याचार पाया। उसने वताया कि इस दुर्व्यवस्था का अन्त एक आदर्श प्रत्यक्ष जनवादी राज्य के निर्माण से ही सम्भव है। परम्परागत अनुवन्ध को भावी आदर्श व्यवस्था की जननी मानते हुए इसने हाव्स के सर्वाधिकार और लॉक की जनस्वीकृति का समन्वय किया। उसने कहा कि नये राज्य को सव अधिकार समर्पित होंगे और उसका संगठन प्रत्यक्ष जनवादी होगा।

रूसो ने आदर्श राज्य की इच्छा को "सामान्य इच्छा" वताया, क्योंकि वह स्रोत, रूप और ध्येय में सामान्य होगी। "सामान्य इच्छा" ही सत्ताधारी है। वह निरपेक्ष, स्थायी, अदेय, अविभाज्य एवं सत्य है। जनता ही धारासभा होगी, क्योंकि प्रतिनिधित्व का अर्थ है स्वतंत्रता का परित्याग। रूसो ने ग्रीक देन की पुनर्व्याख्या

करते हुए बताया कि नैतिकता, अधिकार एवं वास्तविक, नागरिक, नैतिक और उच्च स्वतंत्रता राज्य (आदर्श) में ही सम्भव हैं। इसलिये नागरिकों को "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन करने के लिये अर्थात् स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा। उसके आदर्श राज्य में प्रचार-यंत्रों और संघों का कोई स्थान नहीं है। वह जनवाणी को ईश्वर-वाणी मानता था। व्यक्ति प्रवंचना का शिकार भले ही बन जाय, पर दुराचारी नहीं बनाया जा सकता।

रूसो के दर्शन में कई प्रतिकूल विचारधाराओं का समावेश है। इसीलिए उनका दर्शन कई आधुनिक विचारधाराओं (आदर्शवाद, सर्वाधिकारवाद, व्यक्तिवाद, अधिनायकवाद और जनवाद) का स्रोत भी है। उसका ऐतिहासिक चित्रण त्रुटिपूर्ण है। उसकी काल्पनिक "सामान्य इच्छा" आदर्शवादी बोसाँके द्वारा अधिनायकवाद की सेवा में प्रस्तुत की गयी है। त्रुटिपूर्ण होते हुए भी उसका दर्शन यूरोप में एक नये युग का प्रवर्त्तक सिद्ध हुआ।

अनुबन्धवाद के फलस्वरूप दैवांश सिद्धान्त का अन्त एवं आधुनिक राज्यशास्त्र तथा जनवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु आधुनिक अन्वेषणों के फलस्वरूप यह दर्शन खंडित हो गया है। अरस्तू के कथन—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है—के विपरीत होने के नाते यह दर्शन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आधार-रहित है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह दर्शन असत्य है, क्योंकि मानव इतिहास अवनति की कथा नहीं है एवं युग परिवर्तन क्षण भर में नहीं होता। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह काल्पनिक है; क्योंकि मानवजाति की मनोवृत्ति जादू द्वारा परिवर्तित नहीं होती राज्यशास्त्र की दृष्टि से यह असन्तोषजनक है, क्योंकि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है, कृत्रिम नहीं।

द्वितीय अध्याय

व्यक्तिवाद

(INDIVIDUALISM)

यह सिद्धान्त आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। सभी राजनीतिक सिद्धान्त मनुष्य और राज्य के सम्बन्धों के रूप का वर्णन करते हैं। व्यक्तिवादी सिद्धान्त भी इन्हीं सम्बन्धों का विश्लेषण करता है। परन्तु अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा यह नागरिक की वैयक्तिक स्वतंत्रता को अधिक महत्त्व देता है। इसका नाम ही इस विशेषता का निर्देशक है।

अन्य सिद्धान्त भी व्यक्ति की स्वतंत्रता को उच्च स्थान देते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त उसे सर्वोच्च स्थान देता है। व्यक्तिवादी स्वतंत्रता नकारात्मक है। (इससे अधिक नकारात्मक रूप केवल अराजकतावादी स्वतंत्रता का ही है)। नकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ है हस्तक्षेप की अनुपस्थिति। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य या समाज के हस्तक्षेप की अनुपस्थिति में ही मनुष्य की स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। "हस्तक्षेप का न होना" इस स्वतंत्रता के नकारात्मक रूप का निर्देशक है।

व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता के हेतु राज्य या समाज को नागरिक के जीवन निर्वाह सम्बन्धी कार्यों में सीमित हस्तक्षेप करना चाहिये। अर्थात् राज्य के कार्य सीमित होने चाहिये। इन कार्यों का ध्येय नकारात्मक स्वतंत्रता की पुष्टि है। राज्य को केवल सुरक्षा और न्याय का प्रबन्ध करना चाहिये। 'समाज-सेवा' सम्बन्धी कार्य उसके क्षेत्र से परे होने चाहिये। इसीलिये व्यक्तिवादी राज्य को "यद्‌भाव्यम् नीति" (Laissez Faire) वाला राज्य भी कहा जाता है। "यद्‌भाव्यम् नीति" का शब्दार्थ है—"स्वतंत्र छोड़ दो"

let alone), अर्थात् नागरिक को निजी सामाजिक तथा आर्थिक विषयों में स्वतंत्र छोड़ना चाहिये। अतः नकारात्मक स्वतंत्रता और "यद्भाव्यम् नीति" इस सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएँ हैं। इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गयी थी।

वस्तुतः यह सिद्धान्त पूँजीवाद के संघर्ष की देन है। आधुनिक युग पूँजीवादी युग कहा जाता है। यूरोप में पूँजीवादी युग के पूर्व सामन्तशाही युग था। उस समय सामन्त, पादरी और सम्राट् यूरोप के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के नेता थे। तेरहवीं सदी से व्यापारियों (अर्थात् भविष्य के पूँजीपतियों) की शक्ति में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी। आरम्भिक व्यापारी मेलों द्वारा व्यापार करते थे। व्यापार की प्रगति से मेलों के स्थान पर सट्टियों का जन्म हुआ। फिर सट्टियों ने नगरों का रूप धारण किया। यह सब सामन्तशाही युग में हुआ था। सामन्तों की भूमि में व्यापार होता था। इसलिये व्यापारियों को उन्हें कर आदि देना पड़ता था। कुछ सामन्तशाही प्रतिबन्धों का पालन करना भी व्यापारियों के लिए अनिवार्य था।

कुछ समय बाद व्यापारियों के लिए सामन्तशाही नियम तथा परम्पराएँ बाधक सिद्ध होने लगीं। अतः उन्होंने अपने नगरों को सामन्तों के नियंत्रण से स्वतंत्र करने की चेष्टा की। कहीं (जैसे इंगलैंड में) यह स्वतंत्रता एक बड़ी पूंजी देकर प्राप्त की गयी। कहीं (जैसे फ्रांस में) छोटे-छोटे युद्ध लड़ने पड़े। कहीं (जैसे जर्मनी में) इसकी प्राप्ति के लिए संघ बनाये गये। व्यापारियों का एकमात्र ध्येय धनोपार्जन था। सामन्तशाही प्रतिबन्ध उनके इस एकमात्र ध्येय में बाधक होने लगे थे। फलतः ये इन प्रतिबन्धों से स्वतंत्र होना चाहते थे। इस प्रकार जन्म-काल से ही पूँजीवाद नकारात्मक स्वतंत्रता (प्रतिबन्धों से मुक्ति) का पुजारी बना। वह चाहता था कि धनोपार्जन के कार्य में उस पर सामन्तशाही समाज या राज्य का कोई नियंत्रण न रहे।

यूरोप में १६वीं सदी में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उस शताब्दी से ही आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। इन परिवर्तनों से सम्बन्धित जो आन्दोलन हुए या जो भी संस्थायें उत्पन्न हुईं, उन्हें व्यापारियों ने तन, मन, धन से सहायता दी। उन्होंने धार्मिक सुधार (The Reformation) आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। नये राजतंत्रों को भी सब प्रकार से सहायता की गयी। ये व्यापारी इतने शक्तिशाली हो गये थे कि फ्रांस के नौ गृह-युद्धों (१५६२—९८) के काल में इन्होंने खुलेआम ह्यूगेनोज़ (Huguenots) दल का साथ दिया। वे ही इस दल की शक्ति के मूल आधार थे। १७वीं सदी में ब्रिटेन के व्यापारियों ने संसद द्वारा स्टुअर्ट राजतंत्र की निरपेक्षता (Stuart Despotism)

का विरोध किया। १६४२—४९ के गृह-युद्ध में राजा के विरोधी दल का नेतृत्व इन्होंने किया था। १६८८ की ब्रिटिश रक्तहीन-क्रान्ति के भी वे ही अगुआ थे।

पूँजीपतियों ने १६वीं तथा १७वीं सदियों में राज्य को अपने अधीन करने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया। उन्होंने सामन्तशाही ढाँचे को बदलना चाहा। परन्तु वे इस कार्य में पूर्णतः सफल न हो सके। उनका न तो राज्यों पर ही एकाधिकार हो सका और न वे सामन्तशाही ढाँचे को ही पूर्णतया बदल सके। फ्रांस और ब्रिटेन में उनके प्रोत्साहन से एवं उनके नेतृत्व में गृह-युद्ध हुए थे। किन्तु अनुकूल व्यवस्था न प्राप्त होने के कारण वे हताश-से हो गये। सामन्तशाही युग का तो अन्त हो गया था, पर ढाँचे का नहीं। अतः अब वे केवल यह चाहने लगे कि राज्य तथा समाज, जिनमें अभी भी सामन्तों का पर्याप्त बोलबाला था, उनके आर्थिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप न करें। वे नकारात्मक स्वतंत्रता के पुजारी और प्रचारक बने। वैसे तो जन्म-काल से ही व्यापारीगण ऐसी स्वतंत्रता के प्रेमी थे, परन्तु अब परिस्थितियों के फलस्वरूप इस प्रेम ने अटल विश्वास का रूप धारण किया। इस प्रगति में भिन्नता केवल मात्रा की ही है, गुण की नहीं।

ऐसी स्वतंत्रता का सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक जॉन लॉक था। जैसा पिछले अध्याय में कहा गया है लॉक १६८८ की रक्तहीन-क्रान्ति का दार्शनिक माना जाता है। उसके आदर्श राज्य के कार्य सीमित थे। राज्य का व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कोई अधिकार तथा नियंत्रण नहीं होना चाहिये। इस सम्पत्ति के अन्तर्गत जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति तीनों का समावेश था। ऐसा दर्शन पूँजीपतियों के हृदयानुकूल था। वह उनकी प्रगति के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रतीत हुआ। लॉक ने उनकी हृदयानुकूल स्वतंत्रता को सैद्धान्तिक रूप दिया। वे अपनी सम्पत्ति और धनोपार्जन के कार्य में राज्य की बाधा से मुक्त होना चाहते थे और लॉक ने उनकी इसी इच्छा का दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादन किया।

१८वीं सदी के फ्रांस पर लॉक की इस विचारधारा का काफी प्रभाव पड़ा। यूरोप के अन्य देशों की भाँति, फ्रांस में अभी सामन्तशाही का उच्च स्थान था। स्वभावतः ऐसे राज्य की नीति बढ़ते हुए पूँजीपतियों को हितकर नहीं लगी। १७वीं सदी के ब्रिटिश पूँजीपतियों की भाँति वे भी फ्रांसीसी राज्य की नीति बदलना चाहते थे। उनके दार्शनिक अनुयायियों ने भी नकारात्मक स्वतंत्रता का प्रचार किया। ऐसी स्वतंत्रता द्वारा वे सामन्तशाही प्रतिबन्धों से मुक्त हो सकते थे और धनोपार्जन में सफल भी। फ्रांस की ऐतिहासिक राज्य-क्रान्ति (१७८९) के नेताओं ने एक स्वर से व्यक्तिगत

स्वतंत्रता का नारा बुलन्द किया। वास्तव में यह स्वतंत्रता केवल सम्पत्ति के स्वामियों के लिये थी, भले ही गरीब किसानों ने क्रान्ति में प्रमुख भाग लिया हो। सुप्रसिद्ध वेत्ता और बौद्धिक वर्ग के नेता वाल्टेयर (Voltaire), के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है। उसने जनसाधारण की तुलना कुत्तों के झुंड से की थी। उसके मतानुसार यह स्वाभाविक है कि मानव जाति शोषकों और शोषितों में विभक्त हो एवं बहुसंख्यक गरीब हों। अन्य बुद्धिजीवियों का भी ऐसा ही मत था। जनसाधारण का गरीब होना समाज-संचालन के लिये नितान्त आवश्यक समझा जाता था, क्योंकि केवल तभी वे काम करेंगे। अतः नकारात्मक स्वतंत्रता, चाहे उसके अनुयायी फ्रांसीसी हों या ब्रिटिश, मध्यवर्गीय स्वतंत्रता थी। ऐसा क्यों न हो जब लार्ड मेकाले (Lord Macaulay) जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान ने मध्यम वर्ग को ही मानव जाति का प्राकृतिक प्रतिनिधि बताया है।

दार्शनिक दृष्टि से १८वीं सदी के फ्रांस का एक महत्वपूर्ण स्थान है। उस सदी की राज्य-क्रान्ति वहाँ की एक महान् ऐतिहासिक घटना थी। उस काल के सभी दार्शनिक (कुछ हद तक रूसो को छोड़कर) नकारात्मक स्वतंत्रता के पुजारी एवं प्रचारक थे। इन्होंने ऐसी स्वतंत्रता को भिन्न-भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों से उचित बताने का प्रयत्न किया। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान फिजियोक्रेटों (Physiocrats) का है। वे अर्थशास्त्र के वेत्ता थे। उनका कहना था कि देश की आर्थिक प्रगति के हेतु राज्य का आर्थिक और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप उचित नहीं है। इन विषयों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। उन्होंने ही सर्व प्रथम "यदभाव्यम् नीति" शब्दावली का प्रयोग किया था। आंकड़ों और तर्क द्वारा ऐसे राज्य को देश के लिये उपयोगी बताया गया। इस तर्क का प्रभाव भविष्य के यूरोपीय अर्थशास्त्र पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा।

१८वीं सदी के मध्य से १९वीं सदी के मध्य तक का काल औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) का युग माना जाता है। औद्योगिक क्रान्ति का श्रेय ब्रिटेन को ही है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन का सामाजिक खाका पूर्णतया परिवर्तित हुआ। जहाँ १८वीं सदी के मध्य तक ब्रिटेन एक कृषि-प्रधान देश था, १९वीं सदी के मध्य में एक उद्योग-प्रधान देश बन गया। इस क्रान्ति के नेता पूँजीपति थे। ब्रिटेन में उनका बोलबाला था। परन्तु इस स्थान पर पहुँचने के लिए उन्हें पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। यह संघर्ष अवशिष्ट सामन्तों एवं बहुसंख्यक श्रमिकों के विरुद्ध था। सामन्त अपने सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों को छोड़ना नहीं चाहते थे। गरीब श्रमिक अपनी दयनीय

दशा सुधारने के लिए आन्दोलन करते थे। उनकी दशा सुधारने का अर्थ था उनकी वेतन-वृद्धि तथा पूँजीपतियों के लाभ में कमी। इस भीषण द्विमुखी संघर्ष (एक ओर सामन्तों और दूसरी ओर श्रमिकों का विरोध) में व्यक्तिवादी दर्शन पूँजीपतियों का सहायक बना। व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की ओट में उन्होंने सामन्त-हितकर नियमों एवं श्रमिकों की न्यायपूर्ण माँगों का दार्शनिक विरोध किया। अतः औद्योगिक क्रान्ति के युग को व्यक्तिवादी दर्शन का युग कहना अनुचित न होगा।

इस काल में व्यक्तिवाद का प्रचार चार दृष्टिकोणों से किया गया। प्रथम दृष्टिकोण अर्थशास्त्र का, द्वितीय उपयोगितावाद का, तृतीय मिल की स्वतंत्रता का एवं चतुर्थ स्पेंसर के जीवशास्त्र का था।

अर्थशास्त्र

ब्रिटेन में व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के चार प्रमुख वेत्ता हुए थे। इनमें आदम स्मिथ (Adam Smith, १७२३—९०) सर्वप्रमुख था। वह आधुनिक अर्थशास्त्र का जन्मदाता माना जाता है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations) पूँजीपतियों के लिए बाईबिल के समान थी। उसने व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र का विश्लेषण किया। दूसरा वेत्ता माल्थस (T. R. Malthus, १७६६—१८३४) था। उसके जनसंख्या-सम्बन्धी सिद्धान्त का अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। रिकार्डो (David Ricardo, १७७२—१८२३) के भूमिकर-सिद्धान्त का आधुनिक अर्थशास्त्र पर अधिक प्रभाव पड़ा है। चतुर्थ वेत्ता जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) था। मिल की पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Political Economy) कई वर्षों तक ब्रिटेन में बहुत प्रचलित रहा। रिकार्डो की मृत्यु (१८२३) और अल्फ्रेड मार्शल (Alfred Marshall, १८४२—१९२४) की पुस्तक (Principles of Economics, १८९०) के प्रकाशन तक मिल की उक्त पुस्तक एक प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती थी। मिल ने उक्त पूर्ववर्ती तीनों अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों का समयानुकूल संशोधन किया।

अपरिवर्तनशील नियमः—इन वेत्ताओं का कुछ विषयों में मतैक्य था। ये र्थशास्त्र के नियमों की तुलना नैसर्गिक नियमों से करते थे। नैसर्गिक नियम अकाट्य वं अपरिवर्तनशील होते हैं। शरद्-ऋतु के पश्चात् ग्रीष्म-ऋतु आती है। सूर्य पूर्व से ंकल कर पश्चिम में अस्त होता है। ऐसे नैसर्गिक नियम बदले नहीं जा सकते। मनुष्य ो अपना जीवन इन नियमों के अनुसार संचालित करना पड़ता है, भले ही ये नियम से बुरे लगें या अच्छे। व्यक्ति को जाड़े में गरम और गर्मी में हल्के कपड़े पहनने ड़ते हैं। मनुष्य इन नियमों को बदल नहीं सकता, यह उसकी सामर्थ्य से परे है। सी प्रकार अर्थशास्त्र के नियम भी अकाट्य एवं अपरिवर्तनशील होते हैं। मनुष्य को पना जीवन इन अपरिवर्तनशील नियमों के अनुसार संचालित करना चाहिये। वह इन ियमों को बदल नहीं सकता चाहे वे उसके लिये कितने ही हानिकारक हों। जिस प्रकार श्व का संचालन नैसर्गिक नियमों द्वारा होता है, वैसे ही आर्थिक जीवन का संचालन र्थशास्त्र के नियमों के अनुसार होना चाहिये।

व्यक्तिवाद की भाँति यह अर्थशास्त्र भी औद्योगिक क्रान्ति के युग में पनपा। यह ध्यमवर्ग तथा पूँजीपतियों के लिए अत्यन्त हितकर था। यह उनकी प्रगति के लिए वच की भाँति था। किन्तु वह अर्थशास्त्र दीन और दुखी श्रमिकों के लिए विष-तुल्य ना। इन अर्थशास्त्रियों ने श्रमिकों को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी कि अर्थशास्त्र े नियम प्राकृतिक नियमों की भाँति अपरिवर्तनशील हैं। श्रमिकों को इन्हीं नियमों े अनुसार अपना जीवन संचालित करना होगा, चाहे ये नियम उनके लिए हितकर हों थवा अहितकर। हाँ, मिल ऐसे मानवतावादी ने श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए ोजनायें बनायीं। परन्तु इन योजनाओं से इन अर्थशास्त्रीय नियमों की अपरिवर्तनशीलता र ठेस न लगी।

व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के सात मुख्य नियम थे। इन नियमों की व्याख्या उक्त दार्शनिकों द्वारा की गयी थी। कोई भी एक दार्शनिक इन सब नियमों का जन्मदाता नहीं था। ये नियम निम्नांकित हैं:—

(१) निजी स्वार्थ का नियमः—ब्रिटेन में इस नियम (Law of Self-Interest) का सर्वप्रथम प्रचारक आदम स्मिथ था। यह नियम व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र का मूल आधार बना। इस नियम के अनुसार मनुष्य तार्किक एवं स्वार्थी है। वह स्वयं ही अपना हित और अहित समझ सकता है। वह सस्ता खरीदता है और महँगा बेचता है। यदि उसे स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वह जीवन में स्वयं ही ऊँचे पद पर पहुँच जायेगा।

यह विचारधारा औद्योगिक क्रान्ति के पूँजीपतियों और धनिकों के अनुकूल थी। वह इनकी वृद्धि का युग था। उसी युग में (लगभग १७५० से १८५० तक) ब्रिटेन दुनिया का कारखाना (the workshop of the world) बना। विशाल ब्रिटिश-साम्राज्य का जन्म और विकास हुआ। ब्रिटेन एक धनी देश बना। संसार के प्रत्येक भाग में ब्रिटेन की वस्तुएँ पहुँचीं। उसी युग में लार्ड क्लाइव (Lord Clive) जैसा नटखट बालक साधारण लेखक के पद से उन्नति कर भारतवर्ष में अंग्रेजी साम्राज्य का जन्मदाता बना और धनी होकर अपनी मातृभूमि को वापस आया। उसी युग में वारेन हेस्टिंग्स (Warren Hastings) भी लेखक के पद से प्रगति करता हुआ भारतवर्ष का सर्वप्रथम गवर्नर-जनरल बना। ऐसे अनेक दृष्टान्त उस युग के ब्रिटेन में पाये जाते हैं। ऐसे वातावरण में धनिकों को उक्त नियम प्रतिकूल प्रतीत हुआ। उनका जीवन इस बात का साक्षी बना कि यदि मनुष्य स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वह स्वयं ही जीवन में सफल होगा।

अतः मनुष्य स्वयं ही प्रगति कर सकता है; उसे आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में राज्य की सहायता की आवश्यकता नहीं। राज्य को केवल सुरक्षा और न्याय का ही प्रबन्ध करना चाहिये। आर्थिक और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना राज्य के लिए आवश्यक है। इन क्षेत्रों में मनुष्य को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये। वह स्वयं ही उन्नति कर लेगा।

परन्तु क्या ऐसी स्थिति में समाज का हित सम्भव हो सकता है? हाँ। व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि मनुष्य का हित और समाज का हित विरोधात्मक नहीं हैं। इस सम्बन्ध में जान स्टुअर्ट मिल ने कहा था कि यदि एक मनुष्य अपनी सफलता के लिए प्रयत्न करता है तो यह नहीं समझना चाहिये कि वह अन्य मनुष्यों की सफलता नहीं चाहता। मनुष्य के स्वार्थ का रूप केवल निजी स्वार्थ ही नहीं है वरन् समाज-स्वार्थ भी। एक मनुष्य जब निजी स्वार्थ की पूर्ति करना चाहता है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों के स्वार्थों को समाप्त करना चाहता है। अर्थात् व्यक्ति समाज-स्वार्थ का भी इच्छुक होता है। मनुष्य तार्किक है और इस नाते उसका हित तथा समाज का हित विरोधात्मक नहीं हैं।

आखिर समाज का सुख है क्या? वह तो प्रत्येक सदस्य के सुख का योग है। समाज सुख का अर्थ है "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" (the greatest good of the greatest number)। यह "अधिकतम सुख" तभी सम्भव है जब सब व्यक्तियों को निजी सुख की प्राप्ति के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो। अर्थात् समाज-सुख के हेतु यह आवश्यक

है कि राज्य मनुष्यों को आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करे।

अतः व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपना हित और अहित भली भाँति जानता है। यदि उसे राज्य द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाय तो वह अपना सुख स्वयं प्राप्त कर लेगा। उसके सुख से समाज का सुख भी सम्भव हो सकेगा। इस भाँति निजी स्वार्थ के नियम से "यद्‌भाव्यम् नीति" एवं व्यक्तिवादी राज्य को न्यायसंगत बताया गया।

(२) स्वतंत्र प्रतियोगिता का नियम :—उक्त निजी स्वार्थ के नियम के अनुसार मनुष्य अपना हित और अहित स्वयं ही समझ सकता है। वह बाजार में एक वस्तु का क्रय-विक्रय अपने हित की दृष्टि से करता है। वह अपनी वस्तु अधिकाधिक दामों में बेचना चाहता है और अपने लिए दूसरे की वस्तु न्यूनतम मूल्य में खरीदना चाहता है। इसलिए राज्य को वस्तुओं के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित नियम नहीं बनाने चाहिये।

फिर माँग और पूर्ति के नियम द्वारा वस्तुओं का मूल्य स्वयं ही निर्धारित हो जाता है। यदि वस्तु की माँग अधिक है और पूर्ति कम, तो उसका मूल्य अधिक होगा। यदि पूर्ति अधिक है और माँग कम तो मूल्य कम होगा। इसी प्रकार स्वतंत्र प्रतियोगिता द्वारा वस्तुओं का वितरण भी स्वयं ही हो जायगा। जहाँ वस्तु की आवश्यकता होगी, वहाँ व्यापारी उसे पहुँचायेंगे। जहाँ उसकी माँग न होगी, वहाँ से वे उस वस्तु को माँग वाली जगह भेजेंगे। इसलिए राज्य को बाजार या मूल्य सम्बन्धी विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य अपना व्यवसाय स्वयं ही निर्धारित कर सकता है, क्योंकि वह अपना हित और अहित भली भाँति जानता है। उसको यह ज्ञान है कि किस कार्य को करने से उसे लाभ होगा और किससे हानि। इस विषय में भी राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक है। साथ ही साथ वेतन निर्धारण में भी राज्य का हस्तक्षेप अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकता का ज्ञान है और वह अपना वेतन स्वयं निर्धारित कर सकता है।

इस सम्बन्ध में औद्योगिक क्रान्ति के श्रमिकों के विषय में कुछ पता देना अनुचित न होगा। उस युग में निर्धन बच्चे और गर्भवती स्त्रियाँ भी कारखानों और भयानक खानों में अपनी जीविका के लिए प्रतिदिन कई घंटे काम करती थीं। कुछ मानवतावादियों ने इनकी दशा सुधारने के लिए आन्दोलन किया। पूँजीपतियों ने तुरन्त उत्तर दिया कि निजी स्वार्थ एवं स्वतंत्र प्रतियोगिता के नियमों के विपरीत राज्य का नियम-निर्माण असहनीय एवं अप्राकृतिक होगा। संसद को कोई सुधार-प्रस्ताव स्वीकार नहीं करना

चाहिये। अन्यथा प्रतियोगिता की अमूल्य स्वतंत्रता पर आघात होगा और देश को प्रगति में बाधा पड़ेगी। अतः वेतन निर्धारण में भी राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा के नियम द्वारा श्रमिकों के वेतन स्वयं निर्धारित हो जायेंगे। (वेतन के नियमों का वर्णन आगे किया जायगा।)

इस स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा की ओट लेकर औद्योगिक क्रान्ति के युग में कई ऐसे अनैतिक तथा अमानुषिक कार्यों को न्याय-संगत बताया गया। गरीब श्रमिक, उनके बच्चे और उनकी स्त्रियाँ अत्यन्त दलित दशा में जीवन-यापन करती थीं। उनको प्रतिदिन कई घंटे भयानक तथा अस्वास्थ्यकर कारखानों में कम वेतन पर काम करना पड़ता था। व्यक्तिवादी राज्य मौन साधे रहा। पूँजीपति और उनके समर्थक (संसद में और उसके बाहर) सर्वदा व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के अपरिवर्तनशील नियमों की दुहाई देते थे। उन्होंने स्वतंत्र प्रतियोगिता के नाम पर इन अत्याचारों का परोक्षरूप से समर्थन किया। व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों ने यह न सोचा कि इस स्वतंत्र प्रतियोगिता के फलस्वरूप दीन श्रमिकों की क्या दशा होगी। मानवतावादी जान स्टुअर्ट मिल ने भी इस स्वतंत्रता के विपरीत एक शब्द न कहा। यही नहीं, वह भी ऐसी अमानुषिक प्रतिस्पर्द्धा के मार्ग में रुकावट को विकार समझता था।

(३) जनसंख्या का नियम :—इस नियम का जन्मदाता जॉन माल्थस था। उसने आँकड़े एकत्र किये और बताया कि इतिहास के अनुसार एक देश की जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक रीति से होती है और खाद्यान्न की वृद्धि अङ्कगणित की रीति से। यदि एक काल में मनुष्यों की वृद्धि २ से ४ (२×२) होती है तो उपज की वृद्धि केवल २ से ३। अर्थशास्त्र के अन्य नियमों की भाँति यह नियम भी अपरिवर्तनशील है।

ऐसी भिन्न प्रगति का क्या परिणाम होता है? जनसंख्या की वृद्धि की गति उपज की वृद्धि की गति से अधिक होती है और एक समय ऐसा आता है जब बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए देश की उपज पर्याप्त नहीं हो पाती। फलतः कई लोगों को भूखा रहना पड़ता है और गरीबी बढ़ती है। माल्थस के अनुसार ऐसी दीनता केवल अकाल, युद्ध और भीषण बीमारियों से ही घट सकती है और वह भी केवल अस्थायी रूप से। इन दैवी दुर्घटनाओं से जनसंख्या घटती है और कुछ काल तक देश की उपज इस घटी हुई जनसंख्या के लिए पर्याप्त होती है।

इस तर्क का क्या पणिाम हुआ? निर्धन कृषकों और श्रमिकों की दीन दशा एवं उनकी गरीबी का कारण जनसंख्या की वृद्धि बतायी गयी। उनसे कहा गया कि गरीबी

एक प्रकृतिदत्त स्थिति है। राज्य का नियम या हस्तक्षेप इस दिशा में परिवर्तन नहीं ला सकता। केवल अकाल, युद्ध या भीषण बीमारी ऐसी प्राकृतिक घटनाएँ ही इस दयनीय दशा का अस्थायी रूप से सुधार कर सकती हैं। राज्य या समाज द्वारा गरीबी तथा भुखमरी दूर नहीं हो सकती। राज्य से अनुरोध करना व्यर्थ है और राज्य का इस सम्बन्ध में हस्तक्षेप अप्राकृतिक है।

उदारवादी तथा मानवतावादी जान स्टुअर्ट मिल ने भी इस नियम का परित्याग नहीं किया। यही नहीं, वह भी इसका पूरा समर्थक था। उसने श्रमिकोद्धार की योजनाएँ बनायी थी। परंन्तु इन योजनाओं का तथ्य था कि श्रमिकों की दशा तभी सुधर सकती है जब वे सन्तान कम पैदा करें। तब स्वतः जनसंख्या में कमी होगी और देश की उपज उनके लिए पर्याप्त हो सकेगी।

यह नियम भी गरीबों के विपक्ष में ही था। माल्थस और उसके व्यक्तिवादी अनुयायियों का तर्क पूर्णतया अमानुषिक है। जीवन की साधारण घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है। यदि कोट का कपड़ा कम हो, तो माल्थसवाद के अनुसार बजाय कपड़ा बढ़ाने के कोट पहनने वाले के हाथ और पैर काटने उचित होंगे। यदि मनुष्य की लम्बाई से चारपाई की लम्बाई कम हो तो एक माल्थसवादी मनुष्य के पैर काटने के पक्ष में निर्णय देगा। न्याय और मानवता के नाते तो कपड़ा बढ़ाना चाहिये एवं चारपाई लम्बी करनी चाहिये। इसी प्रकार यदि जनसंख्या अधिक हो तो उत्पादन बढ़ाया जाना चाहिये। यदि वैज्ञानिक प्रगति को उत्पादन की वृद्धि के हेतु उपयोग में लाया जाय तो जनसंख्या की यह समस्या हल हो सकती है। अतः माल्थस की "प्राकृतिक" घटनाओं के बिना भी मनुष्य जाति सम्पन्न तथा सुखी हो सकती है। आज सभी जनवादी, मानवतावादी तथा समाजवादी यह स्वीकार करते हैं। उत्पादन की रीति में परिवर्तन से यह सम्भव हो सकता है। यदि उत्पादन भोग के लिए हो, लाभ के लिए नहीं, तो पर्याप्त वस्तुएँ उपलब्ध होंगी।

(४) पूर्ति और माँग का नियम :—इस नियम के अनुसार एक वस्तु का मूल्य इस प्रकार निर्धारित होता है। यदि पूर्ति माँग से अधिक हो, तो वस्तु का मूल्य कम होगा। यदि पूर्ति माँग से कम हो, तो मूल्य अधिक होगा। बाजार में वस्तुओं के मूल्य पूर्ति और माँग की वृद्धि और ह्रास के अनुसार ही बढ़ते या घटते रहते हैं। हाँ, मूल्य साधारणतः वस्तु के 'उत्पादन व्यय' से कम नहीं होता।

यह नियम भी अपरिवर्तनशील माना जाता था। इसलिए राज्य को बाजार तथा

मूल्य सम्बन्धी विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। जान स्टुअर्ट मिल ने इस नियम में एक अल्प संशोधन किया। उसने कहा कि वस्तु के मूल्य का भी उसकी पूर्ति और माँग पर प्रभाव पड़ता है, केवल यही नहीं कि पूर्ति और माँग का प्रभाव मूल्य पर पड़े। किन्तु इस संशोधन का यह अभिप्राय नहीं था कि राज्य माँग और पूर्ति के नियमों में हस्तक्षेप करे। मिल का भी अटूट विश्वास था कि राज्य का आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप अनुचित है।

(५) **वेतन का नियम**:—श्रमिकों के वेतन भी ऐसे ही अपरिवर्तनशील नियम द्वारा निर्धारित होते हैं। इसमें भी राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक नहीं है। वस्तु के मूल्य की भाँति वेतन भी स्वतः पूर्ति और माँग के नियम द्वारा निर्धारित होंगे। यदि श्रमिकों की संख्या आवश्यक नियुक्तियों की संख्या से अधिक होगी तो सम्भवतः वेतन घटेगा। यदि श्रमिकों की संख्या ऐसी नियुक्तियों की संख्या से कम होगी तो वेतन बढ़ेगा। काब्डन (Cobden) ने इस नियम की व्यवस्था ऐसे की थी। वेतन बढ़ेगा, यदि दो पूँजीपति एक श्रमिक के पीछे चलें, अर्थात् श्रमिक से काम करने के लिए आग्रह करें। वेतन घटेगा, यदि दो श्रमिक एक पूँजीपति के पीछे चलें, अर्थात् उससे नौकरी देने के लिए आग्रह करें।

व्यक्तिवादियों के अनुसार राज्य को वेतन निर्धारित नहीं करना चाहिये, चाहे गरीब श्रमिकों को कितना ही कष्ट क्यों न हो। वैसे तो यह नियम ठीक ही ज्ञात होता है। परन्तु वास्तव में यह अमानुषिक है। इसके अनुकरण से दीन श्रमिकों को अत्यधिक हानि पहुँची। यह स्वाभाविक था। यदि एक भूखा अपनी भूख मिटाने के लिए कम वेतन स्वीकार करता है, तो क्या वह वेतन न्यायपूर्ण है? क्या राज्य द्वारा ऐसी परिस्थिति में श्रमिक को सहायता नहीं मिलनी चाहिए, अर्थात् क्या राज्य द्वारा वेतन निर्धारित नहीं होना चाहिये? व्यक्तिवादी दर्शनानुसार राज्य को मौन साधना चाहिये, किन्तु मानवता के नाते राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक ही नहीं लाभप्रद भी है। वर्गीय समाज में ऐसी स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा निर्धन श्रमिकों के लिए अत्यन्त घातक है और धनी पूँजीपतियों के लिए अत्यन्त हितकर।

वास्तव में इन नियमों से दीन श्रमिकों की दशा अत्यन्त चिन्ताजनक हो गयी थी। औद्योगिक क्रान्ति के युग के श्रमिक और उनके कुटुम्बी क्षुधित या अर्धक्षुधित, नग्न अथवा अर्धनग्न दशा में रहते थे। "यद्भाव्यम् नीति" वाले राज्य ने उनकी दशा सुधारने के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं किया। व्यक्तिवादी दार्शनिकों, प्रधानतः मिल ने, कुछ सुधार योजनाएँ अवश्य प्रस्तुत की। किन्तु, जैसा ऊपर कहा गया है, ये योजनाएँ उक्त अर्थशास्त्रीय नियमों

की अपरिवर्तनशीलता के वातावरण में ही बनी थीं। यह विशेषता तो व्यक्तिवाद का प्राण थी। मिल की योजनाओं का सार यह था कि श्रमिकों की संख्या कम होनी चाहिये। मांग पूर्ति से अधिक होगी और वेतन स्वभावतः बढ़ेगा। ऐसे स्वेच्छात्मक और व्यक्तिगत कार्य से श्रमिकों की दशा सुधर सकती है।

इस सुधार के सम्बन्ध में 'वेतन-कोष' सिद्धान्त की व्याख्या की गयी थी। प्रत्येक देश की आय का एक भाग वेतन के लिये व्यय होता है। यह पूँजी निश्चित-सी रहती है। यदि श्रमिकों की संख्या अधिक होगी तो इस पूँजी के विभाजन में उन्हें प्रति व्यक्ति कम भाग प्राप्त होगा। यदि उनकी संख्या कम होगी तो उनका हिस्सा अधिक होगा। (मान लीजिये, इस राष्ट्रीय कोष की पूँजी १०० रुपये हैं और श्रमिकों की संख्या १० है। प्रत्येक श्रमिक को १० रुपये वेतन मिलेगा। यदि श्रमिकों की संख्या ५ है, तो वेतन २० रुपया होगा।) तात्पर्य यह है कि श्रमिकों को कम सन्तान पैदा करनी चाहिये। तब उनकी संख्या कम होगी और उन्हें उक्त 'वेतन-कोष' का अधिक भाग प्राप्त हो सकेगा।

इन सब तर्कों और उदाहरणों का केवल एक ही अभिप्राय है—राज्य का 'यद्भाव्यम् नीति' के अनुसार संचालन। श्रमिकों की गरीबी दूर करना न तो पूँजीपति का और न राज्य का ही कर्तव्य है। पूँजीपतियों का लक्ष्य है निजी धन एकत्र करना और राज्य का कर्तव्य है इस लक्ष्य में सहायता पहुँचाना। जहाँ तक श्रमिक का प्रश्न है, उसे अपने भाग्य का निपटारा स्वयं ही करना चाहिये।

(६) भूमि-कर का नियमः—यह नियम रिकार्डो की देन है। इसके अनुसार भूमि या किसी वस्तु का कर स्वयं ही निर्धारित हो जाता है। कुछ खेतों का उदाहरण लीजिये। मान लीजिये कि "अ" खेत की उपज औसत उपज है। यदि "ब" खेत की उपज उस औसत उपज से अधिक होती है, तो अतिरिक्त उपज उस खेत का कर होगा। यह भी अर्थशास्त्र के अन्य नियमों की भाँति अपरिवर्तनशील है। राज्य को इस क्षेत्र में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का नियमः—देश के आयात और निर्यात पर कर नहीं लगाना चाहिये। जिस प्रकार देश के बाजार में पूर्ति और मांग के नियम से वस्तुओं का मूल्य और वितरण निर्धारित होता है, वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी वस्तुओं का मूल्य तथा उनका आयात-निर्यात निश्चित हो सकता है।

अन्य उक्त नियमों की भाँति यह "मुक्त व्यापार" का नियम भी ब्रिटिश पूँजीपतियों के लिए अत्यन्त हितकर था। इस नियम का प्रयोग अंग्रेज सामन्तों के हित के विरोध में

किया गया। नेपोलियन से होने वाले युद्धों (१८०२—१४) के काल में यूरोप के अनाज पर ब्रिटिश सरकार ने आयात-कर या अन्न-कर (Corn Laws) लगाया था। इस कर से ब्रिटेन के अनाज का मूल्य बढ़ा और स्वतः जमींदारों का लाभ भी। फलतः जनसाधारण और श्रमिकों का निर्वाह-व्यय बढ़ा। श्रमिकों ने वेतन-वृद्धि की माँग की। वेतन-वृद्धि का अर्थ था पूँजीपतियों के लाभ में कमी। जनसाधारण की सहायता के नाम पर पूँजीपतियों ने मुक्त-व्यापार (Free Trade) का आन्दोलन किया। इसकी ओट में अन्न-कर को रद्द करने के लिए आन्दोलन हुआ। काफी विरोध और संघर्ष के पश्चात् १८४६ में अन्न-कर हटाया गया। इस कर के हटने से ब्रिटेन में "मुक्त-व्यापार" प्रथा की स्थापना हुई। अनाज सस्ता हुआ, श्रमिकों की वेतन-वृद्धि की माँग कुछ समय के लिए कम हुई, पूँजीपतियो के लाभ में वृद्धि हुई, और सामन्तों के लाभ में कमी।

यही नहीं, इस नियम द्वारा ब्रिटेन के पूँजीपतियों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी लाभ हुआ। औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम ब्रिटेन में ही हुई थी। इसलिए अन्य देशों की वस्तुओं के समक्ष ब्रिटेन के नये कारखानों की वस्तुएँ उत्तम और सस्ती होती थीं। यदि संसार भर में "मुक्त-व्यापार" की प्रथा होती, तो अवश्य ही ब्रिटिश वस्तुओं का सारे विश्व के बाजार में एकाधिकार हो जाता। वास्तव में जिन देशों में "मुक्त-व्यापार" था, उन देशों के बाजारों पर ब्रिटिश वस्तुओं का एकाधिकार स्थापित हुआ। भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन ने "मुक्त-व्यापार" का अनुकरण किया। फलतः ब्रिटिश वस्तुओं ने यहाँ के बाजार पर एकाधिकार कर लिया। सदियों के देशी व्यवसाय का अन्त हो गया। अन्य निर्बल एवं अधीन देशों में भी ऐसा ही हुआ। साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा व्यापार की वृद्धि हुई और व्यापार की वृद्धि से साम्राज्य का विस्तार हुआ। एक दूसरे का सहायक बना। सारांश में, पूँजीपतियों की जेब खूब गर्म हुई।

स्वतंत्र देशों ने "मुक्त-व्यापार" का अनुकरण नहीं किया। जर्मनी आदि राज्यों ने आयात-कर लगा कर अपने राष्ट्र के व्यवसायों को ब्रिटेन की प्रतियोगिता से बचाया। वैसे ही आज अमेरिका की वस्तुओं के एकाधिकार को रोकने के लिए तथा ब्रिटिश वस्तुओं की रक्षा के लिए ब्रिटेन ने (१९३१ के पश्चात्) "रक्षित-व्यापार" (Protection) की प्रथा को स्वीकार किया है। जब ब्रिटेन के व्यवसाय का बोलबाला था, तब उसने "मुक्त-व्यापार" का प्रचार साहित्य और दर्शन द्वारा किया; किन्तु जब उसकी व्यापारिक स्थिति कमजोर हुई, तब उसने इस "अमूल्य" स्वतंत्रता का खुलेआम परित्याग किया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय सम्बन्धी "मुक्त-व्यापार" का नियम औद्योगिक क्रान्ति

और उसके पश्चात् के ब्रिटेन तथा उसके पूँजीपतियों के लिए अति लाभदायक था। तभी उसका सैद्धान्तिक रूप से प्रचार किया गया।

इस सम्बन्ध में जर्मन अर्थशास्त्रीय वेत्ता लिस्ट (List) का कथन महत्त्वपूर्ण है। उसने ब्रिटेन की तुलना उस मनुष्य से की जो एक सीढ़ी द्वारा छत पर चढ़कर उस सीढ़ी को नीचे फेंक देता है और तब अन्य लोगों से छत पर चढ़ने को कहता है। एक समय ब्रिटेन ने अपने व्यवसाय की रक्षा के हेतु आयात पर कर लगाया था। जब उसने इस नीति द्वारा औद्योगिक क्षेत्र में श्रेष्ठता प्राप्त की, तब उसने आयात-कर की प्रथा का परित्याग किया और "मुक्त-व्यापार" के सिद्धान्त का समर्थन। साथ ही साथ उसने अन्य पिछड़े हुए देशों से अनुरोध किया कि वे भी "मुक्त-व्यापार" को अपनायें और उस आयात-कर की प्रथा का परित्याग करें जिसके द्वारा वह स्वयं एक समृद्ध देश बना था।

अतः व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र ब्रिटेन के पूँजीपतियों के लिए सब प्रकार से हितकर था। निर्धन श्रमिकों एवं पराधीन देशों के लिए वह अत्यन्त हानिकारक बना। यह अर्थशास्त्र औद्योगिक क्रान्ति के ब्रिटेन की विशेष परिस्थितियों में पनपा था। कुछ समय के पश्चात् इस अर्थशास्त्र का विरोध समाजवादी दार्शनिकों तथा श्रमिकों द्वारा हुआ।

उपयोगितावाद

व्यक्तिवादी राज्य को उपयोगितावादी तर्क द्वारा भी उचित बताया गया था। इसका श्रेय जर्मी बेन्थम (*Jeremy Bentham*, १७४८—१८३२) को है। बेन्थम का जन्म एक अच्छे मध्यमवर्गीय घराने में हुआ था। बचपन से ही उसे अच्छी शिक्षा मिली थी। उसके पिता की इच्छा थी कि वह न्याय विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी, लार्ड चान्सलर (Lord Chancellor) बने। पर बेन्थम की रुचि इस ओर न थी। कालेज के सहपाठी उसे दार्शनिक कहा करते थे। बैरिस्टरी पास कर उसने वकालत आरम्भ की। किन्तु विधानों एवं धाराओं को मुकदमों में लागू करने के बजाय उसने उनका अध्ययन तथा संशोधन करना प्रारम्भ किया। उसे तत्कालीन नियमों में कई त्रुटियाँ दृष्टिगोचर हुईं। उनमें सुधार करने के लिए उसने कई योजनायें बनायी। इनमें से कई राज्य द्वारा कार्यान्वित हुईं। १९वीं सदी के अन्त में हेनरी मेन (Henry Maine) ने कहा कि उस सदी में इंगलैंड में शायद ही कोई ऐसा वैधानिक सुधार हुआ हो जिस पर बेन्थमवाद की छाप न हो।

बेन्थम ८२ वर्ष तक जीवित रहा। उसने लगभग ५० वर्ष तक १६ पन्नें प्रतिदिन लिखे। उसकी इन रचनाओं का संग्रह ११ बड़े ग्रन्थों में मिलता है। ग्राहम वालाज़ (Graham Wallas) का कहना है कि बेन्थम ने जो लिखा उसे सोचा, और जो सोचा उसे लिखा। उसने कई विषयों पर विचार प्रगट किये। ये विषय प्रायः राजनीतिक संगठन और नियमों से सम्बन्धित थे। (जैसे सरकारी कर्मचारियों की प्रतियोगिता द्वारा नियुक्ति, सरकारी विभागों का संगठन और संचालन, नोट-मुद्रण-कला, उपनिवेश सम्बन्धी मताधिकार इत्यादि)। उसने केवल ब्रिटेन के लिए ही नहीं वरन् फ्रांस, अमेरिका, भारतवर्ष आदि देशों के लिए भी वैधानिक ग्रन्थ (Code) बनाने का प्रयत्न किया था। कहा जाता है कि उसका राजा राममोहन राय से मैत्री एवं पत्र-व्यवहार था। सुप्रसिद्ध विधान-सुधारक गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेन्टिन्क (Lord William Bentinck) ने भारतवर्ष आते समय (१८२७) बेन्थम को लिखा था कि "भारतवर्ष में मैं नहीं, आप गवर्नर-जनरल होंगे।" स्पष्ट है कि बेन्टिन्क की सुधार योजनाएँ बेन्थमवाद से प्रेरित हुई थीं।

बेन्थम का युग औद्योगिक क्रान्ति का युग था। इस क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए। एक नये ब्रिटेन का जन्म हुआ। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन को एक उच्च कोटि के सुधारक की आवश्यकता थी। बेन्थम ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। वह राष्ट्र तथा समाज के जिस पहलू को देखता, उसमें ही उसे सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती थी। इसीलिए वह इतना लिख सका। उक्त सामाजिक परिवर्तन के युग का अनुमान इस दृष्टान्त से हो सकता है कि फरवरी १८०० से अप्रैल १८०१ तक १०० से भी अधिक व्यक्तियों को बैंक नोटों और चेकों की जालसाज़ी के लिये फांसी का दंड दिया गया। बेन्थम ने अपने युग के सभी विषयों पर लिखा। उसकी महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं: Fragment on Government (१७७६), Introduction to the Principles of Morals and Legislation (१७८९), Constitutional Code (१८२७—३२) आदि।

उपयोगिता :—बेन्थम को प्रीस्टले (Priestley) के लेखों में एक सूत्र मिला। यह था "अधिकतम लोगों का अधिकतम हित" (the greatest good of the greatest number)। प्रीस्टले ने और उससे पूर्व फ्रांसिस (Francis) और हचीसन (Hutchison) ने भी इसी सूत्र का अनुकरण राज्य का मुख्य ध्येय बताया था। बेन्थम को इस सूत्र के ज्ञान से अतीव हर्ष हुआ। उसने सोचा कि क्या ही अच्छा होता कि राज्य इस सूत्र को अपनाता। उसने इस सूत्र को कार्यान्वित करने की समस्या पर विचार

किया। "अधिकतम लोगों का अधिकतम हित" के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि हित कैसे निश्चित हो सकता है। बेन्थम को इस विषय में हिडनिस्टिक (hedonistic) मनोविज्ञान से सहायता मिली। हिडनिज्म प्राचीन ग्रीस का दर्शन था। इसके अनुसार मनुष्य के कार्य सुख-दुःख के माप-दंड से निर्धारित होते हैं। बेन्थम ने उक्त सूत्र को सुख-दुःख के सिद्धान्त का पुट दिया और इन दोनों द्वारा व्यक्तिवादी राज्य को न्याय-संगत बताया।

बेन्थम की प्रसिद्ध पुस्तक 'न्याय और व्यवस्था के सिद्धान्तों की प्रस्तावना' (Introduction to the Principles of Morals and Legislation) का प्रथम वाक्य है कि "प्रकृति ने मनुष्य जाति को दो सत्ताधारी स्वामियों—सुख और दुःख—के अधीन बनाया है (Nature has put mankind under two sovereign masters—pleasure and pain)।" मनुष्य के कार्य सुख-दुःख पर आश्रित हैं। जीवन का एकमात्र ध्येय सुख-प्राप्ति एवं दुःख-निवारण है। यही जीवन का सार है। जिस व्यक्ति का जीवन इस सिद्धान्त द्वारा संचालित नहीं होता, वह अज्ञानी है।

सुख-दुःख का अर्थ उपयोगिता है। मनुष्य वही कार्य करता है या वही वस्तु ग्रहण करता है, जिससे सुख की प्राप्ति सम्भव हो, अर्थात् जो उपयोगी हो। वही वस्तु उपयोगी है, जिससे सुख प्राप्त हो। सुख का अर्थ है आनन्द या आनन्द का कारण। दुःख का अर्थ है क्लेश या क्लेश का कारण। बेन्थम के अनुसार मनुष्य के सब भौतिक कार्य उपयोगिता से ही निर्धारित होते हैं। यही नहीं, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय और भलाई-बुराई की परख भी उपयोगिता द्वारा होती है। उपयोगिता ही जीवन में सत्ताधारी है।

बेन्थम ने सुख-दुःख के चार स्रोत बताये—नैसर्गिक, लौकिक, राजनीतिक (वैधानिक) और धार्मिक। मान लीजिये कि एक मनुष्य का घर जल गया है। यदि मकान उसकी अपनी भूल से भस्म हुआ, तो उसको नैसर्गिक स्रोत वाला दंड या दुःख मिला। यदि वह पड़ोसी की बुरी भावना से भस्म हुआ, तो उसे लौकिक स्रोत वाला दंड या दुःख मिला। यदि वह सरकारी कर्मचारी के आदेश से जला, तो वह राजनीतिक या वैधानिक स्रोत का दंड या दुःख का भोगी बना। यदि दैवी शक्ति के प्रकोप से आग लगी, तो धार्मिक स्रोत का दंड या दुःख हुआ।

बेन्थम के अनुसार सुख-दुःख की मात्रा की परख सात विशेषताओं द्वारा हो सकती है। ये हैं—तीव्रता, समय-प्रसार, निश्चय, समीपता, उपजाऊपन, शुद्धता और विस्तार। ये विशेषताएँ ही एक वस्तु की उपयोगिता के मापदंड हैं। इन्हीं के आधार पर वस्तु की उपयोगिता निर्धारित होती है। ये ही धर्म, नैतिकता, न्याय और अच्छाई के भी मापदंड

हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर बेन्थम वस्तुओं का उपयोगिता-सम्बन्धी मानचित्र बनाया करता था। उसे इस कार्य में बड़ी रुचि थी।

उपयोगितावाद और राज्य :—इस विवरण का राज्य के कार्यों से क्या सम्बन्ध है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है, बेन्थम ने राज्य और नियम-निर्माण के प्रायः सभी पहलुओं पर विचार प्रकट किये थे और सुधार योजनाएँ भी प्रस्तुत की थी। इन योजनाओं तथा विचारों पर उपयोगितावाद की छाप अंकित थी। उसका मत था कि व्यवस्थापक का एकमात्र ध्येय सुख-विस्तार और दुःख-परिहार होना चाहिये। ऐसे नियमों का निर्माण हो, जिनसे नागरिकों के सुख की वृद्धि और दुःख का निवारण सम्भव हो सके। प्रत्येक नियम को उपयोगिता की कसौटी पर कसा जाना चाहिये। व्यवस्थापक का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है कि वह प्रस्तावित नियमों को उपयोगिता की कसौटी पर कसे और तब केवल ऐसे ही नियमों का निर्माण करे जिनसे "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" सम्भव हो।

परन्तु व्यवस्थापक कैसे जान सकता है कि अमुक नियम नागरिकों के लिए उपयोगी होगा ? इसके लिये बेन्थम ने उक्त सात विशेषताओं से सम्बद्ध मानचित्र (चार्ट) बनाये थे। ये मानचित्र एक उपयोगितावादी व्यवस्थापक के लिए पथ-प्रदर्शक थे। बेन्थम ने अपना अमूल्य समय इन मानचित्रों के बनाने में व्यतीत किया था। वह यह बताना चाहता था कि उपयोगिता की परख उतनी ही सरल है जैसा साधारण गणित। अपने आदर्श उपयोगितावादी व्यवस्थापक की सुविधा के हेतु उसने ये मानचित्र बनाये। उसका अटूट विश्वास था कि इन मानचित्रों की सहायता से व्यवस्थापक सरलता से प्रस्तावित नियमों की उपयोगिता की परख कर सकेगा। यही उसके परिश्रम का लक्ष्य था।

उपयोगितावाद और व्यक्तिवाद :—इस उपयोगितावाद से व्यक्तिवाद का क्या सम्बन्ध था ? अन्य व्यक्तिवादियों की भाँति बेन्थम भी राज्य को एक आवश्यक विकार (necessary evil) मानता था। उपयोगिता की दृष्टि से राज्य के नियम मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक हैं। अतः नियम विकार तुल्य है। किन्तु बिना राज्य-नियम के सभ्य जीवन सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए वह एक विकार तो अवश्य है किन्तु आवश्यक भी है। अतः राज्य को न्यूनतम नियम बनाने चाहिये। तभी नागरिक-स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है।

बेन्थम ने सरकार के नियम की तुलना औषधि से की थी। मनुष्य की सर्वोत्तम स्थिति आरोग्य स्थिति है। किन्तु अस्वस्थ होने पर औषधि की आवश्यकता पड़ती है। उपयोगिता की दृष्टि से आदर्श जीवन स्वतंत्रता पूर्ण जीवन है। परन्तु जब असामाजिक

बाधाओं (चोरी आदि) से स्वतंत्रता के भंग होने की सम्भावना हो, तब राज्य-नियम ही औषधि का कार्य करते हैं। राज्य-नियम ही इन बाधाओं को दूर कर सकते हैं। राज्य का एक नियम प्रतिबन्ध या बाधा तो अवश्य है परन्तु वह आवश्यक भी है। क्योंकि यह बाधा अन्य असामाजिक बाधाओं को दूर करती है। जैसे व्यक्ति साधारणतः औषधि का प्रयोग कम से कम करना चाहता है, वैसे ही वह चाहता है कि राज्य की बाधाएँ (नियम) भी कम से कम हों। जैसे व्यक्ति स्वास्थ्य की दृष्टि से आरोग्य स्थिति का प्रशंसक है, वैसे ही वह उपयोगिता की दृष्टि से स्वतंत्रता का प्रेमी है। इसलिए व्यवस्थापक का कर्तव्य है कि सत्ताधारी उपयोगिता के हेतु वह कम से कम नियम बनाये अर्थात् व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतंत्र वातावरण में छोड़ दे।

बेन्थम का कहना था कि सरकार या व्यवस्थापक को नियम-निर्माण के पूर्व निम्न दो मुख्य बातों को ध्यान में अवश्य रखना चाहिये :—

(१) क्या, जो कार्य नियम द्वारा रोके जाते हैं वे वास्तव में समाज के लिए विकार हैं (उदाहरणार्थ, चोरी) ?

(२) प्रस्तावित नियम इस विकारात्मक कार्य से कम विकारग्रस्त हैं या अधिक ? (उदाहरणार्थ, क्या १०००) रु० की चोरी के समक्ष ३ माह का कारागार कम विकार है ? अर्थात् समाज के लिए कौन बड़ा विकार है, १०००) रु० की चोरी या एक व्यक्ति को ३ माह के लिये बहुमूल्य स्वतंत्रता से वञ्चित करना) ?

इस प्रकार बेन्थम के अनुसार व्यवस्थापक को सोच-समझ कर नियम बनाना चाहिये। उसे सदा सचेत रहना चाहिये। अन्य व्यक्तिवादियों की भाँति बेन्थम भी राज्य के नियंत्रण या नियम को एक आवश्यक विकार मानता है। इस विकार का प्रयोग केवल तभी होना चाहिये जब उसके द्वारा किसी भीषण विकार को रोकने की सम्भावना हो। राजाज्ञा का प्रयोग एक औषधि की भाँति है। नियम निर्माण केवल असामाजिक (जैसे चोरी, गिरहकटी आदि) स्थिति को रोकने के लिए होना चाहिये। राज्य का हस्तक्षेप तभी आवश्यक एवं उचित है, जब वह नागरिक की स्वतंत्रता में सहायक हो। इसलिए यह हस्तक्षेप बड़े संकोच के साथ होना चाहिये।

अन्य व्यक्तिवादी दार्शनिकों की भाँति बेन्थम भी यह स्वीकार करता था कि राज्य के बिना स्वतंत्रता सम्भव नहीं हो सकती। वैसे तो स्वतंत्र परिस्थिति एक आदर्श परिस्थिति है। परन्तु समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं। वे आदर्श स्वतंत्र परिस्थिति में बाधक हो जाते हैं। एक चोर या गिरहकट

का समाज में यही स्थान है। ऐसे असामाजिक व्यक्तियों के असामाजिक कार्य केवल राज्य जैसी सुसंगठित संस्था द्वारा ही रोके जा सकते हैं। इसलिये राज्य आवश्यक है। अन्य नियंत्रणों की भाँति राज्य का नियंत्रण भी विकार-तुल्य है, परन्तु स्वतंत्रता की सुरक्षा के हेतु यह एक आवश्यक विकार का रूप धारण कर लेता है। उसकी अनुपस्थिति में अराजकता व्यापक होगी और आदर्श स्वतंत्रता असम्भव हो जायगी। बेन्थम तथा अन्य व्यक्तिवादियों के लिए राज्य की आवश्यकता केवल नकारात्मक स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु है।

अतः बेन्थम ने व्यक्तिवादी राज्य और "यद्भाव्यम् नीति" को उपयोगितावाद के नाते आदर्श व्यवस्था बताया। अर्थशास्त्र वेत्ताओं ने अर्थशास्त्र के नियमों को अपरिवर्त्तनशील तथा प्राकृतिक बताया था; बेन्थम भी उपयोगितावाद को ऐसा ही मानता था। मनुष्य के सभी कार्य उपयोगितावाद के मापदंड से निर्धारित होते हैं। उपयोगिता (सुख) की वृद्धि ही जीवन का लक्ष्य है। राज्य का संचालन भी इसी अपरिवर्तनशील तथा नैसर्गिक विशेषता के आधार पर होना चाहिये। राज्य का हस्तक्षेप तभी न्यायसंगत है जब उससे उपयोगिता की वृद्धि सम्भव हो। व्यक्ति के आर्थिक और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करने से उपयोगिता की वृद्धि सम्भव नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य स्वयं ही अपने सुख-दुःख का ज्ञाता है। यह उसकी प्राकृतिक विशेषता है। इससे सिद्ध है कि राज्य का हस्तक्षेप केवल सामाजिक शान्ति और सुरक्षा के लिए ही उपयोगी हो सकता है। इसलिये राज्य का कर्त्तव्य है कि वह प्राकृतिक एवं बहुमूल्य उपयोगिता की वृद्धि के हेतु केवल शान्ति स्थापना के क्षेत्र में ही नियम-निर्माण तथा हस्तक्षेप करे। इस दिशा में भी नियम-निर्माण केवल उपयोगिता के मापदंड—जिसका बेन्थम ने मानचित्रों (चार्टों) द्वारा स्पष्टीकरण किया—से ही होना चाहिये।

समीक्षाः—बेन्थम अपने समय के बुद्धिजीवियों का प्रमुख नेता था। उसके उपयोगितावाद से कई बुद्धिजीवी प्रभावित हुए। जेम्स स्टुअर्ट मिल (James Stuart Mill, १७७३—१८३६) उसका एक प्रमुख मित्र तथा अनुयायी था। मिल का सुप्रसिद्ध पुत्र, जान स्टुअर्ट मिल भी बेन्थम के उपयोगितावाद का अनुयायी बना। बेन्थम ने उपयोगितावाद को राज्य के जन्म तथा राजसत्ता-सम्बन्धी विषयों पर भी लागू किया। विख्यात मीमांसक जान आस्टिन (John Austin) भी बेन्थम का शिष्य था। (राजसत्ता के विषय में अगला अध्याय देखिये।) उस समय के पूँजीपतियों को भी यह सिद्धान्त रुचिकर लगा। क्योंकि यह उनकी प्रगति में अत्यन्त सहायक बना। यह उपयोगितावाद कई वर्षों तक (१८वीं सदी के अन्तिम काल से १९वीं

सदी के मध्य तक) ब्रिटेन में युग-धर्म-सा रहा।

बेन्थम के उपयोगितावाद में कई त्रुटियाँ थीं। उनमें से यहाँ केवल चार का वर्णन पर्याप्त होगा।

(१) बेन्थम के अनुसार उपयोगिता का केवल मात्रात्मक भेद होता है, गुणात्मक नहीं। उसका ऐतिहासिक "पुश्पिन-पोएट्री" ("Pushpin-Poetry") सूत्र इसका स्पष्टीकरण करता है। पुश्पिन ब्रिटेन के बच्चों का एक खेल है। बेन्थम ने कहा कि सुख या उपयोगिता की दृष्टि से पुश्पिन खेल एवं कविता-अध्ययन में कोई अन्तर नहीं है। इन दोनों से बराबर मात्रा का सुख एवं आनन्द प्राप्त होता है। यदि भारतवर्ष का उदाहरण लिया जाय तो बेन्थमवादी उपयोगितावाद की दृष्टि से कबड्डी खेलने में उतना ही आनन्द प्राप्त होता है जितना बिरहा (ग्राम-गायन) के गाने में।

जैसा अभी कहा गया है, जान स्टुअर्ट मिल उपयोगितावाद का अनुयायी था। उसने जीवन भर इस दर्शन को अपना पथ-प्रदर्शक समझा। किन्तु उसने इसमें एक महत्वपूर्ण संशोधन भी किया। बेन्थम के उपयोगितावाद में गुणात्मक भेद का कोई स्थान न था। मिल ने इस अभाव की पूर्ति की। उसने कहा कि वस्तुओं की उपयोगिता में केवल मात्रा का ही नहीं, अपितु गुण का भी भेद होता है। मिल ने इस भेद को एक ऐतिहासिक कथन द्वारा प्रकट किया था। उसने कहा कि एक असन्तुष्ट विद्वान होना एक सन्तुष्ट मूर्ख होने से अच्छा है (A Socrates dissatisfied is better than a pig satisfied.)। यदि भारतवर्ष का उदाहरण लिया जाय तो कहा जा सकता है कि एक असन्तुष्ट प्रेमचन्द या निराला एक सन्तुष्ट परीक्षा-सम्बन्धी साहित्य-लेखक से अच्छा है। उपयोगिता या सुख का मापदंड केवल मात्रा ही नहीं वरन् गुण भी है।

मिल के इस संशोधन से बेन्थम की उपयोगितावाद को एक नवीन आकृति प्राप्त हुई। वास्तव में वह उपयोगितावाद नहीं रहा। क्योंकि जब उपयोगिता की परख गुण के आधार पर होती है, तब केवल वस्तु की उपयोगिता ही मापदंड नहीं रह जाती। व्यक्ति के व्यक्तित्व का भी उसमें स्थान रहता है। गुणात्मक भेद से उपयोगिता का मापदंड व्यक्ति भी होता है, केवल पदार्थ ही नहीं; बेन्थम ने केवल पदार्थ को ही मापदंड माना था। इसीलिये कुछ आलोचक उसके दर्शन को सन्तुष्ट मूर्ख का दर्शन (pig philosophy) भी कहते हैं।

जब व्यक्तिगत दृष्टिकोण से एक वस्तु की उपयोगिता निर्धारित होती है, तब व्यक्ति की रुचि का ध्यान रखना आवश्यक है। सुकरात, प्रेमचन्द या निराला के हर्ष, सुख एवं

उपयोगिता का मापदंड एक चोरबाजारी, सामन्त या सरकारी कर्मचारी के मापदंड से भिन्न होगा। इनकी रुचियों में पूर्ण भिन्नता है। बेन्थम के उपयोगितावाद की केवल आकृति ही नहीं बदलती, अपितु वह उपयोगितावाद रह ही नहीं जाता। जहाँ बेन्थम का उपयोगितावाद पदार्थ-विषयक है, मिल का उपयोगितावाद व्यक्ति-विषयक। मिल ने संशोधन करते समय यह नहीं सोचा कि वह अपने गुरु के दर्शन का पूर्णतः खंडन कर रहा है, भले ही वह स्वयं अपने को जीवन भर उपयोगितावादी समझता और कहता रहा हो।

(२) बेन्थम के अनुसार व्यक्ति के कार्य केवल उपयोगिता से ही निर्धारित होते हैं। उसने मनुष्य को उपयोगिता या भौतिकता को कठपुतली समझा था। वास्तव में यह सत्य नहीं है। मनुष्य का जीवन केवल सुख-दुःख से ही संचालित नहीं होता। अन्य भावनाओं का भी मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। समाज-सेवा, देशभक्ति, प्रेम, नैतिकता, मैत्री एवं बौद्धिक या आध्यात्मिक सन्तुष्टि आदि भावनाओं से भी मनुष्य के कार्य निर्धारित होते हैं। बेन्थम के मनोविज्ञान में इन सब का कोई स्थान नहीं है। यदि मनुष्य जाति केवल उपयोगितावाद के आधार पर जीवन-निर्वाह करती होती, तो कदाचित् इतिहास में सुकरात, ईसा, बुद्ध, गाँधी, भगतसिंह, न्यूटन, गैलिलियो, कबीर ऐसे व्यक्ति सम्भव नहीं होते। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि शायद बेन्थम भी सम्भव न होता, क्योंकि भौतिकता या उपयोगितावाद उसे एक सुप्रसिद्ध और धनी वकील बनाता, एक गरीब दार्शनिक नहीं।

मानव इतिहास इसका साक्षी है कि इन महापुरुषों ने अपने जीवन का आधार उपयोगितावाद नहीं माना था। नित्य के दृष्टान्त भी इसके साक्षी हैं। नैतिकता के नाम पर मनुष्य जान बूझ कर सत्य बोलता है और फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते लटक जाता है। एक चित्रकार या कवि कभी-कभी भूखा रह कर चित्र या कविता बनाता है। एक नागरिक अपने प्राण संकट में डालकर दूसरे को डूबने से बचाता है। लाखों व्यक्ति कष्ट और असुविधाएँ सह कर देश या समाज-सेवा में लीन रहते हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों की संख्या समाज में कम है? नहीं। क्या इन व्यक्तियों के कार्य बेन्थम के उपयोगितावाद से निर्धारित होते हैं? नहीं।

इस प्रकार बेन्थम का मनोविज्ञान त्रुटिपूर्ण है। हाँ, उपयोगिता का जनसाधारण के जीवन पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के कई कार्य सुख-दुःख के सूत्र से निर्धारित होते हैं, किन्तु सभी कार्य नहीं। मनुष्य एक साधारण प्राणी नहीं है, जैसा बेन्थम ने सोचा था। अपितु वह एक गूढ़ तथा गम्भीर प्रवृत्ति का प्राणी है।

(३) बेन्थम के उपयोगितावाद को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। व्यवस्थापक यदि उपयोगिता के आधार पर नियम-निर्माण करे, तो वे नियम त्रुटिपूर्ण होंगे। बेन्थम के अनुसार राज्य-नियम द्वारा "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" सम्भव होना चाहिये। दो नियमों का उदाहरण लेने पर इस मापदंड की त्रुटि स्पष्ट हो जायेगी। "अ" नियम से केवल १२ मनुष्यों को १० मात्रा प्रति मनुष्य के परिमाण से सुख मिलने की सम्भावना है। पूर्ण सुख १२० मात्रा का होगा। "ब" नियम से २० मनुष्यों को ५ मात्रा प्रति मनुष्य के परिमाण से सुख मिलने की सम्भावना है। पूर्ण सुख १०० मात्रा का होगा। ऐसी परिस्थिति में व्यवस्थापक क्या करेगा? "अ" नियम से अधिकतम सुख (१२० मात्राएँ) सम्भव होगा परन्तु लोगों की संख्या कम होगी (१२ मनुष्य), "ब" नियम द्वारा अधिकतम मनुष्यों (२० मनुष्य) को सुख प्राप्त होगा, परन्तु सुख की मात्रा कम होगी (१०० मात्राएँ)। अधिकतम लोगों के सुख की दृष्टि से "ब" नियम बनाना चाहिये, परन्तु अधिकतम सुख को दृष्टि से "अ" नियम का निर्माण आवश्यक जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में न्यायपूर्ण निर्णय सम्भव नहीं। बेन्थम के मानचित्र भी सहायक नहीं हो सकते, भले ही वह अपने अध्ययन गृह में एकान्त बैठा इस निर्णय को सरल समझता रहा हो। मेक्कून (J. MacCunn) ने ठीक ही कहा है कि राजनीति में अंकगणित वैसे ही सहायक नहीं हो सकता जैसे अंकगणित में राजनीति।

(४) सत्य तो यह है कि बेन्थम का उपयोगितावाद उसके युग के पूँजीपतियों का उपयोगितावाद था, चाहे वह स्वयं भले ही यह न अनुभव करता रहा हो। एक निर्दय पूँजीपति के कार्य वास्तव में बेन्थम के उपयोगितावाद से ही निर्धारित होते हैं। पूँजीपति केवल वही कार्य करता है जिसमें वह अधिक लाभ देखता है। वह निजी सुख और लाभ के हेतु मानवता को भूल जाता है, जैसे बेन्थम अपने अध्ययन-गृह में बैठ कर मनुष्यों की अन्य मनोवैज्ञानिक भावनाओं को भूल गया था। एक पूँजीपति का संसार केवल उसके स्वयं तक ही सीमित है। वह सोचता है कि जब उपयोगिता को अपने जीवन का ध्येय बना कर वह धनी बन गया, तब अन्य पुरुष भी उसी मार्ग द्वारा धनी बन सकते हैं। वह सोचता है कि उसके अपने अधिकतम सुख का अर्थ है अधिकतम मनुष्यों का सुख।

आधुनिक वर्गीय समाज में यह सम्भव हो सकता है कि व्यवस्थापक केवल सुख की ही मात्रा को दृष्टि में रखे। ऐसी परिस्थिति में वह उक्त "अ" नियम को "ब" नियम से अधिक उपयोगी समझेगा। क्योंकि "अ" नियम में सुख की मात्रा "ब" से अधिक है। एक व्यवस्थापक की दृष्टि में अधिकतम लोगों की अपेक्षा अधिकतम सुख अधिक लाभ-

दायक हो सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि मुट्ठी भर धनिकों का अधिकतम सुख व्यवस्थापक की दृष्टि में अधिकतम जनता के सुख से अधिक महत्त्वपूर्ण होगा। वास्तव में बेन्थम के युग में कुछ ऐसा ही हुआ। अधिकतम उपयोगिता की आड़ में पूँजीपतियों और पूँजीवादी व्यवस्थापकों ने उन नियमों का विरोध किया, जो सामन्तों और निर्धन श्रमिकों के लिए हितकर थे। इसी उपयोगितावाद के नाते उन्होंने उन नियमों को उचित बताया, जो उनके निजी धनोपार्जन में सहायक हुए। अतः बेन्थमवादी उपयोगितावाद उस युग के पूँजीपतियों के लिए अत्यन्त उपयोगी था।

वैयक्तिक स्वतंत्रता

व्यक्तिवादी नकारात्मक स्वतंत्रता का सर्व प्रमुख प्रचारक जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill, १८०६—७३) था। उसकी छोटी-सी पुस्तक 'स्वतंत्रता' (On Liberty, १८५९) व्यक्तिगत स्वतंत्रता सम्बन्धी सर्वोत्तम पुस्तक मानी जाती है। मनुष्य जाति के इतिहास में इस पुस्तक की तुलना केवल मिल्टन (Milton) की एरोपगेटिका (Areopagitica) से ही की जा सकती है। यही नहीं, जैसा ऊपर कहा गया है, मिल ने उपयोगितावाद में भी उचित संशोधन किया था। मिल का क्षेत्र केवल राजनीति तक ही सीमित न था। उसका ग्रन्थ "राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त" (Principles of Political Economy, १८४८) एक पीढ़ी तक ब्रिटेन में पाठ्यग्रन्थ रहा एवं एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता रहा। उसके अर्थशास्त्र का प्रभाव सुप्रसिद्ध फेबियनवाद (Fabianism) पर, जिसका वर्णन एक अगले अध्याय में मिलेगा, पड़ा था।

मिल को छोटेपन से ही अपने पिता और बेन्थम द्वारा उच्च कोटि की शिक्षा मिली थी। उसका पिता जेम्स स्टुअर्ट मिल (१७७३—१८३६) ईस्ट इंडिया कम्पनी (East India Company) में ऊँचे पद पर था। वह बड़ा मिल बेन्थम का घनिष्ठ मित्र एवं अनुयायी था। बेन्थम और जेम्स मिल ने परस्पर यह समझौता किया था कि वे जॉन स्टुअर्ट मिल को छोटेपन से ही ऐसी शिक्षा देंगे जिससे वह भविष्य में उपयोगितावाद का एक महान प्रचारक बन सके। अतः बचपन से ही मिल की शिक्षा एक निश्चित विधि के अनुसार हुई थी। मिल उपयोगितावाद का प्रचारक तो बना परन्तु संशोधित उपयोगितावाद का।

१८२३ में वह ३० पौंड प्रति वर्ष के वेतन पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के दफ्तर में

नियुक्त हुआ। वह इस कम्पनी की सेवा में उस पद पर पहुँचा जिस पर उसका पिता रह चुका था। १८३० से १८५१ तक मिल की श्रीमती टेलर (Mrs. Taylor) से मैत्री रही। पिता और परिजनों के प्रतिकूल होने पर भी १८५१ में मिल ने श्रीमती टेलर से विवाह कर लिया। श्रीमती टेलर के सम्पर्क से मिल के विचार मानवतावाद की ओर अग्रसर हुए। १८५८ में श्रीमती टेलर का देहान्त हो गया। मिल ने उसकी याद में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (स्वतंत्रता—Liberty) उसकी अमर आत्मा के प्रति समर्पित की।

अपने जीवन के अन्तिम भाग में वह दक्षिणी फ्रांस में अविगनन (Avignon) में श्रीमती टेलर को कब्र के पास मकान बनवा कर रहता था। कभी-कभी वह ब्रिटेन में भी आता था। १८६५—६८ में वह ब्रिटिश संसद का सदस्य था। फ्रांस में रहने के कारण उसके जीवन के अन्तिम काल के दर्शन एवं पुस्तकों में उस काल के फ्रांसीसी दर्शन के प्रभाव की स्पष्ट झलक है। कामटे और सेंट साइमन के दर्शन का भी उस पर प्रभाव पड़ा। उसकी आर्थिक सुधार की योजनाओं पर फ्रांस की कृषि सम्पत्ति (peasant proprietorship) की प्रथा की छाप है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके व्यक्तित्व की वृद्धि के हेतु मिल ने व्यक्तिवादी राज्य और "यद्भाव्यम् नीति" को न्यायसंगत बताया। यह राजनीतिक दर्शन के लिए उसकी सबसे बड़ी देन थी। उसने वैयक्तिक स्वतंत्रता का दो दृष्टिकोणों से विश्लेषण किया।

विचार और भाषण की स्वतंत्रता (Freedom of Speech)—मिल का कहना था कि मानव-प्रगति के लिए विचार और भाषण की स्वतंत्रता नितान्त आवश्यक है। समाज एवं राज द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिये। तभी समाज की प्रगति सम्भव हो सकेगी। मिल स्वतंत्रता का इतना बड़ा भक्त था कि वह सनकियों को भी स्वतंत्रता प्रदान करने के पक्ष में था। उसका कहना था कि सम्भव है कि दस सनकियों में से एक ऐसा हो जो समाज को एक नवीन विचारधारा प्रदान कर सके। अतः सभी सनकियों को स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। पता नहीं कौन-सा सनकी एक अपूर्व व्यक्ति हो तथा एक नवीन विचारधारा का जन्मदाता बने।

मिल के मतानुसार स्वतंत्रता की अनुपस्थिति से समाज की प्रगति में बाधा पहुँचती है। उसने स्वतंत्रता की अनुपस्थिति से उत्पन्न होने वाली चार हानियाँ बतायी। अर्थात् मिल ने विचार और भाषण की स्वतंत्रता को निम्नलिखित चार दृष्टिकोणों से न्यायसंगत बताया :—

(१) सम्भव है कि एक युग की प्रचलित विचारधारा गलत हो। यदि ऐसी

विचारधारा के विपरीत एक व्यक्ति कोई नयी विचारधारा प्रस्तुत करता है तो उस नवीन विचारधारा का दमन नहीं किया जाना चाहिये। ऐसे व्यक्ति को सनकी कह कर स्वतंत्रता से वञ्चित नहीं करना चाहिये। स्वतंत्रता की अनुपस्थिति में इस नयी विचारधारा का प्रचार नहीं हो सकेगा। इस नवीन विचारधारा को आश्रय नहीं मिलेगा। ऐसी कुचेष्टा समाज की प्रगति के लिए घातक है। क्योंकि सम्भव है कि वह प्रचलित विचारधारा, जो पहले से सत्ता जमाये बैठी है, असत्य हो।

मिल ने इस विचारधारा की पुष्टि में ईसा (Christ) और सुकरात (Socrates) के दृष्टान्त दिये। ईसा और सुकरात की विचारधाराएँ नवीन थीं। वे प्रचलित विचार-धाराओं के विरुद्ध थीं। सत्ताधारियों ने उनके विचारों का दमन करने का भरसक प्रयत्न किया। इन दोनों महान व्यक्तियों को प्राणदंड दिया गया। परन्तु इतिहास बताता है कि ईसा और सुकरात सनकी न थे, वे महान् पुरुष थे। उनकी विचारधाराएँ आगे चलकर ईश्वर-वाक्य मानी जाने लगीं और दमनकारियों की प्रचलित विचारधाराएँ त्रुटिपूर्ण एवं अप्रामाणिक सिद्ध हुईं। आज ईसा के ईसाई धर्म का मानव-समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान है। ईसाई लोग ईसा को ईश्वर का अवतार मानते हैं। सुकरात द्वारा उस दर्शन का बीजारोपण हुआ था, जिसका अनुकरण अफलातून (Plato) और अरस्तू (Aristotle) ने किया। यह दर्शन यूरोप के सभी दर्शनों का जन्मदाता माना जाता है। अतः जिन्हें सनकी कहकर सत्ताधारियों ने फाँसी पर लटका दिया था, उन्हीं की अमर आत्माएँ भविष्य में धर्म और दर्शन की आकृति में उदीयमान हुईं। इन ऐतिहासिक दृष्टान्तों के आधार पर मिल ने कहा कि इसी प्रकार आज जिन्हें हम सनकी समझते हैं और जिनके अनोखे विचारों की हम उपेक्षा करते हैं, वे ही भविष्य में अपूर्व बुद्धि वाले व्यक्ति सिद्ध हो सकते हैं।

मिल ने डा० जानसन (Dr. S. Johnson) जैसे व्यक्तियों के विचारों का खंडन किया। जानसन का कथन था कि सचाई छिप नहीं सकती। उसका दमन हानिकारक नहीं है। सत्य की दृढ़ता के लिए दमन एक कठोर अपितु आवश्यक कसौटी है। मिल ने इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए कहा कि ऐसे दमन से मानव-प्रगति को हानि पहुँचती है। इतिहास इस बात का साक्षी है। मार्टिन लूथर (Martin Luther, १४८३-१५४६) के पूर्व धर्म-सुधार आन्दोलन लगभग २० बार आरम्भ हुआ था। किन्तु प्रत्येक अवसर पर दमन-यंत्र द्वारा इस प्रगति को रोका गया। यदि ऐसा न किया गया होता, तो सम्भव था कि यूरोप में धर्म-सुधार १६वीं सदी से पूर्व

आरम्भ हो गया होता। लूथर के धर्म-सुधार (१६वीं सदी, १५२५) के फलस्वरूप आधुनिक युग की कई महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं का बीजारोपण हुआ। यदि धर्म-सुधार को १६वीं सदी के पूर्व दमन द्वारा रोका न गया होता तो, शायद इन आधुनिक विचार-धाराओं का जन्म पहले ही हो गया होता। अर्थात् आधुनिक युग १६वीं सदी के पूर्व से ही आरम्भ हो जाता। मनुष्य-जाति की प्रगति को ऐसे दमन से काफी क्षति पहुँची।

सामाजिक दमन से एक विचारधारा का अन्त नहीं किया जा सकता। सत्य अमर है। उसका दमन से अन्त नहीं होता। हाँ, दमन से उसके प्रचार में विलम्ब किया जा सकता है। यह विलम्ब समाज की प्रगति में हानिकारक होता है। इसलिये सामाजिक तथा मानवप्रगति के हेतु किसी भी विचारधारा का दमन नहीं किया जाना चाहिये। व्यक्ति को विचारों और भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। तभी सत्य की पुष्टि हो सकती है। तभी समाज एवं देश की प्रगति सम्भव है।

(२) सत्य के कई पहलू होते हैं। मिल के अनुसार ये पहलू एक दूसरे के बाधक नहीं, वरन् सहायक हैं। साधारणतः एक पक्ष के अनुयायी दूसरे पक्ष को सत्य-विरोधी समझते हैं; वे केवल अपने ही पक्ष को एकमात्र सत्य मानते हैं। ऐसा दृष्टिकोण ज्ञान-वृद्धि के लिए हानिकारक है।

मिल ने कहा कि वास्तव में सत्य किसी एक पक्ष की बपौती नहीं है। अन्य पक्षों की विचारधाराओं में भी सत्य का कुछ अंश हो सकता है। इसलिए सभी पक्षों को अपने-अपने विचारों के प्रचार की स्वतंत्रता मिलनी चाहिये।

ऐसे परामर्श के वातावरण में निश्चित सत्य का ज्ञान सम्भव है। इसलिए समाज और राज्य का कर्त्तव्य है कि वे परामर्श के सभी पक्षों को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करें।

एक आधुनिक दृष्टान्त से मिल का यह विचार स्पष्ट हो जायेगा। भारतवर्ष में कई राजनीतिक दल हैं। इनकी विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु सत्य किसी एक दल की मौरूसी जायदाद नहीं। प्रत्येक दल की विचारधारा में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य है। अतः निश्चित सत्य का ज्ञान इन सब के समन्वय से ही सम्भव हो सकता है। यह समन्वय स्वतंत्र तर्क अर्थात विचार विनमय से ही सम्भव है।

(३) मान लिया जाय कि एक निश्चित और प्रचलित विचारधारा सत्य का प्रदर्शन करती है। कभी-कभी ऐसी धारणा के आधार पर इस विचारधारा के अनुयायी उसके सम्बन्ध में तर्क करने से इन्कार करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह विचारधारा अन्धविश्वास का रूप धारण कर लेती है। अन्धविश्वास सदा ही मानव-प्रगति के लिए घातक होता है।

तर्क द्वारा सत्य दृढ़ होता है। तर्क की कसौटी पर सत्य की परख होती है। जब सत्य का तर्क द्वारा असत्य से संघर्ष होता है, तथा सत्य की संघर्ष में विजय होती है, तब वह अधिक प्रस्फुटित और बलिष्ठ हो जाता है। सत्य का अनुयायी उसे अपने जीवन का निर्देशक बना लेता है।

मिल ने इन दोनों विचारों को ईसाई धर्म के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया था। आधुनिक ईसाई अपने धर्म को निर्मम सत्य मानते हैं। वे न तो इस विषय में तर्क करते हैं और न उसे आवश्यक ही समझते हैं। उनका अपने धर्म पर अटल विश्वास है। परन्तु वास्तव में होता है क्या ? वे अपना जीवन यापन एक सच्चे ईसाई की भाँति नहीं करते। उनका जीवन उनके व्यावसायिक, वर्गीय तथा जातीय परम्परानुसार संचालित होता है। जहाँ तक ईसाई धर्म का प्रश्न है, एक ईसाई प्रत्येक रविवार को गिरजाघर जाकर अपनी धार्मिक मनोवृत्ति की सन्तुष्टि कर लेता है। यदि उससे पूछा जाय कि वह ईसाई धर्म का समर्थक क्यों है, तो वह उत्तर देने से इनकार करेगा। क्योंकि उसका तो ईसाई धर्म में अन्धविश्वास है।

इसके विपरीत मिल ने अति प्राचीन काल के ईसाइयों का दृष्टान्त दिया। वे ईसाई अपने विरोधियों से धार्मिक विषयों पर तर्क करते थे। ऐसे स्वतंत्र तर्क द्वारा उन्हें विदित होता था कि उनका धर्म सत्य है एवं अन्य असत्य। इस प्रकार धार्मिक सत्य की पुष्टि होती थी। तभी वे इस धर्म के अनुसार आचरण करते थे। अतः तर्क की कसौटी का यह परिणाम होता है कि कोई भी व्यक्ति अन्धविश्वासी नहीं बन पाता। सत्य दृढ़तर होता जाता है।

मिल ने तो केवल ईसाई धर्म का ही दृष्टान्त दिया था। इस सम्बन्ध में अन्य दृष्टान्त भी दिये जा सकते हैं। जैसे क्रामवेल (Cromwell) की न्यू माडल फौज (New Model Army), कुछ हद तक नैपोलियन की फौजें एवं आधुनिक चीन की लाल कम्यूनिष्ट सेना। अति प्राचीन ईसाइयों की भाँति ये सेनानी अपने विश्वासों की रक्षा और सफलता के लिए अपने प्राण तक उत्सर्ग करने को तत्पर रहते थे। क्योंकि स्वतंत्र पारस्परिक तर्क द्वारा वे अपने सिद्धान्तों की पुष्टि करते थे; वे उन्हें अन्धविश्वास नहीं मानते थे।

इस प्रकार मिल के मतानुसार एक विचारधारा तभी जीवित रह सकती है, जब उसका अन्य विचारधाराओं के साथ संघर्ष हो। अन्यथा वे विचारधाराएँ एक निर्जीव अन्धविश्वास के रूप में परिणत हो जाती हैं। अन्धविश्वास के प्रति मनुष्य केवल श्रद्धा

रखते हैं, वे स्वयं उसके अनुसार जीवन यापन नहीं करते। किसी विचारधारा के प्रति मनुष्य की सच्ची श्रद्धा तभी सम्भव है, जब वह विचारधारा तर्क की स्वतंत्र कसौटी पर खरी उतरे। सत्य तभी बलवान होता है।

यहाँ पर यह बताना उचित होगा कि मिल की तर्क प्रणाली आधुनिक विद्यालयों की प्रणाली से भिन्न थी। आधुनिक विद्यालयों एवं उनकी पाठ्य-पुस्तकों में एक विषय या सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष का विश्लेषण किया जाता है। विद्यार्थी को एक सिद्धान्त के गुण-दोष का ज्ञान अपने गुरुजनों एवं पुस्तकों द्वारा प्राप्त होता है। मिल ने कहा था कि ९९ प्रतिशत शिष्यों का ज्ञान इसी प्रकार का है। यह तर्क नहीं है, यह तो केवल कंठाग्र करना है, ऐसे ज्ञान से सत्य की परख नहीं होती।

एक विचार तो तभी दृढ़ हो सकता है जब मनुष्य स्वयं तर्क द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अमुक विचार सत्य है। केवल ऐसा ही सत्यपूर्ण विचार एक व्यक्ति का पथ-प्रदर्शक बन सकता है। ऐसा सत्य ही वास्तविक सत्य है, अन्यथा वह अन्धविश्वास है। स्वतंत्र परामर्श द्वारा ही एक व्यक्ति सत्यासत्य की परख कर सकता है। पाठ्य-पुस्तकों तथा अध्यापकों द्वारा बतायी गयी आलोचना द्वारा सत्य का परिज्ञान नहीं हो सकता।

अतः मिल ने विचारों एवं तर्कों की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में अपना मत प्रकट किया। ब्राउन (I. Brown) के मतानुसार मिल ने जीवशास्त्र के नियम—"जो योग्य है, जीवित रहेगा"—को विचारों की दुनिया में लागू किया। क्योंकि मिल का कहना था कि वही विचार सत्य का रूप धारण करेगा जो तर्क रूपी संघर्ष में पला हो। अतः राज्य को भाषण, लेख, एवं तर्क की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करनी चाहिये। तभी समाज प्रगति की ओर अग्रसर होगा।

कार्य की स्वतंत्रता (Freedom of Action) :—मिल ने कार्य की स्वतंत्रता के पक्ष में भी विचार प्रकट किये थे। वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है, प्रथम व्यक्तिगत एवं द्वितीय सामाजिक। व्यक्तिगत कार्य वे हैं जिनका प्रभाव केवल कर्त्ता पर ही पड़े। खाना, सोना, पढ़ना आदि व्यक्तिगत कार्य हैं। मिल के अनुसार मद्यपान एवं जुआ भी इसी कोटि में आते हैं। वे कार्य सामाजिक होते हैं जिनका प्रभाव समाज पर पड़े। चोरी करना एवं कलह करना सामाजिक कार्य कहे जायेंगे। मिल के मतानुसार राज्य तथा समाज को व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। राज्य का क्षेत्र सामाजिक कार्यों तक ही सीमित होना चाहिये।

एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। "अ" को अपने घर में रहने की पूर्ण

स्वतंत्रता है। वह चाहे मद्यपान करे, चाहे रात भर अध्ययन करे। ये व्यक्तिगत क्षेत्र सम्बन्धी कार्य हैं। राज्य तथा समाज को ऐसे कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। परन्तु यदि 'अ" अपने घर में रात्रि में बारह बजे के पश्चात् गायन का जोर-जोर से अभ्यास करता है तो उसका यह कार्य सामाजिक क्षेत्र सम्बन्धी माना जायेगा। क्योंकि ऐसे कार्य से उसके पड़ोसी चैन से नहीं सो पायेंगे। इस कार्य से उनकी अपने-अपने मकानों में सोने की स्वतंत्रता पर आघात होगा। ऐसे सामाजिक क्षेत्र वाले कार्यों में राज्य तथा समाज का हस्तक्षेप उचित ही नहीं वरन् आवश्यक भी है। राज्य को केवल तभी हस्तक्षेप करना चाहिये जब एक नागरिक अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करे, अर्थात् अपनी स्वतंत्रता का ऐसा उपयोग करे जिससे अन्य नागरिकों की स्वतंत्रता पर आघात हो। गायन कला के अभ्यास से "अ" अपने पड़ोसियों को स्वतंत्रता से वंचित करता है। अतः व्यक्तिवादी मिल के अनुसार राज्य का हस्तक्षेप केवल ऐसे सामाजिक कार्यों तक सीमित होना चाहिये जो असामाजिक हों। अन्य कार्यों में व्यक्ति को पूर्णतः स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये।

मिल ने कार्यों की स्वतंत्रता को चरित्र-गठन तथा मानव प्रगति के हेतु न्यायसंगत बताया। इस सम्बन्ध में उसने निम्न कारण प्रस्तुत किये :—

(१) मिल के अनुसार निजी अनुभव एवं परीक्षा द्वारा ही सत्य का ज्ञान तथा उसकी पुष्टि सम्भव है। वैसे ही निजी अनुभव एवं प्रयोग द्वारा मनुष्य का चरित्र-गठन और उसके व्यक्तित्व की वृद्धि हो सकती है। दो उदाहरणों द्वारा इसका स्पष्टीकरण हो सकता है। एक मद्यप अपने अनुभव से इस परिणाम पर पहुँचता है कि मद्यपान हानिकारक है और तब वह आसव पीना छोड़ देता है। दूसरी विधि यह है कि राज्य मद्यपान एवं मद्य-विक्रय को अवैध घोषित कर दे। तब भी नागरिक मद्य-पान छोड़ देंगे। मिल के अनुसार प्रथम रीति उत्तम है। जो निर्णय अपने अनुभव से होता है, वही दृढ़ है। राज्य के प्रतिबन्ध से ऐसा चरित्र-गठन नहीं होता। सम्भव है कि शराबी छिप कर शराब पीना जारी रखे। यही नहीं, बहुधा वह अधिक शराब पीये। शुद्ध चरित्र-गठन निजी अनुभव से ही सम्भव है।

हाँ, समाज या राज्य परोक्ष रीति से मनुष्यों को बुरे कार्यों या आदतों के शिकार होने से रोक सकता है। ये परोक्ष रीतियाँ हैं—शिक्षा, प्रोत्साहन, एवं चित्र-प्रदर्शन आदि। मिल ने मद्य एवं जुआ का उदाहरण दिया था। उसने कहा कि मद्यशाला राज्य द्वारा बन्द नहीं की जानी चाहिये। जब शराबी मद्यशाला के सामने चक्कर लगा कर प्रबल आत्मसंघर्ष द्वारा शराब न पीने का निर्णय करे, तभी उसके सच्चे व्यक्तित्व की वृद्धि

होगी। यह परित्याग आत्मसंयम पर आश्रित होगा। यदि राज्य मद्यपान को रोकना चाहता है तो उसे चित्रों आदि द्वारा मद्यपान की बुराइयों को नागरिकों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिये। मद्यशालाओं को बन्द कर देने से चरित्र-गठन सम्भव नहीं है। जुआ खेलना भी राज्य द्वारा बन्द नहीं किया जाना चाहिये। केवल जुआघरों को आम स्थान से दूर रखना उचित है, उन्हें गुप्त स्थानों पर होना चाहिये। आम स्थानों पर जुआघरों के होने से जनसाधारण भी इस बुरी आदत के शिकार बन सकते हैं। मिल मद्यपान और जुआ खेलना बुरा समझता था। परन्तु वह इन बुराइयों को आत्मसंयम से रोकना चाहता था, राज्य के प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध से नहीं। उसकी दृष्टि में चरित्रबल के लिए आत्मसंयम राज्य-प्रतिबन्ध से अधिक उपयोगी है।

(२) यही नहीं, मिल मनुष्य को समाज के रीति-रिवाजों के प्रतिबन्ध से भी मुक्त रखना चाहता था। उसने कहा कि प्राचीन काल में भारतवर्ष एक बहुत सभ्य देश था, किन्तु वह आज परम्परा के बन्धनों से एक पिछड़ा देश बन गया है। परम्परागत बन्धनों के वातावरण में व्यक्ति प्रगति नहीं कर सकता। समाज तथा परम्परा के नियंत्रण से व्यक्तित्व वैसे ही जकड़ जाता है जैसे एक चीनी स्त्री का पैर बचपन से ही छोटे लकड़ी के जूते में रख कर बढ़ने से रोक दिया जाता है। अतः व्यक्तित्व की वृद्धि के हेतु सामाजिक तथा परम्परागत नियंत्रण की अनुपस्थिति नितान्त आवश्यक है।

(३) मिल आविष्कार एवं नव पथ-प्रदर्शन शक्ति को बहुत महत्त्व देता था। वह जन साधारण की मनोवृत्ति का अनुयायी न था। जनसाधारण की मनोवृत्ति सामान्यता का प्रदर्शन करती है। मिल का नव पथ-प्रदर्शक प्रायः ऐसी सामान्यता का विरोधी था। ऐसा पथ-प्रदर्शक ही अपूर्व बुद्धि वाला व्यक्ति कहा जा सकता है। समाज का कर्त्तव्य है कि ऐसी अपूर्व बुद्धि के व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करे। ऐसे प्रोत्साहन से समाज को नवीन विचारधाराएँ प्राप्त हो सकेंगी और वह प्रगति की ओर अग्रसर होगा।

मिल के अनुसार झक्कियों का अधिक होना किसी समाज की उन्नति का लक्षण है। झक्कियों की संख्या में वृद्धि का अर्थ है रुचियों की भिन्नता। ऐसी वृद्धि केवल स्वतंत्र वातावरण में ही सम्भव है। तत्कालीन यूरोप के समाज की आलोचना करते हुए मिल ने कहा था कि उसमें झक्कियों की कमी है।

कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा। यदि एक कक्षा के विद्यार्थियों के प्रश्नोत्तर में भिन्नता है तो मिल के अनुसार वह कक्षा प्रगतिशील कही जायेगी। हाल ही में एक व्यक्ति एक ऐसी बुश-शर्ट पहन कर न्यायालय में उपस्थित हुआ जिसमें सिनेमा के अभिनेताओं

के चित्र छपे थे। न्यायाधीश ने उस व्यक्ति को न्यायालय में ऐसी बुश-शर्ट पहन कर उपस्थित होने से रोका। मिल के अनुसार न्यायाधीश का यह कार्य अनुचित माना जायगा, क्योंकि मिल पोशाक आदि की भिन्नता को सामाजिक प्रगति का निर्देशक मानता था। यदि आज मिल जीवित होता तो अवश्य ही आधुनिक भारतवर्ष को प्रगतिशील घोषित करता क्योंकि यहाँ विद्यार्थियों की पोशाकों (मुख्यतः बुश-शर्टों) में विभिन्नता है। इस दृष्टिकोण से अमेरिका अन्य देशों से प्रगतिशील माना जायेगा।

राज्य के कार्य—मिल व्यक्ति की सत्ता का दार्शनिक था। राज्य का एकमात्र कर्त्तव्य है कि वह ऐसा वातावरण उत्पन्न करे जिसमें विचार-पुष्टि, सत्य-परख और चरित्र-गठन फले और फूले। व्यक्ति को स्वतंत्रता, उसके व्यक्तित्व की वृद्धि और उसका चरित्र-गठन ही उसके दर्शन का सार था। यह पूर्ण स्वतंत्रता के वातावरण में ही सम्भव है। परन्तु स्वतंत्रता की रक्षा के हेतु राज्य का नियंत्रण या हस्तक्षेप आवश्यक है। व्यक्तिवादी मिल के अनुसार यह हस्तक्षेप बहुत सीमित होना चाहिये। राज्य को केवल निम्नलिखित अवसरों पर ही व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये :—

(१) जब एक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का ऐसा दुरुपयोग करे कि अन्य व्यक्तियों की वैसी ही स्वतंत्रता पर आघात हो या आघात होने की सम्भावना हो, तब समाज या राज्य का हस्तक्षेप न्यायसंगत तथा उचित है। व्यक्तिगत क्षेत्र और सामाजिक क्षेत्र सम्बन्धी कार्यों के विषय में बताया गया है कि "अ" को अपने घर में रात्रि के बारह बजे के उपरान्त गाना गाने से रोकना राज्य का उचित कार्य है। वैसे तो गायन एक व्यक्तिगत कार्य है, परन्तु गायन की स्वतंत्रता का दुरुपयोग करना उसे सामाजिक क्षेत्र का कार्य बना देता है। क्योंकि ऐसे कार्य का सामाजिक शान्ति पर प्रभाव पड़ता है। "अ" की रात्रि में गाने की स्वतंत्रता को राज्य नियंत्रित कर सकता है। इसी प्रकार राज्य उन नागरिकों की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा सकता है, जो सड़क पर इस प्रकार मोटर चलायें कि अन्य नागरिक अपनी सड़क पर चलने की स्वतंत्रता को कार्यान्वित न कर सकें। चोरों तथा डकैतों को भी राज्य द्वारा स्वतंत्रता से वंचित किया जा सकता है, क्योंकि उनके कार्य अन्य नागरिकों की स्वतंत्रता में बाधक हैं। अतः राज्य को केवल उन्हीं सामाजिक क्षेत्र वाले कार्यों में हस्तक्षेप करना चाहिये जो सामाजिक प्रगति की दृष्टि से अहितकर हों। अर्थात् व्यक्ति की स्वतंत्रता पर केवल तभी प्रतिबन्ध लगाना उचित है जब उसकी स्वतंत्रता समाज के लिए घातक हो।

(२) समाज और राज्य की सुरक्षा के हेतु नागरिक को निजी स्वतंत्रता के कुछ

अंश को त्यागने के लिए बाध्य किया जा सकता है। संकट के समय (समाज में दंगा या राज्य पर आक्रमण) प्रत्येक नागरिक से निःस्वार्थ सेवा की आशा की जाती है। उदाहरणार्थ, मुहल्ले की सुरक्षा के लिए कभी-कभी नागरिकों को सप्ताह में एक रात्रि की नींद का बलिदान करना पड़ता है। अर्थात् नागरिक को अपनी निद्रा की स्वतंत्रता का एक अंश समाज-रक्षा के लिए परित्याग कर मुहल्ले में प्रहरी का कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार राज्य या समाज उचित अवसरों पर नागरिक की पूर्ण स्वतंत्रता पर अस्थायी रूप से प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(२) राज्य का हस्तक्षेप तभी उचित है जब नागरिक के कार्य से शान्ति की सुव्यवस्था में कमी होने की सम्भावना हो। वैसे तो मिल के अनुसार प्रत्येक मनुष्य बाजार में शराब पीकर इच्छानुसार विचर सकता है। किन्तु एक पुलिस-कर्मचारी को अपने कार्य-काल के समय मद्यपान कर बाजार में नहीं घूमना चाहिये। क्योंकि उसका कर्त्तव्य है कि अपने कार्य-काल में शान्ति की सुव्यवस्था करे। उसके शराब पीने से शान्ति स्थापना में रुकावट होगी। ऐसे अवसर पर मद्यपान कर विचरना एक व्यक्तिगत नहीं वरन् सामाजिक कार्य है। राज्य का अधिकार एवं कर्तव्य है कि वह सामाजिक कार्य पर प्रतिबन्ध लगाये।

इस प्रकार मिल व्यक्तिगत कार्यों में पूर्ण स्वतंत्रता का पक्षपाती था। उसका कहना था कि मनुष्य जाति को अधिक लाभ होगा यदि प्रत्येक नागरिक ऐसा जीवन निर्वाह करे जो उसे हितकर लगे, बजाय इसके कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसे जीवन निर्वाह के लिए बाध्य किया जाय जो समाज के लिए हितकर हो। इसी दृष्टिकोण से उसने राज्य-नियंत्रित शिक्षा का विरोध किया। शिक्षा-पद्धति पर विचार प्रकट करते हुए उसने कहा कि राज्य का कर्त्तव्य बस यहीं तक सीमित होना चाहिये कि वह नागरिकों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए बाध्य करे। इसके अतिरिक्त अन्य हस्तक्षेप अनावश्यक हैं। नागरिक को अपनी अभिरुचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। उसका अपना अनुभव तथा प्रयोग ही उसके चरित्र-गठन में सहायक होगा। विद्यालय में बालक कैसी शिक्षा प्राप्त करे, यह नागरिकों की रुचि का प्रश्न है। राज्य द्वारा किसी विशेष प्रकार की शिक्षा के लिए नागरिकों को बाध्य नहीं किया जाना चाहिये।

राज्य-हस्तक्षेप की हानियाँ :—स्पष्ट है कि एक उपयोगितावादी तथा व्यक्तिवादी की भाँति मिल भी नकारात्मक स्वतंत्रता का दार्शनिक था। वह राज्य को एक आवश्यक विकार मानता था। राज्य को "यद्भाव्यम् नीति" का अनुसरण करना

चाहिये। अन्य व्यक्तिवादियों की भाँति मिल इस नीति को मानव प्रगति के लिए सर्वोत्तम मानता था। उसने राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध एवं "यद्‌भाव्यम् नीति" के पक्ष में निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किये :—

(१) कोई कार्य उस मनुष्य द्वारा भली भाँति संचालित होता है जिसको उस कार्य से कुछ व्यक्तिगत लाभ हो। यदि राज्य द्वारा सामाजिक या आर्थिक कार्य संचालित हों, तो क्या वे उतने हितकर होंगे जितने व्यक्तिगत कार्य? नहीं।

राज्य के कार्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा होते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से ये कार्य इन कर्मचारियों को हितकर नहीं हैं। स्वभावतः ये कर्मचारी इन परोपकारी कार्यों को रुचि से नहीं करेंगे। क्योंकि मनुष्य केवल उन्हीं कार्यों को हृदय से करता है जिनमें वह कुछ निजी हित देखता है। अतः राज्य को सामाजिक और आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। उसे इन विषयों से सम्बद्ध योजनाएँ नहीं बनानी चाहिये। उपयोगितावादी मिल की दृष्टि से ऐसे कार्य राज्य की अपेक्षा व्यक्ति द्वारा भली भाँति कार्यान्वित हो सकते हैं।

(२) जब व्यक्ति कोई कार्य स्वयं करता है तो उसकी ज्ञान-वृद्धि होती है। निजी अनुभव ज्ञान-वृद्धि का पोषक है। इसलिये मनुष्य को अधिकाधिक कार्य स्वयं करना चाहिये। राज्य को केवल सूचना का कार्य अपनाना चाहिये। बस सरकारी समाचारपत्रों एवं अन्य यंत्रों द्वारा नागरिकों को भूतकालीन अनुभवों की सूचना देनी पर्याप्त है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा विद्यार्थियों को सूचित किया जाना चाहिये कि पटना, मद्रास, दिल्ली की विद्यार्थी-हड़तालों का क्या परिणाम हुआ था। इस सूचना द्वारा कलकत्ते के विद्यार्थी स्वयं निर्णय कर लेंगे कि उपयोगिता की दृष्टि से उनकी प्रस्तावित हड़ताल उचित है अथवा नहीं। राज्य को उन्हें स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये। निजी अनुभव उनका पथ-प्रदर्शक होगा। इसलिए राज्य को नागरिकों के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। तभी वह नागरिकों के निजी अनुभव को प्रोत्साहन दे सकेगा, एवं व्यक्ति की प्रगति में अधिक सहायक होगा। चेतावनी द्वारा राज्य परोक्ष रूप से व्यक्ति का पथ-प्रदर्शक बन सकता है। ऐसे कार्य नागरिकों के लिये हितकर हैं, हानिकारक नहीं।

(३) सरकारी कार्यों की व्यापकता से एक बड़ा दोष उत्पन्न होता है। ऐसी व्यापकता के वातावरण में नागरिक सदा राज्य की ओर देखते रहते हैं। जब कोई समस्या उपस्थित होती है तो वे उसकी पूर्ति के लिए राज्य का मुँह ताकते हैं। राज्य के कार्यों की

वृद्धि से नागरिकों की ऐसी निश्चिन्तता स्वाभाविक ही है। ऐसी निश्चिन्तता का अर्थ है आलस्य का प्रसार और प्रगति का अवरोध। यह सब व्यक्तित्त्व के विकास के लिए घातक है।

(४) सरकारी कार्यों की व्यापकता से नौकरशाही की शक्ति और संख्या में वृद्धि स्वाभाविक है। उसका समाज में बोलबाला हो जाता है। नौकरशाही की आन्तरिक विशेषता बुद्धि-गर्व, अहम्मन्यता, संकुचित विचार एवं अपरिवर्तनशीलता है। जब ऐसी संस्था समाज पर हावी हो जाती है तो राष्ट्रोन्नति तथा व्यक्तित्त्व की प्रगति कैसे सम्भव हो सकती है? साथ ही साथ ऐसी संस्था द्वारा कोई भी कार्य भली भाँति सम्पादित नहीं हो सकता। सारांश में राज्य के कार्यों की वृद्धि न तो व्यक्ति और न समाज के लिए हितकर है।

इस प्रकार मिल "यद्भाव्यम् नीति" को न्यायपूर्ण और उपयोगी बताता है। अन्य व्यक्तिवादियों की भाँति मिल भी राज्य का हस्तक्षेप विकार तुल्य मानता है। किन्तु राज्य बिना शान्ति स्थापना असम्भव है और शान्ति बिना नागरिक स्वतंत्रता। इसलिये राज्य तथा उसका हस्तक्षेप एक आवश्यक विकार है। अन्य व्यक्तिवादियों की भाँति मिल भी उस राज्य को सर्वोत्तम मानता था जो कम से कम शासन करे। अतः राज्य को शान्ति स्थापन तथा उससे सम्बन्धित कार्यों (जैसे न्याय और दंड) के अतिरिक्त कोई भी कार्य नहीं अपनाना चाहिये। नागरिक को भाषण तथा कार्यों की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये। ज्ञान और सत्य की वृद्धि के लिए भाषण, विचार और लेख की स्वतंत्रता नितान्त आवश्यक है। चरित्र-गठन और व्यक्तित्त्व-वृद्धि के लिए कार्य की स्वतंत्रता अनिवार्य है।

समीक्षा—अन्य दर्शनों की भाँति मिल का दर्शन भी विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ था। इसलिये उसके दर्शन का पूर्ण ज्ञान एवं उसकी समीक्षा के लिए उस अवस्था की जानकारी आवश्यक है। मिल के दर्शन पर उसके जीवन का भी प्रभाव पड़ा था।

एक भारतीय विद्यार्थी को स्वतंत्रता का सिद्धान्त और मिल का जीवन बेमेल-सा ज्ञात होगा। मिल ने कई वर्षों तक ईस्ट इन्डिया कम्पनी के दफ्तर में नौकरी की थी। वह कम्पनी के राजनीतिक पत्र-व्यवहार का लेखक था। १८५८ में उसने कम्पनी के शासन के पक्ष में एक प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया था। इस प्रार्थना-पत्र में उसने कम्पनी के शासन को न्यायसंगत और भारतीयों के लिए उपयोगी बताने का प्रयत्न किया था। जिस समय वह कम्पनी के कृत्यों को न्यायसंगत तथा मानवतापूर्ण बताने में लीन था, उसी समय वह मानवतापर्ण "स्वतंत्रता" नामक पुस्तक के प्रकाशन की भी व्यवस्था

कर रहा था (इस पुस्तक के प्रकाशन की तिथि १८५९ है)। अतः एक ओर तो वह कम्पनी के शासन की प्रशंसा कर रहा था और दूसरी ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता के दर्शन को लिपिबद्ध। ये दो बेमेल विषय एक ही लेखनी से एक ही समय कैसे लिखे जा सकते हैं? क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है?

वास्तव में मिल के जीवन के अन्य पहलुओं का प्रभाव उसके स्वतंत्रता के दर्शन पर पड़ा था। इन पहलुओं की पृष्ठभूमि में उसका दर्शन असंगत नहीं ज्ञात होगा। मिल एक अपूर्व बुद्धि का व्यक्ति था। वह अपने समय के मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का बौद्धिक नेता था। उसका स्वतंत्रता का दर्शन इन बुद्धिजीवियों की विशेष परिस्थिति और मनोविज्ञान का प्रदर्शन करता है। १८३२ में सुधार नियम (Reform Act) से मताधिकारियों की संख्या बढ़ी। वैसे तो जन-साधारण को मताधिकार प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु जनता की शक्ति और संगठन की वृद्धि स्पष्टतया दृष्टिगोचर थी। सुप्रसिद्ध चार्टिस्ट आन्दोलन (The Chartist Movement, १८३९—४९) इसका निर्देशक है।

१८३२ के पूर्व मध्यमवर्ग ने सामन्तों की सत्ता का विरोध किया था। १९वीं सदी में सामन्तों की शक्ति में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से ह्रास हुआ। अब बुद्धिजीवियों को एक नवीन बढ़ती हुई जन-शक्ति का सामना करना पड़ा। सामन्तशाही का विरोध परम्परा और मनोविज्ञान (उपयोगितावाद) के नाते किया गया, किन्तु जनमत का विरोध न तो परम्परा और न उपयोगिता के नाते सम्भव था। परम्परा तो जनता की ही होती है। जनता की उपयोगिता पूँजीपतियों तथा मध्यमवर्ग की उपयोगिता से भिन्न थी। अब जनमत का, जिससे बुद्धिजीवी भयभीत-सा था, विरोध कैसे किया जाय? इसके लिये एक नये यंत्र की आवश्यकता पड़ी। यह यंत्र था मिल की "स्वतंत्रता"। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नाम पर बुद्धिजीवी अपना जीवन बिना जनमत के हस्तक्षेप के व्यतीत करना चाहते थे।

आधुनिक वर्गीय समाज में एक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी की विचित्र-सी परिस्थिति होती है। वह दो भीषण प्रवृत्तियों (पूँजीवाद तथा सर्वहारा का एकाधिकार) के बीच में असहाय-सा है। एक ओर पूँजीपति अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहता है और दूसरी ओर सर्वहारा (श्रमिक)। बेचारा बुद्धिजीवी क्या करे? वह न तो पूँजीपति है और न सर्वहारा ही। वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उपासक बनता है। वह स्वयं अपना एकाधिकार स्थापित नहीं कर सकता। इसलिये वह किसी अन्य वर्ग का एकाधिकार भी नहीं चाहता। वह एकाधिकार का सैद्धान्तिक विरोध करता है। अपने जीवन में

वह किसी का भी हस्तक्षेप नहीं चाहता, उसे एकान्त जीवन रुचिकर लगता है। इन सब आशाओं (या कल्पनाओं) की पूर्ति वह मिल की "स्वतंत्रता" में पाता है। मिल का दर्शन उसके हृदयानुकूल बन जाता है।

मिल के जीवन का एक मुख्य अंग ऐसा था कि उक्त स्वतंत्रता असंगत नहीं मालूम होती। २० वर्ष तक अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उसने श्रीमती टेलर से अपना प्रेम-सम्बन्ध ज़ारी रखा। श्रीमान् टेलर की मृत्यु के पश्चात् मिल ने श्रीमती टेलर से विवाह किया। कहा जाता है कि वह न तो विशेष बुद्धिमती थी और न सुन्दरी ही। इस विवाह के कारण मिल को माता, बहनों और निकट मित्रों से भी सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ा। अतः श्रीमती टेलर से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उसने सामाजिक परम्परा का उल्लंघन किया। ऐसा व्यक्ति यदि वैयक्तिक कार्यों की पूर्ण स्वतंत्रता को दार्शनिक रूप प्रदान करे तो असम्भव नहीं।

दार्शनिक दृष्टि से मिल का दर्शन त्रुटिपूर्ण है। स्वतंत्रता एक बहुमूल्य वस्तु अवश्य है। किन्तु मिल ने स्वतंत्रता-प्रेम का कभी-कभी इतना प्रदर्शन कर दिया कि वह हास्यास्पद बन गया।

(१) मिल के अनुसार सनकियों को भी तर्क एवं भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। क्योंकि सम्भव है कि १० सनकियों में से एक सनकी अपूर्व बुद्धि वाला व्यक्ति हो। यह सनकी समाज को एक नवीन विचारधारा प्रदान कर "गुदड़ी में लाल" की कहावत चरितार्थ कर सकता है। किन्तु ऐसा तर्क न्यायसंगत नहीं ज्ञात होता। एक अपूर्व बुद्धि वाले सनकी की आड़ में ९ साधारण सनकियों को स्वतंत्रता क्यों दी जाय? ये ९ सनकी समाज की शान्ति और सुव्यवस्था में बाधक हो सकते हैं। जैसे, कुछ शान्तिप्रिय अंगरेज पादरियों की भारतवर्ष में उपस्थिति अंग्रेज़ी सेना की उपस्थिति को न्यायसंगत नहीं बना सकती।

(२) कभी कभी पूर्ण स्वतंत्रता समाज के लिए हितकर नहीं होती। मिल के अनुसार व्यक्ति को बिना तर्क के किसी भी विचारधारा पर विश्वास नहीं करना चाहिये। अन्यथा, ऐसा विश्वास एक अन्धविश्वास का रूप धारण कर लेता है। परन्तु आखिर तर्क की भी कोई सीमा होनी चाहिये। कम से कम कुछ सिद्धान्त या विचार तो तर्क से परे होने चाहिये। ईश्वर, हत्या, सत्य, विद्रोह आदि विषयों को तर्क से अलग रखना लाभदायक है। (जैसे ईश्वर में क्यों विश्वास करना चाहिये? सत्य क्यों बोलना चाहिये? हत्या क्यों नहीं करनी चाहिये? आदि) ऐसी परिस्थिति में

नागरिकों को अन्य साधारण विषयों पर तर्क तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सकेगा। समाज का समय व्यर्थ नष्ट न होगा। फिर यदि बाजार में खड़े हो कर नागरिक राज-विद्रोह या अराजकता पर तर्क करेंगे, तो ऐसी परिस्थिति में समाज की जो दशा होगी उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। समाज-संचालन असम्भव-सा हो जायेगा। यदि इस विषय पर तर्क किया जाय कि सूर्य पूरब से निकलता है या पश्चिम से, तो व्यक्ति और समाज का कितना बहुमूल्य समय नष्ट होगा। अतः पूर्ण स्वतंत्रता कभी-कभी समाज की प्रगति के लिए बाधक हो जाती है। मिल का सिद्धान्त प्रशंसनीय तो अवश्य है, परन्तु वह पूर्णरूपेण लागू नहीं किया जा सकता।

(३) समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी बाल की खाल निकालने की प्रकृति होती है। वे प्रायः किसी भी विचार को स्वीकार नहीं करना चाहते। फलतः वे कभी-कभी व्यर्थ ही तर्क करते हैं। ऐसे लोगों की मनोवृत्ति कैसे सन्तुष्ट हो सकती है? ऐसे वकवादियों को तर्क की स्वतंत्रता प्रदान करने का अर्थ होगा समाज का बहुमूल्य समय व्यर्थ गँवाना। समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है कि ऐसे जिद्दी व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता न दी जाय।

(४) कार्य की स्वतंत्रता का सिद्धान्त भी त्रुटिहीन नहीं है। इस स्वतंत्रता पर भी कुछ प्रतिबन्ध आवश्यक है। मिल के अनुसार झक्कियों की संख्या की वृद्धि समाज की प्रगति का निर्देशक है। झक्कियों की उपस्थिति का अर्थ है चरित्र की भिन्नता। इसलिए चरित्र की भिन्नता समाज की प्रगति का लक्षण है। वास्तव में भिन्नता की अपेक्षा गुण सामाजिक प्रगति का निर्देशक है। भिन्नता के मापदंड से वह समाज प्रगतिशील कहा जायेगा जिसमें प्रत्येक सदस्य के कोट के बटन भिन्न-भिन्न स्थान पर लगे हों। (अर्थात् कन्धे पर, पीठ पर आदि)। परन्तु साधारण मापदंड से पोशाक का सौन्दर्य उसकी स्वच्छता एवं अच्छी सिलाई पर आश्रित है। अतः भिन्नता पर जोर देना हास्यपूर्ण है। मिल ने गुणात्मक प्रगति पर ध्यान कम दिया है, उसने भिन्नता को ही प्रगति का मापदंड माना था। वास्तव में समाज की भलाई इसमें है कि उसके सदस्यों का चरित्र उच्चकोटि का हो, इसमें नहीं कि चरित्र की भिन्नता हो। झक्कियों की स्वतंत्रता से भिन्नता की संख्या अवश्य बढ़ेगी, किन्तु चरित्र-गठन में सहायता कम मिलेगी। इसलिए समाज का कर्तव्य है कि वह नागरिकों के चरित्र-गठन के हेतु शिक्षा आदि का उचित प्रबन्ध करे। मिल की नकारात्मक स्वतंत्रता तथा "यद्भाव्यम् नीति" के वातावरण में समाज इस महत्त्वपूर्ण कार्य में सफल नहीं हो सकता।

(५) मिल के अनुसार राज्य को दुर्व्यसनों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं रोकना चाहिये। एक शराबी स्वयं ही अपने अनुभव तथा प्रयोग द्वारा इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि मद्यपान हानिकारक है, किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से यदि राज्य शराब की दूकानें बन्द कर दे तो नागरिक का कितना ही समय नष्ट होने से बच जायेगा। उसे शराब की दूकानों के सामने आत्मसंघर्ष में समय नष्ट नहीं करना पड़ेगा। यह बहुमूल्य समय वह अन्य शारीरिक और बौद्धिक वृद्धि सम्बन्धी कार्यों में लगा सकेगा।

मिल के अनुसार राज्य के कार्य सीमित होने चाहिये। तब नागरिक की स्वतंत्रता सम्भव होगी और उसका चरित्र-गठन भी। जब नागरिक अपने जीवन सम्बन्धी कार्य स्वयं ही करेगा तब उसके अनुभव की वृद्धि होगी और कार्य भी अच्छा होगा। परन्तु राज्य अपने समाज-सेवी कार्यों द्वारा (जैसे सफाई का प्रबन्ध आदि) नागरिक का कितना ही समय नष्ट होने से बचा सकता है। इस बचे हुए समय में व्यक्ति ऐसे कार्य कर सकता है जिनसे उसके व्यक्तित्त्व की वृद्धि सम्भव हो सके। इसलिए आज सभी वेत्ता तथा नागरिक "यद्‌भाव्यम् नीति" का बहिष्कार करते हैं और राज्य से समाज-सेवा की अधिकाधिक आशा करते हैं। मिल के अनुसार चरित्र-गठन तथा अनुभव की वृद्धि के हेतु नागरिक को स्वयं ही स्वच्छता, सड़क, जल आदि का प्रबन्ध करना चाहिये। आधुनिक दृष्टिकोणों के अनुसार राज्य के समाज-सेवक कार्यों में वृद्धि होनी चाहिये। ऐसे वातावरण में नागरिक को चरित्र-गठन के लिए पर्याप्त अवकाश प्राप्त हो सकता है। आधुनिक दृष्टिकोण उत्तम विदित होता है।

(६) मिल ने व्यक्ति के कार्यों को व्यक्तिगत और सामाजिक दो भागों में विभाजित किया था। ऐसा विभाजन असम्भव है। कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो केवल व्यक्तिगत ही हो। व्यक्ति के सभी कार्यों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। मद्यपान का ही उदाहरण लीजिये। मिल के अनुसार मद्यपान एक व्यक्तिगत कार्य है, सामाजिक नहीं। वह सामाजिक रूप केवल तब धारण करता है, जब मद्यपान के फलस्वरूप कोई व्यक्ति सामाजिक शान्ति भंग करे। किन्तु वास्तव में यह त्रुटिपूर्ण है। एक शराबी अपना कुछ धन मद्यपान में व्यय करता है, यदि वह शराब न पीये तो वह इस धन को अपने एवं अपने बच्चों के हित के लिए व्यय कर सकेगा। उसकी तथा उसके बच्चों की शारीरिक एवं बौद्धिक उन्नति होगी। इससे समाज का अधिक कल्याण होगा। फिर सम्भव है कि एक शराबी के बच्चे भी देखा-देखी शराबी बन जायँ। यही नहीं, शराबी नशे में चूर होकर अपना काफी समय नष्ट करता है। इससे भी समाज की हानि होती है। क्योंकि वह इस समय को अन्य उपयोगी

कार्यों में लगा सकता है। इस प्रकार व्यक्ति का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज पर न पड़े। यहाँ तक कि आत्महत्या एक व्यक्तिगत कार्य नहीं माना जाता। यदि कोई मनुष्य आत्महत्या के सिलसिले में पकड़ा जाय तो उसे न्यायालय द्वारा दंडित किया जाता है। मनुष्य का शरीर केवल उसका ही नहीं है, उस पर समाज का भी अधिकार है, वह समाज की देन है। मनुष्य अपने शरीर का मनमाना दुरुपयोग नहीं कर सकता। अतः व्यक्ति का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो केवल व्यक्तिगत ही हो, सभी कार्यों का समाज पर प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति एक भावात्मक राशि नहीं है, जैसा मिल ने सोचा था। वह शत-प्रतिशत सामाजिक प्राणी है। उसका कोई भी कार्य समाज से बाहर सम्भव नहीं है।

(७) वास्तव में मिल और अन्य व्यक्तिवादियों के दर्शन की पृष्ठभूमि में रूसो का क्रान्तिकारी कथन है। वे स्वयं रूसो के प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार नहीं करते थे, परन्तु उनके युग में प्रत्येक स्वतंत्रता-प्रेमी के मस्तिष्क में रूसो का यह मंत्र गूँजा करता था—"मनुष्य स्वतंत्र जन्मा है और आज सभी ओर दासता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है।" इस कथन का तथ्य है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक नियंत्रण परस्पर विरोधी हैं। अतः जितना कम समाज का प्रतिबन्ध होगा उतनी ही अधिक व्यक्ति की स्वतंत्रता सम्भव होगी, तथा जितना अधिक सामाजिक प्रतिबन्ध होगा उतनी ही कम व्यक्तिगत स्वतंत्रता। व्यक्तिवादियों के दर्शन का सार भी यही था। परन्तु अन्य जनवाद-प्रेमियों की भाँति व्यक्तिवादी दार्शनिक भी रूसो की उस देन को भूल गये थे जिसका तथ्य था कि वास्तविक स्वतंत्रता केवल राज्य द्वारा ही सम्भव है। इस विचारधारा को आज सभी स्वतंत्रता-प्रेमी स्वीकार करते हैं। वास्तव में राज्य का नियंत्रण व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी नहीं है, सुव्यवस्था और स्वतंत्रता एक दूसरे के पूरक तथा सहायक हैं। राज्य की अनुपस्थिति में न तो शान्ति सम्भव है और न स्वतंत्रता ही। आधुनिक समाज-सेवी राज्य वैयक्तिक स्वतंत्रता को कार्यान्वित करने में सहायक होता है। यही नहीं, यदि राज्य द्वारा आर्थिक और सामाजिक जीवन संचालित न हो तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता केवल नाममात्र की रह जाती है। सकारात्मक स्वतंत्रता ही (जिसका वर्णन समाजवादी दर्शन के अध्याय में मिलेगा) वास्तविक स्वतंत्रता है। मिल और व्यक्तिवादियों की नकारात्मक स्वतंत्रता एक खोखली स्वतंत्रता है, वह कल्पनामात्र है। हाँ, इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि राज्य और समाज का नियंत्रण जनतांत्रिक होना चाहिये। ऐसे नियंत्रण के लिए राज्य तथा समाज का जनतांत्रिक संचालन नितान्त आवश्यक है। यह समस्या भिन्न है। यहाँ

इतना कहना पर्याप्त होगा कि व्यक्तिवादी मिल की धारणा—अनुशासन और स्वतंत्रता विपरीत परिस्थितियाँ हैं—पूर्णतः त्रुटिपूर्ण है।

(८) व्यक्तिवादियों की परम्परा के अनुसार मिल स्वतंत्रता को एक राशि-तुल्य मानता था। वास्तव में स्वतंत्रता एक राशि नहीं है। स्वतंत्रता के कई प्रकार होते हैं। कभी-कभी एक स्वतंत्रता दूसरी स्वतंत्रता के विपरीत हो सकती है। श्रमिकों को संघ बनाने की स्वतंत्रता और पूँजीपतियों की स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा कभी-कभी विरोधात्मक हो जाती है। श्रमिक संघ की उपस्थिति में पूँजीपति श्रमिकों के वेतन-निर्धारण में स्वतंत्र नहीं हो सकेगा। संघ की अनुपस्थिति के वातावरण में पूँजीपति प्रत्येक श्रमिक का वेतन स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर निर्धारित कर सकेगा। परन्तु श्रमिक संघ संयुक्त मोर्चा द्वारा पूँजीपति को वेतन-निर्धारण के कार्य में बाध्य करेगा। अतः स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा पूँजीपतियों के लिए हितकर है, संघ बनाने की स्वतंत्रता श्रमिकों के लिए। ऐसी परिस्थिति में राज्य तथा समाज का क्या कार्य है? व्यक्तिवादियों ने तो प्रायः स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा को ही प्रोत्साहन दिया था। परन्तु न्याय तथा नैतिकता की दृष्टि से उसी स्वतंत्रता को प्रोत्साहन मिलना चाहिये जो राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी हो। ऐसा प्रोत्साहन मिल की राशि-तुल्य स्वतंत्रता के वातावरण में सम्भव नहीं है। सत्य तो यह है कि मिल स्वतंत्रताओं का विरोधात्मक रूप न देख सका था।

इस प्रकार मिल की स्वतंत्रता दोषरहित नहीं है। बार्कर ने ठीक कहा है कि मिल की स्वतंत्रता खोखली है और उसका व्यक्ति भावात्मक। नकारात्मक स्वतंत्रता काल्पनिक है। क्योंकि सुव्यवस्था तथा समाज-सेवी योजनाओं की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता सम्भव नहीं है। मिल का व्यक्ति समाज से परे है और ऐसा व्यक्ति किसी भी युग में सम्भव नहीं। परन्तु दोषों के होते हुए भी मिल व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सर्वश्रेष्ठ एडवोकेट (advocate-in-chief.) है। उसका स्वतंत्रता का सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र एवं मानव जगत के लिए एक अमूल्य देन है। उसने इस जनप्रिय शब्द (स्वतंत्रता) को एक दार्शनिक रूप दिया। मिल के दर्शन द्वारा स्वतंत्रता इतनी दृढ़ बनी कि हिटलर एवं मुसोलिनी ऐसे अधिनायकवादी भी स्वतंत्रता के रक्षक होने का दम भरते थे। यह इस बात का निर्देशक है कि जनसाधारण की स्वतंत्रता के प्रति कितनी बड़ी श्रद्धा है। इसका श्रेय मिल को ही है। परन्तु, वस्तुतः मिल की स्वतंत्रता वैसी-ही है जैसे बिना राम के रामायण।

जीवशास्त्र

मिल के पश्चात् हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer, १८२०—१९०३) व्यक्तिवाद का प्रमुख दार्शनिक हुआ। उसने इस दर्शन को एक नया रूप प्रदान किया।

स्पेन्सर को साधारण शिक्षा मिली थी। वह किसी विश्वविद्यालय का विद्यार्थी न बन सका था। जब उसने बौद्धिक ख्याति प्राप्ति की, तो कुछ विश्वविद्यालयों ने उसे डाक्टर की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा, किन्तु ख्याति-प्राप्त स्पेन्सर ने स्वीकृति न दी। बाल्यावस्था से ही उसे जीवशास्त्र के अध्ययन में विशेष रुचि थी। भविष्य में उसने इस शास्त्र के आधार पर समाजशास्त्र का विश्लेषण किया। २२ वर्ष की अवस्था में वह अपने चाचा, रेवरेन्ड स्पेन्सर (Reverend Spencer) के सम्पर्क में आया। उसका चाचा उदारवाद तथा "यद्भाव्यम् नीति" का कट्टर अनुयायी था। उस समय में ब्रिटेन में "यद्भाव्यम् नीति" का बुद्धिजीवियों में बोलबाला था। बेन्थम और मिल ने इस नीति को दार्शनिक रूप दिया था। ब्राइट (John Bright) और काब्डन (R. Cobden) इसके प्रमुख प्रचारक थे। इस वातावरण का प्रभाव स्पेन्सर के दर्शन पर पड़ा। वह व्यक्तिवाद का सच्चा अनुयायी बना।

१८४२ में चाचा के प्रोत्साहन से स्पेन्सर ने एक समाचारपत्र (The Non Conformist) में १२ पत्र छपवाये। इन पत्रों में स्पेन्सर की व्यक्तिवादी विचारधारा स्पष्ट है। इस विचारधारा को उसने अन्तकाल तक न त्यागा। वह तत्कालीन जीवशास्त्रीय अन्वेषणों से प्रभावित हुआ था। उस समय लामार्क (Lamarck) की खोजें प्रचलित हो चुकी थीं। स्पेन्सर ने इन खोजों को समाजशास्त्र पर लागू किया। उसने व्यक्तिवाद या "यद्भाव्यम् नीति" को जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण से न्याययुक्त बताया। स्पेन्सर का यह प्रयत्न डारविन की खोज के—जो डारविनवाद (Darwinism) के नाम से प्रसिद्ध है—१० वर्ष पूर्व प्रकाशित उसकी एक पुस्तक (Social Statics, १८५१) में स्पष्ट है। उसने अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी लिखीं—Principles of Psychology, १८५५; First Principles, १८६२; Principles of Sociology, १८७६।

विश्व, जीव और समाज :—स्पेन्सर ने सामाजिक विकास की गति की तुलना विश्व और जीव के विकास से की। विश्व का विकास एक अनिश्चित और असम्बन्धित एकत्व से एक निश्चित और सम्बन्धित विभिन्नता की ओर होता है। समाज का विकास भी इसी भाँति हुआ है। अति प्राचीन समाज में एकत्व तो अवश्य था, परन्तु सभ्यता की

अनुपस्थिति के कारण वह एकत्व अनिश्चित एवं असम्बन्धित था। आधुनिक समाज में विभिन्नता है, किन्तु वह निश्चित और सम्बन्धित है। यह सब मानव-प्रगति का परिणाम है।

जीव का विकास एक साधारण निम्नकोटि के प्राणी से उच्चकोटि के प्राणी की ओर हुआ। अति प्राचीन तथा मूल प्राणी के शरीर में केवल एक ही अणु था। इसी अणु द्वारा वह खाना, पीना, श्वास लेना आदि सभी क्रियाएँ करता था। प्राणी की प्रगति के फलस्वरूप शनैः शनैः भिन्न-भिन्न अणुओं का जन्म हुआ। इन अणुओं द्वारा वह अनेक क्रियाएँ करता है। अणुओं में कार्य-विभाजन होता है। समाज का विकास भी इसी भाँति हुआ है। अति प्राचीन समाज में कार्य-विभाजन का अभाव था। जीवन सम्बन्धी समस्त कार्यों को एक व्यक्ति प्रायः स्वयं ही करता था। विज्ञान की प्रगति से धीरे-धीरे समाज में कार्य-विभाजन की निरन्तर वृद्धि हुई। फलतः आज समाज में कार्य-विभाजन बहुत जटिल हो गया है।

कार्य-विभाजन :—कार्य-विभाजन की जटिलता से समाज का एक अंग दूसरे अंग पर अन्योन्याश्रित है। प्राचीन काल में मनुष्य झुंडों में रहते थे। यदि झुंड के एक भाग का किसी प्रकार से अन्त हो जाता था तो उससे शेष झुंड के जीवन पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता था। क्योंकि उस युग में कार्य-विभाजन जटिल न था। यदि आधुनिक समाज के एक अंग का अन्त हो जाय या वह अपना कार्य करना बन्द कर दे, तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ेगा। यदि रेलगाड़ी के श्रमिक कार्य करना बन्द कर दें या कारखानें बन्द हो जायँ, तो समाज पर उसका जो कुप्रभाव पड़ेगा वह अवर्णनीय होगा। कार्य-विभाजन से समाज के अंग एक दूसरे पर इतने अन्योन्याश्रित हो गये हैं कि एक अंग की क्षति का प्रभाव समस्त समाज पर पड़ता है।

स्पेन्सर के मतानुसार आधुनिक समाज में कार्य-विभाजन आन्तरिक और अपरिवर्तनशील है। यह वैसे ही अटूट है जैसे व्यक्तिवादी, अर्थशास्त्र तथा उपयोगितावाद के नियम। इस आन्तरिक कार्य-विभाजन की गति में कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। हस्तक्षेप से सम्भवतः समाज के जीवन में बाधा उपस्थित हो सकती है। इसलिए राज्य का कर्त्तव्य है कि वह इस प्राकृतिक कार्य-विभाजन के सम्बन्ध में नियम न बनावे। इस कार्य-विभाजन के नियम द्वारा समाज का आर्थिक और सामाजिक जीवन स्वयं ही संचालित होगा। यदि राज्य रेल या कारखानों के सम्बन्ध में नियम बनायेगा, तो अवश्य ही इस नियम का प्रभाव पूरे सामाजिक जीवन पर पड़ेगा। सामाजिक जीवन का संचालन स्वतः नहीं होगा।

व्यवस्था को न्यायसंगत बताया। राज्य को समाज-सेवक कार्य (जैसे गरीबों को दान, शिक्षा, व्यवसाय या व्यापार का संचालन, दवा, सफाई आदि) नहीं अपनाना चाहिये। राज्य का कार्य सेना और पुलिस द्वारा सुरक्षा करना और वैधानिक अनुबन्धों को लागू करना है। स्पेन्सर के मतानुसार राज्य का एकमात्र कार्य न्याय की रक्षा करना है। न्याय का अर्थ है स्वेच्छानुसार ऐसे कार्य की स्वतंत्रता जिससे अन्य व्यक्तियों की वैसी ही स्वतंत्रता पर आघात न हो। राज्य को केवल तभी हस्तक्षेप करना चाहिये जब एक व्यक्ति के कार्य से अन्य व्यक्तियों की न्यायसंगत स्वतंत्रता पर आघात हो या आघात की सम्भावना हो। स्पेन्सर के अनुसार ऐसा आघात अनुबन्ध के उल्लंघन या किसी अपराध द्वारा होता है। इसलिए राज्य के कार्य यहीं तक सीमित होने चाहिये कि वह अनुबन्धों की सुरक्षा करे और अपराधियों को दंड दे। ऐसी परिस्थिति द्वारा न्याय सम्भव होगा।

समीक्षा :—स्पेन्सर के पूर्व से ही समाजवादी वेत्ता व्यक्तिवाद और "यद्भाव्यम् नीति" की दार्शनिक आलोचना करते आये थे। इस आलोचना के विरुद्ध स्पेन्सर ने इन सिद्धान्तों को न्यायसंगत बताने की चेष्टा की। इस जटिल कार्य में उसने जीवशास्त्र की शरण ली। व्यक्तिवाद के लिये यह उसकी बड़ी देन थी। स्पेन्सर ने जीवशास्त्र और समाजशास्त्र में जो समन्वय किया वह भी समाजशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

परन्तु वास्तव में स्पेन्सर का दर्शन बर्बरतापूर्ण है। गरीब वह है जो जीवन के संघर्ष में अयोग्य है। यदि कोई व्यक्ति अस्वस्थ स्थिति में है तो वह समाज या राज्य की सहायता का पात्र नहीं हो सकता। उसे स्वयं ही परिस्थिति से संघर्ष करना चाहिये। यदि वह योग्य है, तो इस निरन्तर तथा व्यापक संघर्ष में सफल होगा, अन्यथा पिछड़ जायेगा। समाज की उन्नति केवल योग्य पुरुषों द्वारा ही सम्भव है। स्पेन्सर के दर्शन की नग्न बर्बरता दैनिक जीवन के साधारण दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायेगी। एक अध्यापक ग्रीष्म काल में एक वृहद् कक्षा में अध्यापन कर रहा है। पंखे की अनुपस्थिति से वह कक्षा में संज्ञाहीन होकर गिर पड़ता है। स्पेन्सरवादी विद्यार्थी अपना रास्ता नापेंगे और अध्यापक को उसी अवस्था में छोड़ देंगे, यह कहकर कि अध्यापक अयोग्य है और प्रकृति से संघर्ष नहीं कर सकता। क्या विद्यार्थियों का यह व्यवहार नितान्त बर्बरतापूर्ण नहीं होगा? स्पेन्सर ने राज्य की ऐसी ही नीति को न्यायसंगत बताया था।

जहाँ बेन्थम और मिल ने मानवता के नाते व्यक्तिवाद को सर्वश्रेष्ठ बताया था, वहाँ स्पेन्सर ने बर्बरता का पुट दे उस दर्शन को जनसाधारण के लिए घृणास्पद बना दिया। बर्बरता इस सिद्धान्त को अवनति की ओर ले गयी। वास्तव में स्पेन्सर का तर्क पूँजीपतियों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के अनुकूल था। परन्तु उसका नग्न रूप इतना तीखा है कि कदाचित ही कोई धनी उसे स्पष्टतः अपनायेगा।

आधुनिक रूप

व्यक्तिवाद की देन थी—"यद्भाव्यम् नीति", "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" और वैयक्तिक स्वतंत्रता। "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" के सूत्र को सभी दर्शनों ने अपनाया। सभी आधुनिक दर्शनों के अनुसार राज्य तथा समाज का ध्येय इस सूत्र को कार्यान्वित करना है। परन्तु अन्य दर्शनों ने इस सूत्र की पुष्टि के लिए न तो व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र, और न उपयोगितावाद को अपनाया। अतः साध्य को स्वीकार करते हुए इन दर्शनों ने व्यक्तिवादी साधनों को अस्वीकार किया। वैयक्तिक स्वतंत्रता को सभी दर्शनों ने आदर्श माना, परन्तु उन्होंने स्वतंत्रता की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की। जहाँ तक "यद्भाव्यम् नीति" का प्रश्न है, किसी भी दर्शन ने व्यक्तिवाद का अनुकरण न किया। सभी राज्य-सिद्धान्तों ने किसी न किसी रूप में राज्य एवं समाज के हस्तक्षेप को मानव प्रगति के लिए आवश्यक बताया।

आदर्शवाद के सम्बन्ध में बताया जायगा कि इस दर्शन ने व्यक्तिवादी एवं उदारवादी परम्परा का खंडन किया। इस दर्शन का प्रादुर्भाव जर्मनी में उसी समय हो गया था जब ब्रिटेन में व्यक्तिवाद का बोलबाला था। १९वीं सदी में समाजवादी दर्शन भी पनपने लगा था। इस दर्शन ने व्यक्तिवादी दर्शन—मुख्यतः उसके अर्थशास्त्र—की आलोचना की। यह दर्शन उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहा। मध्य १९वीं सदी में मार्क्स (Karl Marx) के हाथों इसने वैज्ञानिक रूप धारण किया। सभी समाजवादी दार्शनिकों ने व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र की कटु आलोचना की और कहा कि केवल आर्थिक निश्चिन्तता के वातावरण में ही वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। आर्थिक निश्चिन्तता के लिये आवश्यक है कि राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था पूँजीपतियों के चंगुल से मुक्त की जाय। उन्होंने व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के मूल आधार—उत्पादन पर व्यक्तिगत अधिकार—को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अनुचित बताया।

इन आलोचकों की कसौटी पर पुराना व्यक्तिवाद टिक न सका। व्यक्तिवादी समर्थकों ने पुराने सिद्धान्त को नया रूप दिया। अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में पुरानी "यद्भाव्यम् नीति" का समर्थन असम्भव-सा हो गया था। समाजवादी आन्दोलन के फलस्वरूप कोई भी व्यक्ति स्पष्टतया यह नहीं कह सकता था कि गरीब दुःखी श्रमिकों की दशा को नहीं सुधारना चाहिये। स्पेन्सर के व्यक्तिवाद का समर्थन कोई भी व्यक्ति खुलेआम नहीं कर सकता था। श्रमिक आन्दोलन के फलस्वरूप राज्य को धीरे-धीरे आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना पड़ा। धीरे-धीरे समाज-सेवक योजनाओं का राज्य द्वारा वास्तवीकरण हुआ।

१९१७ की रूसी क्रान्ति के पश्चात् सोवियत रूस में समाजवादी अर्थव्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ। यह अर्थव्यवस्था पूर्णतया व्यक्तिवाद विरोधी थी। इससे प्रेरित हो अन्य देशों के श्रमिकों ने राज्य से उनकी दशा सुधारने के लिए अनुरोध किया। श्रमिक आन्दोलन को बल मिला। विश्व के सभी राष्ट्रों को समाज सेवक बनना पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ द्वारा भी सभी राज्यों से श्रम की सुव्यवस्था सम्बन्धी नियम-निर्माण का अनुरोध किया गया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के कुछ देशों में (इटली १९२२, जर्मनी १९३३) फासीवाद पनपा एवं स्थापित हुआ। यह पूर्णतया व्यक्तिवाद तथा उदारवाद विरोधी था। इससे विश्व के सभी पूँजीपति प्रभावित हुए थे। वे इस व्यवस्था का हृदय से समर्थन करते थे (फासीवाद और नाजीवाद के अध्याय देखिये)।

१९२९-३१ के विश्व अर्थ-संकट के फलस्वरूप ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशों में बेरोजगारों की संख्या बढ़ी। कई व्यवसाय बन्द हुए और श्रमिक आन्दोलन ने भीषण रूप धारण किया। ब्रिटेन ने उस अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की स्वतंत्रता का परित्याग (१९३२, ओटावा कानफ्रेंस) किया जो १९वीं सदी में उसे अत्यन्त हितकर और प्रिय थी। १९३३ के पश्चात् अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति (F. D. Roosevelt) ने न्यू डील (New Deal) योजना को कार्यान्वित किया। यह सब पुराने अर्थशास्त्र के विपरीत था। अमेरिका में राज्य द्वारा पूरी अर्थव्यवस्था को संचालित किया गया। आर्थिक जीवन सम्बन्धी स्वतंत्रताओं का अस्थायी परित्याग आवश्यक विदित हुआ, और किया गया। इस परिवर्तन के प्रमुख तीन कारण थे—(१) पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था का संकट (२) श्रमिक आन्दोलन की प्रगति (३) सर्वाधिकारी व्यवस्थाओं (समाजवादी एवं फासीवादी) से प्रोत्साहन।

अब व्यक्तिवाद ने एक नया रूप धारण किया। यह तो स्पष्ट है कि व्यक्तिवादी

अर्थशास्त्र पूँजीपतियों के हृदयानुकूल था। अब भी वे हृदय से ऐसी व्यवस्था के समर्थक हैं। पूँजीपति अपने आर्थिक एकाधिकारों में राज्य एवं समाज का हस्तक्षेप नहीं चाहते। परन्तु उक्त परिस्थितियों के फलस्वरूप प्रायः सभी देशों में राज्य का आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप हो गया। अब व्यक्तिवाद के समर्थक अपनी व्यक्तिवादी मनोवृत्ति को नये वातावरण में नवीन रूप से प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि स्वतंत्रता एक आदर्श स्थिति है, परन्तु कुछ परिस्थितियों के कारण उसको सीमित कर दिया गया है। अब इस पर अधिक प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहिये। उनका कहना है—"बस इतने ही तक, आगे नहीं।" कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण राज्य ने नागरिक की आर्थिक स्वतंत्रता को सीमित कर दिया है। यह अनिवार्य-सा है। अब राज्य को अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। पूँजीपतियों की बची हुई आर्थिक क्षेत्र सम्बन्धी स्वतंत्रता में ह्रास नहीं होना चाहिये। *आधुनिक राज्यों का आर्थिक क्षेत्र में पर्याप्त हस्तक्षेप है,* इससे अधिक हस्तक्षेप न्याय-संगत नहीं। अस्तु, व्यक्तिवादी स्वतंत्रता के पूँजीवादी समर्थक अब अवशिष्ट स्वतंत्रता की सुरक्षा के प्रचारक हैं।

अवशिष्ट व्यक्तिवादी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के हेतु रूढ़िवादी वेत्ता एवं नेता सर्वाधिकारी व्यवस्था, मुख्यतः समाजवादी, के आलोचक हैं। इस आलोचना की आड़ में वे अपनी व्यक्तिवादी स्वतंत्रता को आदर्श स्थिति बताते हैं। चर्चिल (Winston S. Churchill) का १९४५ का आम निर्वाचन सम्बन्धी गेस्टापो भाषण (Gestapo Speech) इस मनोवृत्ति का सर्वोत्तम निर्देशक है। उसने कहा था कि यदि बहुसंख्यक निर्वाचक लेबर पार्टी को मतदान करेंगे तो लेबर पार्टी की सरकार बन जायगी। ऐसी सरकार धीरे-धीरे समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करेगी। समाजवादी व्यवस्था गेस्टापो शासन की भाँति है। गेस्टापो शासन का, जो हिटलरवादी अधिनायकवाद की विशेषता थी, अर्थ है व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन। अतः चर्चिल ने व्यक्तिवादी अर्थ-व्यवस्था को परोक्ष रूप से न्याय-संगत बताया। इस तर्क का निष्कर्ष यह है कि यदि आप अपनी योजना की भलाई से व्यक्तियों को आकर्षित न कर सकें तो अपने विरोधी की योजना की आलोचना कर परोक्ष रूप से अपनी योजना को अच्छा बतायें। जब व्यक्तिवादी अपनी नीति को उसकी विशेषताओं के आधार पर न्याय-संगत नहीं बता सकते तो वे समाजवादियों की नीति को त्रुटिपूर्ण बता कर अपने व्यक्तिवाद को उचित बताने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी तर्क प्रणाली व्यक्तिवाद की कमजोरी का निर्देशक है। यह अर्थशास्त्र रूढ़िवादी माना जाता है।

व्यक्तिवाद की एक मुख्य देन वैयक्तिक-स्वतंत्रता थी। मिल का स्वातंत्र्य सिद्धान्त मानव जाति के लिए एक बड़ी देन है। ब्रिटेन में अभी तक मिल की परम्परा किसी न किसी रूप में चली आ रही है। मिल ने वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाते "यद्भाव्यम् नीति" को न्याय-संगत बताया था। ब्रिटेन के फेबियनवादी दार्शनिकों ने आदर्श वैयक्तिक स्वतंत्रता के हेतु समष्टिवादी राज्य को न्याय-संगत बताया। (फेबियनवाद के सम्बन्ध में समष्टिवाद का अध्याय देखिये)। वे मिल के अनुयायी थे। उन्होंने कहा कि आदर्श स्वतंत्रता के हेतु समष्टिवाद नितान्त आवश्यक है। आदर्शवादी ग्रीन (T. H. Green) भी मिल के स्वातंत्र्य सिद्धान्त को न ठुकरा सका। परन्तु उसने स्वतंत्रता की एक नवीन परिभाषा की जो व्यक्तिवादी नकारात्मक स्वतंत्रता से भिन्न थी। उसने अपनी आदर्श स्वतंत्रता के हेतु "यद्भाव्यम् नीति" को अनुचित बताया।

ब्रिटेन के समष्टिवादी अर्थात् समाजवादी वेत्ता मिल के स्वातंत्र्य-सिद्धान्त के प्रेमी हैं। इसी नाते वे साम्यवादी सर्वाधिकार के कट्टर आलोचक हैं। लास्की (H. J. Laski) और कोल (G. D. H. Cole) जैसे समाजवादी वेत्ता वस्तुतः मिल के सिद्धान्त के समयानुकूल प्रचारक हैं। (लास्की के दर्शन के सम्बन्ध में बहुलवाद वाला अध्याय देखिये) लास्की अपने जीवन के अन्तिम भाग में सोवियत रूस का प्रशंसक था। वह रूस की प्रगति से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। वह व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र एवं "यद्भाव्यम् नीति" का कटु आलोचक था। वह समाजवादी अर्थ व्यवस्था को न्याय-संगत मानता था। परन्तु उसने सर्वदा ही वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वोत्तम आदर्श स्थिति माना। लास्की का दर्शन मिल की स्वतंत्रता का २०वीं सदी का संस्करण है। यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक समष्टिवादियों के स्वातंत्र्य प्रेम पर मिल का परोक्ष या प्रत्यक्ष प्रभाव है।

जहाँ तक "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" का प्रश्न है सभी दर्शन इसको अपनाते हैं, परन्तु उनके अनुसार यह साध्य "यद्भाव्यम नीति" द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। सभी आधुनिक दर्शन राज्य के हस्तक्षेप के अनुगामी हैं, हस्तक्षेप की सीमा भले ही भिन्न हो।

अतः आज "यद्भाव्यम् नीति" का पूर्णतया खंडन हो गया है, परन्तु "वैयक्तिक स्वतंत्रता" एवं 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" सदा ही मानव के आदर्श रहेंगे। "यद्भाव्यम् नीति" एवं "उपयोगितावाद" शोषकों के गले का हार है, 'वैयक्तिक स्वतंत्रता" शोषितों के।

सारांश

व्यक्तिवाद आधुनिक युग और प्रधानतः औद्योगिक क्रान्ति के काल का दर्शन है। इस दर्शन की मुख्य विशेषताएँ "यद्भाव्यम् नीति" और नकारात्मक स्वतंत्रता हैं। जन्मकाल से ही ये विशेषताएँ पूँजीवादी धनोपार्जन में सहायक हुईं। वैसे तो जॉन लॉक के दर्शन में व्यक्तिवाद की झलक है, परन्तु वास्तव में १८वीं सदी के अन्त में इस दर्शन का विकास हुआ। चार प्रमुख दृष्टिकोणों से यह दर्शन न्याय-संगत बताया गया।

फ्रांस में फिजियोक्रेटों ने और ब्रिटेन में स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो और मिल ने अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोणों से व्यक्तिवादी राज्य को सर्वोत्तम बताया। इस व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र के अनुसार विश्व तथा राष्ट्र के अर्थ का संचालन सात नियमों (निजी स्वार्थ, स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा, पूर्ति और माँग, जनसंख्या, वेतन, भूमिकर और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय) द्वारा होता है। प्राकृतिक नियमों की भाँति ये नियम भी अपरिवर्तनशील तथा अनिवार्य हैं। चाहे ये हितकर हों या नहीं, व्यक्ति को निजी आर्थिक जीवन इन्हीं के अनुसार संचालित करना होगा। राज्य का हस्तक्षेप इन नियमों की गति में तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अनुचित है।

विवेकशील तथा स्वार्थी होने के नाते व्यक्ति अपना हित-अहित स्वयं जान सकता है और जानता है। स्वतंत्रता के वातावरण में वह उच्चतम स्थान एवं सुख प्राप्त कर सकेगा। ऐसी परिस्थिति में "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" सम्भव होगा। क्योंकि समाज का सुख व्यक्तियों के सुख का र ... स्वतंत्रता द्वारा समाज तथा राष्ट्र-उन्नति करेगा।

राज्य के कार्य सुरक्षा एवं न्याय तक ह ... राज्य का हस्तक्षेप एक विकार है, परन्तु वह जीवन संचार ... । अतः राज्य एक आवश्यक विकार है। वह राज्य स ... —अर्थात् "यद्भाव्यम् नीति" का अनुकरण करे। ... नपते हुए पूँजीपतियों के लिए सिद्धि-यंत्र की भाँति थी। ... मिकों का शोषण इन नियमों की ओट में चरम सीमा तक पहुँचा। फलतः यह अर्थशास्त्र जनसाधारण के लिए विष-तुल्य बना।

बेन्थम ने व्यक्तिवादी व्यवस्था को उपयोगितावाद की दृष्टि से न्याय-संगत बताया। प्रकृति ने व्यक्ति को दो सत्ताधारियों (सुख-दुःख) के अधीन रखा है। व्यक्ति के सब कार्य उपयोगिता से निर्धारित होते हैं। वह केवल वही कार्य करता है

जिससे उसे सुख प्राप्त होता है। ऐसी उपयोगितावादी दुनिया में राज्य तथा व्यवस्थापक का ध्येय केवल ऐसे ही नियमों का निर्माण है जिनसे "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" सम्भव हो। अर्थात् नियमों द्वारा उपयोगिता की वृद्धि होनी चाहिये।

बेन्थम एक सुप्रसिद्ध न्याय-सुधारक था। एक व्यवस्थापक की सुविधा के लिए उसने उपयोगिता सम्बन्धी कई मानचित्र बनाये। वह उपयोगिता की परख को साधारण अंकगणित की भाँति सरल समझता था। अर्थशास्त्रीय नियमों की भांति उसने उपयोगितावाद को प्राकृतिक, व्यापक तथा अपरिवर्तनशील माना।

बेन्थम भी राज्य को एक आवश्यक विकार मानता था। शरीर की सर्वोत्तम स्थिति स्वस्थ स्थिति है। उपयोगिता की दृष्टि से सर्वोत्तम स्थिति पूर्ण स्वतंत्रता की है। अस्वस्थ होने पर औषधि आवश्यक है, स्वतंत्रता की बाधाओं को दूर करने के लिए नियम आवश्यक हैं। अतः औषधि की भाँति नियमों को कम से कम होना चाहिये; उनका प्रयोग केवल नितान्त आवश्यक परिस्थिति में ही होना चाहिये।

बेन्थम का मनोविज्ञान त्रुटिपूर्ण तथा सीमित है। व्यक्ति केवल उपयोगिता की कठपुतली नहीं है, उसके जीवन में प्रेम, भ्रातृत्व, सेवा, सहानुभूति, सौन्दर्य आदि का भी स्थान होता है। बेन्थम ने उपयोगिता का केवल मात्रात्मक भेद ही स्वीकार किया था (पुशिपन-पोएट्री सूत्र)। मिल ने गुणात्मक भेद बताकर उपयोगितावाद में केवल संशोधन ही नहीं वरन् वस्तुतः उसका अन्त भी किया। बेन्थम ने अंकगणित तथा मानचित्रों द्वारा उपयोगिता की परख सम्भव बतायी। मैक्कून ने ठीक ही कहा है कि राजनीति में अंकगणित वैसे ही सहायक नहीं होता जैसे अंकगणित में राजनीति। वास्तव में यह पूँजीपतियों का उपयोगितावाद था। एक पूंजीवादी व्यवस्थापक ऐसा नियम बनायेगा जिससे अधिकतम सुख सम्भव हो चाहे वह केवल मुट्ठी भर पूंजीपतियों का ही क्यों न हो।

जान स्टुअर्ट मिल ने व्यक्तिवाद को वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाते न्याय-संगत बताया। मानव इतिहास में, अराजकतावादियों के अतिरिक्त, मिल से बड़ा स्वतंत्रता का प्रचारक और प्राड्विवाक कोई भी नहीं हुआ है। मिल के मतानुसार व्यक्तित्व की वृद्धि, चरित्र-गठन तथा समाजिक प्रगति के नाते व्यक्तिगत स्वतंत्रता नितान्त आवश्यक है। व्यक्ति को भाषण तथा कार्यों की स्वतंत्रता होनी चाहिये।

भाषण की स्वतंत्रता चार दृष्टिकोणों से प्रगति के लिए आवश्यक है। (१) सम्भव है कि निश्चित तथा प्रचलित विचारधारा असत्य हो, और जिसे सनकी (जैसे ईसा और सुकरात) समझ कर चुप करा दिया जाता है, वह सत्य का प्रचार करता

हो। अतएव सभी व्यक्तियों को (सनकियों सहित) भाषण एवं प्रचार की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये। (२) सत्य के कई पहलू होते हैं; ये पूरक हैं, विरोधी नहीं। सत्य की परख तर्क की कसौटी द्वारा ही सम्भव है। सत्य किसी एक पक्ष की मौरूसी नहीं है। (३) तर्क बिना एक विचार अन्धविश्वास का रूप धारण करता है। (४) तर्क के फलस्वरूप व्यक्ति सत्य के अनुसार जीवन-यापन करते हैं। इस सम्बन्ध में मिल ने आधुनिक और अति प्राचीन ईसाइयों के दृष्टान्त दिये थे। मिल आधुनिक विद्यालयों की तर्क की परिपाटी को युक्तिसंगत नहीं मानता था। तर्क से ही सत्य का ज्ञान सम्भव है, तभी वह सुदृढ़ एवं जीवन का पथप्रदर्शक बनता है।

मिल के अनुसार व्यक्ति के कार्य दो प्रकार के होते हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत कार्यों की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये। राज्य तथा समाज को केवल सामाजिक कार्यों में ही हस्तक्षेप करना चाहिये। व्यक्तिगत कार्यों में (यदि वे शराब पीने या जुआ खेलने की भाँति निकृष्ट हों) प्रचार द्वारा राज्य हस्तक्षेप कर सकता है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं। अपना अनुभव तथा आत्मसंघर्ष चरित्र-गठन के लिये अत्यन्त लाभदायक है। मिल सामाजिक परम्परा तथा रीति-रिवाजों के बन्धनों के विपक्ष में था। ये मानव प्रगति को वैसे ही जकड़ देते हैं जैसे लकड़ी के जूतों द्वारा चीनी स्त्री के पैर। मिल ने भारतवर्ष की अवनति का कारण परम्परा रूपी बन्धन बताया। यूरोप का समाज प्रगतिशील नहीं है, क्योंकि उसमें सनकियों की कमी है तथा विभिन्नता का अभाव है। मनुष्य जाति को अधिक लाभ होगा, यदि प्रत्येक मनुष्य अन्य मनुष्यों की राय की अपेक्षा स्वेच्छानुसार जीवन का प्रत्येक कार्य करे।

राज्य को केवल तभी हस्तक्षेप करना चाहिये जब व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग इस प्रकार करे कि अन्य नागरिकों की समान स्वतंत्रता पर आघात हो। राज्य को समाज-सेवक कार्य नहीं अपनाना चाहिये। निजी लाभ की आशा से राज्य की अपेक्षा एक कार्य व्यक्ति द्वारा अधिक अच्छी तरह से किया जा सकता है। राज्य के कार्यों की वृद्धि से नागरिक उत्साहहीन हो जाते हैं। वे सभी कार्यों के लिए राज्य की ओर देखते रहते हैं और नौकरशाही की संख्या और शक्ति की वृद्धि होती है।

स्वतंत्रता एक बहुमूल्य वस्तु है। बिना स्वतंत्रता के व्यक्ति, व्यक्ति नहीं है। मिल ने स्वतंत्रता को दार्शनिक रूप दिया। यह उसकी मानव के लिए बड़ी देन है। परन्तु उत्साहपूर्ण मिल ने उसे हास्यपूर्ण बना दिया। एक अपूर्व बुद्धि वाले सनकी की आड़ में अन्य सनकी स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर सकते हैं। जिद्दी व्यक्तियों को

स्वतंत्रता प्रदान करने का अर्थ है असीमित एवं अहितकर तर्क। मिल ने किसी भी विषय को (जैसे, ईश्वर, सत्य आदि) तर्क से परे न माना। व्यक्ति का कोई भी कार्य पूर्णतया व्यक्तिगत नहीं है। राज्य की समाज-सेवी योजनाओं से नागरिक को पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त होंगी, और वह आत्मसंघर्ष के स्थान पर अन्य हितकर कार्यों में लीन हो सकेगा। समाज की प्रगति का निर्देशक चरित्र की उत्तमता है, विभिन्नता नहीं, जैसा मिल ने सोचा था। वास्तव में मिल की धारणा—नियंत्रण और स्वतंत्रता—विरोधात्मक है, त्रुटिपूर्ण है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। अतः मिल की स्वतंत्रता खोखली है और मिल का मनुष्य भावात्मक तथा काल्पनिक।

व्यक्तिवाद की अवनति के समय स्पेन्सर ने उसे जीवशास्त्र की सहायता द्वारा जीवित रखने का प्रयत्न किया। जीवशास्त्र के अनुसार प्राणी की प्रगति के साथ साथ कार्य विभाजन की भी प्रगति होती आयी है। इस शास्त्र के अनुसार वही प्राणी जीवित रहता है जो प्रकृति के अनुकूल जीवन-संचालन में सफल होता है। स्पेन्सर ने इन नियमों को समाजशास्त्र पर लागू किया। समाज का आर्थिक जीवन स्वयं ही कार्य-विभाजन के आधार पर संचालित होगा। राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक और अनुचित है। जो व्यक्ति वातावरण के अनुसार जीवन-यापन में असफल होता है वह जीवन के संघर्ष में पिछड़ जाता है। राज्य को ऐसे अयोग्य व्यक्तियों (अर्थात् गरीबों) की सहायता नहीं करनी चाहिये। ऐसे तर्क द्वारा स्पेन्सर ने "यद्भाव्यम् नीति" को न्यायसंगत बताया। उसके इस बर्बरतापूर्ण विश्लेषण द्वारा व्यक्तिवाद को क्षति पहुँची, लाभ नहीं।

व्यक्तिवाद की महान् देन यह थी कि उसने वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वोच्च स्थान दिया। "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" को आज सभी दर्शन अपनाते हैं। परन्तु यह दर्शन केवल पूँजीपतियों के लिए हितकर था। आज प्रत्यक्ष रूप से कोई भी दार्शनिक "यद्भाव्यम् नीति" को नहीं अपनाता।

तृतीय अध्याय

अद्वैतवाद

(MONISM)

राजनीतिशास्त्र में अद्वैतवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन का सार यह है कि एक प्रादेशिक राशि में केवल एक ही सर्वोच्च या सत्ताधारी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-संघ होता है। सभी नागरिक एवं संस्थाएँ इस सत्ताधारी संस्था के अधीन होती हैं।

वैसे तो सत्ताधारी शब्द का प्रयोग ग्रीक काल से ही चला आ रहा है। राज्य को उस समय भी सत्ताधारी संस्था मानते थे परन्तु आधुनिक युग में ही राजसत्ता का प्रश्न विवादास्पद बना। वे दार्शनिक जो राज्य को राजसत्ताधारी संस्था मानते थे, अद्वैतवादी कहे जाते हैं।

राजसत्ता (Sovereignty) शब्द लैटिन के Superanus शब्द, जिसका अर्थ है श्रेष्ठ, से बना है। अद्वैतवाद के अनुसार "श्रेष्ठता" केवल राज्य की ही विशेषता है, अन्य किसी संस्था की नहीं। राजसत्ताधारी राज्य के प्रादेशिक क्षेत्र में जितनी संस्थाएँ होती हैं वे सब राज्य के अधीन हैं, उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। राज्य की राजसत्ता रूपी विशेषता ही राज्य और अन्य संघों (धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि) की भिन्नता का निर्देशक है।

राज्य की राजसत्ता का महत्त्व इससे भी प्रकट है कि वह नागरिक को आज्ञा उल्लंघन के अपराध पर उचित दंड देता है। यह विशेषता किसी अन्य संघ में नहीं पायी जाती। राज्य के अतिरिक्त किसी भी संघ के पास पुलिस, जेल, न्यायालय जैसी संस्थाएँ नहीं हैं। अन्य संघों के विपरीत राजसत्ताधारी राज्य की सदस्यता अनिवार्य है। राज्य

और संघ में कई भेद हैं परन्तु इन सब भेदों का मूल आधार राज्य की राजसत्ता है।

अद्वैतवादी दर्शन ने राज्य की इस सत्ताधारी विशेषता को प्रधानता दी। राज्य ही एकमात्र नियम-निर्मात्री संस्था है। वह किसी संस्था, नियम एवं परम्परा के अधीन नहीं है। राजाज्ञा का पालन करना नागरिक के लिए अनिवार्य है। अन्य मानवीय संघों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। नागरिक और राज्य के मध्य कोई अन्य स्वतंत्र संस्था नहीं है। अद्वैतवाद ने राज्य-एकाधिकार को दार्शनिक पुट दिया। इसके ठीक विपरीत बहुलवादी दर्शन है। यह दर्शन राज्य को राजसत्ताधारी तो अवश्य मानता है परन्तु यह सत्ता सप्रतिबन्ध है, जब कि अद्वैतवादी राजसत्ता अप्रतिबन्ध है।

अद्वैतवाद ही ऐसा दर्शन था जिसने इस राजसत्ता के सिद्धान्त की व्याख्या की। इस दर्शन का जन्म १६वीं सदी में हुआ था, जो आधुनिक युग की प्रारम्भिक सदी मानी जाती है। अतः यह सिद्धान्त आधुनिक है। सम्भवतः राज्यशास्त्र का कोई भी विषय राजसत्ता से अधिक विवादास्पद नहीं है। इसीलिये खिन्न होकर लास्की ने कहा था कि यदि राजसत्ता के विचार का परित्याग कर दिया जाय तो राज्यशास्त्र को एक स्थायी लाभ होगा।

गियर्क (Otto von Gierke) का कहना है, 'राजसत्ता एक जादू के डंडे की भाँति बन गयी है, सभी इसे स्वीकार करते हैं कि राज्य सत्ताधारी है। राज्य का सर्वश्रेष्ठ संचालक ही राजसत्ता का प्रतिरूप है। वह पूरे देश पर अपनी नीति एवं योजनाएँ लाद सकता है। नागरिकों को उनका अनुसरण करना होगा। क्योंकि ये नीतियाँ एवं योजनाएँ राज्य जैसी राजसत्ताधारी संस्था की हैं। आजकल सभी राजनीतिक दल एवं उनके नेता नागरिकों से अनुरोध करते हैं कि वे निर्वाचन में उनको मत देकर राज्य के कर्णधार बनायें। वे नागरिकों से तरह-तरह के वायदे करते हैं और उनकी पूर्ति के लिए आश्वासन भी देते हैं। इन सब की पृष्ठभूमि में यह विचारधारा है कि 'राज्य' राजसत्ताधारी है। जो भी दल बहुमत द्वारा राज्य का अधिकारी बनेगा, वह इस राजसत्ता का उपयोग अपनी योजनाओं की पूर्ति के हेतु कर सकेगा। जैसे एक मदारी अपने जादू के डंडे से एक टोप या पिटारी से अनेक चीजें निकाल सकता है, वैसे ही राजनीतिज्ञ भी राजसत्ताधारी डंडे के बल पर योजनाओं की पूर्ति का दम भरता है। बेचारा नागरिक इस राजसत्ता को उसी प्रकार नहीं समझ पाता जिस प्रकार मदारी के डंडे को। कभी-कभी बेचारे नागरिक इन राजनीतिज्ञों के जाल में फँस कर तथा राजसत्ता के जादू से प्रभावित होकर हिटलर जैसे तानाशाहों को भी निर्वाचित करते हैं। (हिटलर ने जर्मनी के जनतंत्रीय निर्वाचनों में

कहा था कि यदि जनता उसके दल को मत प्रदान कर उसे राजसत्ता का अधिकारी बनाये तो वह स्वर्ण-युग स्थापित कर देगा।)

संक्षिप्त इतिहास

१६वीं सदी में यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ। इसके पूर्व यूरोप में दो महान् शक्तियाँ थीं। धार्मिक विषयों में पोप (Pope) समस्त यूरोप का नेता माना जाता था। अन्य विषयों में पवित्र रोमन सम्राट (Holy Roman Emperor) सर्वोच्च था, भले ही उसकी सर्वोच्चता नाममात्र को रही हो। यूरोप निवासी धार्मिक विषयों में अपने को पोप के तथा लौकिक विषयों में सम्राट के अधीन मानते थे।

१६वीं सदी के पूर्व से ही राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार प्रारम्भ हो गया था। साथ ही साथ प्रत्येक राष्ट्र में केन्द्रीय सरकारें अपने प्रभुत्व की स्थापना एवं वृद्धि के लिए प्रयत्नशील थीं। १६वीं सदी के अन्त तक सामन्तों की शक्ति का ह्रास हो चुका था। केन्द्रीय सरकार की शक्ति में वृद्धि होती जा रही थी। ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन जैसे देशों में यह सरकार पर्याप्त शक्तिशाली हो चुकी थी। इस प्रगति के फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ राष्ट्रीय राज्यों तथा राष्ट्रीय एकता का भी जन्म हो रहा था। इसी राष्ट्रीय एकता के विचार से प्रभावित होकर १६वीं सदी के प्रारम्भ में 'मेकियावेली' (Machiavelli) ने अपने देश (इटली) की एकता के पक्ष में प्रचार किया था। समृद्ध राष्ट्रीय नरेशों ने सामन्तों को दवाया और सम्राट से नाममात्रीय सम्बन्ध का विच्छेद भी किया। अब प्रत्येक राष्ट्र में एक स्वतंत्र सत्ताधारी सरकार और नेता (राजा) का जन्म हुआ।

बोदाँ :—१६वीं सदी में धर्म-सुधार आन्दोलन (The Reformation) के फलस्वरूप ईसाई धर्म की दो प्रधान शाखाएँ तथा कई उपशाखाएँ बनीं। पोप के एकाधिकार का अन्त हुआ। इस प्रकार इधर राजनीतिक क्षेत्र में सम्राट की सर्वोच्चता का अन्त हुआ और उधर धार्मिक क्षेत्र में पोप के एकाधिकार का। ऐसे वातावरण में अनिश्चितता स्वाभाविक थी। इसीलिए १६वीं सदी को संक्रमण काल भी कहते हैं। पुरानी परम्परा का अन्त हो रहा था। १६वीं सदी तक नागरिक स्थानीय सामन्त एवं पादरी और यूरोपीय सम्राट एवं पोप को उच्च स्थान देते आये थे। अब इन सब की शक्ति का ह्रास हुआ। साथ ही साथ अभी नयी केन्द्रीय सरकार या राष्ट्रीय राज्य पूर्णतः अपना

व्यापक एकाधिकार स्थापित न कर पाया था। प्राचीन परम्परा टूट रही थी और उसके स्थान पर नयी संस्थाओं का प्रादुर्भाव हो रहा था। नागरिकों में व्याकुलता छायी हुई थी। वे नहीं समझ पा रहे थे कि किसकी आज्ञा शिरोधार्य की जाय—पुरानी टूटती हुई शक्तियों की या नयी पनपती हुई सत्ता की। इस व्याकुलता के वातावरण में कुछ परिस्थितियों के कारण फ्रांस में नव गृह-युद्ध (१५६२—९८) हुए। गृह-युद्धों का रूप धार्मिक था, परन्तु उनकी पृष्ठभूमि में आर्थिक और राजनीतिक विषय भी थे। जैसा अभी कहा गया है, फ्रांस में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हो रही थी। ये गृह-युद्ध इस प्रगति में अस्थायी रूप से बाधक बने। कुछ शान्तिप्रिय नागरिक, जिनको पालिटिक (Politique) कहते थे, गृह-युद्ध की हत्या एवं वैमनस्यता को देख विचलित हो रहे थे। जॉन बोदाँ (Jean Bodin, १५३०—९६) इन्हीं शान्तिप्रिय लोगों में एक था।

बोदाँ ने १५७६ में एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक द्वारा उसने तत्कालीन बौद्धिक व्याकुलता को दूर करने का प्रयत्न किया। उसका कहना था कि नागरिकों को, चाहे उनमें धार्मिक तथा व्यावसायिक आदि भेद क्यों न हों, राज्य की आज्ञा का पालन करना ही चाहिये। क्योंकि प्रादेशिक राशि में केवल राज्य ही एक राजसत्ताधारी संस्था है। राजसत्ताधारी होने के नाते उसके नियमों का पालन करना नागरिक के लिए अनिवार्य है। राजसत्ता की विशेषता है, निरपेक्षता, अदेयता, अविभाज्यता, व्यापकता और स्थायित्व। राजसत्ता के ये गुण अद्वैतवाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इसीलिए बोदाँ को सर्वप्रमुख आधुनिक अद्वैतवादी दार्शनिक कहा जाता है।

बोदाँ ने उक्त विश्लेषण द्वारा अपने देश निवासियों को रक्तपात के मार्ग का परित्याग करने का आदेश दिया। उसके दर्शन का तथ्य था कि गृह-युद्ध व्यर्थ है, सभी नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे राज्य की आज्ञाओं का पालन करें एवं उसके सच्चे अनुयायी बनें। बोदाँ ने न केवल अपने देश निवासियों की ही अपितु सम्पूर्ण यूरोप की बौद्धिक व्याकुलता को दूर करने का प्रयत्न किया। उस समय पुरानी परम्पराएँ टूट रहीं थीं और उनके स्थान पर राष्ट्रीय राज्य अपना सिक्का नहीं जमा पाये थे। बोदाँ ने राष्ट्रीय राज्यों को राजसत्ता नामक जादू का डंडा प्रदान किया। इसी डंडे के बल राष्ट्रीय राज्यों ने अपनी शक्ति सुसंगठित की और नागरिकों को उनके अधीन रहने के लिए बाध्य किया। राष्ट्रीय नरेशों ने भी राजसत्ता का एक जादू के डंडे की भाँति प्रयोग किया। वे अपनी निरपेक्षता को यह कह कर न्याय-संगत बताने लगे कि निरपेक्षता तो राज्य की आन्तरिक विशेषता—राजसत्ता—के अन्तर्गत है।

बोदाँ ने राजसत्ता को निरपेक्ष बताया, परन्तु साथ ही साथ इस निरपेक्षता पर प्रतिबन्ध भी लगाया। वास्तव में उसकी निरपेक्ष राजसत्ता सीमित राजसत्ता थी। बोदाँ तत्कालीन फ्रांस की परम्परा से मुक्त न हो पाया था। उसके अनुसार राजसत्ताधारी राज्य नैसर्गिक नियमों तथा फ्रांस के मौलिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। ऐसे बेमेल विश्लेषण के होते हुए भी बोदाँ का राजसत्ता का सिद्धान्त राज्यशास्त्र के लिए एक बड़ी देन है। बोदाँ ही सर्वप्रथम वेत्ता था जिसने कहा कि राज्य की विशेषता राजसत्ता है।

हाब्स :—हाब्स (१५८८—१६७९) ही सर्वप्रथम आधुनिक वेत्ता था जिसने राजसत्ताधारी राज्य को पूर्णतः निरपेक्ष बताया। लास्की का कहना है कि हाब्स अद्वैतवादी दर्शन का सम्राट था। प्रथम अध्याय में बताया गया है कि उसने तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओं का उत्तर अपनी पुस्तक (लेवियाथन) में दिया था। उसने बताया कि मनुष्यों ने "हत्या" से बचने के हेतु राज्य जैसे "दीर्घकाय" की स्थापना अनुबन्ध द्वारा की। हाब्स का "दीर्घकाय" भविष्य के अद्वैतवादियों के लिए आदर्श बना।

बोदाँ ने राजसत्ताधारी को नैसर्गिक नियमों तथा फ्रांस के मौलिक नियमों के अधीन बताया। हाब्स ने राजसत्ताधारी के मार्ग से इन रोड़ों को हटाया। उसका राजसत्ताधारी पूर्णतः निरपेक्ष था। हाब्स शत-प्रति-शत अद्वैतवादी था। उसका कहना था जिन नियमों की पृष्ठभूमि में राज्य की तलवार न हो वे केवल शब्दमात्र हैं। इस दृष्टिकोण से धार्मिक नियम, नैसर्गिक नियम और लौकिक नियम केवल शब्दमात्र हैं। ये नियम केवल राजसत्ताधारी राज्य की स्वीकृति और शक्ति द्वारा ही नियम का रूप धारण कर सकते हैं। हाब्स मानवीय संघों को प्राकृतिक मनुष्य की अँतड़ियों में कीड़ों की भाँति मानता था। राज्योत्पत्ति के फलस्वरूप प्राकृतिक मनुष्य एवं मानवीय संघों के स्वतंत्र अस्तित्व का अन्त हो जाता है। अतः सभ्य-समाज में सभी संघ राज्य के अधीन हैं।

लॉक तथा मान्टेस्क्यू :—इस प्रकार हाब्स ने पूर्ण अद्वैतवादी दर्शन का विश्लेषण किया। ब्रिटेन में हाब्स की परम्परा का अनुकरण करीब डेढ़ शताब्दी तक नहीं हुआ। १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन में सीमित राजतंत्र, जो अभी तक चला आ रहा है, स्थापित हुआ। सीमित राजतंत्र का अर्थ है राज्य में कोई भी एक ऐसी संस्था नहीं जिसमें राजसत्ता निहित हो। जान लॉक, (१६३२—१७०४), जिसके दर्शन का विश्लेषण पहले अध्याय में किया गया है, उक्त क्रान्ति और सीमित राजसत्ता का दार्शनिक था। उसके अनुसार नैसर्गिक नियम, सभ्य-समाज तथा वैयक्तिक सम्पत्ति सर्वोपरि हैं। परन्तु व्यवहार में सरकार ही राजसत्ताधारी अधिकारों का प्रयोग करती है। यह विचारधारा

हाब्स के अद्वैतवाद से भिन्न थी। इसी विचारधारा का १८वीं सदी के ब्रिटेन में बोलबाला था। क्योंकि रक्तहीन क्रान्ति के निर्माता ही उस सदी के कर्णधार थे। लॉक का प्रभाव केवल ब्रिटेन तक ही सीमित न था। फ्रांस में मोनटेस्क्यू (Montesquieu, १६८९—१७५५) ने लॉक के दर्शन से प्रभावित होकर कहा था कि स्वतंत्रता का वास्तवीकरण केवल शक्ति-विभाजन की व्यवस्था में ही हो सकता है। उसका ऐतिहासिक शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त अद्वैतवाद-विरोधी था।

रूसो :—हाब्स के बाद दूसरा प्रमुख अद्वैतवादी दार्शनिक रूसो (१७१२—७८) हुआ। उसका कहना है कि वास्तविक, नैतिक, नागरिक एवं आदर्श स्वतंत्रता केवल आदर्श "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन संचालन से ही सम्भव है। रूसो के अनुसार राज्य की राजसत्ता निरपेक्ष, अविभाज्य, अदेय, व्यापक और स्थायी है। हाब्स और रूसो के अद्वैतवाद में भिन्नता केवल यही है कि हाब्स के अनुसार राजसत्ता एक "दीर्घकाय" में निहित है जब कि रूसो के अनुसार वह एक प्रत्यक्ष जनतंत्रीय राज्य की "सामान्य इच्छा" में।

हाब्स-लॉक-रूसो :—यहाँ पर बोसांके के ऐतिहासिक कथन का उद्धरण देना आवश्यक होगा। हाब्स के अनुसार राजनीतिक एकता एक ऐसी इच्छा में निहित है जो वास्तविक है, परन्तु सामान्य नहीं। (हाब्स के "दीर्घकाय" में वास्तविक सत्ता तो अवश्य निहित है, परन्तु उसके कार्य जनता की "इच्छा" से संचालित नहीं होते) लॉक के अनुसार राजनीतिक एकता ऐसी इच्छा में निहित है जो सामान्य है परन्तु वास्तविक नहीं। (उसके मतानुसार जनता की "इच्छा" ही राजसत्ताधारी है परन्तु इस "इच्छा" का वास्तवीकरण जनता तभी करती है, जब सरकार दुर्व्यवहार से संरक्षण का कार्य ठीक न करे। जनता केवल इस सत्ताधारी है वास्तविक नहीं।) रूसो ने हाब्स के तर्क और लॉक के राजनीतिक सार का मिश्रण किया। इस मिश्रण द्वारा उसने प्रतिपादित किया कि राजनीतिक एकता एक ऐसी इच्छा में निहित है, जो वास्तविक है और सामान्य भी। (रूसो की राजसत्ता "सामान्य इच्छा" में निहित है। यह वास्तविक इसलिए है कि हाब्स के "दीर्घकाय" की भाँति यह शासन करती है और सामान्य इसलिए कि लॉक की भाँति यह जनता की इच्छा है, जो राज्य की व्यवस्थापिका है।)

बोसांके के अनुसार यदि हाब्स और लॉक के दर्शन के बाल की खाल खींची जाय तो विदित होगा कि हाब्स के दर्शन से व्यक्तित्व का विनाश हो जाता है और लॉक के दर्शन से सरकार का। व्यक्ति के सच्चे अधिकार का स्थान न तो हाब्स के दर्शन में है

और न लॉक के ही। हाब्स व्यक्ति के अधिकार को राज्य के अधीन बताता है और लॉक इन अधिकारों को स्वीकार तो करता है, परन्तु उनके वास्तवीकरण के लिए कोई भी उपाय प्रस्तुत नहीं करता। रूसो की आदर्श "सामान्य इच्छा" के अनुसार अधिकारों की स्वीकृति और समन्वय सम्भव है। क्योंकि जनता, जो रूसो के अनुसार राजसत्ताधारी है, अपने अधिकारों का वास्तवीकरण और समन्वय राज्य द्वारा कर सकती है। यही नहीं, ऐसे अधिकारों की स्वीकृति से व्यक्तित्व की वृद्धि सम्भव है। क्योंकि रूसो के अनुसार "सामान्य इच्छा" के अनुकूल जीवन संचालन में ही वास्तविक स्वतंत्रता है। यह "सामान्य इच्छा" नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रदर्शन करती है और साथ ही साथ वैयक्तिक अधिकारों की स्वीकृति एवं सुरक्षा का भी। (रूसो की "सामान्य इच्छा" के विषय में आदर्शवाद सम्बन्धी अध्याय देखिये।)

इस प्रकार रूसो ने हाब्स की देन (निरपेक्ष राजसत्ता) और लॉक की देन (जन-स्वीकृति) का समन्वय किया। कोल (G. D. H. Cole) का कहना है कि रूसो ने जनसत्ता के दार्शनिक सिद्धान्त द्वारा हाब्स की निरपेक्षता तथा लॉक की जन-स्वीकृति को मिलाया। रूसो भी राज्य एवं नागरिक में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करता है। रूसो के आदर्श राज्य में नागरिक के संघों का कोई स्थान नहीं है। वह उन्हें "सामान्य इच्छा" के मार्ग में बाधक मानता था। उसका मत था कि यदि नागरिक को राजनीतिक दलों तथा प्रचार-यंत्रों के प्रभाव से मुक्त कर दिया जाय, तो वह स्वतः "सामान्य इच्छा" के अनुसार सोचेगा और जीवन निर्वाह करेगा।

बेन्थम :—ऊपर कहा गया है कि हाब्स की निरपेक्षता ब्रिटेन में करीब डेढ़ शताब्दी तक लुप्त रही। उपयोगितावादी जर्मी बेन्थम (१७४८—१८३२) ने हाब्स के अद्वैतवाद का पुनरुत्थान किया। बेन्थम ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की—"जब कुछ मनुष्य (जिनको हम प्रजा कहते हैं) स्वभावतः एक व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-संघ या कुछ व्यक्तियों (जिनको या जिसको हम शासक कह सकते हैं) की आज्ञा का पालन करते हों तब यह कहा जा सकता है कि ये मनुष्य (प्रजा और शासक) एक राजनीतिक समाज में रहते हैं।" अर्थात राज्य की प्रमुख विशेषता है, जनता की स्वभावतः आज्ञा पालन की मनोवृत्ति।

बेन्थम की राजसत्ता अद्वैतवादी थी परन्तु उसमें उसके उपयोगितावाद का भी पुट है। राजसत्ता के सम्बन्ध में भी उसने अपने उपयोगितावादी दर्शन को प्रधान स्थान दिया है। वह राजसत्ताधारी को निरपेक्ष तो अवश्य मानता था, परन्तु उपयोगिता से परे नहीं। अर्थात् उसने राजसत्ताधारी पर उपयोगिता का प्रतिबन्ध लगाया। राजसत्ताधारी

राज्य का कर्त्तव्य है कि वह "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख" के लिए नियम निर्माण करे। पोलक (F. Pollock) ने ठीक ही कहा है कि वेन्थम ने हाब्स के "दीर्घकाय" पर "अधिकतम हित" रूपी लगाम लगायी और उसे उपयोगितावादी रथ खींचने योग्य वनाया। जैसे वोदाँ का अद्वैतवाद नैसर्गिक और मौलिक नियमों से सीमित था वैसे ही वेन्थम का अद्वैतवाद उपयोगितावाद से। वास्तव में वेन्थम ने हाब्स के अद्वैतवाद का पुनरुत्थान अपने उपयोगितावाद और व्यक्तिवाद की पुष्टि के लिए किया था।

जान आस्टिन (John Austin, 1790—1859)

जान आस्टिन की राजसत्ता ही अद्वैतवाद की प्रामाणिक परिभाषा मानी जाती है। आस्टिन ने वोदाँ, हाब्स, रूसो तथा वेन्थम की अद्वैतवादी परम्परा को वैधानिक रूप दिया। वह वेन्थम का शिष्य था और उसने अपने गुरु की परम्परा को आगे बढ़ाया। उसने केवल राज्य की ही प्रामाणिक परिभाषा नहीं की, अपितु उस विश्लेषणवादी मीमांसा की भी व्याख्या की जो अद्वैतवाद से सम्बद्ध है।

आस्टिन का जीवन कुछ विचित्र और मनोरंजक-सा था। उसके जीवनी-लेखक का कथन है कि उसने जीवन के अन्तिम चालीस वर्षों में शायद कुल १०० पौंड से अधिक न कमाया। उसके छोटे भाई ने, जो एक अच्छा वकील था, और उसकी धनी पत्नी ने उसको आजीवन आर्थिक सहायता दी। जो भी कार्य उसने अपने हाथ में लिया उसमें असफल रहा। परन्तु आज समाजशास्त्री उस धनी भाई और पत्नी को आस्टिन के कारण ही जानते हैं। यही नहीं, यदि १८६१ में हेनरी मेन ने आस्टिन की मीमांसा की आलोचना न की होती, तो शायद आस्टिन को दुनिया न जानती। अभागा और परोपजीवी आस्टिन केवल उक्त आलोचना से ही मृत्युपरान्त प्रसिद्धि पा सका।

सत्रह वर्ष की अवस्था में आस्टिन सेना में लेफ्टिनेन्ट के पद पर नियुक्त हुआ। पाँच वर्ष तक वह सेना में रहा। इसी आधार पर हीयर्न शॉ का कथन है कि आस्टिन की मीमांसा में सदा ही एक हवलदार की गन्ध रही है। १८१८ में बैरिस्टरी पास कर उसने वकालत प्रारम्भ की, परन्तु असफलता के कारण उसने इस व्यवसाय को छोड़ दिया।

आस्टिन ने वेन्थम के उपयोगितावाद को अपनाया और वह उसका शिष्य बन गया। १८२६ में वेन्थम ने, जो लन्दन विश्वविद्यालय का जन्मदाता था, आस्टिन को मीमांसा का अध्यापक बनाया। अध्यापन कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व मीमांसा-अध्ययन

हेतु दो वर्ष के लिए वह सपत्नीक जर्मनी गया। १८२८ से ३२ तक उसने उक्त विश्व-विद्यालय में अध्यापन कार्य किया। उस समय इस नव-संस्थापित विश्वविद्यालय के अध्यापकों का वेतन छात्रों के अध्ययन शुल्क में से दिया जाता था। आस्टिन के मीमांसा-विषयक भाषण ऐसे थे कि चार वर्ष में घटते-घटते विद्यार्थियों की संख्या केवल ५ रह गई। बेचारे आस्टिन को अध्यापन कार्य छोड़ना पड़ा। तदुपरान्त उसका शेष जीवन अध्ययन में ही बीता। उसे दो एक कमीशनों की सदस्यता का सौभाग्य प्राप्त हुआ पर सफलता और लक्ष्मी आस्टिन से कोसों दूर भागती रही। १८३८ में आस्टिन ने अपने मीमांसा के भाषणों को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया (Province of Jurisprudence Determined)। लार्ड मेलबोर्न (Lord Melbourne) का कहना था कि इस पुस्तक से नीरस पुस्तक उसने कभी नहीं पढ़ी थी। ऐसा होते हुए भी यह पुस्तक आज मीमांसा और राजनीति-शास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

उक्त पुस्तक में आस्टिन की अद्वैतवादी राज्य और राजसत्ता की परिभाषा मिलती है—"यदि एक निश्चित जनश्रेष्ठ किसी अन्य जनश्रेष्ठ की आज्ञा स्वभावतः पालन न करता हो और उसकी आज्ञा का पालन एक समाज का बहुसंख्यक स्वभावतः करता हो, तो वह जनश्रेष्ठ उस समाज में राजसत्ताधारी है और वह समाज (उस जनश्रेष्ठ सहित) राजनीतिक और स्वतंत्र है।"

यह परिभाषा राजसत्ता और अद्वैतवाद की प्रामाणिक परिभाषा मानी जाती है। आस्टिन के बाद सभी अद्वैतवादी दार्शनिक आस्टिनवादी कहे जाते हैं। आस्टिनवाद में उन्होंने समयानुकूल संशोधन किया, परिवर्तन नहीं। ब्रिटेन के प्रमुख वेत्ता डायसी (A. V. Dicey), ब्राइस (James Bryce), हॉलैंड (T. E. Holland), जेथ्रो ब्राउन (Jethro Brown) आदि आस्टिन की परम्परा के अनुयायी हैं।

आस्टिन की उक्त परिभाषा के दो पहलू हैं—(१) राजनीति और (२) मीमांसा। राजनीति के दृष्टिकोण से प्रत्येक राज्य में एक "निश्चित जनश्रेष्ठ" होता है जो राज-सत्ताधारी है। राजसत्ता की विशेषताएँ हैं—निरपेक्षता, अदेयता, अविभाज्यता, व्यापकता और स्थायित्व। अन्य संघों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता।

मीमांसा की दृष्टि से केवल राजसत्ताधारी की आज्ञा ही कानून है। दैवी नियम, नैसर्गिक नियम, लौकिक नियम, संघों के नियम और परम्परा कानून नहीं माने जा सकते। कानून तो वही है जिसको राजसत्ताधारी निषेध न करे या स्वीकार करे। आस्टिन ने नियम की तीन निम्न विशेषताएँ बतायी हैं जो केवल "निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा में

ही पायी जा सकती हैं। (अ) प्रत्येक नियम का एक निश्चित स्रोत होना चाहिए, (ब) प्रत्येक नियम आज्ञा का सूचक होना चाहिए, (स) प्रत्येक नियम की पृष्ठभूमि में एक प्रमाण होना चाहिए। इस प्रमाण द्वारा अपराधियों को दंड दिया जाता है।

आस्टिन मूलतः एक मीमांसक था, उसने उक्त विशेषताओं के आधार पर नियमों का विभाजन निम्न प्रकार से किया :—
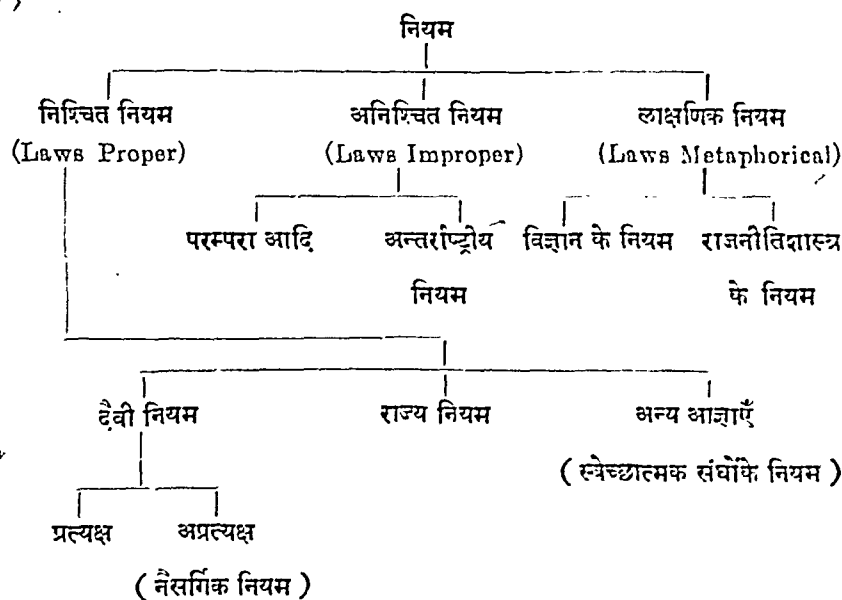
समीक्षा :— राज्य तथा राज्यशास्त्र की प्रगति में अद्वैतवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन सभ्यता में राज्य जैसी शक्तिशाली संस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान न था। पादरी धार्मिक नेतृत्व करते थे। व्यापारियों और दस्तकारों के संघों द्वारा आर्थिक जीवन का संचालन होता था। सामन्त राजनीतिक जीवन का नेतृत्व करते थे। सामन्त ही शासक थे राजा एक प्रमुख सामन्त था। पादरियों, व्यापारियों तथा सामन्तों में निरन्तर संघर्ष रहता था। राजा का भी इस संघर्ष में प्रमुख स्थान था। जनसाधारण के जीवन में सहयोग का उच्च स्थान था, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में उक्त स्पर्धा एवं संघर्ष व्यापक था।

यह परम्परा आधुनिक युग में चली आयी थी। राष्ट्रों की समृद्धि के लिए यह अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई। बढ़ते हुए पूँजीपतियों के धनोपार्जन के ध्येय में टक्कर संघर्ष (या अर्ध-अराजकता) बड़ा घातक था। एक केन्द्रीय शक्तिशाली संस्था नितान्त

आवश्यक थी। यह संस्था निरपेक्ष राजतंत्रीय संस्था के रूप में सम्मुख आयी। इस नयी संस्था को दार्शनिक पुष्टि अद्वैतवाद द्वारा मिली। इस दर्शन ने राज्य तथा केन्द्रीय सरकार को राजसत्ताधारी बताया और अन्य धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को पूर्णतः इस राजसत्ताधारी के अधीन बनाया। १६वीं तथा १७वीं सदी में ऐसी केन्द्री संस्था राष्ट्रोन्नति एवं मानव प्रगति के लिए आवश्यक बनी। अद्वैतवाद ने इस प्रगतिशील संस्था की दार्शनिक पुष्टि की। अतः आधुनिक युग के प्रारम्भ में अद्वैतवाद एक प्रगतिशील विचारधारा थी। वह मध्यकालीन अर्ध-अराजकता और स्थानवाद के अन्त करने में सहायक सिद्ध हुई और उसने आधुनिक सुसंगठित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में योग दिया।

अद्वैतवादी मीमांसा ने समय-समय पर मीमांसा की अनिश्चितता को दूर किया। हाब्स के युग में यह निश्चित न था कि कौन-सा नियम सर्वोच्च है—दैवी नियम, नैसर्गिक नियम, राज्य नियम या लौकिक नियम। हाब्स ने कहा कि केवल राजसत्ताधारी की आज्ञा ही नियम है। रूसो के मतानुसार केवल "सामान्य इच्छा" ही नियम है। आस्टिन का कहना था कि केवल "निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा ही नियम है। इस प्रकार अद्वैतवादी मीमांसा ने राज्य को एकमात्र नियम विधायिका संस्था बताया। मीमांसा की अनिश्चितता का अस्थायी रूप से अन्त हुआ। यह अद्वैतवाद की एक महान् देन थी।

हाब्स के समय गृह-युद्ध (१६४२—८) के वातावरण में राजनीति एवं मीमांसा सम्बन्धी अनिश्चितता थी (प्रथम अध्याय देखिये)। रूसो के समय पीड़ित फ्रांसीसी जनता में उदासीनता छायी हुई थी। उसकी "सामान्य इच्छा" ने इसे दूर करने का सफल प्रयत्न किया। आस्टिन का युग संक्रमण-कालीन था। औद्योगिक क्रान्ति (करीब १७५०—१८५०) के फलस्वरूप ब्रिटेन में धीरे-धीरे एक नये समाज का प्रादुर्भाव हो रहा था। नयी मनोवृत्ति, नयी सभ्यता, नयी अर्थव्यवस्था एवं नये समाज का जन्म हो रहा था। स्वभावतः एक नये नियम-संग्रह की आवश्यकता पड़ी। आस्टिन के गुरु बेन्थम की नियम-संग्रह योजना इसी वातावरण में प्रस्तुत की गयी थी। परन्तु सर्वश्रेष्ठ प्रश्न यह था कि नियम संग्रह कौन करे? बेन्थम ने अपनी नियम-संग्रह योजना की पूर्ति के हेतु राज्य से अनुरोध किया था। आस्टिन ने गुरु की परम्परा को आगे बढ़ाया। उसने स्पष्टतः कहा कि केवल राज्य ही एकमात्र नियम विधायिनी संस्था है। केवल राजाज्ञा ही नियम है, टूटती हुई पुरानी परम्पराएँ नहीं। परम्परा तभी नियम का रूप धारण

कर सकती है जब उसे राजसत्ताधारी राज्य स्वीकार करे या निषेध न करे। ऐसी मीमांसा ने नये समाज के नये नियम-संग्रह की दार्शनिक पुष्टि की। साथ ही साथ नये व्यावसायिक समाज के स्वामियों (पूँजीपतियों) की अभिलाषाओं की पूर्ति की। इन स्वामियों की इच्छा थी कि सामन्तों की परम्परा का अन्त हो और राज्य द्वारा नये सामाजिक परिवर्तन को वैधानिक स्वीकृति मिले। आस्टिनवाद का तथ्य भी यही था—परम्परा नियम नहीं है, केवल राजाज्ञा ही नियम है। अतः पूर्ववर्ती अद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति आस्टिन ने भी अपने समय की अनिश्चितता को दूर करने का प्रयत्न किया।

आस्टिन का अद्वैतवाद आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण परन्तु विवादास्पद विषय है। राजनीतिशास्त्रियों और मीमांसकों ने इसकी तीव्र आलोचना की है। सुप्रसिद्ध मीमांसक वीनोग्राडोफ (P. Vinogradoff) के मतानुसार आस्टिनवादी (विश्लेषणवादी) मीमांसा अपर्याप्त (inadequate) एवं अपूर्ण (incomplete) है। यह आलोचना आस्टिनवादी राजनीतिक दर्शन पर भी लागू की जा सकती है।
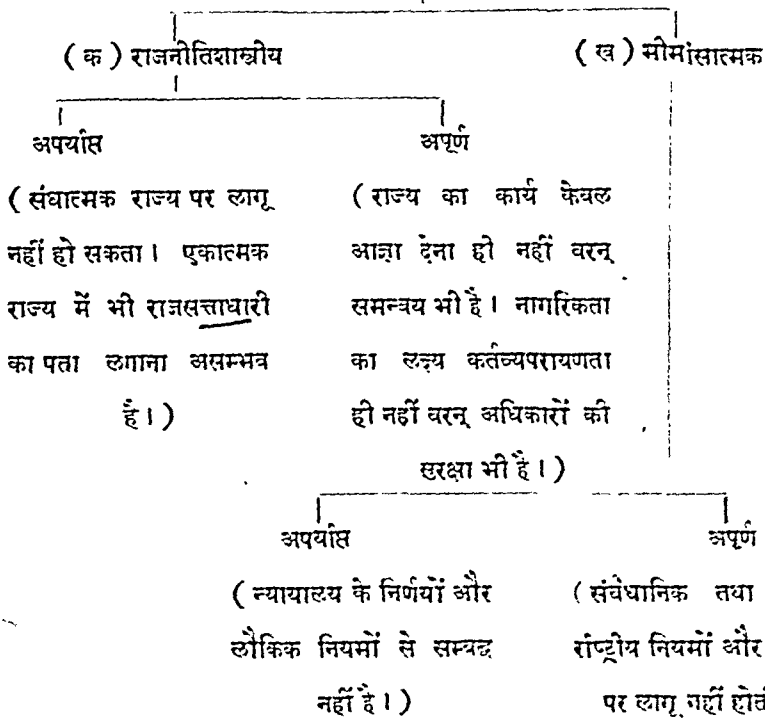
(क) राजनीतिशास्त्रीय

जैसा ऊपर कहा गया है अद्वैतवाद ने मध्यकालीन स्थानवादी संस्थाओं एवं प्रवृत्तियों को दार्शनिक दृष्टि से न्यायरहित बताया और केन्द्रस्थ राष्ट्रीय राज्यों को न्यायसंगत। १६वीं सदी में पश्चिमी यूरोप (मुख्यतः ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन) में राष्ट्रीय तथा एकात्मक राज्यों की स्थापना हुई थी। मध्य १९वीं सदी तक यह एकात्मक व्यवस्था आदर्श मानी जाती थी। अद्वैतवाद इसी एकात्मक राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध था।

उस युग (१६वीं—मध्य १९वीं सदी) में "यदभाव्यम् नीति" का बोलबाला था। राज्य के सीमित कार्य होते थे। आर्थिक एवं सामाजिक विषय राज्य के कार्य-क्षेत्र से परे थे। शासन का कार्य सरल था और नियम निर्माण का भी। एकात्मक राज्य की कोई एक संस्था (जैसे ब्रिटेन की संसद्) सत्ताधारी स्थान ग्रहण कर सकती थी। कुछ हद तक कहा जा सकता था कि वह संस्था एक "दीर्घकाय" एवं "निश्चित जनश्रेष्ठ" की भाँति है।

मध्य १९वीं सदी तक जनता का शासन में न तो सक्रिय भाग था और न वह इस इच्छा को संगठित रूप से प्रदर्शित कर सकी थी। साधारणतः जनवाद का अर्थ था अर्थ स्वामियों (पूँजीपतियों) का प्रतिनिधि प्रथा के आधार पर शासन। जनता के अन्य आधुनिक संघ राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर पाये थे। ऐसे वातावरण में राज्य का एकाधिकार सम्भव था।

परन्तु आज संघात्मक संविधानों ने महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है। आज राज्य का लक्ष्य "यद्भाव्यम् नीति" का समर्थन नहीं अपितु समाज सेवा है। फलतः राज्य के कार्य असीमित हो गये हैं और शासन-व्यवस्था जटिल बन गयी है। आज जनता सुप्त सत्ताधारी के स्थान से सन्तुष्ट नहीं है अपितु सक्रिय सत्ता की प्राप्ति चाहती है। ऐसी परिस्थिति में अद्वैतवादी दर्शन अपर्याप्त एवं अपूर्ण है।

अपर्याप्त '—अद्वैतवाद के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक "निश्चित जनश्रेष्ठ" होता है। यह "निश्चित जनश्रेष्ठ" राजसत्ताधारी है। यह दर्शन प्रधानतः एकात्मक व्यवस्था से सम्बद्ध है, संघात्मक से नहीं। वैसे तो एकात्मक शासन की दृष्टि से भी यह दर्शन अपर्याप्त है, परन्तु संघात्मक शासन व्यवस्था के तो यह पूर्णतः प्रतिकूल है।

१७८९ में अमेरिका (संयुक्त राज्य अमेरिका) में संघात्मक संविधान का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् संघात्मक संविधान भी आदर्श माना जाने लगा। यद्यपि यह संविधान एकात्मक परम्परा के प्रतिकूल था, तथापि कई राज्यों ने इसका अनुकरण किया। बेन्थम

एवं आस्टिन के समय में यह संवैधानिक प्रथा प्रचलित हो चुकी थी, परन्तु वास्तव में इसका कोई प्रामाणिक अस्तित्व न हो पाया था। आस्टिन ने इस पनपती हुई प्रथा को विशेष आदर की दृष्टि से न देखा। उसने एकात्मक संविधान से सम्बद्ध अद्वैतवादी परम्परा को ही अपनाया।

एकात्मक संविधान में केन्द्रीयकरण होता है। राज्य की सारी शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होती है। ऐसी व्यवस्था ब्रिटेन और फ्रांस में थी और है। राजकीय अधिकारों के केन्द्रीकरण के साथ-साथ एकीकरण भी होता है। केन्द्रीय सरकार की एक संस्था (मुख्यतः प्रतिनिधि संसद) में सब अधिकार निहित होते हैं। ऐसी संस्था को हाब्स का "दीर्घकाय" या आस्टिन का "निश्चित जनश्रेष्ठ" माना जा सकता है। (वस्तुतः जैसा अभी बताया जायगा एकात्मक राज्यों में भी ऐसा सम्भव नहीं) परन्तु संघात्मक राज्यों में राज्य के अधिकार संवैधानिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार और उपराज्यों में विभक्त होते हैं। अमेरिका के संघात्मक संविधान में शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को भी कार्यान्वित किया गया है। कई देशों ने इसी व्यवस्था को अपनाया है। इनके संविधानों में कोई भी ऐसी संस्था नहीं है जिसमें राज्य के समस्त अधिकार सन्निहित हों। इस प्रकार संघात्मक व्यवस्था में अद्वैतवादी राजसत्ता का सिद्धान्त लागू नहीं हो सकता। इसमें कोई "दीर्घकाय" या "निश्चित जनश्रेष्ठ" सम्भव नहीं।

यही नहीं, एकात्मक राज्यों में भी अद्वैतवादी राजसत्ता का पता लगाना मृगमरीचिका है। आस्टिन ने स्वतः तत्कालीन ब्रिटेन में अपने "निश्चित जनश्रेष्ठ" का अन्वेषण किया। परन्तु वह इस प्रयास में पूर्णतया असफल रहा। उसने एक सांस में यह बताया कि राजा, लार्डगण (Peers) और निर्वाचक राजसत्ताधारी हैं। किन्तु दूसरी सांस में यह भी कहा कि राजा, लार्डगण और छोटी धारा-सभा में राजसत्ता निहित है। इन दोनों परिस्थितियों में राजा तथा लार्डगण का सामान्य स्थान है। जब निर्वाचक छोटी धारा-सभा के सदस्यों को सप्रतिबन्ध मतदान करते हैं, तब वे स्वयं ही राजसत्ताधारी के अंग बन जाते हैं। जब वे अप्रतिबन्ध मतदान करते हैं, तब छोटी धारासभा राजसत्ताधारी का अंग बन जाती है। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि राज्य में एक "निश्चित जनश्रेष्ठ" होता है न्याय-संगत नहीं है। आस्टिन ने अपने "निश्चित जनश्रेष्ठ" की खोज अमेरिका के संघात्मक राज्य एवं जर्मनी के मंडल राज्य में भी की थी। अभाग्यवश वह इस खोज में और भी असफल रहा।

यह रही आस्टिन के युग की बात। आज यह प्रश्न और भी गम्भीर एवं जटिल हो

गया है। आस्टिन का युग "यद्भाव्यम् नीति" का युग था। व्यक्तिवादी व्यवस्था, जिसका वर्णन द्वितीय अध्याय में किया गया है, आदर्श मानी जाती थी। आज राज्य के कार्य असीमित हो गये हैं। साथ ही साथ शासन व्यवस्था भी दुर्गम होती जाती है। फलतः ब्रिटेन जैसे एकात्मक राज्य में भी वास्तविकता की दृष्टि से कार्यपालिका और उसकी ओट में नौकरशाही राजसत्ताधारी संस्था बन गयी है; संसद की सत्ता केवल वैधानिक एवं नाममात्रीय रह गयी है। अद्वैतवादी दर्शन के अपर्याप्त रूप का इससे बड़ा प्रत्यक्ष प्रमाण क्या हो सकता है कि आस्टिन ने कार्यपालिका एवं नौकरशाही को अपने सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं दिया। जनता की सत्ता का भी, जिसे आज का शासक वर्ग भी स्वीकार करता है, आस्टिनवाद में कोई स्थान नहीं।

आधुनिक जनवाद में निरन्तर प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग है। यह प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग जाति, वर्ग, विचार और संस्था द्वारा होता है। फलतः जनवादी समाज में कभी एक और कभी दूसरी मनोवृत्ति एवं संस्था प्रभुता स्थापित करती है। इस प्रभुता का प्रभाव नियम-निर्माण पर पड़ता है। कभी किसी संस्था और कभी किसी वर्ग का राष्ट्र में बोलबाला होता है। कभी संसद कार्यपालिका पर प्रभुता स्थापित करती है और कभी कार्यपालिका समस्त शासन पर हावी होती है। संघीय राज्यों में कभी संघीय न्यायालय राजसत्ताधारी का रूप धारण करता है। कभी एक राजनीतिक दल पूरे राष्ट्र पर हावी होता है। कभी किसी दल का नेता हाब्स के "दीर्घकाय" का रूप धारण कर लेता है, कभी प्रेस, आन्दोलन, श्रमिक संघ अथवा छात्र संघ आदि राज्य की नीति को प्रभावित करते हैं। यही नहीं, कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय जनमत, नैतिकता, परम्परा एवं सन्धियाँ भी राज्य के एकाधिकार को सीमित करती हैं।

ऐसे वातावरण में राजसत्ता को निरपेक्ष, अविभाज्य एवं स्थायी नहीं माना जा सकता। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न संस्थाएँ राजसत्ताधारी का स्थान ग्रहण करती हैं। राजसत्ता एक राशि नहीं मानी जा सकती। वह कई प्रकार की होती है—वैधानिक, नाममात्रीय, वास्तविक एवं जनतांत्रिक। आस्टिनवादी यह स्वीकार करते हैं। फिर भी वे राजसत्ता को निरपेक्ष, अविभाज्य और स्थायी मानते हैं। उनका कहना है कि राजसत्ता तो राज्य की "इच्छा" में निहित है। इस "इच्छा" में अद्वैतवादी राजसत्ता की विशेषताओं का समावेश है। परन्तु वास्तव में आज की परिस्थिति में आस्टिन के "निश्चित जनश्रेष्ठ" और आस्टिनवादियों की "इच्छा" की खोज करना उतना ही कठिन है जितना ईश्वर की। अन्ततोगत्वा कोई भी व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि अद्वैतवादी राजसत्ता केवल

अद्वैतवादी दार्शनिकों के मनमन्दिर में ही वास करती है, किसी संस्था में नहीं।

केवल यह घोषित करना पर्याप्त नहीं है कि राज्य एक राजसत्ताधारी संस्था है। यह बताना आवश्यक है कि राज्य के कौन-से अंग में यह सत्ता निहित है और क्या अद्वैतवादी राजसत्ता की विशेषताएँ उस अंग की सत्ता पर लागू हो सकती हैं। आस्टिनवादी इस सम्बन्ध में असफल होकर छायावादी "इच्छा" की शरण लेते हैं। अतः यह दर्शन तथा विश्लेषण अपर्याप्त है।

अपूर्ण :—आस्टिन के "निश्चित जनश्रेष्ठ" का प्रमुख ही नहीं अपितु एकमात्र कार्य आज्ञा देना है और जनता का कार्य कर्तव्यपरायणता। "निश्चित जनश्रेष्ठ" आज्ञा देता है और जनता स्वभावतः उस आज्ञा का पालन करती है। यह दृष्टिकोण सीमित तथा अपूर्ण है।

वास्तव में नागरिक के जीवन में अधिकारों और कर्तव्यों का समान स्थान है। अधिकार और कर्तव्य अन्योन्याश्रित हैं। कहा जाता है कि प्राचीन और आधुनिक दृष्टिकोणों में यह अन्तर है कि जहाँ प्राचीन युग में कर्तव्यपरायणता को प्रधानता दी जाती थी वहाँ आधुनिक काल में अधिकारों को। आज नागरिक का लक्ष्य कर्तव्यपरायणता ही नहीं अपितु अधिकारों की सुरक्षा एवं उनकी वृद्धि भी है।

अद्वैतवाद ने राष्ट्रीय राज्यों को दार्शनिक पुष्टि दी। मध्यकालीन स्थानवादी संस्थाओं का अन्त इन नये राज्यों के प्रादुर्भाव से हो गया था। अब राज्य और नागरिक के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित हुआ। अब नागरिक अपने ध्येयों तथा अधिकारों की पूर्ति के लिए सीधे राज्य से अनुरोध करने लगे। इस अनुरोध की सफलता के हेतु नागरिकों ने अन्य संस्थाएँ बनायी। यह स्वाभाविक है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य संघ बनाने वाला प्राणी है। नागरिकों की राजनीतिक चेतना के साथ-साथ इन संस्थाओं के अस्तित्व की वृद्धि हुई। फलतः आज इन संघों (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, व्यावसायिक आदि) ने राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। मध्यकालीन संस्थाओं की भाँति इनका ध्येय भी जनसेवा है। परन्तु मध्यकालीन संस्थाओं के विपरीत इन नूतन संस्थाओं का लक्ष्य जनसत्ता की वृद्धि भी है। ये संस्थाएँ अद्वैतवादी राज्य के लिए काँटों की भाँति हैं। (बहुलवाद वाला अध्याय देखिये)।

इन संघों में निरन्तर सहयोग और संघर्ष होता है। बहुलवादियों का (मुख्यतः लास्की) मत है कि राज्य भी एक ऐसा ही संघ है। वह इस सहयोग तथा संघर्ष से परे

नहीं है। सभी संघ अपने लक्ष्य की महत्ता द्वारा जनता को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। राज्य सर्वश्रेष्ठ संघ है, परन्तु उसकी श्रेष्ठता निरपेक्ष नहीं है। यह श्रेष्ठता सप्रतिबन्ध है। जनवादी युग में राज्य की श्रेष्ठता उसके लक्ष्य पर आश्रित है। अर्थात् श्रेष्ठ लक्ष्य द्वारा ही राज्य श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करता है। यह श्रेष्ठ लक्ष्य है राष्ट्रीय जीवन का समन्वय एवं जनसेवा। तभी नागरिक राज्य को आदर की दृष्टि से देखेंगे। अन्यथा निरन्तर संघ-संघर्ष में राज्य को नीचा देखना पड़ेगा। आधुनिक इतिहास इसका साक्षी है। नागरिक तभी "स्वभावतः" राजाज्ञा का पालन करेंगे जब वह उनकी सर्वांगीण प्रगति में सहायक होगा। अतः कर्तव्यपरायणता सप्रतिबन्ध है और राज्य का प्रमुख कार्य आज्ञा देना ही नहीं अपितु समाज सेवा एवं समन्वय भी है।

आधुनिक राज्य का वही स्थान है, जो ब्रिटेन या भारतवर्ष के प्रधानमंत्री या खेल के कप्तान का। प्रधानमंत्री के अधिकार अन्य मंत्रियों के समान हैं, खेल के कप्तान का स्थान अन्य खिलाड़ियों के समान है। प्रधानमंत्री या कप्तान का स्थान प्रधान इसलिए है कि वे सर्वोत्तम एवं सर्वमाननीय हैं। वे आज्ञा अवश्य देते हैं और उनकी आज्ञा का अनुकरण उनके साथी करते हैं। परन्तु उनकी सत्ता की पृष्ठिभूमि में उनका व्यक्तित्व है। यदि एक प्रधानमंत्री या कप्तान समन्वय-कार्य में असफल होता है तो उसे पद त्यागना पड़ता है। इसी प्रकार राज्य सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ संघ तभी माना जा सकता है जब वह समाज-सेवा कार्य में अन्य संघों का समन्वय कर सके। प्रधानमंत्री या कप्तान की भाँति राज्य आज्ञा अवश्य देता है। वही एकमात्र संघ है जो दमन-यंत्र का प्रयोग कर सकता है, परन्तु उसकी सत्ता की पृष्ठभूमि में समाज-सेवा एवं समन्वय-कार्य है।

आस्टिन का दर्शन व्यक्तिवादी युग की देन है। व्यक्तिवादी राज्य के कार्य सीमित थे। आस्टिन के सत्ताधारी की भाँति वह सुव्यवस्था सम्बन्धी नियम-निर्माण करता था। आज राज्य का कार्य समाज-सेवा और सामाजिक समन्वय है। इस लक्ष्य-पूर्ति के हेतु ही वह आज्ञा देता है तथा नियम बनाता है। उसका आज्ञा देने का अधिकार निरपेक्ष या अप्रतिबन्धित नहीं है जैसा आस्टिनवादी सोचते हैं। आधुनिक जनवाद में नागरिक की कर्तव्यपरायणता तभी स्वाभाविक है जब उसकी सर्वांगीण प्रगति सम्भव हो। अतः आधुनिक समाज-सेवी राज्य एवं जनवाद के वातावरण में आस्टिन अपूर्ण है।

(ख) मीमांसात्मक

मीमांसा की कई प्रथाएँ हैं—विश्लेषणवादी, इतिहासवादी, राष्ट्रवादी, विकासवादी, समाजशास्त्रवादी और दर्शनवादी। अद्वैतवाद से सम्बद्ध मीमांसा विश्लेषणवादी है। इन प्रथाओं के अनुसार नियम के स्रोत भिन्न-भिन्न हैं। इनके नाम ही इन प्रथाओं के भेदों के निर्देशक हैं। अन्य प्रथाएँ विश्लेषणवादी मीमांसा को स्वीकार नहीं करतीं।

विश्लेषणवादी मीमांसा के अनुसार नियम-निर्मात्री संस्था ही नियम का एकमात्र स्रोत है। केवल राजसत्ताधारी राज्य या "निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा ही नियम है, अन्य प्रथाएँ या रीति-रिवाज़ नियम नहीं हैं। रॉस्को पौंड (Roscoe Pound) ने ठीक कहा है कि विश्लेषणवादी मीमांसा के अनुसार नियम-निर्माण मशीन की गति की भाँति है। मशीन का बटन दबाइये, वह गतिशील हो जायेगी। राजसत्ताधारी ने आज्ञा दी और नियम बना। वास्तव में राष्ट्रीय विशेषताओं, ऐतिहासिक प्रवृत्तियों एवं सामाजिक जीवन आदि का नियम-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आधुनिक जनवादी समाज में अन्य संघों का नियम-निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में नियम के मूल स्रोत की खोज उतनी ही असम्भव है जितनी इस समस्या की पूर्ति कि "अंडा पहिले हुआ कि मुर्गी"। यह तो सत्य है कि राज्य सर्वोच्च नियम विधायनी संस्था है, परन्तु यह भी सत्य है कि वह एकमात्र संस्था नहीं है और न उसका नियम-निर्माण का अधिकार स्वेच्छात्मक है।

जैसा ऊपर कहा गया है, वीनोग्राडोफ के मतानुसार विश्लेषणवादी (अद्वैतवादी या आस्टिनवादी) मीमांसा अपर्याप्त एवं अपूर्ण है। आस्टिनवादी मीमांसा अपर्याप्त इसलिए है कि वह केवल व्यवस्थापक द्वारा निर्मित विधियों को ही नियम मानती है, न्यायालयों द्वारा निर्मित नियमों एवं लौकिक नियमों को नहीं। यह अपूर्ण इसलिए है कि संवैधानिक नियम, अन्तर्राष्ट्रीय नियम एवं नियम का प्रमाण इसके क्षेत्र से परे हैं।

अपर्याप्त :—आस्टिन ने कहा था कि नियम वही है जिसे "निश्चित जनश्रेष्ठ" निर्मित करे या निषेध न करे। उत्कृष्ट द्वारा निकृष्ट को दी गयी आज्ञा ही नियम है। केवल राजसत्ताधारी संसद् द्वारा निर्मित विधि ही नियम है। अतः नियम का एकमात्र स्रोत "निश्चित जनश्रेष्ठ" ही है, अन्य कोई संस्था एवं परम्परा नहीं।

सभी देशों में न्यायालय के निर्णयों को नियम तुल्य माना जाता है। एक न्यायालय, मुख्यतः उच्चतम न्यायालय, का निर्णय अन्य न्यायालयों के लिए पथप्रदर्शक तथा परम्परा

का स्थान ग्रहण करता है। साधारणतः देखने में आता है कि वकीलगण अन्य न्यायालयों के निर्णयों का उद्धरण देते हैं। वकील न्यायालय में कहते हैं कि अमुक न्यायालयों ने ऐसे ही मुकदमे में इस प्रकार का निर्णय दिया है, इसलिए इस न्यायालय को भी ऐसा ही निर्णय देना चाहिये। यदि न्यायाधीश इसका अनुकरण करें, प्रायः करते भी हैं, तो उनके लिए ऐसे निर्णय नियम तुल्य नहीं तो और क्या हैं? परन्तु आस्टिनवादी मीमांसा के अनुसार ये निर्णय नियम नहीं माने जा सकते, क्योंकि ये किसी "निश्चित जनश्रेष्ठ" द्वारा निर्मित नहीं हैं।

यह आश्चर्यजनक है कि आस्टिन ने अपने देश के नियमों का अध्ययन उचित रूप से नहीं किया। ब्रिटेन के संविधान में न्यायालयों के निर्णयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ कोई लिखित संविधान नहीं है। ये निर्णय ब्रिटिश संविधान के मुख्य अंग माने जाते हैं। ब्रिटिश नागरिक के मौलिक अधिकार (fundamental rights) किसी एक ग्रन्थ में संग्रहीत नहीं हैं। ये अधिकार राज्यविधियों, लौकिक नियमों एवं न्यायालय के निर्णयों पर आधृत हैं। (जूरी—*Jury*—सम्बन्धी अधिकार तथा अन्य वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा निर्णयों पर आश्रित है। इस सम्बन्ध में Floyd *v.* Barker; Beatty *v.* Gillbanks; Wise *v.* Dunning आदि मुकदमें प्रसिद्ध हैं।) अतः इन निर्णयों का राष्ट्रीय जीवन में प्रमुख स्थान है।

यही नहीं, आस्टिनवादी मीमांसा के अनुसार लौकिक नियमों को नियम नहीं माना जा सकता। ये भी किसी "दीर्घकाय" या "निश्चित जनश्रेष्ठ" द्वारा निर्मित नहीं होते। इनका स्रोत परम्परा है, कोई राजकीय संस्था नहीं। परन्तु व्यवहार में ये नियम उतने ही मान्य हैं जितनी राज्यविधियाँ। इन लौकिक नियमों का उल्लंघन एक निरपेक्ष शासक भी नहीं कर सकता। ब्रिटिश संविधान में इनका भी उच्च स्थान है। १७वीं सदी के ऐतिहासिक नरेश-संसद् संघर्ष में इन नियमों के अस्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। संसदीय नेताओं एवं न्यायाधीशों का कहना था कि राजा लौकिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। ये नियम अभी तक असंग्रहीत रूप में चले आ रहे हैं और राष्ट्रीय जीवन में उच्च स्थान रखते हैं। आस्टिन ने अपने देश की इस परम्परा की ओर से आँख मूँदी।

प्रसिद्ध इतिहासवादी मीमांसक मेन ने आस्टिनवादी मीमांसा की आलोचना करते हुए कहा कि भारतवर्ष जैसे देशों में यह मीमांसा लागू नहीं हो सकती। उसने बताया कि महाराजा रणजीतसिंह जैसा निरपेक्ष शासक भी लौकिक नियमों का अनुकरण करता था। इस सम्बन्ध में और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। दक्षिणी भारत में मामा की कन्या से विवाह की प्रथा विद्यमान है। इसका एकमात्र आधार लौकिक नियम

है। छोटानागपुर की पहाड़ियों में रहने वाली अर्ध-सभ्य जातियों का अपनी परम्परा में पूर्ण विश्वास है, वे उसे प्रधानता भी देते हैं। उनका जीवन परम्परा द्वारा संचालित होता है। मध्यकालीन समाज में राज्य के नियमों का सर्वोच्च स्थान नहीं था। भारतवर्ष में धर्म तथा रीति-रिवाज राज्यविधि से उच्च माने जाते थे। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार धर्म राजा का राजा है। इस सम्बन्ध में धार्मिक तथा अर्थ प्रथाओं के वेत्ताओं का मतैक्य था। मध्यकालीन यूरोप में धार्मिक नियम एवं नैसर्गिक नियम सर्वोपरि माने जाते थे। उन युगों में धर्म की प्रधानता के कारण ये नियम ईश्वरदत्त माने जाते थे। यह कहना अनुचित न होगा कि वस्तुतः इनका आधार डूगी (*Leon Duguit*) की "सामाजिकता" थी। "सामाजिकता" रूपी वैयक्तिक आन्तरिक नियम ही राज्य तथा अन्य नियमों की धात्री है। कोई भी राज्य "सामाजिकता" की आन्तरिक भावना का उल्लंघन नहीं कर सकता और न उस पर आश्रत दैवी, नैसर्गिक एवं लौकिक नियमों का ही।

विश्लेपणवादी मीमांसा केवल राज्य विधियों से ही सम्बद्ध है। वह न्यायालयों के निर्णयों, लौकिक नियमों, धार्मिक नियमों एवं नैसर्गिक नियमों पर लागू नहीं हो सकती। आस्टिनवाद केवल आधुनिक सुसंगठित राज्यों से ही सम्बद्ध है, प्राचीन समाज से नहीं। उस समाज के संगठन एवं संचालन में लौकिक, धार्मिक एवं नैसर्गिक नियमों की प्रधानता थी। उस युग में कोई "दीर्घकाय" या "निश्चित जनश्रेष्ठ" न था। यही नहीं, आधुनिक राज्यों में भी लौकिक नियमों एवं न्यायालयों के निर्णयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आस्टिनवाद इनका अस्तित्व स्वीकार तो करता है, परन्तु उसके अनुसार लौकिक नियम तभी नियम माने जाते हैं जब सत्ताधारी इन्हें निषेध न करे। वस्तुतः सत्ताधारी इन्हें निषेध न कर स्वीकार ही नहीं करता अपितु उसे इनका अनुकरण करना पड़ता है। अतः यह मीमांसा अपर्याप्त है।

अपूर्ण :—विश्लेपणवादी मीमांसा केवल नियम-निर्माण से ही सम्बद्ध है। राजसत्ताधारी की आज्ञा स्वतः नियम बन जाती है। इसके अनुसार नियम का आश्रय राजसत्ताधारी का अधिकार है। हीयर्न शॉ ने ठीक ही कहा था कि आस्टिन की मीमांसा में सदा ही हवलदारी की गन्ध रही है।

आश्रय के प्रश्न पर आस्टिनवाद का खोखलापन स्पष्ट है। आधुनिक जनवाद में राजसत्ताधारी की आज्ञा नियम का रूप तभी धारण करती है जब वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जनस्वीकृति एवं नैतिकता पर आश्रित हो। हाँ, शासन के हेतु शक्ति आवश्यक है। परन्तु जनवादी युग में केवल डंडे के बल नियम लागू नहीं किये जा सकते। उदाहरणार्थ

निरपेक्ष ब्रिटिश शासक भी भारतवर्ष में जन इच्छा, नैतिकता, धर्म आदि के विरुद्ध नियम न बना सके या लागू न कर सके। परन्तु आस्टिनवाद में आज्ञा तथा कर्तव्यपरायणता की प्रधानता है, जनमत की नहीं। यह दृष्टिकोण पूर्णतया त्रुटिपूर्ण है।

संवैधानिक नियमों पर आस्टिनवादी मीमांसा लागू नहीं हो सकती। ऐसे नियमों का स्रोत क्रान्ति, सक्रिय या असहयोग आन्दोलन, एवं जनमत है। वे "निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा नहीं हैं। संविधान दो प्रकार के होते हैं—नमनीय और अनमनीय; अनमनीय संविधान में संवैधानिक परिवर्तनों के लिए परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से जनता की अनुमति प्राप्त की जाती है। नमनीय संविधान में संवैधानिक तथा साधारण-नियम-निर्माण की पद्धति एक-सी होती है। ब्रिटेन के नमनीय संविधान के सम्बन्ध में डी लोम (De Lomme) के ऐतिहासिक कथन का उद्धरण दिया जाता है। उसका कहना था कि ब्रिटिश संसद सभी विषयों पर नियम-निर्माण कर सकती है; वह केवल पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष नहीं बना सकती। वस्तुतः यह संसद मनमाने नियम नहीं बनाती। यदि वह ऐसा करेगी तो, जैसा लास्की ने कहा था, उसे संसद नहीं माना जा सकता। क्योंकि संसदीय सरकार का सार है जनमत द्वारा शासन। देखने में आता है कि ब्रिटेन में भी साधारणतः संवैधानिक नियमों के निर्माण में जनता की स्वीकृति प्राप्त की जाती है। १९११ का कानून इसका साक्षी है।

अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का स्रोत भी किसी "निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा नहीं होता। उनका आधार विश्व-शान्ति की भावना, मानवता एवं सामाजिकता है। यातायात की वृद्धि से आज अन्तर्राष्ट्रीय जनमत सम्भव हो गया है। कोई भी निरपेक्ष शासक जनमत का उल्लंघन नहीं कर सकता। अर्थात् कोई भी "निश्चित जनश्रेष्ठ" अन्तर्राष्ट्रीय नियमों, सन्धियों एवं नैतिकता को पैरों तले नहीं कुचल सकता। अन्यथा विश्व-जनमत उसका एक स्वर से विरोध करेगा। फलतः ऐसे राज्य को कभी न कभी मुँह की खानी पड़ेगी। इसी हेतु कोरिया में अमेरिका की सेनाएँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं की हैसियत से और चीन की सेनाएँ स्वयंसेवकों की हैसियत से लड़ रही हैं।

अतः आज अद्वैतवाद राजनीतिशास्त्र तथा मीमांसा की दृष्टि से अपर्याप्त और अपूर्ण है। १६वीं, १७वीं और १८वीं सदियों में इस दर्शन ने राष्ट्रीय राज्यों की पुष्टि की तथा मीमांसा की अनिश्चितता को दूर किया। यह इस दर्शन की बड़ी देन थी। परन्तु आज के जनवादी युग में यह सिद्धान्त पूर्णतया असन्तोषजनक है। २०वीं सदी में बहुलवादी दर्शन का, जो अद्वैतवाद विरोधी है, प्रादुर्भाव हुआ। जहाँ अद्वैतवाद के अनुसार राज्य सर्व-

शक्तिमान् संस्था है, बहुलवाद उसे केवल सर्वमान्य स्थान प्रदान करता है। (इस सम्बन्ध में बहुलवाद वाला अध्याय देखिये)

विशेषताएँ

अद्वैतवादियों का वर्णन अपर्याप्त-सा होगा यदि अद्वैतवादी राजसत्ता की विशेषताओं का वर्णन न किया जाय। ये विशेषताएँ हैं :—

निरपेक्षता :—अद्वैतवादियों के अनुसार निरपेक्षता राज्य की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। निरपेक्षता के दो पहलू होते हैं—आन्तरिक और वाह्य।

आन्तरिक दृष्टिकोण से राज्य का विरोध कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह नहीं कर सकता। उसकी प्रादेशिक सीमा में सभी नागरिक और उनकी संस्थाएँ उसके अधीन होती हैं। उनको राज्य की आज्ञा का अनिवार्य रूप से पालन करना पड़ता है। बर्जेस (Burgess) के मतानुसार राज्य नागरिकों को उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें वाध्य कर सकता है। इस अधिकार एवं शक्ति की अनुपस्थिति में अराजक समाज होगा, राज्य नहीं। अर्थात् राज्य सर्वेसर्वा है।

वाह्य नीति की दृष्टि से राजसत्ताधारी राज्य पर कोई नियंत्रण सम्भव नहीं है। कोई अन्य राज्य उसको आज्ञा नहीं दे सकता। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, सन्धियाँ और नियम एक राजसत्ताधारी राज्य को वाध्य नहीं करते। उनका अनुकरण करना राज्य की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। अद्वैतवादियों के दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को नियम नहीं माना जा सकता। इनकी पृष्ठभूमि में राज्य की तलवार नहीं है। अद्वैतवादी दार्शनिक राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की तुलना हाब्स के प्राकृतिक मनुष्यों के सम्बन्धों से करते हैं—अर्थात् वे एक दूसरे के प्राणों के शत्रु हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि अद्वैतवादी (आस्टिन) और उग्र आदर्शवादी (हीगेल और बोसांके) एक ही मार्ग के पथिक हैं।

अद्वैतवादियों ने राजसत्ताधारी के क्षेत्र को कुछ सीमित अवश्य किया था। बोदाँ ने स्पष्टतः राजसत्ताधारी को नैसर्गिक और मौलिक नियमों के अधीन माना था। हाब्स ने कहा था कि राजसत्ताधारी कोई भी अन्याय नहीं कर सकता और न किसी नागरिक को प्राणत्याग के लिए वाध्य कर सकता है। रूसो ने "सामान्य इच्छा" के क्षेत्र को केवल सामान्य विषयों तक ही सीमित रखा था। बेन्थम का राजसत्ताधारी उपयोगितावाद का उल्लंघन नहीं कर सकता था। आस्टिन ने अपने गुरु के उपयोगितावाद का परित्याग

नहीं किया। हाब्स, रूसो और वेन्थम की भाँति आस्टिन दैवी नियमों, नैसर्गिक नियम तथा लौकिक नियमों को राजसत्ताधारी के मार्ग में बाधक नहीं मानता था। परन्तु वेन्थम की भाँति उसने उपयोगितावाद को नैसर्गिक नियमों का स्थान दिया। आस्टिन के अनुसार उपयोगिता ही दैवी नियम एवं दैवी अधिकार की सूचक है। इसलिये राजसत्ताधारी उपयोगिता के अधीन है। वह वेन्थमवादी उपयोगिता के विपरीत नियम-निर्माण नहीं कर सकता। स्वकालीन अद्वैतवादी समर्थक अपने आलोचकों का मुह बन्द करने के लि हीगेल आदि की दुहाई देते हैं। उनका कहना है कि अद्वैतवादी दार्शनिकों ने भी राजसत्ताधार को सीमित बनाया था। परन्तु वे भूल जाते हैं कि ये सीमाएँ समुद्र में अल्प बूँदों क भाँति हैं। ये सीमाएँ अद्वैतवादी निरंकुशता को वैसे ही नहीं छिपा सकतीं जैसे हिटलर क तानाशाही को उसके दल का नाम। (हिटलर के दल का नाम 'राष्ट्रीय-समाजवादी दल था। वास्तव में यह दल और समाजवाद दोनों ३ और ६ की तरह थे।) केल्सन (Kelsen ने, जो प्रसिद्ध मीमांसक है, अद्वैतवाद को नग्न रूप दिया है। उसका कहना है वि वैधानिक दृष्टि से राज्य सर्वेसर्वा है। वह कोई भी भूल नहीं कर सकता। यही इसक मूल विशेषता है और अन्य विशेषताएँ इसी पर आश्रित हैं।

व्यापकता, अदेयता एवं स्थायित्व:—अद्वैतवाद के अनुसार राजसत्ता का क्षेत्र व्यापक है। राजसत्ताधारी किसी भी विषय या संस्था सम्बन्धी नियम बना सकता है। अपनी प्रादेशिक सीमा में वह सर्वाधिकारी है, प्रभु है। कोई भी संघ, भले ही उसका क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय क्यों न हो (जैसे ईसाई धर्म), राज्य के नियमों से परे नहीं है। केवल परदेशी नागरिक कुछ विषयों में राज्य के अधीन नहीं होते हैं। राजदूतावास और उसके निवासी राज्य-विधियों के अधीन नहीं होते। अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार दिल्ली में वह प्रादेशिक घेरा, जिसमें फ्रांस का दूतावास है, फ्रांस की भूमि माना जाता है। उस भूमि पर फ्रांस के नियम लागू होते हैं, भारतवर्ष के नहीं। राज्य की व्यापकता केवल परदेशी नागरिकों और राजदूतावासों से ही सीमित है। अन्य सभी विषय उसके एकाधिकार की सीमा के अन्तर्गत हैं।

राजसत्ता अदेय मानी जाती है। लेबर (Lieber) का कहना है कि राजसत्ता को राज्य से हटाने का अर्थ है राज्य का अन्त करना। राजसत्ता के बिना राज्य उसी प्रकार है जैसे प्राणहीन पुरुष। राज्य, न कि उसका अंग, राजसत्ताधारी है। अस्थायी रूप से राज्य अपने राजसत्ताधारी अधिकार किसी संस्था को दे सकता है। इस कार्य से उसके सत्ताधारी रूप का अन्त नहीं हो जाता। वह उन अधिकारों को स्वेच्छानुसार वापस ले सकता है।

यदि एक राजसत्ताधारी राजा या संस्था पद त्याग करे तो यह नहीं कहा जा सकता कि राजसत्ता का अन्त हो गया है। ऐसे कार्य से तो राजसत्ता का केवल स्थान परिवर्तन होता है। अतः राजसत्ता को राज्य से हटने का अर्थ है राज्य की आत्महत्या।

राजसत्ता वैसे ही स्थायी है जैसे राज्य। ये एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। जब तक राज्य है, राजसत्ता रहेगी। जब तक राजसत्ता है, तब तक राज्य रहेगा। सरकार में परिवर्तन होने से राज्य या राजसत्ता का अन्त नहीं होता।

अविभाज्यता :—राजसत्ता का विभाजन नहीं हो सकता। राज्यों में शक्ति-विभाजन के कारण राज्य के कार्य विभाजित हो गये हैं, परन्तु इस विभाजन से राजसत्ता का विभाजन नहीं होता। विलोबी (W. W. Willoughby) के मतानुसार राजसत्ता शक्ति-संग्रह से बढ़कर है। उसका तथ्य शक्तियों की गणना से सीमित नहीं है। वह स्वयं एक राशि है और उस सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का प्रदर्शन करती है जो राज्य में निहित है। राजसत्ता अनिवार्य रूप से एक राशि है और अविभाज्य है। रूसो ने कहा था, "शक्ति का विभाजन हो सकता है, राज्य-इच्छा का नहीं; राज्य-इच्छा ही राजसत्ताधारी है।" यह राज्य-इच्छा, भले ही वह अन्य राज्य-अंगों द्वारा कार्यान्वित होती हो, एक राशि है।

राजसत्ता के भेद :—अद्वैतवाद के अनुसार राज्य एक राशि है। जैसा ऊपर कहा गया है, अद्वैतवाद का जन्म और प्रसार एकात्मक राज्यों के वातावरण में हुआ था। एकात्मक राज्य एक केन्द्रस्थ संस्था है। अतः अनुमान किया जा सकता था कि राजसत्ता भी एक राशि होगी। इस अनुमान का प्रदर्शन अद्वैतवाद भली-भाँति करता है। १९वीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप एक नयी सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। सामाजिक जीवन में स्पर्धा और संघर्ष ने महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया। सामाजिक और राजनीतिक जीवन जटिल हुआ। फलतः राजसत्ता एक राशि न रह सकी। उसने कई रूप धारण किये। अतः राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से राजसत्ता के अनेक प्रकार हो गये।

नाममात्रीय राजसत्ता (Titular or Nominal Sovereignty) :—कई राष्ट्रों में राष्ट्राध्यक्ष नाममात्रीय राजसत्ताधारी माना जाता है। ब्रिटेन में सम्राट का ऐसा ही स्थान है। सम्राट ही राष्ट्र का सर्वप्रमुख नागरिक है। सम्राट की स्वीकृति के बिना राज्य का कोई भी कार्य संचालित नहीं हो सकता, कोई भी नियुक्ति नहीं हो सकती। ऐसा ही स्थान फ्रांस और भारतवर्ष के राष्ट्राध्यक्षों का है। वास्तव में ये राजसत्ताधारी कोई भी कार्य बिना उत्तरदायी मंत्रिमंडल की स्वीकृति तथा सम्मति के नहीं कर सकते। वैधानिक दृष्टि से वे राजसत्ताधारी हैं, परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से केवल नाममात्रीय

सत्ताधारी। इसीलिये इंगलैंड के सम्राट को रबर की मुहर (rubber stamp) या हस्ताक्षर करने का यंत्र (signing machine) कहते हैं। इसी के आधार पर यह सुप्रसिद्ध सूत्र-वाक्य है—"सम्राट कोई भूल नहीं कर सकता" (The King can do no wrong)।

वैधानिक-राजसत्ता (Legal or *de jure* Sovereignty) :—वैधानिक दृष्टिकोण से नियम-निर्मात्री संस्था राजसत्ताधारी है। ब्रिटेन में सम्राट और संसद वैधानिक राजसत्ताधारी हैं। वे किसी प्रकार का नियम बना सकते हैं। राष्ट्र के समस्त न्यायालयों को इन नियमों को स्वीकार करना पड़ता है। राज्य की प्रादेशिक सीमा में कोई भी संस्था वैधानिक दृष्टि से इन नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती। यहाँ डी लोम का ऐतिहासिक कथन दुहराना अनुपयुक्त न होगा। उसके अनुसार ब्रिटिश संसद केवल स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती, वह अन्य सभी विषयों से सम्बन्धित नियम-निर्माण कर सकती है। एक विधेयक तभी नियम का रूप धारण करता है जब उस पर सम्राट के हस्ताक्षर हों। अतः सम्राट और संसद वैधानिक सत्ताधारी हैं।

राजनीतिक तथा वास्तविक राजसत्ता (Political or *de facto* Sovereignty):—कुछ परिस्थितियों के कारण संसदें, जो वैधानिक राजसत्ताधारी मानी जाती हैं, वास्तविक राजसत्ताधारी नहीं हैं। आधुनिक समाज-सेवक राज्य में संसद जैसी संस्था न तो नियम-निर्माण में ही अपने एकाधिकार का वास्तवीकरण कर सकती है और न कार्यपालिका और शासन पर वास्तविक नियंत्रण रख सकती है। ब्रिटेन में कार्यपालिका ही वास्तविक राजसत्ताधारी है। राजनीतिक दलों के कठोर 'सैनिक अनुशासन' ने भी कार्यपालिका के एकाधिकार की पुष्टि की है। फलतः कार्यपालिका ही वास्तविक राजसत्ताधारी है, संसद नहीं। अन्य देशों के राजनीतिक दलों की भाँति भारतीय काँग्रेस के नेताओं का संसद के कांग्रेसी दल में बोलबाला है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में शक्ति-विभाजन है। संवैधानिक दृष्टि से काँग्रेस (वहाँ की संसद) ही नियम-निर्माण करती है। परन्तु कुछ नयी परिस्थितियों के कारण राष्ट्राध्यक्ष का भी परोक्ष रूप से नियम-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसीलिए विश्व के वैधानिक राष्ट्राध्यक्षों में अमेरिका का राष्ट्रपति सबसे अधिक शक्तिशाली माना जाता है। इस प्रकार प्रायः सभी देशों में कार्यपालिका ने वास्तविक राजसत्ताधारी स्थान ग्रहण कर लिया है।

जनवादी राजसत्ता (Popular Sovereignty) :—आधुनिक युग जनवादी युग है। जागरित जनता केवल निर्वाचन द्वारा ही नहीं वरन् अन्य प्रचारयंत्रों द्वारा राज्य की नीति पर प्रभाव डालती है। भाषण, लेख, आन्दोलन आदि द्वारा जनमत बनता है

और सरकार को जनमत की जानकारी होती है। शासन को सुदृढ़ बनाने के हेतु सरकार अपनी नीति जनमत के अनुसार ढालती है। तभी शासक दल को आगामी निर्वाचन में सफलता की सम्भावना हो सकती है।

जान चिपमैन ग्रे (John Chipman Gray) का कहना है, "समाज के वास्तविक शासक ढूँढ़े नहीं जा सकते"। आधुनिक जटिल सामाजिक जीवन में अन्य मानव-संघों तथा प्रचार-यंत्रों द्वारा समाज की विचारधारा बनती है। इस विचारधारा का प्रभाव राज्य की नीति पर पड़ता है। कभी एक संघ और कभी दूसरा, कभी एक आन्दोलन और कभी दूसरा, कभी एक दृष्टिकोण का प्रचार तो कभी दूसरे का, ये सब राज्य की नीति पर प्रभाव डालते हैं।

अतः आधुनिक जनवादों में जनता या जनमत ही परोक्षरूप से सत्ताधारी है। इस दृष्टिकोण से जनता दो प्रकार की होती है—निर्वाचकगण तथा समस्त जनता। जहाँ सरकार की नियम-विधायिनी संस्था के संगठन का सम्बन्ध है निर्वाचक सत्ताधारी हैं। जहाँ तक सरकार या राज्य की नीति का प्रश्न है, जनमत, जो समस्त जनता के मत का योग है, सत्ताधारी है।

सारांश

१६वीं सदी की राजनीतिक परिस्थिति में अद्वैतवादी दर्शन का जन्म हुआ था। बोदाँ, हाब्स, रूसो, बेन्थम और आस्टिन इसके प्रमुख वेत्ता माने जाते हैं। १९वीं और २०वीं सदियों में कई मीमांसक और संविधान वेत्ता (जैसे डायसी, ब्रायस, हालैंड, जेथ्रो ब्राउन, केल्सन आदि) अद्वैतवाद के समर्थक हैं।

हाब्स अद्वैतवादी दर्शन का सम्राट था (लास्की)। आस्टिन ने इस दर्शन को वैधानिक रूप दिया। आस्टिन-कृत राज्य और राजसत्ता की परिभाषा (१८३२) अभी तक अद्वैतवाद की प्रामाणिक परिभाषा मानी जाती है। यह परिभाषा है—यदि एक "निश्चित जनश्रेष्ठ" किसी अन्य जनश्रेष्ठ की आज्ञा स्वभावतः पालन न करता हो और उसकी आज्ञा का पालन एक समाज का बहुमत स्वभावतः करता हो, तो वह "निश्चित जनश्रेष्ठ" उस समाज में राजसत्ताधारी है और वह समाज ("निश्चित जनश्रेष्ठ" सहित) राजनीतिक तथा स्वतंत्र समाज है।

अतः आस्टिन के अनुसार राज्य में राजसत्ता निहित है। राजसत्ता, अविभाज्य, स्थायी, अदेय एवं निरपेक्ष है। मीमांसा की दृष्टि से केवल राज्य-विधियाँ ही नियम हैं।

राज्यशास्त्र की दृष्टि से आस्टिन का अद्वैतवादी दर्शन अपर्याप्त है। पूर्ववर्ती अद्वैतवादियों के परम्परानुसार आस्टिनवाद भी एकात्मक राज्यों से सम्बद्ध है, संघात्मक राज्यों से नहीं। आस्टिन ने ब्रिटिश एकात्मक व्यवस्था में "निश्चित जनश्रेष्ठ" की खोज की। उसने एक सांस में राजा, लार्डगण तथा निर्वाचकों को और दूसरी में राजा लार्डगण तथा छोटी धारा सभा को राजसत्ताधारी बताया। जब एकात्मक राज्य के केन्द्रीकरण एवं एकत्रीकरण में "निश्चित जनश्रेष्ठ" का पता नहीं लग सकता, तो संघात्मक व्यवस्था के विकेन्द्रीकरण में तो यह असम्भव है। आस्टिनवाद "यद्भाव्यम् नीति" के युग का दर्शन है। आज राज्य के समाजसेवक होने के नाते शासन-व्यवस्था इतनी जटिल हो गयी है कि संसदों के स्थानों पर कार्यपालिका या नौकरशाही ही वास्तविक सत्ताधारी बन गयी हैं। आज की जनवादी व्यवस्था में, जैसा जान चिपमैन ग्रे का कहना है, "समाज के वास्तविक शासक ढूँढ़े नहीं जा सकते"। आस्टिनवादियों का कहना है कि राजसत्ता एक राशि और अविभाज्य है। वह राज्य की "इच्छा" में निहित है। वस्तुतः ऐसी "इच्छा" रूपी राजसत्ता की ढूँढ़ ईश्वर की ढूँढ़ की भाँति असम्भव है। इसीलिए बार्कर ने राजसत्ता के सिद्धान्त को शुष्क एवं फल-रहित विषय बताया है।

आस्टिनवाद अपूर्ण भी है। उसके अनुसार राज्य का एकमात्र कार्य आज्ञा देना है और नागरिकता का लक्ष्य कर्त्तव्यपरायणता। वस्तुतः आदर्श नागरिकता का सार कर्त्तव्यपरायणता के साथ-साथ अधिकारों की सुरक्षा एवं वृद्धि है। इस हेतु अन्य नागरिक संघों का प्रादुर्भाव होता है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि व्यक्ति संघ बनाने वाला प्राणी है और इस आन्तरिक प्रवृत्ति का अन्त राज्य की स्थापना से नहीं होता। राज्य एक "संघों का संघ" है (फिगिस)। निरन्तर संघ-सहयोग एवं संघ-संघर्ष में राज्य तभी सत्ताधारी माना जाता है जब वह सत्ताधारी ध्येय (सुखद जीवन) की पूर्ति करे। इसलिये सर्वोच्च संघ होने के नाते राज्य का सर्वश्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर कार्य सामाजिक जीवन का समन्वय करना है, केवल आज्ञा देना नहीं। राज्य एक प्रधानमंत्री या खिलाड़ी कप्तान की भाँति है, एक हवलदार की भाँति नहीं। लिंड्से ने ठीक ही कहा है कि राज्य सर्वोच्च इसलिए है कि वह सामाजिक जीवन का समन्वय करता है। अतः राज्य की सर्वोच्चता उसकी सर्वमान्यता पर आश्रित है। अद्वैतवाद के अनुसार उसकी सर्वमान्यता सर्वोच्चता पर आश्रित है।

आस्टिन प्रधानतः एक मीमांसक था। उसकी तथा अद्वैतवाद की मीमांसा विश्लेषणवादी है। रॉसको पौंड के मतानुसार यह मीमांसा नियम-निर्माण को मशीन की

गति की भाँति मानती है। विश्लेषणवाद के अनुसार नियम केवल वही है जिसे राजसत्ताधारी स्वीकार करे या निषेध न करे। वीनोग्राडोफ ने इस मीमांसा प्रथा को अपर्याप्त एवं अपूर्ण बताया।

आस्टिनवादी मीमांसा अपर्याप्त इसलिए है कि वह न्यायालयों के निर्णयों और लौकिक नियमों को नियम तुल्य नहीं मानती। वस्तुतः न्यायालय के निर्णय नियम-तुल्य हैं। ब्रिटिश संविधान में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये कई मौलिक अधिकारों के आधार हैं। लौकिक नियम परम्परा पर आश्रित हैं। ब्रिटिश संविधान में इनका भी मुख्य स्थान है। इतिहासवादी मीमांसक हेनरी मेन ने कहा था कि महाराजा रणजीत सिंह जैसा निरपेक्ष शासक भी लौकिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। अभी तक भारतवर्ष तथा अन्य देशों में लौकिक नियमों का सामाजिक जीवन में उच्च स्थान है। प्राचीन भारतवर्ष में धर्म और मध्यकालीन यूरोप में धार्मिक नियम या नैसर्गिक नियम को सर्वोपरि माना जाता था। इनका आधार परम्परा या ड्रगी की "सामाजिकता" है। यह "सामाजिकता" ही राज्य एवं नियम की धात्री है। अतः नियम केवल राजसत्ताधारी की ही आज्ञा नहीं, वरन् "सामाजिकता", न्यायालयों के निर्णय तथा लौकिक नियम भी हैं। आस्टिनवाद केवल आधुनिक सुसंगठित राज्यों से ही सम्बद्ध है। उसके द्वारा अति प्राचीन समाज की व्याख्या सम्भव नहीं।

यह मीमांसा अपूर्ण इसलिए है कि वह नियम के आश्रय पर ध्यान नहीं देती। हियर्नशा ने ठीक ही कहा था कि आस्टिन की मीमांसा में हवलदारी की बू है। आस्टिनवाद के अनुसार नियम का आश्रय "निश्चित जनश्रेष्ठ" की शक्ति है, जनमत नहीं। वास्तव में कोई भी सत्ताधारी डंडे के बल पर शासन नहीं कर सकता। जन-स्वीकृति ही शासन का आश्रय है। यह मीमांसा संवैधानिक नियमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय नियमों पर लागू नहीं हो सकती। संवैधानिक परिवर्तनों के लिए जनस्वीकृति आवश्यक है। यह ब्रिटेन जैसे नमनीय संविधानों में भी परोक्ष रूप से आवश्यक मानी जाती है। (उदाहरणार्थ, १९११ का कानून)। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का आधार नैतिकता, विश्व-बन्धुत्व एवं शान्ति की भावना है। ये भी आस्टिनवादी अनुशासन पर आश्रित नहीं हैं। अतः विश्लेषणवाद नियम के आश्रय का केवल एक ही पहलू को (शक्ति) स्वीकार करता है, जनइच्छा को नहीं।

अद्वैतवाद की सर्वश्रेष्ठ विशेषता निरपेक्षता है। अपने पूर्ववर्ती वेत्ताओं की भाँति आस्टिन भी राज्य को आन्तरिक और बाह्यनीति में निरपेक्ष मानता है। केल्सन का, जो इस परम्परा का अनुयायी है, कहना है कि राज्य का कोई कार्य अवैध नहीं कहा

जा सकता। बहुलवादियों ने इस निरपेक्षता का पूर्णतः खंडन किया है। वस्तुतः आधुनिक जनवादी संघीय समाज में अद्वैतवाद असन्तोषजनक है। हाँ, आस्टिनवादियों ने निरपेक्षता को सीमित किया था। परन्तु ये सीमाएँ अगाध समुद्र में बूँदों की भाँति हैं।

अतः अद्वैतवादी दर्शन त्रुटिपूर्ण है। यह होते हुए भी उसका राज्यशास्त्र एवं मीमांसा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी सबसे बड़ी देन यह है कि समय-समय पर राज्य-विरोधी मनोवृत्तियों का इसके द्वारा खंडन किया गया। मध्यकालीन स्थानवादी मनोवृत्ति एवं सामन्तशाही परम्परा का अद्वैतवादी दर्शन द्वारा अन्त हुआ। राज्य ही वैधानिक दृष्टि से राजसत्ताधारी संस्था है। यह अद्वैतवाद की महान् देन है; इसको बहुलवादी भी स्वीकार करते हैं।

चतुर्थ अध्याय

आदर्शवाद

(IDEALISM)

राजनीतिक दर्शन का यह प्राचीनतम सिद्धान्त है। इसको निरंकुशतावाद (absolutism) भी कहते हैं। यह राज्य को एक आदर्श संस्था मानता है। कर्त्तव्य-परायणता इसकी आधारशिला है। इसी मूल स्तम्भ पर इस सिद्धान्त का सर्वांगीण विकास हुआ। यह राज्य और व्यक्ति दोनों को कर्त्तव्य के बन्धन में बांध कर आगे बढ़ाता है। इसका विस्तार करते हुए जहाँ यह दर्शन राजभक्ति को नागरिक जीवन का अन्तिम लक्ष्य बताता है वहीं मनुष्य के जीवन-यापन की सुव्यवस्था करना भी राज्य का प्रथम कर्त्तव्य बतलाता है। इस प्रकार दोनों को अन्योन्याश्रित कर एक को दूसरे का पोषक तथा सम्बल बनाता है। पश्चिम में इस सिद्धान्त का उदय ईसा के पूर्व ग्रीक काल में हुआ था। ग्रीस में छोटे-छोटे नगर-राज्य हुआ करते थे। ये नगर-राज्य अपने में पूर्ण थे। स्वामी और दासों के ही मुख्य दो वर्ग थे। ग्रीक-सभ्यता दासों के स्वामियों की सभ्यता थी। दासों के स्वामी राज्य करते थे। केवल इन्हीं स्वामियों को स्वतंत्रता और नागरिकता प्राप्त थी। बहुसंख्यक दासों को कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे। अफलातून और अरस्तू आदि प्रसिद्ध दर्शनाचार्यों का उदय इसी सभ्यता में हुआ। इनकी आदर्श योजनाएँ इन्हीं स्वामियों के हेतु थीं। नगर-राज्य का प्रत्यक्ष जनवाद इन्हीं स्वामियों तक सीमित था।

नागरिकों (दासों के स्वामियों) की शिक्षा, पोषण आदि का प्रबन्ध आदर्श नगर-राज्य ही करता था। कहीं-कहीं प्रत्यक्ष जनवाद भी था। नागरिक ऐसे नगर-राज्य को

एक आदर्श संस्था मानता था। सारे समाज का संचालन नगर राज्य द्वारा ही होता था। ऐसे वातावरण में आदर्शवादी सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ।

ग्रीक दर्शन मनुष्य को प्रकृति से ही सामाजिक प्राणी मानता था। अरस्तू ने इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक वाक्य का प्रतिपादन किया जो समाजशास्त्र का मूल स्तम्भ माना जाता है। उसका कथन था कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है"। वह कभी भी समाज के बाहर नहीं रह सकता। इसलिए समाज एक प्राकृतिक संस्था है। मनुष्य और समाज का सम्बन्ध शरीर और इसके अंगों जैसा है। जैसे बिना शरीर के एक अंग जीवित नहीं रह सकता वैसें ही मनुष्य का जीवन बिना समाज के सम्भव नहीं है।

राज्य के सम्बन्ध में ग्रीक दर्शन का मत है कि मनुष्य आन्तरिक मनोवृत्ति से ही राजनीतिक संस्था का सदस्य है। आदर्श राज्य द्वारा ही नागरिक की नैतिकता का निर्माण होता है, इसलिए राज्य का कर्त्तव्य है कि मनुष्य के जीवन-यापन की सुव्यवस्था का प्रबन्ध करे। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब राज्य नागरिक के आर्थिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करे। आदर्श ग्रीक राज्य द्वारा नागरिक के जीवन के सभी पहलुओं पर राज्य का नियंत्रण होता था।

ग्रीक राज्य और समाज में प्रत्येक वर्ग-उपवर्ग के कार्य अलग-अलग थे। व्यक्ति को स्व-वर्ग के अनुसार ही जीवन-निर्वाह करना पड़ता था। अफलातून के मतानुसार अपने वर्ग या स्थान के अनुसार कार्य करने से ही मनुष्य अपने समाज या राज्य की सच्ची सेवा कर सकता था। स्वधर्म की पूर्ति ही समाज सेवा का निर्देशक मानी जाती थी। यही व्यक्ति का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ दायित्व था; यही सच्चरित्रता की परिभाषा थी।

ग्रीक नगर-राज्य एक स्वतंत्र राशि माना जाता था। घरेलू विषयों में वह सर्व-सम्पन्न और निरपेक्ष था। उस पर कोई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबन्ध भी न था। वह छोटा जनवादी राज्य नागरिकों की नैतिकता का प्रतिनिधि माना जाता था। यही नहीं, वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से परे था।

नैतिक जीवन और नागरिक स्वतंत्रता केवल राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। यह विचारधारा ही ग्रीक दर्शन की महान् देन है। कई सदियों तक यूरोप इस देन को भूल-सा गया था। अट्ठारहवीं सदी में रूसो ने इस ग्रीक देन का पुनरुत्थान किया। यह रूसो की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण कृति है। इस पुनरुत्थान का राजनीतिशास्त्र में उतना ही महत्त्व है जितना ग्रीक देन का। क्योंकि रूसो के बाद इस सिद्धान्त का प्रभाव आदर्शवाद पर ही नहीं वरन् अन्य आधुनिक दर्शनों पर भी पड़ा।

रूसो

सामान्य इच्छा :—जैसे पहले अध्याय में कहा गया है, रूसो के मतानुसार सभ्यता के जन्म से मनुष्य की नैसर्गिक स्वतंत्रता का अन्त हो गया था। रूसो ने तत्कालीन मानव को सामाजिक और राजनीतिक प्रतिबन्धों में जकड़ा हुआ पाया। उसका ऐतिहासिक कथन था कि मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ परन्तु आज सर्वत्र परतंत्रता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है। रूसो का ध्येय मनुष्य को ऐसी परतंत्रता से मुक्त करना था। उसने कहा कि अति प्राचीन नैसर्गिक स्वतंत्रता का पुनर्जन्म तो नहीं हो सकता, किन्तु एक नयी, उच्च, नैतिक, नागरिक और वास्तविक स्वतंत्रता की स्थापना हो सकती है। ऐसी भावना से प्रेरित हो कर उसने एक आदर्श-राज्य की योजना बनायी।

रूसो का आदर्श-राज्य प्रत्यक्ष जनवादी राज्य था। प्रत्येक नागरिक व्यवस्थापिका का सदस्य होगा। स्वभावतः राज्य-नियम जनस्वीकृति द्वारा बनेंगे। वे जनता की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करेंगे। प्रत्यक्ष जनवादी-राज्य की इच्छा "सामान्य इच्छा" (general will) है, क्योंकि वह नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। यह "सामान्य इच्छा" ही राजसत्ताधारी है ; यह नियम है

सामान्य इच्छा एवं सबकी इच्छा :—रूसो ने स्पष्टतः "सामान्य इच्छा" को "सबकी इच्छा" (the will of all) से भिन्न बताया था। "सबकी इच्छा" में एकता की भावना नहीं होती। वह सुधार द्वारा ही "सामान्य इच्छा" का रूप धारण कर सकती है। "सामान्य इच्छा" में सावयव की-सी एकता होती है, सबकी इच्छा में इसका अभाव है। (सावयव की एकता का अर्थ है कि व्यक्ति-हित और समाज-हित अन्योन्याश्रित हैं।) व्यक्ति की शान्ति की इच्छा सावयव की एकता का प्रदर्शन करती है। क्योंकि शान्ति से व्यक्ति और समाज दोनों को लाभ होता है। स्वार्थी मनुष्यों की युद्ध की इच्छा ऐसी एकता का प्रतीक नहीं है। युद्ध से तो कुछ स्वार्थियों को ही लाभ होता है।

रूसो ने "सामान्य इच्छा" की व्याख्या करते हुए बताया कि केवल वही इच्छा "सामान्य इच्छा" है जो क्षेत्र, ध्येय और उद्गम की दृष्टि से सामान्य हो। अर्थात् केवल वही राज्य-नियम "सामान्य इच्छा" का प्रतीक कहा जा सकता है जिसमें इन तीनों विशेषताओं का समावेश हो। क्षेत्र की सामान्यता की परख यह है कि नियम जनता के लिए हितकर हो। ध्येय की सामान्यता का अर्थ है कि वह नियम किसी व्यक्ति-विशेष या समुदाय से सम्बन्धित न होकर पूरे राज्य से सम्बन्धित हो। उदाहरणार्थ नागपुर म्युनिसिपैलिटी

सम्बन्धी नियम सामान्य नहीं कहा जा सकता जब कि वयस्क मताधिकार सम्बन्धी नियम सामान्य है। उद्गम की सामान्यता तभी सम्भव हो सकती है जब नियम नागरिकों की निःस्वार्थ सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करे तथा उनके मतदान से निर्धारित हो।

एक व्यक्ति की दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं—स्वार्थी इच्छा (actual will) और सामाजिक इच्छा (real will)। "सामान्य इच्छा" नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। सबकी इच्छा नागरिकों की स्वार्थी इच्छों की प्रतिनिधि है। दार्शनिक भेद के वर्णन के पूर्व स्पष्टीकरण के लिए दो दृष्टान्त आवश्यक होंगे। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बहुसंख्यक नागरिकों की इच्छा इन दोनों देशों में पारस्परिक युद्ध के पक्ष में है। यह इच्छा सबकी इच्छा कही जा सकती है क्योंकि यह धार्मिक वैमनस्य की भावना के कारण है। शान्ति स्थापना ही "सामान्य इच्छा" है, क्योंकि मानव-प्रगति के लिए शान्ति नितान्त आवश्यक है। एक कक्षा के विद्यार्थियों की "सामान्य इच्छा" है—अध्ययन करना, "सबकी इच्छा" है—छुट्टी की माँग।

रूसो के अनुसार "सबकी इच्छा" व्यक्तियों की इच्छा का योग है। "सामान्य इच्छा" राज्य जैसी नैतिक संस्था की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। "सबकी इच्छा" केवल संख्या की निर्देशक है, जब कि "सामान्य इच्छा" अर्थैक्य की। "सबकी इच्छा" प्रत्येक नागरिक की स्वार्थी इच्छा का योग है, "सामान्य इच्छा" तो नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रतिविम्ब है। "सबकी इच्छा" अस्थायी हित और स्वार्थी ध्येयों से सम्बद्ध होती है; "सामान्य इच्छा" में स्थायी हित और सार्वजनिक भलाई निहित है।

रूसो ने राज्य की तुलना सावयव से की थी और राज्य के अंगों की सावयव के अंगों से। एक सावयव की इच्छा होती है जिसका ध्येय सावयव की सुरक्षा एवं कल्याण है। इसी भाँति राज्य की भी इच्छा होती है जिसका ध्येय राज्य की सुरक्षा एवं कल्याण है। रूसो के मतानुकूल राज्य एक नैतिक संस्था (moral person) है और राज्य की इच्छा "सामान्य इच्छा"। सावयव की इच्छा की भाँति राज्य की "सामान्य इच्छा" स्थायी है और सदा सत्य तथा सामान्य हित का प्रदर्शन करती है। ऐसी इच्छा की अनुपस्थिति में न राज्य सम्भव है और न नागरिकता ही।

जोन्स (W. T. Jones) ने इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दिये हैं। हाकी के खेल में दोनों पक्षों के खिलाड़ियों का ध्येय भिन्न होता है; वे खेल में विजय चाहते हैं। परन्तु सब में यह भावना व्याप्त होती है कि खेल के साधारण एवं नैतिक नियमों का पालन करें। राज्य की "सामान्य इच्छा" इसी भावना की भाँति है। नागरिकों में मतभेद तो

अवश्य होता है परन्तु साथ ही साथ एक सामान्य हित एवं सामाजिक हित की भावना भी होती है। यह भावना ही "सामान्य इच्छा" तथा सुव्यवस्था की धात्री है। ऐसी भावना को ग्रीन "सामान्य स्वार्थ" (Common Ego) कहता है।

रूसो के मतानुकूल इस "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन से ही व्यक्ति की नैतिक, नागरिक तथा वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव है। क्योंकि यह इच्छा जनता की सामाजिक इच्छा का प्रतिबिम्ब है। जो मनुष्य इस "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन नहीं करता वह वास्तव में स्वतंत्र नहीं है। ऐसा मनुष्य राज्य की "सामान्य इच्छा" में निहित अपनी सामाजिक इच्छा के अनुसार जीवन संचालित नहीं करता। उसका यह राज्य-विरोधी कार्य उसकी स्वार्थी इच्छा का प्रतीक है। इसलिए मनुष्य को राज्य की इच्छा (सामान्य इच्छा) के अनुसार जीवन-यापन के लिए बाध्य किया जायेगा, अर्थात् स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा (Men will be forced to be free)। क्योंकि सच्ची स्वतंत्रता तो "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन में ही है। एक नटखट विद्यार्थी को कक्षा में चुप रहने के लिए बाध्य करने की क्रिया का अर्थ है उसे स्वतंत्र होने के लिए बाध्य करना।

समीक्षा :—रूसो ने कहा कि आदर्श राज्य के नियम "सामान्य इच्छा" के अनुसार होने चाहिये। उसने एक ऐसे राज्य की योजना प्रस्तुत की जिसमें नागरिक की नैतिक स्वतंत्रता सम्भव हो सके। उसका आदर्श था "स्वतंत्र राज्य में स्वतंत्र नागरिक"। ऐसे राज्य में स्वतंत्रता और नियम एक दूसरे के विरोधी नहीं होंगे। प्रत्यक्ष जनवादी राज्य के नियमों द्वारा ही वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। मनुष्य और राज्य एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं। मनुष्य के वास्तविक अधिकार केवल राज्य में ही सम्भव हो सकते हैं। यह विचारधारा तत्कालीन व्यक्तिवाद के, जिसका जन्मदाता जॉन लॉक था, विपरीत थी। लॉक ने कहा था कि राज्य के पूर्व से ही (प्राकृतिक स्थिति में) व्यक्ति नैसर्गिक नियमों के अनुसार नैतिक जीवन व्यतीत करता था। अर्थात् राज्य के पूर्व मनुष्य का जीवन स्वतंत्र और नैतिकतापूर्ण था। यही अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी के व्यक्तिवादियों की भी धारणा थी। उनका कहना था कि राज्य के हस्तक्षेप की अनुपस्थिति में मनुष्य स्वतंत्र और नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। रूसो ने इस विचारधारा का पूर्णतः खंडन किया। उसने स्पष्ट कहा कि वास्तविक स्वतंत्रता, नैतिकता और अधिकार केवल राज्य में और उसकी "सामान्य इच्छा" द्वारा ही सम्भव हैं।

यही नहीं, रूसो ने जनता और जनमत को अपने दर्शन में सर्वोच्च स्थान दिया।

उसके आदर्श राज्य में नागरिक और "सामान्य इच्छा" ही राजसत्ताधारी थी। प्रत्यक्ष जनवादी राज्य ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम व्यवस्था थी। सरकार या कार्यपालिका केवल एक प्रतिनिधि की भाँति थी। यह प्रतिनिधि संस्था पूर्णतः जनता और उसकी "सामान्य इच्छा" की दासतुल्य थी। ऐसी व्यवस्था में नौकरशाही का कोई भी स्थान नहीं था। उस काल में साधारणतः सरकार को स्वामी और जनता को दासतुल्य माना जाता था। रूसो के दर्शन ने जनता को स्वामी और सरकार को दासतुल्य बनाया। पीड़ित जनता के लिए रूसो की यह धारणा स्वर्ग-वाणी तुल्य बनी। स्वयं रूसो के हृदय में दमन के प्रति स्थायी घृणा थी। उसका दृढ़ विश्वास था कि स्वशासन ही मानवजाति को अन्य अत्याचारों से मुक्त कर सकता है। इससे बड़ी देन मानव प्रगति के लिए क्या हो सकती है? इससे अधिक क्रान्तिकारी विचारधारा फ्रांस की पीड़ित जनता के लिए क्या हो सकती थी?

यह तो स्पष्ट है कि रूसो की "सामान्य इच्छा" का सिद्धान्त एक जनवादी सिद्धान्त है। रूसो का कहना था कि वास्तविक स्वतंत्रता केवल प्रत्यक्ष जनतंत्र में ही सम्भव हो सकती है। इसी विचारधारा से प्रभावित हो कर आधुनिक जनवादी राज्यों में जनमत-संग्रह (referendum), उपक्रम (initiative) और पुनरावर्तन (recall) जैसी प्रत्यक्ष जनतंत्रीय प्रथाओं का प्रचलन हुआ। मैकगवर्न (W. M. McGovern) का मत है कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में सरकारी कर्मचारियों की अल्पावधि की प्रथा रूसो की "सामान्य इच्छा" के दर्शन का प्रतिफल है।

रूसो एक अद्वैतवादी दार्शनिक था। उसके दर्शन में राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी संस्था या समुदाय का स्थान न था। वह नागरिक और राज्य में सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। उसके आदर्श जनवादी राज्य में न तो समाचारपत्रों, न अन्य प्रकार के यंत्रों और न किसी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक या सांस्कृतिक संघ का स्थान था। यह उसकी अद्वैतवादी विचारधारा की चरम सीमा है। रूसो का अटूट विश्वास था कि व्यक्ति प्रकृति से पवित्र है। संघ-विहीन समाज में व्यक्ति स्वयं ही अपनी सामाजिक इच्छा या राज्य की "सामान्य इच्छा" के अनुसार सोचेगा और जीवन-यापन करेगा। संघों और प्रचार यंत्रों से तो नैसर्गिक पवित्रता का ह्रास और अन्त होता है। रूसो की यह धारणा त्रुटिपूर्ण थी। अनुभव इस बात का साक्षी है कि संघों और प्रचार यंत्रों द्वारा ही जनमत (या "सामान्य इच्छा") बनता है और इन्हीं के द्वारा उसकी जानकारी सम्भव है। बोसांके ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि रूसो ने वास्तव में "सामान्य इच्छा"

के स्थान पर "सब की इच्छा" को सत्ताधारी बनाया। समाचारपत्रों आदि की अनुपस्थिति में "सामान्य इच्छा" नहीं वरन् "सब की इच्छा" सम्भव होती है।

रूसो के अद्वैतवाद तथा अधिनायकवाद की चरम सीमा का ज्ञान इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसके अनुसार राज्य द्वारा एक नागरिक-धर्म का निर्माण एवं संचालन होना चाहिये। अर्थात् ऐसी व्यवस्था में नागरिक को व्यक्तित्व प्रदर्शन का कोई अवकाश नहीं है। उसका व्यक्तित्व राज्य की "सामान्य इच्छा" में निहित है। वह स्वयं कोई भी कार्य नहीं कर सकता और न विचार ही प्रकट कर सकता है। व्यक्ति तो राज्य का दास बन जाता है। रूसो की आदर्श योजना में राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन। व्हान ने ठीक ही कहा है कि रूसो केवल व्यक्ति का ही नहीं वरन् व्यक्तित्व का भी शत्रु था।

रूसो अपनी कल्पना में इतना विभोर था कि वह तत्कालीन युग को भूल गया। उस युग में बड़े-बड़े राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो चुकी थी या हो रही थी। ऐसे विशाल राज्यों के साथ-साथ समाज भी जटिलता की ओर अग्रसर था। ऐसे राज्यों और समाज में रूसो की "सामान्य इच्छा" कठिन ही नहीं असम्भव भी है। सत्य तो यह है कि रूसो अपने जन्मस्थान को मस्तिष्क से कभी न हटा सका। उसकी जन्मभूमि (जेनेवा) में कुछ हद तक प्रत्यक्ष जनवाद था। रूसो की जनवादी कल्पना उसी नगर-राज्य पर आश्रित थी। वह कल्पना आधुनिक राज्यों पर लागू नहीं हो सकती।

रूसो का कहना था कि नियम से नागरिकता की भावना उत्पन्न होती है। उसने यह भी कहा कि नागरिक-भावना से नियम का जन्म होता है। यह विचारधारा बेमेल है। उसके अनुसार आदर्श राज्य में नागरिक-भावना द्वारा नियम बनेंगे। राज्य में एक व्यवस्थापक होगा जिसका कार्य नागरिक भावना का जन्म और प्रसार करना है। यह एक विचित्र स्थिति है। व्यवस्थापक को नागरिक-भावना उत्पन्न करनी होगी और साथ ही साथ उसे उस भावना के अनुसार नियम-निर्माण करना चाहिये। यह कार्य स्पष्टतः ईश्वर-प्राप्ति से भी अधिक जटिल है। व्यवस्थापक नागरिक-भावना का जन्मदाता और दास है। वह जादूगर है।

रूसो का दर्शन पूर्णतः जनवादी था, परन्तु साथ ही साथ पूर्णतः अधिनायकवादी भी। उसने नागरिक को पूर्णतः राज्य या "सामान्य इच्छा" के अधीन बनाया। रूसो का जनवादी अधिनायकवाद तो कुछ हद तक न्याय-संगत माना जा सकता है। परन्तु पूँजीवादी, सामन्तवादी या सैन्यवादी अधिनायकवाद मानवता का शत्रु है। एक अनोखी

विधि से रूसो के दर्शन ने मानवता-रहित रूप धारण किया। यह नया रूप आदर्शवादियों और मुख्यतः बोसांके के दर्शन में मिलता है। बोसांके ने रूसो के जनवादी दर्शन को आधुनिक प्रतिक्रियावादी अधिनायकवाद की सेवा में प्रस्तुत किया। रूसो ने कहा था कि आदर्श जनवादी राज्य में "सामान्य इच्छा" ही सत्ताधारी होगी। क्योंकि उस राज्य की इच्छा रूप, ध्येय और स्रोत की दृष्टि से सामान्य है। आदर्शवादी बोसांके कहता है कि राज्य, चाहे उसका रूप कैसा भी हो, "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए राज्य की इच्छा रूप, ध्येय और स्रोत की दृष्टि से सामान्य है। वैसे तो केवल शब्दों का ही फेर मालूम होता है, केवल 'क्योंकि' और 'इसलिए' का अन्तर है। परन्तु इस फेर से एक महान् दार्शनिक कायाकल्प हो जाता है।

रूसो ने कहा कि जनवादी राज्य की "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-यापन के लिए नागरिक को बाध्य किया जायेगा, अर्थात् स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जायेगा। आदर्शवादी बोसांके कहता है कि प्रत्येक राज्य की इच्छा, चाहे वह तानाशाह की इच्छा ही क्यों न हो, "सामान्य इच्छा" है। उसके अनुसार जीवन-यापन के लिए नागरिक को बाध्य किया जाना चाहिये, अर्थात् स्वतंत्र होने के लिए बाध्य किया जाना चाहिये। रूसो ने तो केवल जनवादी राज्य की इच्छा को ही "सामान्य इच्छा" बताया था। आदर्शवादी बोसांके के अनुसार हिटलर जैसे तानाशाह की इच्छा भी "सामान्य इच्छा" मानी जा सकती है। (एक साधारण उदाहरण से यह भेद स्पष्ट हो जायगा। रूसो ने कहा था कि यह केला है क्योंकि यह लम्बा, छिलकेदार और मीठा है। इस केले को खाने से स्वास्थ्य-वृद्धि होगी। आदर्शवादी एक मिट्टी के खिलौने को वास्तविक केला कहते हैं और नागरिक से अनुरोध करते हैं कि उसे खा कर स्वास्थ्य-वृद्धि करें। रूसो के आधार पर एक फल विशेष को केला मान कर उसे जनता के स्वास्थ्य के लिए हितकर बताता है। परन्तु अन्य आदर्शवादी, जैसे बोसांके आदि, केला की आकृति वाले किसी भी वस्तु को केला मान लेते हैं और उसे जनता के स्वास्थ्य के लिए हितकर बताने लगते हैं। रूसो के केले से अवश्य ही स्वास्थ्य वृद्धि होगी, आदर्शवादियों के केले से कदाचित् दाँत भी टूट जायें।) रूसो की "सामान्य इच्छा" जनवादी और स्वतंत्रता-वर्द्धक थी। आदर्शवादियों की "सामान्य इच्छा" दासता की पुष्टि करती है।

अतः रूसो की "सामान्य इच्छा" का राजनीतिशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त द्वारा, चाहे उसमें कितनी भी त्रुटियाँ क्यों न हों, रूसो ने सदियों की गुलामी से मानव के मुक्त होने का मार्ग प्रदर्शित किया। जैसा व्हान का कहना है, रूसो ने एक

ऐसे आदर्श नागरिक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया जिससे यूरोप का राजनीतिक चित्र बदल गया। रूसो के प्रत्यक्ष जनवादी दर्शन से प्रोत्साहित हो कर फ्रांस की गरीब जनता ने क्रान्ति (१७८९) द्वारा सामन्तशाही दासता से मुक्ति प्राप्त की। जनसाधारण के मस्तिष्क में रूसो के विचारों ने स्थायी स्थान ग्रहण किया—मनुष्य प्रकृति से ही स्वतंत्र, पवित्र और नेक है; आधुनिक समाज ने उसे गुलाम बना दिया है, नैतिक और वास्तविक स्वतंत्रता एक आदर्श जनवादी राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। यही नहीं, रूसो ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने सदियों से भूले हुए ग्रीक दार्शनिकों की महान् देन (राज्य द्वारा ही नैतिकता और स्वतंत्रता सम्भव है) को पुनर्जन्म दिया।

आधुनिक आदर्शवाद

उक्त ग्रीक देन और रूसो की "सामान्य इच्छा" से प्रेरित हो कर जर्मनी में आधुनिक आदर्शवाद का जन्म हुआ। यह दर्शन उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में पनपा। अट्ठारहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक व्यक्तिवादी दर्शन यूरोप में व्यापक था। वह दर्शन फ्रांस और ब्रिटेन में पनपा था। उसको उदारवादी दर्शन (Liberalism) भी कहा जाता है। आदर्शवादी दर्शन ने इस परम्परा का विरोध किया।

फ्रांस की ऐतिहासिक क्रान्ति का नारा था—"स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व"। यह नारा समस्त यूरोप में गूँजा और शोपितों ने उसे अपनाया। उस राज्य-क्रान्ति की स्वतंत्रता का रूप नकारात्मक था। परन्तु मध्य यूरोप के देशों, मुख्यतः जर्मनी और प्रशा, के प्रगतिशील मध्यवर्ग के सम्मुख एक दूसरी जटिल समस्या थी। उन देशों में राष्ट्रीयता की भावना सदियों से व्याप्त थी। परन्तु कुछ परिस्थितियों के कारण उन देशों में ब्रिटेन, स्पेन और फ्रांस की भांति अभी दृढ़ राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना न हो सकी थी। साथ ही साथ सामन्तों का भी अभी तक बोलबाला था। यह कहना अनुचित न होगा कि यह परिस्थिति ही बहुत हद तक नेपोलियन की क्रान्तिकारी सेनाओं की सफलता का कारण थी। स्वभावतः इन मध्य यूरोपीय देशों के शासकों को केन्द्रीय राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना नितान्त आवश्यक प्रतीत हुई।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप और कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय शोपित-वर्ग में वर्ग-चेतना दृढ़ हो गयी थी। शोपित-वर्ग स्वतंत्रता प्रेमी बन गया था। ऐसे वातावरण में शोपितों से अधिनायकवादी राज्य के

प्रति भक्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। इसलिए ऐसे दर्शन की आवश्यकता थी जो जनता को बताये कि अधिनायकवादी केन्द्रस्थ राष्ट्रीय राज्य के आज्ञापालन से ही वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति हो सकती है। यह दार्शनिक समस्या आदर्शवाद द्वारा हल हुई।

उदारवाद के अनुसार राज्य एक आवश्यक विकार है। आदर्शवाद के अनुसार राज्य एक आदर्श संस्था है। उदारवाद के अनुसार राज्य साधन है, आदर्शवाद के अनुसार साध्य। उदारवादी राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित बताते थे, आदर्शवादी राज्य-हस्तक्षेप पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते। उदारवादी स्वतंत्रता का अर्थ है स्वेच्छा से जीवननिर्वाह करना, आदर्शवादी स्वतंत्रता का अर्थ है राज्य के नियमों के अनुसार जीवन-संचालन। मान्टेस्क्यू जैसे उदारवादी शक्ति-विभाजन को स्वतंत्रता के लिए नितान्त आवश्यक मानते थे, आदर्शवादी ऐसे विभाजन के पक्षपाती नहीं थे। जान लॉक का परम्परागत उदारवाद जनस्वीकृति को आदर्श राज्य के लिए सर्वोचित मानता था, आदर्शवाद राज्य को निरपेक्ष बताता है।

इस प्रकार आदर्शवादी दर्शन यूरोप की जनतंत्रीय देन के विपरीत था। ऐसे जनतंत्र विरोधी दर्शन को शोषित जनता से कैसे स्वीकार कराया जाय? यह कार्य केवल अपूर्व बुद्धि वाले दार्शनिकों के तर्क द्वारा ही सम्भव हो सकता था। जर्मनी के आदर्शवादी दार्शनिकों के उच्चकोटि के तर्क ने आदर्शवाद को न्याय-संगत रूप दिया। इस दर्शन का प्रसार धीरे-धीरे हुआ। आरम्भिक आदर्शवादियों ने स्वकालीन व्यापक उदारवाद से पूर्णरूपेण सम्बन्ध-विच्छेद न किया। उन्होंने उदारवादी विचारधारा को स्वीकार किया परन्तु साथ ही साथ उसे एक नया रूप दिया। यह प्रवृत्ति कान्ट (Immanuel Kant, १७२४—१८०४) के दर्शन में पायी जाती है। उसके शिष्य फिक्टे (Johann Gottlieb Fichte, १७६२—१८१४) के दर्शन में उदारवाद की मात्रा घटी है और आदर्शवाद की बढ़ी। हीगेल (G. F. W. Hegel, १७७०—१८३१) ने पूर्णरूपेण उदारवाद से सम्बन्ध विच्छेद किया और विशुद्ध आदर्शवाद की व्याख्या की।

इस दर्शन की कुछ ऐसी ही प्रगति ब्रिटेन में भी हुई। ग्रीन (T. H. Green, १८३६—८२) का दर्शन उदारवाद और आदर्शवाद का समन्वय है। उसको नवीन व्यक्तिवादी और नवीन आदर्शवादी भी कहते हैं। उसके बाद ब्रैडले (F. H. Bradley, १८४६—१९२४) और बोसांके (B. Bosanquet, १८४८—१९२३) ने हीगेल की भांति उग्र आदर्शवाद की व्याख्या की।

कान्ट और फिक्टे

कान्ट (१७२४—१८०४) :—वह आधुनिक आदर्शवाद का जन्मदाता है। वह कनिग्सबर्ग (Koenigsberg) विश्वविद्यालय में अध्यापक था। नगर की जनता में उसकी केवल इसलिए ख्याति थी कि वह समय का पाबन्द था। उसका क्षेत्र दर्शन था। राजनीतिशास्त्र पर उसके दर्शन का परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा। उदारवादियों की भाँति वह मनुष्य को साध्य, साधन नहीं, मानता था। वह जनतंत्र-प्रेमी था और सामन्तशाही से घृणा करता था। उसकी प्रमुख पुस्तक (Critique of Pure Reason) थी। उसकी तीन मुख्य दार्शनिक देनों का प्रभाव आदर्शवाद पर पड़ा।

कान्ट की सर्वप्रमुख देन यह थी कि उसने आध्यात्मिकता को भौतिकता से अधिक प्रधानता दी। उसने कहा कि हमें एक वस्तु (एक पुस्तक) का ज्ञान उसकी बनावट से नहीं होता वरन् उस प्रतिविम्ब से होता है जो हमारे मस्तिष्क में उस वस्तु को देख कर बनता है। एक वस्तु को हम पुस्तक इसलिये कहते हैं कि वह हमारे मस्तिष्क के अनुसार पुस्तक की भाँति है, इसलिये नहीं कि वह पुस्तक है। कान्ट ने अपनी इस विचारधारा को स्वयं ही कोपर्निकन-क्रान्ति (Copernican Revolution) बताया था। (कोपर्निकस ने कहा था कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है।) इसी प्रकार कान्ट ही सर्वप्रथम आधुनिक दार्शनिक था जिसने उक्त विचार की व्याख्या की।

कान्ट की दूसरी देन थी कि विशुद्ध विवेक (Pure Reason) का जीवन में अनुभव से अधिक महत्त्व है। उस समय लॉक की परम्परा के अनुसार अनुभव और प्रयोग को ज्ञान-प्राप्ति में प्रधानता दी जाती थी। कान्ट ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने इस विचारधारा का खंडन कर बताया कि ज्ञान की प्राप्ति विवेक से होती है, अनुभव तथा प्रयोग से नहीं। कान्ट ने इस विचार को राजनीति और मीमांसा पर प्रयुक्त किया। उसने कहा कि एक नियम में व्यापकता आवश्यक है, परन्तु उसका आधार विवेक होना चाहिये। जनवाद का पक्ष करते हुए उसने बताया कि राजतंत्र आदर्श व्यवस्था नहीं है। क्योंकि उसमें नियम विवेक के अनुसार नहीं होते। कान्ट के प्रतिक्रियावादी अनुयायियों ने इस तर्क का प्रयोग जनवाद के विरुद्ध किया और कहा कि इस व्यवस्था के नियम विवेक पर आश्रित नहीं होते।

कान्ट की तीसरी मुख्य देन सर्वव्यापक नैतिक नियम (Universal Moral Law) सम्बन्धी थी। यह नैतिक नियम व्यक्ति का संरक्षक एवं प्रेरक शक्ति है।

यही एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य की इच्छाओं का संचालन और नियमन करती है। अन्यथा मनुष्य अपनी बुरी इच्छाओं का शिकार होकर नष्ट हो गया होता। आदर्श नागरिक का जीवन ऐसे नियम के अनुसार ही संचालित होना चाहिये। इस सिद्धान्त के आधार पर कान्ट ने स्पष्ट किया कि यदि नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पूर्णरूपेण पालन करता है तो अधिकार आपसे आप उनका अनुगमन करेंगे। यहाँ वह व्यक्तिवादियों के बिल्कुल विपरीत है। व्यक्तिवादी अधिकारों को प्रधानता देते थे, कान्ट कर्तव्यपरायणतों को प्रधानता देता है। उसका यह सिद्धान्त (Categorical Imperative) के नाम से प्रसिद्ध है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साधन में भी वह व्यक्तिवादियों से भिन्न है। व्यक्तिवादी स्वतंत्रता का अर्थ है स्वेच्छानुसार कार्य। कान्ट ने कहा कि सर्वव्यापक नैतिक नियम के अनुसार जीवन-यापन से ही स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। उसके अनुसार एक शराबी या जुआड़ी स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। क्योंकि शराब पीना और जुआ खेलना सर्वव्यापक नैतिक-नियम के अनुकूल नहीं है। व्यक्तिवादी मिल शराब पीना और जुआ खेलना व्यक्ति की स्वतंत्रता के विपरीत नहीं मानता था। व्यक्तिवादियों के अनुसार शराब पीना या जुआ खेलना तभी अनुचित एवं अनैतिक है जब शराबी या जुआड़ी समाज की शान्ति भंग करे। इसके विपरीत कान्ट का कहना है कि व्यक्ति ही समाज की जड़ है। जब जड़ में खराबी आ जायेगी तब उसे शाखा और पत्तों में व्याप्त होने से कोई रोक नहीं सकेगा। अतएव व्यक्ति के अनैतिक कार्य को किसी भी रूप में प्रश्रय नहीं देना चाहिये। कान्ट राज्य को यथार्थ-युक्त (positive good) मानता था जिसके द्वारा मनुष्य सर्वव्यापक नैतिक नियम का अनुयायी बन सकता है। इस प्रकार कान्ट ने व्यक्तिवादियों के मत का खंडन किया।

कान्ट के दर्शन में कुछ उदारवाद की भी पुट थी। वह शक्ति-विभाजन का पक्षपाती था, परन्तु व्यवस्थापिका सभा को राज्य में प्रधान स्थान देता था। वह सामन्तों और मठों के भूमि-एकाधिकार का विरोधी था। वह शान्ति का प्रेमी था। उसकी धारणा थी कि मनुष्य के विवेक और नैतिकता का पूर्ण विकास केवल एक राष्ट्रसंघ (League of Nations) द्वारा ही हो सकता है। केवल ऐसे संघ द्वारा ही स्थायी शान्ति सम्भव है और शान्ति मानव-प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु कान्ट के दर्शन में निरपेक्षता की प्रधानता थी। वह अनुबन्धवाद का विरोधी था। उसके मतानुसार राज्य शासितों की स्वीकृति पर आश्रित नहीं है। राज्य का

जन्म और संचालन शक्ति द्वारा हुआ है, अनुबन्ध द्वारा नहीं। वह रूसो की "सामान्य इच्छा" का प्रशंसक था। परन्तु जहाँ रूसो की "सामान्य इच्छा" केवल प्रत्यक्ष जनवाद में ही सम्भव हो सकती थी, कान्ट के अनुसार उसका प्रतिनिधित्व एक व्यक्ति-विशेष भी कर सकता है। कान्ट की विचारधारा आधुनिक आदर्शवाद की धात्री थी।

फिक्टे (१७६२—१८१४):—बाल्यावस्था में वह मार्टिन लूथर की धार्मिक शिक्षा से प्रभावित हुआ था। १७८४ के पश्चात् वह कान्ट के सम्पर्क में आया। उसने कान्ट के आदर्शवाद को उदारवाद से मुक्त कर पूर्ण आदर्शवाद की ओर उन्मुख किया। १७६४ से मृत्युकाल तक वह जेना (Jena) और बर्लिन विश्वविद्यालयों में दर्शन का शिक्षक था। उसके दर्शन में धीरे-धीरे परिवर्तन हुआ। इस सम्बन्ध में उसका जीवन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग अट्टारहवीं सदी का है और दूसरा उन्नीसवीं का। १८वीं सदी में वह विश्वबन्धुत्व, व्यक्तिवाद और जनवाद का अनुगामी था। १६वीं सदी में उसकी विचारधारा ने राष्ट्रवादी, व्यक्तिवाद-विरोधी और अधिनायकवादी रूप ग्रहण किया।

फिक्टे अपने गुरु कान्ट से एक कदम आगे बढ़ा। कान्ट के दर्शन के अनुसार मनुष्य के विचारों पर वस्तु-क्रिया का भी प्रभाव पड़ता है। फिक्टे ने वस्तु के प्रभाव को अस्वीकार किया और कहा कि मनुष्य के विचार केवल उसके व्यक्तिगत मस्तिष्क या विवेक की देन हैं। इस प्रकार फिक्टे के दर्शन में केवल विचार-तत्त्व से ही वास्तविक जगत का निर्माण होता है।

फिक्टे के अनुसार मनुष्य जाति का इतिहास पांच भागों में विभक्त है। प्रथम भाग प्राकृतिक स्थिति का है। उस समय स्वर्ण युग था। दूसरे भाग में बाहुबल द्वारा राज्य का जन्म हुआ। मध्य एशिया की एक शक्तिशाली जाति ने पूरे एशिया पर आधिपत्य स्थापित किया। उसका एक अंश यूरोप में भी आया। इस युग में शासक दैवी अधिकार का प्रचार करते थे। तीसरे भाग में मनुष्य जाति ने वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिये संघर्ष किया और राज्य के एकाधिकार का विरोध किया। यह युग सत्रहवीं और अट्टारहवीं सदियों का था। उस समय स्वार्थी व्यक्तिवाद का बोलबाला था। मानव इतिहास के चौथे भाग में सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं का विवेक के अनुसार पुनर्निर्माण हुआ। यह युग १८०६—६ से आरम्भ होता है। इस काल में वीरों और विद्वानों का राज्य होगा और व्यक्ति का जीवन स्वतंत्र नैतिक इच्छा के अनुसार संचालित होगा। मनुष्य जाति फिर पंचम या अन्तिम भाग की ओर अग्रसर

होगी। यह भाग भविष्य की ओर संकेत करता है। उस युग में आदर्श राज्य सर्वव्यापक होगा। विवेक ही राजसत्ताधारी का स्थान ग्रहण करेगा और पूर्ण स्वतंत्रता और समानता सर्वव्यापक होगी। फिक्टे के इस विश्लेषण की रूपरेखा का प्रभाव हीगेल और मार्क्स के दर्शनों पर पड़ा।

फिक्टे के अनुसार आदर्श राज्य में नागरिक को पूर्ण स्वतंत्रता होगी। परन्तु फिक्टे की स्वतंत्रता आदर्शवादी थी, व्यक्तिवादी नहीं। उसके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है, उस कार्य को करने की स्वतंत्रता जो करने योग्य हो। अर्थात् एक उपयुक्त कार्य करने में ही स्वतंत्रता है, व्यक्तिवादी स्वेच्छात्मक कार्य का अर्थ स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता के दो पहलू होते हैं—एक आन्तरिक और दूसरा वाह्य। आन्तरिक स्वतंत्रता द्वारा व्यक्ति निजी प्रेरणाओं से मुक्त होता है, अर्थात् स्वच्छ विवेक के अनुसार कार्य करता है। वाह्य स्वतंत्रता का अर्थ है व्यक्ति के कार्यों में किसी अन्य व्यक्ति का हस्तक्षेप न होना। फिक्टे के अनुसार सच्ची स्वतंत्रता आन्तरिक स्वतंत्रता है। इससे मनुष्य अपनी तुच्छ प्रेरणाओं को पराजित कर स्वच्छ विवेक के अनुसार जीवन-यापन कर सकता है। ऐसी स्वतंत्रता कब सम्भव हो सकती है? व्यक्तिवादियों के अनुसार "यद्भाव्यम् नीति" वाले राज्य द्वारा ही स्वतंत्रता सम्भव है। आदर्शवादी फिक्टे ने कहा कि राज्य का कर्तव्य है कि शिक्षा आदि साधनों द्वारा नागरिक को आन्तरिक या नैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के योग्य बनाये।

फिक्टे ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता की एक नयी परिभाषा प्रस्तुत की। राष्ट्रीय राज्य के सुसंचालन के लिए भाषा की एकता, आर्थिक राष्ट्रीयता और राज्य का समाज पर पूर्णनियंत्रण आवश्यक है। यूरोप में पन्द्रहवीं या सोलहवीं सदियों से राष्ट्रीयता की भावना व्यापक थी। परन्तु फिक्टे ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने भाषा की एकता और अर्थ की राष्ट्रीयता को राष्ट्र-निर्माण में उच्च-स्थान दिया। उसकी इस खोज का प्रभाव आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों, मुख्यतः उग्र प्रतिक्रियावादी फासीवादी राज्यों, पर पड़ा। इस दृष्टिकोण से फिक्टे ही हिटलर और मुसोलिनी का दार्शनिक पिता था।

फिक्टे के अनुसार राज्य द्वारा आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का संचालन होना चाहिये। उसकी पुस्तक (Closed Commercial State) में ऐसे राज्य का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसने समाज को तीन भागों में विभाजित किया—किसान, शिल्पकार और व्यापारी। आदर्श राज्य में वस्तुओं के मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित होंगे। फिक्टे बेरोजगारी का विरोधी था, परन्तु साथ ही साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थक भी। इस प्रकार फिक्टे व्यक्तिवादी "यद्भाव्यम् नीति" का कट्टर विरोधी था।

युवावस्था में फिक्टे जनवाद का प्रेमी था। वह फ्रांस की क्रान्ति का प्रशंसक था; किन्तु धीरे-धीरे वह अधिनायकवादी बना। उसके अनुसार पैतृक शासन-प्रथा ही सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था है। राजतंत्र पर न तो किसी धारा सभा और न निर्वाचक मंडल का ही नियंत्रण होना चाहिये। इस विषय में वह अपने गुरु कान्ट से भी आगे है क्योंकि कान्ट ने व्यवस्थापिका सभा को प्रमुख स्थान दिया था।

आदर्श राज्य की कल्पना करते हुए फिक्टे ने बताया कि मानव-प्रगति केवल शूरवीरों और विद्वानों के कार्यों से हुई है। भविष्य के आदर्श राज्य में इन्हीं शूरवीरों और विद्वानों का बोलबाला होगा। तभी शुद्ध विवेक के अनुसार नियम-निर्माण हो सकेगा। ऐसे नियमों की उपस्थिति में नागरिक की नैतिक और आन्तरिक स्वतंत्रता सम्भव होगी। विश्व में सत्य के आधिपत्य की स्थापना के लिए सभ्य लोगों का असभ्यों पर शासन करना आवश्यक है। वास्तव में सभ्य लोगों के शासन का अर्थ है फिक्टे जैसे विद्वानों द्वारा राज्य का संचालन। इस प्रकार फिक्टे ने विद्वान को केवल शिक्षक ही नहीं, वरन् शासक भी बनाया। उसके आदर्श राज्य में विद्वान ही शासक होंगे; साथ ही साथ एक प्रमुख विद्वान का अधिनायकवाद आवश्यक है।

फिक्टे का दर्शन बीसवीं सदी के अधिनायकवादियों का पथप्रदर्शक बना। हिटलर की नाज़ी पार्टी (Nazi Party) का ध्येय जर्मन भाषा-भाषियों को एक केन्द्रस्थ राज्य में मिलाना था। नाज़ीवाद आर्थिक राष्ट्रीयता का भी प्रतीक था। हिटलरशाही के अनुसार राष्ट्र-निर्माण शूरवीरों के गुट द्वारा होना चाहिये। हिटलर के साथी ऐसे शूरवीर होने का दावा करते थे। उनका कहना था कि जर्मनी जैसे बलवान राष्ट्र को ही विश्व का शासक होना चाहिये और ऐसे बलवान राष्ट्र में नाज़ीदल के शूरवीरों का आधिपत्य स्वाभाविक है। नाज़ीवाद भी जनतंत्र विरोधी था। इन सब विशेषताओं में फिक्टे के दर्शन की झलक स्पष्ट है।

हीगेल

हीगेल (१७७०—१८३१)—आधुनिक आदर्शवाद का सर्वश्रेष्ठ वेत्ता था। उसका जन्म एक उच्च मध्यमवर्गीय कुल में हुआ था। उसका पिता सरकारी कर्मचारी था। शायद अपने पिता के पेशे से प्रभावित हो कर हीगेल नौकरशाही का समर्थक बना। उसके पिता की इच्छा थी कि वह एक प्रोटेस्टेन्ट पादरी बने। इसलिए उसको कालेज में धर्म की

शिक्षा दी गयी थी। इस शिक्षा का प्रभाव उसके दर्शन पर पड़ा। वह हैडेलबर्ग (Heidelberg) और बर्लिन विश्वविद्यालयों में दर्शन का शिक्षक था। यह कहना अनुचित न होगा कि १९वीं सदी के तीन प्रमुख आदर्शवादी और निरपेक्षतावादी दार्शनिक (फिक्टे, कारलायल और हीगेल) अध्यात्मविद्या के विद्यार्थी थे। हीगेल पर फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का भी प्रभाव पड़ा था। इस क्रान्ति द्वारा उसका उदारवादी दर्शन से परिचय हुआ। इस उदारवादी दर्शन को उसने आदर्शवादी रूप दिया।

बहुत ही कम दार्शनिकों को अपने जीवन काल में ख्याति प्राप्त होती है। परन्तु हीगेल इस नियम का अपवाद था; उसने अपने जीवन-काल में ही ख्याति प्राप्त की। वह दार्शनिकों का सम्राट माना जाता था और सम्राटों का दार्शनिक भी। उसके कई शिष्य थे। समय-समय पर शासकगण भी उससे परामर्श लेते थे। उन्नीसवीं सदी में जर्मनी के प्रायः सभी दार्शनिक उसके दर्शन से प्रभावित हुए। कार्ल मार्क्स भी, जो आधुनिक साम्यवाद का जन्मदाता है, हीगेलवादी तर्क और विश्लेषण से प्रभावित हुआ था। हीगेल के दर्शन में छायावाद का पुट है। राजनीतिशास्त्र और इतिहास के विश्लेषण में भी उसने छायावादी भाषा का प्रयोग किया था। इसके फलस्वरूप उसका दर्शन एक पहेली-सा बन गया है। कहा जाता है कि बीस वर्षों के अध्ययन के बाद भी कोई विद्यार्थी हीगेल के दर्शन को पूर्णतः नहीं समझ सकता। एक विद्वान हीगेल के दस पृष्ठों को पढ़ कर केवल एक ही पृष्ठ प्रथम वाचन में समझ सकता है। कहा जाता है कि हीगेल ने यह शिकायत की थी कि उसके दर्शन को केवल एक ही व्यक्ति समझ सका था और उस व्यक्ति ने भी उसे गलत रूप में समझा। जर्मनी में कुछ ऐसी बौद्धिक परम्परा रही है जिसके अनुसार अस्पष्टता को गम्भीरता माना जाता है। ऐसे वातावरण में हीगेल के दर्शन ने जर्मनी में उच्च स्थान प्राप्त किया।

हीगेल के दर्शन पर उसकी प्रारम्भिक आध्यात्मिक शिक्षा का प्रभाव स्पष्ट है। उसने राजनीति का आध्यात्मिक एवं छायावादी प्रणाली द्वारा विश्लेषण किया। उसने कान्ट और फिक्टे के आदर्शवाद को चरम सीमा पर पहुँचाया और परोक्ष रूप से उग्र प्रतिक्रियावादी रूप दिया। ग्रीक-देन (जिसका रूसो ने पुनरुत्थान किया था)—मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसकी स्वतंत्रता और प्रगति केवल समाज और राज्य में ही सम्भव है—हीगेल के दर्शन की पृष्ठभूमि है।

हीगेल का दर्शन जर्मनी की विशेष परिस्थितियों में पनपा था। जैसा पहले कहा गया है, फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) से यूरोप में एक भीषण राजनीतिक चेतना

जागरित हुई थी। व्यक्तिवाद और उदारवाद का बोलबाला था। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा केवल फ्रांस में ही नहीं, अपितु अन्य देशों में भी व्यापक हो चला था। युवावस्था में हीगेल ने अपने सहपाठियों के साथ स्वातंत्र्य-वृक्ष लगाने के उत्सव में भाग लिया था। इधर तो ऐसा जनतंत्रीय वातावरण था, उधर जर्मनी के नेता जो प्रायः सामन्त, सैनिक, पूँजीपति और नौकरशाह थे, अपने देश को समृद्ध और सुसंगठित बनाना चाहते थे। इन नेताओं को ऐसे दर्शन की आवश्यकता थी जो जनवादी भाषा को ग्रहण करते हुए उनके अधिनायकवाद को न्यायसंगत बताये। इस जटिल समस्या की पूर्ति हीगेल के दर्शन ने की। इसलिए उसे सम्राटों का दार्शनिक कहा जाता है। उसके दर्शन ने जनतंत्रीय विचारों को ऐसा रूप दिया जिससे प्रतिक्रियावादियों के अधिनायकवाद की पुष्टि हुई। यह जटिल कार्य हीगेल जैसे अपूर्व बुद्धिवाले दार्शनिक द्वारा ही सम्भव हो सकता था।

वस्तुगत आदर्शवाद :—हीगेल का दर्शन पूर्णतया आदर्शवादी है। उसके अनुसार वास्तविक जगत का निर्माण, चिन्तन-क्रिया की प्रेरक शक्ति द्वारा हुआ है अर्थात् 'विचारतत्त्व' ही वास्तविक जगत का निर्माण करता है। उसका कहना था कि विवेक ही विश्व में सत्ताधारी है। वस्तु या वस्तु-जगत केवल विवेक की ही रचना है। विवेक ही परमतत्त्व है।

आदर्शवाद दो प्रकार का है—आत्मगत (subjective) और वस्तुगतगत (objective)। इन दोनों का भेद एक साधारण उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। आत्मगत आदर्शवाद के अनुसार अमुक वस्तु एक पुस्तक है, क्योंकि मेरे मस्तिष्क में उसका चित्रण पुस्तक जैसा है। मेरे मस्तिष्क का एक स्वतंत्र अस्तित्व है। परन्तु वस्तुगत आदर्शवाद के अनुसार यह पुस्तक और मेरा मस्तिष्क दोनों ही एक 'सर्वव्यापक विचारतत्त्व' (Universal Idea or Universal Mind) के प्रतिबिम्ब हैं। मेरे मस्तिष्क का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

हीगेल का आदर्शवाद वस्तुगत आदर्शवाद था। इसके अनुसार मस्तिष्क और वस्तुजगत दोनों ही "सर्वव्यापक-विचारतत्त्व" या "विश्वात्मा" से संचालित हैं। यह कहना गलत न होगा कि हीगेल का "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" या "विश्वात्मा" ईश्वर के दूसरे नाम हैं। सभी धार्मिक सिद्धान्तों का यह ध्येय है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे अर्थात् उसकी आत्मा का परमात्मा से एकीकरण हो। ऐसी मुक्ति के लिए ईश्वर की आज्ञा के अनुसार (धार्मिक आदर्श) जीवन-यापन आवश्यक है। हीगेल ने कहा कि मानव जाति की मुक्ति के लिए हीगेलवादी "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" और "विश्वात्मा" के अनुसार

जीवन-यापन आवश्यक है।

हिन्दू धर्म के अनुसार विभिन्न देवता, ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते हैं; वे ईश्वर-तुल्य हैं। कहा जाता है कि इन्हीं की पूजा द्वारा ईश्वर की पूजा एवं मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। हीगेल ने कहा कि राज्य उसके "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" या "विश्वात्मा" का प्रतिनिधि है। इसलिए राज्य के आज्ञा पालन द्वारा ही व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है, स्वतंत्र हो सकता है, और "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" से संयुक्त भी।

इस विचार की पुष्टि के लिए हीगेल ने राज्य की कई छायावादी परिभाषाएँ दीं। राज्य आत्मा का मूर्तरूप है (most perfect embodiment of spirit)। वह इस विश्व में दैवी-विचारतत्त्व तुल्य है। वह एक आत्मज्ञानी और यथार्थवादी व्यक्ति है। वह इस विश्व में 'ईश्वरीय यात्रा' की भाँति है (the march of God on earth)। राज्य जैसी महान संस्था के नियमों के पालन से ही व्यक्ति की प्रगति और मुक्ति सम्भव है।

द्वन्द्ववाद :—हीगेल ने केवल उक्त परिभाषाएँ ही न की थीं, वरन उच्च कोटि के तर्क द्वारा राज्य का उच्च स्थान न्यायसंगत भी बताया था। यही तर्क और विश्लेपण उसकी अपूर्व बुद्धि के निर्देशक हैं। इस सम्बन्ध में उसने ऐतिहासिक विश्लेपण को वैज्ञानिक और नवीन रूप दिया।

बोदाँ (१५३०—१५९६) ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने तत्कालीन विचारधारा के विपरीत बताया कि मनुष्य जाति का इतिहास प्रगति का इतिहास है। बोदाँ के पूर्व मानव का इतिहास अवनति का इतिहास माना जाता था—यह मध्यकालीन धार्मिक धारणा थी। बोदाँ की इस देन को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया था। दो सदियों बाद हीगेल ने इस विचार की पुनर्व्याख्या की और कहा कि मानव जाति सदा ही प्रगति की ओर अग्रसर रही है। यदि कभी इसके विपरीत कोई अवनति-सी दृष्टिगोचर हो तो उसे अवनति नहीं समझना चाहिये। वास्तव में वह घटना प्रगति के लिए पृष्ठभूमि की तैयारी है। हीगेल के अनुसार मानव इतिहास केवल कुछ घटनाओं का वर्णन नहीं है वरन् प्रगति की प्रवृत्ति की कहानी है।

उक्त प्रागतिक प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण हीगेल द्वन्द्ववाद के आधार पर करता है। वह कहता है कि संसार में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है। पहले 'वाद' (thesis) होता है, और तब उसका 'प्रतिवाद' (anti-thesis)। इन दोनों के संघर्ष से एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है जिसे 'संवाद' (synthesis) कहते हैं। इस 'संवाद' में 'वाद' और 'प्रतिवाद' की विशेषताओं का समावेश होता है। समावेश के

साथ-साथ यह दोनों का अतिक्रमण भी करता है। 'संवाद' एक नयी परिस्थिति है। प्रगति के दौरान में थोड़े समय उपरान्त वह 'वाद' का रूप धारण करता है और फिर उसका एक नये 'प्रतिवाद' से संघर्ष आरम्भ होता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप एक दूसरा 'संवाद' उत्पन्न होता है। यह पहले 'संवाद' से उच्च कोटि का है। तात्पर्य यह है कि जो शक्ति सर्वप्रथम संगठित हो जाती है वह अपना एक कार्यक्रम रखती है और विश्व का संचालन उसी कार्यक्रम के अनुसार करती है। इसी को 'वाद' कहते हैं। परन्तु उसका कार्यक्रम प्रत्येक व्यक्ति के अनुकूल हो, ऐसा सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति में, समय बीतने पर उन प्रतिकूलों की संख्या बढ़ जाती है और धीरे-धीरे उनका संगठन हो जाता है। संगठित हो जाने पर ये पूर्व कार्यक्रम का विरोध करते हुए एक नवीन कार्यक्रम उपस्थित करते हैं। इसको 'प्रतिवाद' कहते हैं। कुछ समय तक इनमें परस्पर संघर्ष चलता है। तब इन दोनों की विशेषताओं का समन्वय कर तथा कुछ नवीन का योग कर एक नया दल संगठित होता है। वह अपना नवीन कार्यक्रम उपस्थित करता है। इसी को 'संवाद' कहते हैं। आगे चलकर इस 'संवाद' के भी प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व प्रकट होने लगते हैं और तब यही 'संवाद' 'वाद' कहलाने लगता है। इस प्रकार से निरन्तर इसका आवर्तन होता रहता है। मानव की प्रगति इस निरन्तर द्वन्द्वात्मक संघर्ष द्वारा होती आयी है। यह क्रिया इतिहास में व्यापक है।

ग्रीक-युग में भी ऐसे द्वन्द्ववाद का प्रयोग किया जाता था। परन्तु हीगेल का द्वन्द्ववाद उससे भिन्न था। ग्रीक-द्वन्द्ववाद के अनुसार प्रगति वृत्तात्मक है, हीगेल के अनुसार यह चक्रव्यूह की भाँति। हीगेल ने समाज, राज्य, दर्शन आदि का विश्लेषण इसी द्वन्द्ववादी क्रियानुसार किया। यह उसकी विशिष्ट देन थी। मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्ववाद को द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद का रूप दिया। इन खोजों के फलस्वरूप आधुनिक युग के ऐतिहासिक विश्लेषण की क्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।

द्वन्द्ववाद और राज्य :—इस क्रिया द्वारा हीगेल ने बताया कि राज्य मानव की सामाजिक प्रगति की चरम सीमा है। पहले कुटुम्ब होता था (यह 'वाद' था)। उसकी विशेषता प्रेम तथा आत्मत्याग थी। कुछ समय पश्चात् समाज का जन्म हुआ (यह 'प्रतिवाद' था)। उसकी विशेषता, कुटुम्ब के विपरीत, स्पर्धा थी। 'वाद' और 'प्रतिवाद' में संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के फलस्वरूप 'संवाद' रूपी राज्य का जन्म हुआ। इस 'संवाद' रूपी राज्य में 'वाद' और 'प्रतिवाद' (कुटुम्ब और समाज) की उक्त विशेषताओं के साथ-साथ कुछ अन्य विशेषताओं का भी समावेश है। इसलिए यह

उसके द्वन्द्ववादी दर्शन के अनुसार राज्य "विश्वात्मा" का प्रतिनिधि है और "विश्वात्मा" ईश्वर का दूसरा नाम है।

स्वतंत्रता और अधिकार :—यही नहीं, हीगेल ने प्रचलित स्वतंत्रता की धारणा को नया रूप दिया। ऊपर बताया गया है कि तत्कालीन यूरोप के जनसाधारण में व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की भावना व्याप्त थी। निरपेक्षता प्रेमी हीगेल के सम्मुख यह एक बड़ी समस्या थी कि स्वतंत्रता के नाम पर निरपेक्षता को कैसे न्यायसंगत बताया जाये। उसने स्वयं स्वतंत्रता के प्रति अपूर्व उत्साह प्रकट किया। परन्तु इस उत्साह की आड़ में उसने स्वतंत्रता को नया रूप दिया। उसकी स्वतंत्रता की परिभाषा व्यक्तिवादी परिभाषा से भिन्न थी। कहा जा सकता है कि हीगेलवादी स्वतंत्रता वास्तव में स्वतंत्रता है ही नहीं।

हीगेल ने कहा कि आत्मा का ध्येय स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता का अर्थ है "विश्वात्मा" के अनुसार जीवन-यापन, जैसे मोक्ष का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से एकाकार होना। इस "विश्वात्मा" का प्रतिनिधि राज्य है। इसलिए राज्य के नियमों के अनुसार जीवन-संचालन करना ही वास्तविक स्वतंत्रता है। इस अपूर्व व्यक्ति ने केवल यही नहीं बताया कि राज्य स्वतंत्रता का वास्तवीकरण है वरन् यह भी बताया कि मनुष्य जाति की प्रगति स्वतंत्रता की चेतना की प्रगति है। द्वन्द्ववादी प्रणाली से यह सिद्ध किया गया कि जर्मन जाति ही सर्वप्रथम जाति है जिसने इस चेतना को प्राप्त किया है कि मनुष्य एक मनुष्य की भाँति स्वतंत्र है। (The German nation……was the first to attain the consciousness that man, as man, is free)। अर्थात् जर्मन राज्य के नियमों के अनुसार जीवन-यापन से ही आज जर्मन जाति स्वतंत्र है।

हीगेल ने उदारवादी नैसर्गिक नियम और नैसर्गिक अधिकार का भी खंडन किया। तत्कालीन नैसर्गिक अधिकारों के वातावरण में जनवादी विचारधारा की पुष्टि हुई थी। हीगेल ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। द्वन्द्ववादी प्रणाली से राज्य द्वारा प्राप्त अधिकार ही "संवाद" है। इस प्रकार हीगेल ने व्यक्ति के अधिकारों को राज्य के अधीन बनाया।

बाहुबल, शान्ति एवं युद्ध :—हीगेल का कहना था कि राज्य की अनुपस्थिति में मनुष्य वैसी ही प्राकृतिक स्थिति में होंगे जिसका चित्रण हाब्स ने किया था। परन्तु हाब्स की भाँति हीगेल अनुबन्धवादी न था। हीगेल के अनुसार राज्य का जन्म बाहुबल द्वारा हुआ है। हीगेल इतिहास के महान व्यक्तियों को शूरवीरों के तुल्य मानता था। इन्हीं शूरवीरों द्वारा मानव ने प्रगति की। ये शूरवीर "विश्वात्मा" के प्रतिनिधि हैं। हीगेल के मतानुसार एलेक्जेंडर और नेपोलियन जैसे शूरवीर 'विश्वात्मा' के प्रतिरूप

हुए हैं। एक विजेता दैवी आत्मा का अचेतन प्रतिनिधि है।

हीगेल राष्ट्रीय राज्य का भक्त था। उसने राज्य को सर्वोच्च संस्था बताया। कान्ट और फिक्टे ने राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के अधीन माना था। वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के पक्षपाती थे। इसलिये वे अन्तर्राष्ट्रीय संघ को सर्वोच्च आदर्श संस्था मानते थे। परन्तु हीगेल के मतानुकूल राज्य से ऊँची कोई अन्य संस्था नहीं है। वह अन्तर्राष्ट्रीय अदालत, संघ या नियम को काल्पनिक मानता था। अतः आदर्श राज्य किसी भी नियम, नैतिकता या संघ के अधीन नहीं है।

हीगेल ने युद्ध को न्याय-संगत बताया। युद्ध हितकर है, क्योंकि उससे देश-प्रेम और राज्य-भक्ति की भावना की पुष्टि होती है। जैसे समुद्र के पानी की गति से गन्दगी दूर होती है, वैसे ही युद्ध द्वारा नागरिकों में दुराचार का नाश होता है। हीगेल ने युद्ध को राज्य की सर्वशक्तिमान विशेषता का प्रतीक बताया था (The state of war shows the omnipotence of State in its individuality)। युद्ध द्वारा गृहयुद्धों की सम्भावना में कमी होती है, और राज्य की शक्ति प्रबल बनती है। देश-प्रेम के साथ-साथ नैतिकता की वृद्धि सम्भव है। हीगेल के अनुसार परिस्थिति के बदलने पर राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संधियों को तोड़ सकता है। इस प्रकार वह उग्र राष्ट्रीयता का दार्शनिक था।

राज्य-संगठन :—अब हीगेल के आदर्श राज्य के संगठन का वर्णन आवश्यक है। वह राज्य-संचालन में बाहुबल को महत्त्वपूर्ण स्थान देता था। न्यायालय और पुलिस राज्य के बाहुबल के निर्देशक हैं। पुलिक का कार्य केवल सुरक्षा ही नहीं, वरन् राज्य के सभी कार्यों का संचालन भी है। पुलिस द्वारा शिक्षा, जनोपयोगी कार्य, जनस्वास्थ्य, निर्धनों की सहायता, व्यवसाय और व्यापार-संचालन आदि का प्रबन्ध होना चाहिये। इस प्रकार पुलिस और न्यायालय, मुख्यतः पुलिस, राज्य की सर्वोच्च और सर्वव्यापक संस्थाएँ हैं।

द्वन्द्ववाद द्वारा हीगेल ने संवैधानिक राजतंत्र को सर्वोच्च व्यवस्था बताया था। वह जनवाद विरोधी था। वह मान्टेस्क्यू के शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का भी आलोचक था। उसने अपने युग के जर्मनी के राजनीतिक ढाँचे को सर्वोत्तम बताया। हीगेल का सीमित राजतंत्र ब्रिटेन के सीमित राजतंत्र से भिन्न था। ब्रिटेन में संसदीय सत्ता द्वारा राजतंत्र को सीमित बनाया गया था। हीगेल का सीमित राजतंत्र प्रशा (Prussia) जैसा था। उस पर नौकरशाही का कुछ अंश तक प्रतिबन्ध था।

हीगेल के अनुसार समाज को तीन वर्गों में विभक्त होना चाहिये—कृषि सम्बन्धी वर्ग, व्यवसाय और व्यापार सम्बन्धी वर्ग तथा सर्वव्यापक वर्ग। सर्वव्यापक वर्ग ही

समाज का नेता माना जा सकता है। यह वर्ग देश का शासन करता है। इस वर्ग के सदस्यों की नियुक्ति योग्यतानुसार होनी चाहिये। इसी वर्ग द्वारा राजतंत्र की शक्ति सीमित होनी चाहिये, संसद द्वारा नहीं। जर्मनी में ऐसे वर्ग (नौकरशाही) का सदा ही बोलबाला रहा है। यह कहना अनुचित न होगा कि हीगेल का सर्वव्यापक वर्ग आधुनिक फासीवादी दलों की भाँति था।

हीगेल ने आदर्श व्यवस्थापक मंडल की योजना प्रस्तुत की थी। इस मंडल में दो सभाएँ होनी चाहिये। बड़ी सभा कुलीनों का प्रतिनिधित्व करेगी। छोटी धारा-सभा द्वारा समाज की अन्य संस्थाओं का प्रतिनिधित्व होगा। कार्यपालिका के सदस्य सर्वव्यापक वर्ग (नौकरशाही) से लिये जायेंगे। कार्यपालिका (नौकरशाही) का नियम-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। यह कहना अनुचित न होगा कि हीगेल का आदर्श राज्य भारतवर्ष के १८९२ के संविधान की याद दिलाता है।

हीगेल की आदर्श छोटी धारा-सभा में संस्थाओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि वह अन्य आदर्शवादी-अद्वैतवादी दार्शनिकों का अनुयायी न था। ये दार्शनिक, नागरिक और राज्य के मध्य सीधे सम्बन्ध के पक्षपाती थे। वे संघों को सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देते थे। हीगेल के आदर्श समाज में इन संघों (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि) का स्थान था। परन्तु ये संघ पूर्णतः राज्य के अधीन थे। उनके संचालन पर राज्य का नियंत्रण आवश्यक था। इन्हीं संघों द्वारा हीगेल की छोटी धारा-सभा का संगठन होना चाहिये।

हीगेल ने राज्य को समाज से ऊँचा स्थान दिया था, और समाज को कुटुम्ब से। जहाँ उदारवादियों के अनुसार समाज एक सहयोगी संस्था है, हीगेल के अनुसार वह स्पर्द्धा-पूर्ण है। हीगेल ने आदर्श कुटुम्ब की भी व्याख्या की थी। उस कुटुम्ब में स्त्रियों का स्थान दास तुल्य था। उसके आदर्श कुटुम्ब का वर्णन मध्यकालीन कुटुम्ब जैसा था। ऐसा ही पारिवारिक जीवन हिटलरशाही का भी आदर्श था।

सारांश :—अतः हीगेल ने उग्र आदर्शवादी दर्शन प्रस्तुत किया। उसने कान्ट और फिक्टे की परम्परा को चरम सीमा पर पहुँचाया और पूर्ण प्रतिक्रियावादी रूप दिया। कान्ट के अनुसार सर्वव्यापक नैतिक नियम के अनुसार जीवन-यापन से स्वतंत्रता सम्भव है। फिक्टे ने कहा कि प्रेरणाओं के शमन से वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव है। हीगेल ने घोषित किया कि "विश्वात्मा" के प्रतिनिधि राज्य नियमों के पालन से ही स्वतंत्रता सम्भव है। कान्ट अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का भक्त था। फिक्टे ने भी ऐसी शान्ति को आदर्श स्थिति

बताया था। हीगेल ऐसी विचारधारा को काल्पनिक मानता था। वह युद्ध-प्रेमी था। कान्ट जनवाद-विरोधी न था जब कि हीगेल पूर्णतया जनवाद-विरोधी। कान्ट और फिक्टे ने एक भविष्य की काल्पनिक स्थिति को मानव-प्रगति का आदर्श माना था। हीगेल ने उच्च कोटि के तर्क द्वारा तत्कालीन प्रतिक्रियावादी जर्मन राज्य को आदर्श व्यवस्था बताया। कान्ट के आदर्शवाद में उदारवाद की झलक थी। फिक्टे के दर्शन में उदारवाद की मात्रा कम हुई। हीगेल का आदर्शवाद पूर्णतः उदारवाद-विरोधी बना।

ग्रीन

टी० एच० ग्रीन (T. H. Green, १८३६—८२) ब्रिटेन का सर्वप्रथम आदर्शवादी दार्शनिक था। यह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन का शिक्षक था। आक्सफोर्ड के परम्परानुसार उसने ग्रीक दर्शन का अध्ययन किया। साथ ही साथ उसने जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन का भी अध्ययन किया। उसने ब्रिटेन में एक नये दर्शन का बीजारोपण किया जो आक्सफोर्ड-दर्शन (Oxford school) के नाम से प्रसिद्ध है। आधुनिक सुप्रसिद्ध दार्शनिक रिचि (G. D. Ritchie), ब्रैडले (F. H. Bradley), बोसांके, लिन्डसे (A. D. Lindsay) और बार्कर आदि ग्रीन की परम्परा के अनुयायी हैं।

ग्रीन के दर्शन पर चार विचारधाराओं की छाप मिलती है। (१) अफलातून और अरस्तू की भांति वह राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र का अंग मानता था। उनकी भाँति ग्रीन भी मनुष्य को एक सामाजिक जीव और राज्य को एक प्राकृतिक संस्था स्वीकार करता था। आदर्श राज्य को नैतिक जीवन का सच्चा सहायक होना चाहिये।

(२) ग्रीन के दर्शन पर जर्मन आदर्शवाद का भी प्रभाव पड़ा। उसका आचारशास्त्र और राज्यशास्त्र कान्ट के दर्शन से प्रभावित हुआ। कान्ट की भाँति उसके दर्शन में उदारवाद और आदर्शवाद का समन्वय मिलता है।

(३) वह क्रामवेल (Cromwell) का वंशज था। इस नाते वह प्यूरिटन और नानकन्फार्मिस्ट मनोवृत्ति का था। वह इनका प्रशंसक था। इन्हीं की परम्परा से प्रभावित होकर वह स्वतंत्रता और नैतिकता का प्रेमी बना।

(४) ग्रीन का दर्शन ब्रिटेन की व्यक्तिवादी परम्परा से मुक्त न हो सका था। उसके जीवन-काल में मिल का बोलबाला था। मिल की "स्वतंत्रता" और उसका "अर्थशास्त्र" प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते थे। स्वभावतः ग्रीन वैयक्तिक स्वतंत्रता को

अवहेलना न कर सका। कान्ट की भाँति उसने इस स्वतंत्रता को आदर्शवाद का पुट दिया।

ग्रीन के दर्शन को नवीन व्यक्तिवाद और नवीन आदर्शवाद कहा जाता है। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक (Principles of Political Obligation) उसके दर्शन पर प्रकाश डालती है। उसने ब्रिटेन की राजशास्त्रीय परम्परा के विपरीत कुछ नये दृष्टिकोण प्रस्तुत किये।

राज्य :—व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य एक आवश्यक विकार है। यही विचार-धारा १९वीं सदी के ब्रिटेन में प्रचलित थी। परन्तु समाजवादी आन्दोलन के फलस्वरूप कुछ बुद्धिजीवी समष्टिवादी राज्य को आदर्श मानने लगे थे। ग्रीन ने कान्ट की भाँति राज्य को एक आवश्यक लाभदायक संस्था बताया। उसका कहना था कि नैतिकता और सुव्यवस्था की वृद्धि राज्य द्वारा ही हो सकती है। राज्य के नियमों के पालन से ही सच्ची स्वतंत्रता सम्भव है। राज्य सब के अधिकारों और नियमों का स्रोत है। कान्ट की भाँति वह भी राज्य को सर्वशक्तिमान मानता था।

ग्रीन समुदायों का प्रेमी था। वह राज्य को संघों का संघ मानता था। इन संघों का जन्म राज्य के पूर्व हुआ था, राज्य इनका जन्मदाता नहीं है। राज्य का कर्तव्य है कि वह इनका समन्वय करे। यह दृष्टिकोण कान्ट के दर्शन से भिन्न है क्योंकि कान्ट संघों को पूर्णतया राज्य के अधीन मानता था।

अधिकार :—व्यक्तिवादियों के अनुसार व्यक्ति के अधिकार राज्य के पूर्व से चले आ रहे हैं। वे जॉन लॉक की परम्परा के अनुयायी थे। लॉक के अनुसार प्राकृतिक स्थिति में, जो राज्य के पूर्व थी, व्यक्तियों को नैसर्गिक अधिकार प्राप्त थे। ग्रीन न तो प्राकृतिक स्थिति और न नैसर्गिक अधिकारों का ही समर्थक था। उसके मतानुकूल राज्य एक प्राकृतिक संस्था है, उसका जन्म अनुबन्ध द्वारा नहीं हुआ। अधिकार केवल राज्य में ही सम्भव हैं। आदर्श अधिकार राज्य के बाहर सम्भव हो सकते हैं परन्तु वास्तविक अधिकार केवल राज्य की ही देन हैं। वास्तविक अधिकार वे हैं जो सामाजिक प्रगति और नैतिक वृद्धि में सहायक हों। क्योंकि केवल राज्य द्वारा ही अधिकार प्राप्त होते हैं, इसलिए राज्य के विरुद्ध कोई भी अधिकार सम्भव नहीं हो सकता।

ग्रीन ने केवल व्यक्तिवादी विचारधारा का ही खंडन नहीं किया वरन् "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली विचारधारा का भी। वह यह तो अवश्य स्वीकार करता था कि बाहुबल द्वारा ही राज्य का संचालन और मानव के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। परन्तु वह बाहुबल को न तो राज्य और न व्यक्तिगत अधिकारों का जन्मदाता मानता था। व्यक्ति के अधिकारों का स्रोत राज्य है और राज्य का आधार जनस्वीकृति।

स्वतंत्रता :—ब्रिटेन व्यक्तिगत स्वतंत्रता का गढ़ था। मिल जैसे स्वतंत्रता प्रेमी की विचारधारा १६वीं सदी में प्रचलित थी। ग्रीन भी स्वतंत्रता का प्रेमी था। परन्तु उसकी स्वतंत्रता व्यक्तिवादी मिल से भिन्न थी। इस सम्बन्ध में भी वह कान्ट का अनुयायी था।

व्यक्तिवादियों के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है स्वेच्छा से कार्य करना। आदर्शवादी ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता वह स्थिति है जिसके द्वारा मनुष्य उस वस्तु या सुख को प्राप्त कर सके जो सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण से प्राप्ति योग्य हो। केवल वाह्य रुकावटों की अनुपस्थिति स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता तो वह स्थिति है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी नैतिक वृद्धि कर सके और साथ ही सामाजिक भलाई भी।

व्यक्तिवादियों की स्वतंत्रता नकारात्मक थी। समाज और राज्य के हस्तक्षेप की अनुपस्थिति ही स्वतंत्रता है। आदर्शवादी ग्रीन का कहना था कि राज्य के हस्तक्षेप द्वारा ही वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। राज्य का कर्तव्य है कि वह उन रुकावटों को रोके जो नैतिक जीवन में वाधक हैं। इस नकारात्मक दृष्टिकोण से स्वतंत्रता सामाजिक प्रगति का एक प्रमुख अंग है।

स्वीकृति :—इस सम्बन्ध में ग्रीन की विचारधारा कान्ट के विपरीत थी। उसका कथन "जन-स्वीकृति, राज्य का आधार है, वाहुवल नहीं" (Will, not force, is the basis of State) एक ऐतिहासिक कथन बन गया है। ऊपरी तौर से इस कथन में लॉक की जन-स्वीकृति की झलक मिलती है। परन्तु ग्रीन की जन-स्वीकृति लॉक के दृष्टिकोण से भिन्न थी। लॉक अनुबन्धवादी था और राज्य को एक संरक्षक की भाँति मानता था। ग्रीन के अनुसार अनुबन्धवाद इतिहास और तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से झूठा है। राज्य संरक्षक नहीं वरन् अनिवार्य और लाभदायक संस्था है।

आदर्श राज्य को जनस्वीकृति पर आश्रित होना चाहिये। उसका संचालन "सामान्य इच्छा" द्वारा होना चाहिये। "सामान्य इच्छा" का अर्थ है सामान्य भलाई की सामान्य चेतना (common consciousness of common good)। जो राज्य इस "सामान्य इच्छा" के अनुसार संचालित नहीं होता उसका अन्त निश्चित है। परन्तु रूसो के विपरीत ग्रीन की "सामान्य इच्छा" जनतंत्रीय न थी। उसके मतानुसार राजतंत्र भी "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति :—ग्रीन एक नानकान्फर्मिस्ट था। नानकान्फर्मिस्टों की भाँति वह जमीन्दारी प्रथा का विरोधी था। उसके अनुसार पूँजीपति की व्यक्तिगत सम्पत्ति तो नैतिक है परन्तु जमीन्दार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं। पूँजीपति का समाज में

उपयुक्त स्थान होता है। जमीन्दार का देश के उत्पादन में कोई क्रियाशील भाग नहीं होता। इसलिए राज्य द्वारा जमीन्दारी प्रथा पर नियंत्रण आवश्यक है।

राज्य विरोध :—ग्रीन के अनुसार कुछ परिस्थितियों में नागरिक राज्य का विरोध कर सकता है। इस दृष्टिकोण से वह ब्रिटिश परम्परा का अनुयायी था, जर्मन आदर्शवाद का नहीं। जर्मन आदर्शवाद राज्य को साध्य और नागरिक को साधन मानता था। जॉन लॉक की व्यक्तिवादी परम्परा के अनुसार व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन। ग्रीन राज्य को आदर्श संस्था तो अवश्य मानता था, परन्तु उसने व्यक्ति को राज्य का दास न बनाया। ग्रीन के अनुसार नागरिक राज्य का विरोध कर सकता है यदि उस विरोध द्वारा समाज-हित की सम्भावना हो और बहुमत उसके पक्ष में हो। ऐसी शर्तों की पूर्ति असम्भव-सी थी। इस प्रकार राज्य-विरोध को न्यायसंगत बताते हुए भी ग्रीन ने उसको असम्भव-सा बना दिया।

शान्ति :—उग्र आदर्शवादी हीगेल के विपरीत और कान्ट के अनुकूल ग्रीन युद्ध-विरोधी और शान्ति-प्रेमी था। उसके अनुसार युद्ध एक राज्य की अपूर्ण आदर्शवादी स्थिति का द्योतक है। विश्व-संघ द्वारा संसार में शान्ति स्थापना ही एक आदर्श स्थिति है।

विशेषताएँ :—(१) संक्षेप में ग्रीन के दर्शन की तीन विशेषताएँ हैं। सर्वप्रथम विशेषता यह है कि उसके अनुसार समाज-हित का राज्य-हित से ऊँचा स्थान है। राज्य समाज का प्रतिनिधि है, स्वामी नहीं। इसलिये राज्य को विश्वसमाज की "सामान्य नैतिक चेतना" के अनुसार संचालित होना चाहिये। यह "सामान्य नैतिक चेतना" शान्ति की पोषक है। इसलिए आदर्श राज्य का ध्येय विश्व-शान्ति होना चाहिये। ग्रीन के आदर्श राज्य का ध्येय सामाजिक प्रगति भी था। यदि राज्य इस ध्येय की पूर्ति में असफल हो तो नागरिकों द्वारा राज्य-विरोध न्यायसंगत है। अतः राज्य के अधिकार और कार्य समाज और विश्व-समाज के हित के अनुकूल होने चाहिये।

(२) सामाजिक हित का स्थान मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओं और स्वार्थों से ऊँचा है; लॉक और अन्य व्यक्तिवादी मनुष्य के निजी हितों की अपेक्षा सामाजिक हित को ऊँचा स्थान देते थे। ग्रीन ने इस विचारधारा का खंडन किया। इसके अनुसार व्यक्ति का समाज के विपरीत कोई अधिकार नहीं हो सकता। जैसा ऊपर कहा गया है, ग्रीन नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्तों का विरोधी था। उसका विचार था कि व्यक्ति का अधिकार समाज-हित के विपरीत नहीं हो सकता। समाज-हित द्वारा ही व्यक्ति का हित और उसकी वृद्धि सम्भव हो सकती है। इस प्रकार नागरिक की इच्छाएं

इस स्वतंत्रता की ओट में श्रमिकों से कम वेतन में काम लेते हैं। राज्य को अनुबन्ध की स्वतंत्रता की रक्षा तो अवश्य करनी चाहिये, परन्तु साथ ही साथ गरीब श्रमिकों के हित का भी ध्यान रखना चाहिये। तभी अनुबन्ध की स्वतंत्रता नैतिक और न्यायसंगत हो सकती है

सारांशः—इस प्रकार ग्रीन ने नैतिकता की वृद्धि के नाते ब्रिटेन की व्यक्तिवादी परम्परा के प्रतिकूल एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। उसने "यद्भाव्यम् नीति" का खंडन किया। इस विचारधारा में जर्मन-आदर्शवाद की झलक स्पष्ट है। उसने स्वतंत्रता और अधिकारों की आदर्शवादी परिभाषा प्रस्तुत की परन्तु ब्रिटिश परम्परा का पूर्णतः परित्याग नहीं किया। व्यक्तित्व को भले ही उसने 'कान्ट' वाली दृष्टि से देखा हो, परन्तु एक व्यक्तिवादी परम्परा के अनुयायी की भांति उसने व्यक्तित्व का परित्याग नहीं किया। वह व्यक्ति को राज्य-विरोध का अधिकार भी प्रदान करता है चाहे यह अधिकार सीमाओं से कितना ही जकड़ा हुआ क्यों न हो। इस प्रकार ग्रीन नवीन व्यक्तिवादी कहा जाता है।

ग्रीन ने ग्रीक और जर्मन-आदर्शवाद को बहुत हद तक अपनाया। परन्तु जिस प्रकार उसने नैतिकता के नाम पर ब्रिटिश उग्र व्यक्तिवाद से सम्बन्ध विच्छेद किया उसी प्रकार उसी नैतिकता के नाम पर उसने जर्मनी के उग्र आदर्शवाद को नहीं अपनाया। आदर्शवादी होते हुए भी उसके दर्शन में व्यक्ति-स्वातंत्र्य को उच्च स्थान प्राप्त है। व्यक्ति ही उसके समस्त दर्शन का आधार है। इस नाते ग्रीन नवीन आदर्शवादी कहा जाता है।

ग्रीन ने राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र का समन्वय किया। आचारशास्त्र द्वारा ही उसने राजनीतिशास्त्र में प्रवेश किया था। इसलिए उसने सदैव नैतिकता को अपने दर्शन का आधार बनाया। उसने ब्रिटिश-व्यक्तिवाद पर जर्मन-आदर्शवाद की तथा जर्मन-आदर्शवाद पर ब्रिटिश-व्यक्तिवाद की पुट दी।

ब्रैडले-बोसांके

एफ० एच० ब्रैडले (F. H. Bradley, १८४६—१९२४) की विचारधारा उसकी पुस्तक (Ethical Studies) के एक अध्याय में 'मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य' (My Station and its Duties) में मिलती है। उसका कहना था कि मनुष्य का समाज से बाहर कोई अस्तित्व नहीं है। समाज द्वारा ही उसको भाषा, विचार आदि प्रदान होते हैं। मनुष्य का शरीर एक पैतृक सम्पत्ति है। परन्तु बिना समाज के यह सम्पत्ति प्रगति नहीं कर सकती। व्यक्तित्व की वृद्धि के लिए समाज अनिवार्य है। व्यक्ति को एक सीमा तक

समाज में अपना स्थान चुनने की स्वतंत्रता तो अवश्य होनी चाहिये। परन्तु स्थान चुनने के पश्चात् स्थान सम्बन्धी सभी कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक है। केवल उसी अवस्था में व्यक्तित्व की वृद्धि हो सकती है और व्यक्ति अपने अस्तित्व को प्राप्त कर सकता है इस प्रकार ब्रैडले के अनुसार नागरिक का कर्तव्य है कि वह समाज और राज्यसेवा अपने जीवन का साधन बनायें। तभी व्यक्तित्व की वृद्धि सम्भव हो सकती है।

बोसाँके (B. Bosanquet, १८४८—१९२३) :—ब्रिटेन, जैसा कहा गया है, व्यक्तिवाद का गढ़ था। यहाँ जर्मन-आदर्शवाद अधिक न पनप सका। केवल बोसाँके ही ऐसा दार्शनिक था जिसने जर्मनी के उग्र आदर्शवाद को अपनाया। ब्रिटेन के व्यक्तिवाद का दार्शनिक प्रभाव इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ जर्मनी में हीगेलवादी दार्शनिक कई हुए हैं, ब्रिटेन में बोसाँकेवादी दार्शनिक कोई भी न हुआ।

बोसाँके ऑक्सफोर्ड में शिक्षक था। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक (Philosophical Theory of the State) में उसके दर्शन की विशेषता मिलती है। उसने रूसो की "सामान्य इच्छा" के सिद्धान्त को हीगेलवादी पुट दिया। जैसा रूसो के सम्बन्ध में बताया गया है उसके जनतंत्रीय सिद्धान्त को प्रतिक्रियावादी रूप बोसाँके द्वारा ही दिया गया था।

सामान्य इच्छा :—बोसाँके ने रूसो की "सामान्य इच्छा" का इस प्रकार विश्लेषण किया। प्रत्येक व्यक्ति की दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं—पहली स्वार्थी इच्छा (actual will) और दूसरी सामाजिक या विवेकशील इच्छा (real will)। इन दोनों इच्छाओं का अर्थ उनके नाम से ही स्पष्ट है। स्वार्थी इच्छा निजी हित की इच्छा को कहते हैं। सामाजिक इच्छा समाज-हित को भी दृष्टि में रखती है; वह स्वार्थी इच्छा नहीं है अपितु विवेक पर आश्रित होती है। समाज या राज्य की इच्छा "सामान्य इच्छा" (general will) है। यह "सामान्य इच्छा" व्यक्तियों की सामाजिक इच्छा का प्रदर्शन करती है। एक सबकी इच्छा (will of all) भी हुआ करती है। यह व्यक्तियों की स्वार्थी इच्छा का योग है। बोसाँके ने राज्य की इच्छा को "सामान्य इच्छा" बताया।

बोसाँके के दर्शन का ज्ञान निम्नलिखित तीन विशेषताओं द्वारा हो सकता है :—

१—नैतिकता की दृष्टि से एक व्यक्ति तभी स्वतंत्र कहा जा सकता है जब वह अपनी सामाजिक इच्छा के अनुसार काम करे। एक चोर नैतिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं माना जा सकता, क्योंकि चोरी करना सामाजिक इच्छा के प्रतिकूल है। चोरी करना स्वार्थी इच्छा का उदाहरण है।

२—व्यक्ति की सामाजिक इच्छा समाज की "सामान्य इच्छा" से अभिन्न है।

३—यह "सामान्य इच्छा" राज्य में निहित है। अर्थात् राज्य के नियम "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसलिए राज्य के नियमों का पालन करने का अर्थ है "सामान्य इच्छा" का पालन करना। "सामान्य इच्छा" का पालन करने का अर्थ है व्यक्ति की सामाजिक इच्छा का पालन करना और सामाजिक इच्छा का पालन करना ही वास्तविक स्वतंत्रता है। अतः मनुष्य अपनी निजी इच्छाओं के पालन करने की अपेक्षा राज्य के नियमों के पालन करने से अधिक स्वतंत्र होता है अर्थात् राज्य के नियमों के पालन करने में ही वास्तविक स्वतंत्रता निहित है।

बोसांके ने इस विचारधारा के स्पष्टीकरण के लिए एक चोर का उदाहरण दिया। एक चोर का चोरी करने का कार्य उसकी स्वार्थी इच्छा का प्रतिविम्ब है। यह कार्य उसकी वास्तविक स्वतंत्रता के अनुसार नहीं है। न्यायाधीश का चोर को दंड देने का निर्णय चोर की सामाजिक या विवेकशील इच्छा का प्रतीक है, चोर भले ही इस बात का अनुभव न करे। इसी प्रकार चोर का पुलिस के सिपाही द्वारा कारागार की ओर ले जाने का कार्य उसकी सामाजिक इच्छा का प्रतीक है, वह भले ही इस बात का अनुभव न कर सके। बोसांके के अनुसार चोर की वास्तविक स्वतंत्रता चोरी करने में नहीं, वरन् दंड भोगने में है।

इस प्रकार समाज या राज्य के नियमों के पालन करने से ही नागरिक की वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। रूसो की भांति बोसांके का कहना था कि राज्य "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व करता है। रूसो की तरह वह यह भी मानता था कि "सामान्य-इच्छा" सदा न्यायसंगत है और उसका ध्येय सदा ही सामाजिक हित है। रूसो के मतानुकूल बोसांके भी स्वीकार करता है कि "सामान्य इच्छा" और "सबकी इच्छा" में परस्पर विभिन्नता है। उसका भी विचार था कि नागरिकों को "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-संचालन के लिए बाध्य किया जायगा क्योंकि दोनों दार्शनिकों के मतानुकूल राज्य की "सामान्य इच्छा" के अनुसार कार्य करने से ही वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है।

परन्तु बोसांके ने रूसो के जनतंत्रीय सिद्धान्त को एक विपरीत रूप दिया। रूसो ने कहा था कि एक राज्य की इच्छा तभी सामान्य हो सकती है जब वह रूप, ध्येय और स्रोत की दृष्टि से सामान्य हो। बोसांके ने कहा कि प्रत्येक राज्य की इच्छा "सामान्य इच्छा" है। इसलिए वह इच्छा रूप ध्येय और स्रोत की दृष्टि से

सामान्य है। इस प्रकार जहाँ रूसो की "सामान्य इच्छा" केवल प्रत्यक्ष जनतंत्र में ही सम्भव हो सकती थी, बोसाँके ने अपने उच्चकोटि के तर्क से उसे राज्य में संश्लिष्ट कर दिया, चाहे वह तानाशाही राज्य ही क्यों न हो। एक तानाशाह की इच्छा भी बोसाँके के अनुसार "सामान्य-इच्छा" है। रूसो ने कहा था कि जनतंत्रीय और आदर्श "सामान्य इच्छा" के अनुसार जीवन-निर्वाह के लिए व्यक्तियों को बाध्य किया जायगा, जिसका अर्थ होगा—नागरिकों को स्वतंत्र होने के लिए बाध्य करना। यह काफी हद तक न्यायसंगत माना जा सकता है, क्योंकि रूसो के अनुसार राजसत्ता नागरिकों में ही निहित थी। परन्तु बोसाँके के मतानुकूल एक अधिनायक की आज्ञा के अनुसार जीवन-संचालन करने से नागरिक वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। उसके मतानुसार अधिनायक की इच्छा के अनुकूल भी जीवन-संचालन करने के लिए नागरिक को बाध्य किया जायगा, जिसका अर्थ होगा उसे स्वतंत्र होने के लिए बाध्य करना।

व्यवस्थापक का ध्येय:—बोसाँके के अनुसार व्यवस्थापक या राजसत्ताधारी का कर्त्तव्य है कि वह "सामान्य इच्छा" के, जो नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रतिबिम्ब है, अनुकूल नियम-निर्माण करे, भले ही नागरिक ऐसे नियमों का विरोध करें। यह विरोध उनके अज्ञान का प्रतीक है। वे अपनी सामाजिक इच्छा को, जो राज्य की इच्छा में निहित है, नहीं जानते। वे अपनी स्वार्थी और तत्कालीन इच्छा से प्रभावित होकर नियम का विरोध करते हैं, वे उत्तेजित होकर यह नहीं देख सकते कि वास्तव में राज्य का नियम उनकी सामाजिक इच्छा का प्रतीक है।

बोसाँके का यह तर्क एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायगा। "अ" नदी में तैरना चाहता है। "ब" उसको तैरने से रोकना चाहता है क्योंकि नदी में उस स्थान पर घड़ियाल एवं मगर अधिक संख्या में हैं। "अ" इस परामर्श को नहीं मानता, वह तैरना प्रारम्भ करता है और कुछ ही समय पश्चात् मगर का शिकार बन जाता है। "अ" का तैरने का कार्य उसकी स्वार्थी इच्छा के अनुसार था। "ब" का परामर्श "अ" की सामाजिक और विवेकशील इच्छा के अनुसार था। इसी प्रकार व्यवस्थापक नागरिक की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधि है और विरोधी नागरिक "अ" की भाँति स्वार्थी इच्छा के अनुकूल कार्य करते हैं।

एक और उदाहरण इस सम्बन्ध में दिया जा सकता है। भारतवर्ष में कुछ आवश्यक वस्तुओं पर नियंत्रण (कंट्रोल) है। यह कंट्रोल नागरिकों की विवेकशील इच्छा की पूर्ति करता है। स्वार्थी इच्छा से प्रभावित होकर कुछ नागरिक इस नियंत्रण का

विरोध कर सकते हैं और करते ही हैं। परन्तु यह विरोध उनकी तत्कालीन, क्षणिक या स्वार्थी इच्छा के अनुसार हुआ, क्योंकि वे भविष्य की स्थिति के दृष्टिकोण से नहीं सोचते। इस प्रकार बोसांके के अनुसार राज्य कभी भी अनैतिक या गलत कार्य नहीं कर सकता। वह सर्वदा नागरिकों की विवेकशील इच्छा के अनुसार ही कार्य करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र :—बोसांके राज्य को न केवल घरेलू विषयों में ही वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी निरंकुश बनाना चाहता था। राज्य कोई भी अनैतिक कार्य नहीं कर सकता। नैतिकता की परख व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा ही हो सकती है। एक मनुष्य का कार्य नैतिक या अनैतिक तभी कहा जा सकता है जब उस कार्य का प्रभाव समाज पर अंकित होता है। वह मनुष्य नैतिकता या अनैतिकता से परे है जो समाज से बाहर हिमालय की गुफाओं में निवास करता हो। ऐसे मनुष्य का कार्य आचारशास्त्र की कसौटी पर नहीं परखा जा सकता। बोसांके के अनुसार राज्य की भी यही स्थिति है। यह कहना बिलकुल गलत है कि राज्य चोरी या हत्या कर सकता है। राज्य तो नागरिकों की नैतिक सृष्टि का संरक्षक है, वह किसी भी संगठित नैतिक सृष्टि का अंग नहीं है। अर्थात् बोसांके हीगेल की भांति अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और अनुबन्धों को स्थान नहीं देता। उसके अनुसार युद्धकाल में यह नहीं कहा जा सकता कि एक राज्य हत्या का अपराधी है। जब कोई राज्य सन्धि-विच्छेद करता है, या अन्य राज्यों को अपनी सीमा में मिलाता है तो वह चोरी का अपराधी नहीं कहा जा सकता।

अतः बोसांके, हीगेल की भांति, उग्र आदर्शवादी है। उसने रूसोवाद को अवश्य अपनाया, परन्तु उसकी आत्मा को छोड़ कर। अर्थात् उसने रूसो के निरंकुशतावाद को ग्रहण किया, परन्तु रूसो के जनतंत्र को नहीं। यदि रूसो को यह ज्ञात हो सके कि उसके जनवादी दर्शन को बोसांके द्वारा विकृत स्वरूप दिया गया है तो यह निश्चित है कि स्वर्ग में भी उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती। बोसांके ने राज्य को पूर्णतः निरपेक्ष बनाया। राज्य सब कुछ है, व्यक्ति कुछ भी नहीं। राज्य साध्य है, साधन नहीं। ब्रिटेन में उसके द्वारा हीगेलवाद की व्याख्या की गयी। राज्य पर न तो व्यक्ति का प्रतिबन्ध है और न अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का ही। राज्य सर्वेसर्वा है।

समीक्षा

अनुबन्धवाद के फलस्वरूप एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जिससे राज्य एक कृत्रिम संस्था मानी जाने लगी। व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान मिला और सामाजिक हित को निम्न। ह्यूम, वेन्थम आदि दार्शनिकों ने उपयोगिता को राज्य के जन्म का कारण बताया। उन्होंने राज्य के अनुबन्धवादी और कृत्रिम रूप का तो अवश्य खंडन किया, परन्तु उपयोगिता के आधार पर व्यक्ति-हित को सर्वेसर्वा माना। आदर्शवाद ही सर्वप्रथम आधुनिक दर्शन था जिसने राज्य को पूर्णतः प्राकृतिक संस्था बताया। व्यक्ति स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। इस नाते वह अन्य संस्थाएँ बनाता है। यही प्रवृत्ति राज्य की धात्री है। व्यक्ति का राज्य में रहना इस आन्तरिक मनोवृत्ति का निर्देशक है। राज्य का आधार नागरिक की स्वेच्छा नहीं है, जैसा अनुबन्धवाद का तथ्य है। राज्य का जन्म उपयोगिता की पूर्ति के लिए नहीं हुआ, जैसा उपयोगितावादी कहते हैं। राज्य तो व्यक्ति की सामाजिक मनोवृत्ति का प्रतिविम्ब है, वह एक अनिवार्य संस्था है। मानव जीवन में उसका उच्च स्थान है।

परन्तु आदर्शवादी दर्शन निरपेक्षतावादी है। इसके अनुसार राज्य साध्य है, व्यक्ति साधन। आदर्शवाद व्यक्ति को राज्य का दासतुल्य बनाता है। यह विचारधारा पूर्णतया मानवता-विरोधी है।

आदर्शवाद की पुष्टि में सावयववाद था। सावयववाद के अनुसार व्यक्ति अंग की भाँति है और राज्य सावयव की भाँति। नागरिक (अंग) हित और राज्य (सावयव) हित अन्योन्याश्रित हैं। इस विचारधारा के आधार पर आदर्शवाद ने बताया कि राज्य की अनुपस्थिति में नागरिक की बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। संगठित समाज या राज्य के बाहर सभ्य जीवन सम्भव नहीं हो सकता। यह इस सिद्धान्त की इतनी ही बड़ी देन है, जितनी व्यक्तिवाद की "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख"। अब आदर्शवाद के फलस्वरूप राज्य एक आवश्यक विकार न रहा, वह एक अनिवार्य संस्था माना जाने लगा। जॉन लॉक के परम्परानुसार व्यक्तिवादी दर्शन ने नकारात्मक स्वतंत्रता को न्यायसंगत बताया। "यद्भाव्यम् नीति" द्वारा ही व्यक्ति की स्वतंत्रता सम्भव मानी जाती थी। आदर्शवाद ने स्वतंत्रता को सकारात्मक रूप दिया और बताया कि स्वतंत्रता केवल राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। यह भी इस दर्शन की एक बड़ी देन थी।

१७वीं सदी में हाब्स ने एक "दीर्घकाय" या "मानव देव" को नागरिकों के सम्मुख उपस्थित किया था। यह कहा गया था कि यह सत्ताधारी "दीर्घकाय" मनुष्यों की सुरक्षा के हेतु है (J. Brown)। १९वीं सदी में आदर्शवादियों ने एक "दीर्घकाय" को समाजशास्त्र में प्रस्तुत किया और कहा कि यह नागरिक के हितों के हेतु है। यह नया "दीर्घकाय" आदर्शवादियों का राज्य है। अस्तु मध्यकालीन दैवांश सिद्धान्त को उच्च कोटि के तर्क और छायावादी शब्द-जाल द्वारा नये रूप में प्रस्तुत किया गया। यह कहकर कि स्वतंत्रता, अधिकार आदि केवल राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं, आदर्शवादियों ने राज्य को सर्वसर्वा बनाया। हीगेल का राज्य "विश्वात्मा" या "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" का प्रतिबिम्ब है। बोसांके का राज्य "सामान्य इच्छा" का प्रतीक है। ऐसे उग्र आदर्शवादियों ने कहा कि राज्य चाहे वह पूर्णतः अधिनायकवादी ही क्यों न हो, उसकी आज्ञा के पालन से नागरिक स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। इस प्रकार व्यक्ति और व्यक्तित्व का संहार किया गया। राज्य के अत्याचारों को "विश्वात्मा" और "सामान्य इच्छा" की ओट में न्यायसंगत और स्वतंत्रतावर्द्धक बताया गया।

आदर्शवाद द्वारा राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुआ। यह समन्वय भी इस दर्शन की देन है। इसके पूर्व के आधुनिक सिद्धान्त (अनुबन्धवाद और व्यक्तिवाद) मनुष्य की केवल भौतिक मनोवृत्ति और प्रगति पर ध्यान देते थे। अनुबन्धवादियों के अनुसार (रूसो को छोड़ कर) राज्य का जन्म व्यक्तियों की भौतिक वृद्धि के लिए हुआ था। व्यक्तिवादियों की दृष्टि से राज्य का ध्येय उपयोगिता की वृद्धि समझा जाता था। इस वातावरण के विपरीत आदर्शवादियों ने नैतिक प्रगति को उच्च स्थान दिया। नैतिकता की वृद्धि ही राज्य तथा नागरिक का सर्वश्रेष्ट लक्ष्य माना गया। नागरिक स्वतंत्रता और अधिकार नैतिकता की पृष्टभूमि में ही न्यायसंगत और उपयुक्त हो सकते हैं।

परन्तु आदर्शवाद के फलस्वरूप राजनीतिशास्त्र में छायावादी विचारधारा और भाषा ने भी प्रवेश किया। भविष्य के अधिनायकवादियों ने ऐसी भाषा द्वारा अपनी निरंकुशता को न्यायसंगत बताया। आधुनिक काल में हिटलर और मुसोलिनी जैसे तानाशाहों ने ऐसी भाषा द्वारा जनता को धोखा दिया। यह तो अवश्य ठीक है कि व्यक्ति की नैतिकता केवल सुव्यवस्था में ही सम्भव हो सकती है, परन्तु यह कहना न्यायसंगत नहीं लगता कि राज्य नैतिकता का प्रतिबिम्ब या संरक्षक है। उग्र आदर्शवादी दार्शनिक (हीगेल और

बोसांके) राज्य को केवल व्यक्ति की नैतिकता का संरक्षक ही नहीं बताते, वे राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से भी मुक्त करते हैं। बोसांके का कहना था कि राज्य कोई भी अनैतिक कार्य नहीं कर सकता; वह नैतिकता से परे है। युद्ध सम्बन्धी अत्याचार अनैतिक नहीं कहे जा सकते। वास्तव में ये दार्शनिक राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार हाब्स ने प्राकृतिक मनुष्य की थी।

आदर्शवाद प्रतिक्रियावादियों की कार्यनीति का अंग है। आधुनिक युग के रूढ़िवादियों ने सदा ही राज्य को आदर्श संस्था का रूप दिया। हीगेलवाद द्वारा उग्र राष्ट्रवाद एवं अधिनायकवाद को पुष्टि मिली। इसीलिये हीगेलवाद को प्रशनवाद (Prussianism) भी कहा जाता है। ट्रिश्के (Treitschke) ने हीगेल के दर्शन को चरम सीमा पर पहुँचाया और जर्मन तानाशाही को न्यायसंगत बताया। जोड (C. E. M. Joad) के मतानुसार आदर्शवाद सैद्धान्तिक दृष्टि से असार और वास्तविक दृष्टि से असत्य है। इस दर्शन की आड़ में आधुनिक राज्य अपने अनैतिक कार्यों को न्यायसंगत बताने का प्रयत्न करते हैं।

सारांश

आदर्शवाद का जन्म ग्रीक युग में हुआ था। अफलातून और अरस्तू इस दर्शन के प्रमुख वेत्ता थे। राज्य को एक प्राकृतिक संस्था माना जाता था। राज्य और समाज में कोई भेद न था, बिना राज्य के नैतिकता और स्वतंत्रता सम्भव न थी।

सदियों तक यूरोप उक्त महान् विचारों को भूले हुए था। १८वीं सदी में रूसो की जनतंत्रीय "सामान्य इच्छा" द्वारा इसका पुनर्जन्म हुआ। उसने बताया कि नैतिकता, अधिकार और स्वतंत्रता केवल राज्य में ही सम्भव हो सकती हैं। रूसो की "सामान्य इच्छा" और उक्त ग्रीक देन का पुनरुत्थान आधुनिक आदर्शवाद के आधार बने।

कान्ट आधुनिक आदर्शवाद का जन्मदाता था। ब्रिटेन में ग्रीन सर्वप्रथम आदर्शवादी दार्शनिक था। इन दोनों ने तत्कालीन उदारवादी परम्परा से सम्बन्ध विच्छेद न किया। वे उदार आदर्शवादी थे। राज्य को आदर्श संस्था मानते हुए भी उन्होंने व्यक्ति के अस्तित्व को ऊँचा स्थान दिया। उन्होने व्यक्तिवादी स्वतंत्रता (स्वेच्छानुसार कार्य) के स्थान पर नैतिक स्वतंत्रता को वास्तविक स्वतंत्रता बताया। इस स्वतंत्रता का अर्थ था—ऐसे कार्यों की स्वतंत्रता जो समाज के लिए हितकर सिद्ध हों, अर्थात् कार्यान्वित करने योग्य हों। ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकारों के स्थान

पर आदर्श अधिकारों को उचित बताया। ये अधिकार भी समाज हित के लिए होने चाहिये।

कान्ट और ग्रीन जनतंत्र विरोधी न थे, वे "यद्भाव्यम् नीति" के भी पक्षपाती न थे। उनके अनुसार नैतिकता और वास्तविक स्वतंत्रता के हेतु राज्य को रुकावटों को रोकना चाहिये। ग्रीन के मतानुकूल कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति राज्यविरोध कर सकता है। ये दोनों दार्शनिक विश्वशान्ति के प्रेमी थे। ग्रीन का ऐतिहासिक वाक्य "स्वीकृति ही राज्य का आधार है, बाहुबल नहीं" आधुनिक जनतंत्र के लिए बड़ी देन है।

फिक्टे ने जर्मनी में कान्ट के आदर्शवाद को उग्र रूप दिया और साथ ही साथ राष्ट्रवाद को भी। ब्रिटेन में ब्रैडले ने नागरिक के कर्त्तव्यों पर जोर दिया और ग्रीन के आदर्शवाद की पुष्टि की। हीगेल और बोसांके के हाथों यह दर्शन उग्रता की चरम सीमा पर पहुँचा।

द्वन्द्ववादी प्रणाली द्वारा मानवजाति की निरन्तर प्रगति होती आयी है। यह विचारधारा हीगेल की महान् देन है। जर्मन राज्य तथा जाति इस निरन्तर मानव-प्रगति की चरम सीमा है। उसने राज्य को "विश्वात्मा" एवं "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" का प्रतिबिम्ब बताया। उच्च तर्क द्वारा हीगेल ने राज्यशास्त्र को छायावादी रूप दिया। स्वतंत्रता, अधिकार और नैतिकता केवल राज्य-नियमों के पालन में ही सम्भव है। राज्य साध्य है, व्यक्ति साधन। हीगेल ने समाज को राज्य के अधीन बनाया। वह संघों के पक्ष में था परन्तु राज्य को इन संघों से ऊँचा स्थान देता था। उसका दर्शन अधिनायकवादी था। उसका आदर्श राज्य नौकरशाही के लिए स्वर्ग था। वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और सन्धियों को सारहीन मानता था तथा युद्ध का पक्षपाती था। द्वन्द्ववाद द्वारा हीगेल ने १९वीं सदी के दैवी सिद्धान्त को एक नवीन एवं छायावादी रूप में प्रस्तुत किया। उसके उग्र राष्ट्रवाद और आदर्शवाद से जर्मनी की आधुनिक प्रतिक्रियावादी, सैन्यवादी और अधिनायकवादी विचारधारा को प्रोत्साहन मिला।

ब्रिटेन में बोसांके ने रूसो की "सामान्य-इच्छा" के सिद्धान्त को हीगेलवादी पुट दिया। जहाँ रूसो ने केवल प्रत्यक्ष जनतंत्रीय राज्य की इच्छा को "सामान्य-इच्छा" बताया था, वहाँ बोसांके ने कहा कि प्रत्येक राज्य की इच्छा "सामान्य-इच्छा" है। बोसांके के दर्शन के अनुसार अधिनायकवादी या अत्याचारी राज्य के नियमों के पालन करने में ही वास्तविक स्वतंत्रता और नैतिकता सम्भव है। नियम पालन करना नागरिक की विवेकशील और सामाजिक इच्छा का प्रतीक है। यही तो स्वतंत्रता है।

रूसो के इस वाक्य को—"व्यक्तियों को स्वतंत्र होने के लिये बाध्य किया जायगा" बोसाँके ने प्रतिक्रियावादी रूप देकर इसका दुरुपयोग वैसे ही किया जैसे "सामान्य इच्छा" का। इस प्रकार बोसाँके ने भी राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन बताया। हीगेल की भाँति वह भी विश्व-शान्ति का प्रेमी न था। वह राज्य को नैतिकता का संरक्षक मानता था और उसे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से परे बताता था।

आदर्शवाद की सब से बड़ी देन यह है कि उसने राज्य को प्राकृतिक एवं अनिवार्य संस्था बताया और इस बात पर जोर दिया कि व्यक्तित्व की वृद्धि केवल राज्य में ही सम्भव हो सकती है। परन्तु इस दर्शन ने व्यक्ति को दास-तुल्य बनाया और राज्य को सर्वेसर्वा। यह तो सत्य है कि इस सिद्धान्त द्वारा राज्यशास्त्र का आचारशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, परन्तु यह भी सत्य है कि इस दर्शन द्वारा राजनीतिशास्त्र में छायावाद ने प्रवेश किया। छायावादी शब्द-जाल द्वारा ही राज्य को हीगेल ने ईश्वर-तुल्य और बोसाँके ने "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधि बताया।

यह तो सत्य है कि नैतिकता तथा स्वतंत्रता केवल सुव्यवस्था में ही सम्भव हो सकती है, परन्तु यह भी सत्य है कि इस सिद्धान्त द्वारा एक नवीन "दीर्घकाय" तथा १६वीं सदी के दैवांश सिद्धान्त का पुनर्जन्म हुआ। यह दर्शन रूढ़िवादियों की कार्य-पद्धति का एक अंग है।

पञ्चम अध्याय

साम्यवाद

(COMMUNISM)

समाजवादी दर्शनों में सर्वप्रमुख स्थान साम्यवाद का है। इस दर्शन का जन्मदाता कार्ल मार्क्स था। इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक समाजवाद या मार्क्सवाद भी कहते हैं।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx, १८१८—८३) के पूर्व भी कई दार्शनिकों ने आदर्श साम्यवादी समाज का चित्रण किया था। अफलातून, मोर आदि के नाम इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध हैं। प्रायः सभी धार्मिक नेताओं ने साम्यवादी समाज को मानव-जाति का आदर्श बताया था। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का भी यही अभिप्राय है। इन सब का सार यह था कि मनुष्य जाति के सुख के लिए साम्यवाद आवश्यक है। किन्तु समाजवाद को वैज्ञानिक रूप मार्क्स द्वारा मिला।

मार्क्स ही सर्वप्रथम वेत्ता था जिसने बताया कि साम्यवाद आवश्यक ही नहीं वरन् अवश्यम्भावी भी है। वह इस परिणाम पर इतिहास के विश्लेषण द्वारा पहुँचा था। वह एक नयी ऐतिहासिक-विश्लेषण-पद्धति का जन्मदाता है। पूँजीवाद का वह सर्वश्रेष्ठ आलोचक माना जाता है।

मार्क्स को अपने दर्शन के विश्लेषण में अपने मित्र फ्रेडरिक एंगेल्स (Friedrich Engels, १८२०—९५) द्वारा विशेष मदद मिली। उसी के दर्शन के आधार पर लेनिन (Nikolai Lenin, १८७०—१९२४) के नेतृत्व में १९१७ में रूस की क्रान्ति हुई। लेनिन ने मार्क्सवाद को व्यावहारिक रूप दिया और नयी परिस्थिति में उसकी व्याख्या की। लेनिन की मृत्यु के पश्चात् सोवियत् रूस का नेतृत्व स्तालिन (Joseph Stalin, १८७९—

१९५३) के हाथों में आया। उसने इसके संगठन के सम्बन्ध में मार्क्सवाद की पुनः व्याख्या की। चीन में माओ-त्से-तुंग (Mao Tse-tung, १८९३—) ने करीब बीस वर्षों तक कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व किया। उसने भी मार्क्सवाद को नयी परिस्थितियों में लागू किया। त्रात्स्की (Leon Trotsky; १८७७—१९४०) ने भी मार्क्सवाद की व्याख्या की थी।

मार्क्स का जन्म जर्मनी के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। वकालत की शिक्षा ग्रहण कर उसने पत्रकारिता को अपनाया। समय पाकर उसने प्रचलित हीगेलवाद का अध्ययन किया। मानवतावाद से प्रेरित होकर वह युवावस्था में ही श्रमिक आन्दोलन की ओर अग्रसर हुआ। शीघ्र ही वह इस आन्दोलन का नेता बन गया। जीवन भर उसकी जीविका का आधार उसके लेख और उसके मित्र एंगेल्स की सहायता थी। वह केवल लेखक ही नहीं वरन् श्रमिक आन्दोलन का नेता भी था। गरीबी की अवस्था में भी उसने अपने ध्येय का परित्याग न किया। शायद मानव इतिहास में उससे अधिक निर्धन दार्शनिक कोई नहीं हुआ है। विरोधी भी उसको मानव इतिहास में वैसा ही ऊँचा स्थान देते हैं जैसा अफलातून, अरस्तू, हाब्स, रूसो तथा हीगेल को। जिस किसी विषय पर भी उसने कलम उठायी, एक नया विचार प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ, उसने भारतवर्ष के सम्बन्ध में करीब छः लेख लिखे थे। ये लेख उसके विश्लेषण, परिज्ञान एवं अपूर्व बुद्धि के परिचायक हैं। उसकी मुख्य कृतियाँ हैं:—Poverty of Philosophy; Manifesto of the Communist Party; Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte; A Contribution to the Critique of Political Economy; The Capital; Civil War in France; The Gotha Programme; Class Struggles in France; Revolution and Counter-Revolution आदि।

एंगेल्स एक धनी व्यवसायी कुटुम्ब का था। उसका पिता प्रशा का एक व्यवसायी था। किन्तु बाद में एंगेल्स ब्रिटेन के व्यवसायी शहर मैन्चेस्टर में (१८४२ ई० में) आकर बस गया। उसने जीवन का अधिक भाग वहीं व्यतीत किया। वह एक मिल मालिक था। १८४४ में वह मार्क्स के सम्पर्क में आया। यह सम्पर्क आजीवन रहा। उसने मार्क्स को केवल आर्थिक सहायता ही नहीं अपितु बौद्धिक सहायता भी दी। मार्क्स के मूल विचारों की पुष्टि एंगेल्स के परामर्श के फलस्वरूप हुई थी। कई पुस्तकों में इन दोनों वेत्ताओं का सहयोग स्पष्ट है। मार्क्स की मृत्यु के बाद यूरोप के श्रमिक आन्दोलन का

दार्शनिक नेतृत्व एंगेल्स ने ही किया था। उसने मार्क्स के सिद्धान्तों को तत्कालीन विज्ञान तथा दर्शन पर लागू किया। इस सम्बन्ध में उसकी Anti-Duehring और Ludwig Feuerbach दो प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। इतिहास के सम्बन्ध में उसकी सुविख्यात पुस्तक का नाम The Origin of the Family, Private Property and State है। उसकी दो और पुस्तकें Socialism, Utopian and Scientific तथा Condition of the Working class in England महत्त्वपूर्ण हैं।

लेनिन का जन्म रूस के मध्यमवर्गीय घराने में हुआ था। छात्रावस्था से ही उसकी रुचि राजनीति में थी। सत्रह वर्ष की अवस्था में ही उसका क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हुआ। क्रान्तिकारी कार्यों के फलस्वरूप उसे विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। तदनन्तर उसने क्रान्तिकारी जीवन अपनाया। वह रूस के क्रान्तिकारी बोल्शेविक (Bolshevik) दल का जन्मदाता और दार्शनिक बना। उन्नीसवीं सदी के अन्त में उसने रूसी श्रमिक आन्दोलन को सुधारवादी नेतृत्व से विच्छेद किया। बीसवीं सदी के आरम्भ में रूस का समाजवादी जनतांत्रिक दल (Social Democratic Party) दो पक्षों में विभक्त हुआ, बोल्शेविक या बहुमत और मेनशेविक (Menshevik) या अल्पमत। बोल्शेविक दल पूर्णतः क्रान्तिकारी था। लेनिन उसका नेता था। उसका द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय में भी प्रमुख स्थान था। १९०७ और १९१० के सुप्रसिद्ध महायुद्ध सम्बन्धी प्रस्तावों में उसीका मुख्य हाथ था। (इस अध्याय के अन्त में देखिये)। प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) में वह यूरोप के क्रान्तिकारी श्रमिक आन्दोलन का सर्वप्रमुख नेता बना। १९१७ (फरवरी) में रूस की प्रथम क्रान्ति हुई। कई वर्षों के देश-निर्वासन के बाद वह रूस वापिस आया। अक्टूबर १९१७ में उसके नेतृत्व में रूस की समाजवादी क्रान्ति हुई। इसके पश्चात् मृत्यु-पर्यन्त वह सोवियत शासन का प्रमुख सूत्रधार रहा। लेनिन ने कई पुस्तकें लिखीं। प्रायः सभी का वादानुवादी रूप है। उसने अन्य विचारधाराओं का खंडन किया। इस खंडन-कार्य में मार्क्सवाद ही उसका सहायक था। उसने मार्क्सवाद की व्याख्या नई परिस्थितियों में की। उसकी सारी कृतियां ग्यारह ग्रन्थों में संकलित हैं।

स्तालिन का जन्म तिफ्लिस प्रान्त के एक गांव में हुआ था। उसका पिता जन्म से किसान था किन्तु पेशे से मोची। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा एक धार्मिक स्कूल में हुई थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही क्रान्तिकारी दल से सम्बन्ध स्थापित कर उसने मार्क्सवाद का अध्ययन आरम्भ किया। बीस वर्ष की अवस्था में मार्क्सवादी आन्दोलन से घनिष्ट सम्पर्क के कारण वह धार्मिक स्कूल से निकाल दिया गया। १९०१ से १९१७ तक

वह गुप्त रूप से क्रान्तिकारी कार्यों में लीन रहा। जारशाही जेलों में भी उसने अपना कुछ समय व्यतीत किया। १९०३ में वह लेनिन के सम्पर्क में आया। १९१२ में उसने अपनी सुप्रसिद्ध खोज (मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न) प्रस्तुत की। वह सदा ही लेनिन का भक्त रहा। लेनिन की मृत्यु के पश्चात् (१९२४) उसमें और त्रात्स्की में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व के लिए कुछ वर्षों तक अस्थायी झगड़ा रहा। त्रात्स्की के देश-निर्वासन के पश्चात् स्तालिन सोवियत राज्य का नेता बना। उसने मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के सिद्धान्तों के आधार पर सोवियत राज्य को सुसंगठित किया। इस सम्बन्ध में उसके कई लेख और पुस्तकें विद्यमान हैं।

त्रात्स्की का जन्म एक रूसी मध्यमवर्गीय घराने में हुआ था। शिक्षा-प्राप्ति के बाद उसने क्रान्तिकारी मार्ग अपनाया। १९०५ की रूसी क्रान्ति में उसका प्रमुख हाथ था। जारशाही के जमाने में कई वर्षों तक इसने निर्वासित जीवन बिताया। १९१७ की क्रान्ति में भी उसका विशेष सहयोग था। लेनिन की मृत्यु के बाद उसमें और स्तालिन में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व के लिए झगड़ा हुआ। झगड़े का दार्शनिक रूप यह था कि जहाँ स्तालिन के मतानुसार एक देश में समाजवाद की स्थापना सम्भव है, वहाँ त्रात्स्की के मतानुसार विश्वक्रान्ति अनिवार्य है। १९२८ में उसे रूस से निर्वासित होना पड़ा। देश-निर्वासन के पश्चात् वह यूरोपीय देशों में इतस्ततः भ्रमण करता हुआ मेक्सिको में जाकर बस गया। १९४० में एक अज्ञात व्यक्ति द्वारा इसकी हत्या हुई। इसकी सुप्रसिद्ध पुस्तकें History of the Russian Revolution और Revolution Betrayed हैं।

माओ-त्से-तुंग ने कई वर्षों तक चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व किया। इस दल की सफल कार्यपद्धति में इसका सर्वप्रमुख हाथ रहा है। इसने चीन को परिस्थिति में मार्क्सवाद की व्याख्या की और उसको व्यावहारिक रूप दिया।

मूल आधार

मार्क्सवाद श्रमिक दल की एक ऐसी विचारधारा है जो बताती है कि श्रमिकों को किस प्रकार राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहिये और कैसे इस आधिपत्य को स्थायी बनाना चाहिये। इस दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) या ऐतिहासिक भौतिकवाद (Historical Materialism) भी कहते हैं। यह दर्शन द्वन्द्वात्मक दृष्टि से प्राकृतिक घटनाओं की परख और पहचान करता है

और भौतिकवादी दृष्टि से प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या, कल्पना तथा सिद्धान्त-विवेचना करता है।

स्तालिन के मतानुसार मार्क्सवाद एक अन्धश्रद्धा नहीं, वरन् पथ-प्रदर्शक है। इसीलिए समयानुकूल इसकी व्याख्या भी बदलती रही है। साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के युग में लेनिन ने उसकी पुनः व्याख्या की थी। इसीलिए लेनिनवाद को गौण रूप से सर्वहारा क्रान्ति का सिद्धान्त कहा जाता है, तथा प्रधान रूप से सर्वहारा के अधिनायकत्व का दर्शन तथा दाव-पेंच। मार्क्सवाद के कुछ मूल सिद्धान्त ये हैं:— इतिहास और समाज की आर्थिक व्याख्या, मूल्य और अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा का अधिनायकत्व आदि। सभी मार्क्सवादी (साम्यवादी या कम्युनिस्ट) इन सिद्धान्तों को अपनाते हैं।

मार्क्स की देन:—मार्क्स ने अपनी खोज के विषय में स्वयं लिखा था कि समाज में वर्गों का अस्तित्व और उनका परस्पर संघर्ष मेरी खोज नहीं है। इनके विषय में तो पूँजीवादी इतिहासकारों और अर्थशास्त्रियों ने भी विचार किया है। मैंने तो केवल निम्नलिखित बातों को सिद्ध किया :—

(१) वर्गों का अस्तित्व उत्पादन व्यवस्था के अनुकूल होता है। दासता के युग में वर्गों का अस्तित्व और संघर्ष उस युग के उत्पादन की व्यवस्था के अनुकूल था। इसी प्रकार सामन्तशाही और पूँजीवादी युगों में इनका अस्तित्व और संघर्ष इन युगों के उत्पादन के अनुकूल हुआ।

(२) वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा दल के अधिनायकत्व का मार्ग प्रशस्त करता है।

(३) यह अधिनायकत्व संक्रमण-कालीन होगा। इसके बाद वर्गों का अन्त हो जायेगा और एक वर्गहीन समाज का जन्म होगा।

मार्क्स उक्त परिणामों पर अपने अध्ययन द्वारा पहुँचा था। इस अध्ययन में उस पर तत्कालीन विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा था। ये विचारधारायें थीं :— हीगेल का द्वन्द्ववाद, ब्रिटेन का अर्थशास्त्र तथा फ्रांस का समाजवादी दर्शन। इनके अध्ययन द्वारा उसने एक नया दर्शन प्रस्तुत किया जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से प्रसिद्ध है।

हीगेल का द्वन्द्ववाद:—आदर्शवाद के सम्बन्ध में हीगेल के दर्शन की व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि हीगेल के अनुसार मानव-समाज की प्रगति निरन्तर द्वन्द्ववादी प्रणाली से होती रही है। इस प्रगति में विचार-तत्त्व का प्रमुख स्थान

था। हीगेल के अनुसार बाह्य जगत आभ्यन्तरिक विचारों का ही प्रतिविम्ब है। परन्तु मार्क्स ने भौतिक संसार की ही सत्ता मानी और कहा कि भौतिक संसार ही आभ्यन्तरिक विचारों का जनक है। इसलिए मार्क्स की द्वन्द्वात्मक प्रणाली हीगेल से मूलतः भिन्न है।

प्रायः अन्य सभी इतिहासकार केवल मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ स्थान देते आये थे। उनके अनुसार इतिहास में परिवर्तन अपूर्व बुद्धि के मनुष्यों द्वारा हुआ है, किन्तु मार्क्सवाद के अनुसार मानव इतिहास की प्रगति में सर्वप्रथम स्थान आर्थिक व्यवस्था का है। आर्थिक ढाँचे पर ही एक युग का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक ढाँचा आश्रित है। आर्थिक ढाँचे का अर्थ है—उत्पादन के साधन और उत्पादन के सम्बन्ध। मनुष्य का भी इतिहास के परिवर्तन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, परन्तु वह परिस्थितियों का दास है। उसके विचार भी उन्हीं परिस्थितियों पर आश्रित रहते हैं। एक व्यक्ति नेता तभी बन सकता है जब उसकी योजनायें तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल हों। नेपोलियन केवल फ्रांस की क्रान्ति के वातावरण में ही हो सकता था। महात्मा गाँधी १८५७ की परिस्थिति में नहीं हो सकते थे। ये व्यक्ति महान् इसलिये हैं कि उन्होंने अपनी अपूर्व बुद्धिमत्ता का उपयोग तत्कालीन समस्याओं की पूर्ति के हेतु किया। अतः मार्क्स समाज की आर्थिक व्यवस्था को इतिहास की प्रगति में महत्त्वपूर्ण स्थान देता है।

मार्क्स ने १८५१ में 'अर्थशास्त्र की आलोचना' नामक पुस्तक की भूमिका में इस विचार को व्यक्त करते हुए कहा था कि सामाजिक उत्पादन के सिलसिले में व्यक्ति पारस्परिक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये सम्बन्ध अनिवार्य हैं एवं व्यक्तियों की इच्छा से स्वतंत्र हैं। इन सम्बन्धों का योग ही समाज का वह ढाँचा या नींव है जिसपर राजनीति और कानून की इमारत खड़ी होती है।

उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों को ही इतिहास का आधार मान कर मार्क्स ने हीगेलवादी द्वन्द्ववाद को एक नया रूप दिया। मार्क्स ने उत्पादन-शक्ति को वाद (thesis) बताया और उत्पादन सम्बन्धों को प्रतिवाद (anti-thesis)। इन दोनों के संघर्ष या विरोध के फलस्वरूप नये समाज का जन्म होता है, जो संवाद (synthesis) है। हीगेल ने विचार-क्रिया की प्रगति का विश्लेषण इस द्वन्द्ववादी प्रणाली द्वारा किया था। मार्क्स ने इस प्रणाली द्वारा समाज के ढाँचे और प्रगति का विश्लेषण किया। (इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये आगे पूँजीवाद का मार्क्सवादी विश्लेषण देखिये) इस प्रकार मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्ववाद को, जो सर के बल खड़ा था, पैरों के बल खड़ा कर दिया।

ब्रिटिश अर्थशास्त्र :—मार्क्स ने तत्कालीन ब्रिटिश अर्थशास्त्र की सहायता से पूँजीवाद का विश्लेषण किया। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों (विशेषतः रिकार्डो) का कहना था कि एक वस्तु केवल श्रम द्वारा ही उपयोगी बनती है। इस विचारधारा का जन्मदाता जान लॉक था। श्रम-मिश्रण ही प्राकृतिक वस्तु को उपयोगी बनाता है। श्रम-मिश्रण द्वारा ही कोई व्यक्ति एक प्राकृतिक वस्तु को निजी सम्पत्ति बनाता है। जब 'अ' एक सेब को पेड़ से तोड़ कर अपनी टोकरी में रखता है, तब उस सेब को वह अपनी सम्पत्ति बनाता है। 'अ' के श्रम से ही सेब उसकी निजी सम्पत्ति होती है।

लॉक के उक्त सिद्धान्त को रिकार्डो ने तत्कालीन अर्थशास्त्र पर लागू किया। उनके अनुसार एक वस्तु के मूल्य का आधार उस वस्तु का उत्पादन-श्रम है। 'क' अपने बनाये हुए चाकू को २) रु० से कम में नहीं बेचेगा, क्योंकि चाकू के उत्पादन में उसने इतना श्रम लगाया जिसका मूल्य २) रु० है। इसलिए एक वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन सम्बन्धी श्रम से निर्धारित होता है।

मार्क्स ने इस सिद्धान्त को ग्रहण किया। इसके आधार पर उसने तत्कालीन अर्थ की व्याख्या की। परन्तु जैसे उसने हीगेलवाद को नया रूप दिया, वैसे ही इस अर्थशास्त्रीय नियम को भी। मार्क्स ने इस नियम द्वारा सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया। ब्रिटिश अर्थशास्त्रीगण इस नियम को अपूर्ण-सा मानते थे। मार्क्स ने इसके आधार पर पूँजीपति और श्रमिक के पारस्परिक सम्बन्धों, पूंजीवाद की आन्तरिक असंगतियों और पूँजीवादी संकट का विश्लेषण किया।

फ्रांसीसी काल्पनिक समाजवाद :—मार्क्स के दर्शन का <u>तीसरा स्रोत</u> तत्कालीन फ्रांस के काल्पनिक समाजवादियों की योजनायें थीं। औद्योगिक क्रान्ति की बुराइयों से प्रभावित होकर कुछ मानवतावादी विद्वानों ने श्रमिकोद्धारक योजनाएँ बनायीं। उनका कहना था कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप नये-नये कारखानों का जन्म हुआ है। इससे देश के उत्पादन में वृद्धि हुई है। किन्तु साथ ही पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रमिक दुखी दशा में जीवन निर्वाह करते हैं, तथा बेरोजगारी बढ़ गयी है। इन काल्पनिक समाजवादियों के मतानुसार उत्पन्न वस्तुओं का न्यायसंगत वितरण न होना ही इस बुराई का कारण है। यदि वितरण न्यायपूर्वक हो तो नये कारखानों की वस्तुयें सभी नागरिकों को पर्याप्त रूप से प्राप्त हो जायेंगी। उत्पादन का क्रम तो ठीक है, केवल वितरण का क्रम न्यायसंगत होना चाहिये। तब स्वतः स्वर्णयुग का प्रादुर्भाव होगा। वितरण-सम्बन्धी कई योजनायें बनायी गयीं। इन दार्शनिकों में से प्रौधों, सेन्ट [illegible]

और फैरियर मुख्य थे। ये वेत्ता समाजवाद को समाज-हित के लिए आवश्यक समझते थे।

मार्क्स पर इन समाजवादियों के सामाजिक चित्रण का प्रभाव पड़ा। उसे बहुसंख्यक नागरिकों की दयनीय दशा का ज्ञान हुआ। इन दार्शनिकों की भाँति उसने भी स्वीकार किया कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मानव-जाति प्रगति कर रही है, तथा उत्पादन और विज्ञान की वृद्धि हो रही है। परन्तु इन दार्शनिकों के विपरीत मार्क्स ने बताया कि वितरण मानव के दुख का मूल कारण नहीं है, यह कारण तो उत्पादन-क्रिया है। क्योंकि इस क्रिया के अनुसार कुछ मुट्ठीभर लोग, जो उत्पादन की शक्तियों के स्वामी हैं, अपने हित या लाभ के लिए कारखानों द्वारा उत्पादन करते हैं। उत्पादन इन स्वामियों या पूँजीपतियों के हित के लिए होता है। इसलिए वितरण न्यायसंगत नहीं हो सकता। वितरण क्रिया का आधार उत्पादन क्रिया है। अतः नागरिकों की दशा तभी अच्छी हो सकती है जब उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों के स्थान पर श्रमिकों का अधिकार हो।

यही नहीं, मार्क्स ने इतिहास और पूँजीवादी अर्थ के विश्लेषण से यह बताया कि मानव की प्रगति इसी ओर हो रही है। अर्थात् पूँजीवादी अर्थ की प्रगति ऐसी है कि एक समय ऐसा आयेगा जब उत्पादन के साधनों पर क्रान्ति द्वारा श्रमिकों का स्वामित्व स्थापित होगा। तब पूँजीवाद और शोषण का अन्त होगा और समाजवाद की स्थापना होगी। इस प्रकार हीगेल के द्वन्द्ववाद, ब्रिटिश अर्थशास्त्र और फ्रांसीसी काल्पनिक समाजवाद की पृष्ठभूमि द्वारा मार्क्स ने समाजवाद को अवश्यम्भावी बताया।

इतिहास की व्याख्या:—मार्क्सवाद के अनुसार मानव-इतिहास छः युगों में विभक्त है। प्रथम युग में अति प्राचीन मनुष्य साम्यवादी संघों में रहता था। वह युग प्राचीन साम्यवादी युग था। उत्पादन और वितरण साम्यवादी ढंग से होता था। दूसरा युग दासता का है। कृषि प्रथा और गो-पालन के फलस्वरूप व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म हुआ। सम्पत्ति के स्वामियों ने अन्य सम्पत्ति रहित व्यक्तियों को अपना दास बनाया। राज्य और तत्सम्बन्धी अन्य संस्थाओं का जन्म हुआ। तीसरा सामन्तशाही युग था। इस युग में सामन्त भूमि के स्वामी होते थे। गरीब किसान इन सामन्तों के अधीन थे, पर दास नहीं। चौथा युग आधुनिक पूँजीवादी युग है। इस युग का प्रादुर्भाव आधुनिक व्यवसायों और कारखानों के जन्म के फलस्वरूप हुआ। इस युग में अर्थ, समाज और राज्य के स्वामी पूँजीपति होते हैं। श्रमिक अपना जीवन-निर्वाह श्रम द्वारा करते हैं। पाँचवा युग सर्वहारा के अधिनायकत्व का होगा। इस युग के अर्थ, समाज और राज्य की बागडोर श्रमिकों के हाथ में होगी। यह समाजवादी एवं शोषण-रहित युग है। इस

युग के पश्चात् मानव जाति छठे या साम्यवादी युग में प्रवेश करेगी। उसमें राज्यविहीन समाज होगा। वास्तविक स्वतंत्रता तभी सम्भव हो सकेगी। वह स्वर्ग युग होगा।

यह विश्लेषण बहुत हद तक रूसो के धर्म प्रभावित ऐतिहासिक विश्लेषण से मिलता-जुलता है। मार्क्स का अति प्राचीन युग रूसो की प्राकृतिक स्थिति का सा है। रूसो की भाँति व्यक्तिगत सम्पत्ति मार्क्स के दर्शन में भी सभ्यता की धात्री है। मार्क्स के आधुनिक पूँजीवादी युग का मार्मिक चित्रण मूलतः रूसो जैसा है। फिर रूसो के आदर्श प्रत्यक्ष जनतंत्र और "सामान्य इच्छा" के सिद्धान्त की तुलना मार्क्स के साम्यवाद से की जा सकती है। जैसे "सामान्य इच्छा" द्वारा एक नयी स्वतंत्रता सम्भव होगी, वैसे मार्क्स के अनुसार क्रान्ति और सर्वहारा के अधिनायकत्व के फलस्वरूप एक नयी साम्यवादी व्यवस्था का जन्म होगा। रूसो की यह स्वतंत्रता प्राकृतिक-स्थिति की स्वतंत्रता से भिन्न थी; मार्क्स का साम्यवाद भी अति प्राचीन साम्यवाद से भिन्न था। रूसो और मार्क्स में अन्तर यह है कि जहाँ रूसो आदर्शवादी दार्शनिक था मार्क्स भौतिकवादी। रूसो आधुनिक आदर्शवाद का जन्मदाता माना जा सकता है; मार्क्स के द्वारा एक नये समाजशास्त्र का जन्म हुआ। बाद में रूसो के दर्शन को प्रतिक्रियावादी रूप मिला, मार्क्स के दर्शन के आधार पर क्रान्तियाँ हुईं।

मार्क्स ने वर्गसंघर्ष को इतिहास का तथ्य माना था। उसके अनुसार मानव-इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। इस वर्ग-संघर्ष का रूप युगों की परिस्थितियों के अनुकूल रहा है। दासता के युग में दासों और स्वामियों में संघर्ष होता था, सामन्तशाही युग में किसानों और सामन्तों में एवं पूँजीवादी युग में श्रमिकों और पूँजीपतियों में। यह संघर्ष कभी परोक्ष और कभी प्रत्यक्ष होता रहा है। इस संघर्ष के फलस्वरूप कभी विजेता वर्ग द्वारा नये समाज का निर्माण हुआ है और कभी दोनों दलों का अन्त। यह संघर्ष सदा ही इतिहास की पृष्ठभूमि में रहा है। इस संघर्ष का अन्त सर्वहारा की क्रान्ति द्वारा सम्भव है। क्योंकि इस क्रान्ति से वर्गों का अन्त होगा तथा एक वर्गविहीन समाज का निर्माण। मार्क्स पूँजीवाद की गति के विश्लेषण द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचा था।

पूँजीवाद का विश्लेषण

मूल्य और अतिरिक्त मूल्य:—श्रम से मूल्य (value) बनता है। आधुनिक युग में उत्पादन के साधन थोड़े-से पूँजीपतियों के हाथों में हैं। वे स्वयं वस्तु नहीं बनाते।

श्रमिक ही वस्तुएँ बनाते हैं। पूँजीपति का लाभ श्रमिक के श्रम द्वारा ही बनता है। उदाहरणार्थ, एक श्रमिक कारखाने में आठ घंटे काम करता है। उसको १) रु० रोज़ मजदूरी मिलती है। वह आठ घंटों में चार रुपये के मूल्य की वस्तुएँ बनाता है। इस प्रकार अपने वेतन के लिए वह केवल दो घंटे काम करता है और छः घंटे पूँजीपति के मुनाफे के लिए। अर्थात् दो घंटे उसने अपने वेतन के लिए मूल्य पैदा किया और छः घंटे पूँजीपति के लिए। इन छः घंटों के मूल्य को अतिरिक्त मूल्य (surplus value) कहते हैं। यही पूँजीपति का लाभ है।

पूँजीपति किसी वस्तु को बाजार में लागत-मूल्य से कम में नहीं बेचता। लागत मूल्य में श्रमिक का वेतन सम्मिलित रहता है। इन सब को मार्क्स सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य-श्रम (socially necessary labour) कहता है। यदि उक्त मजदूर की १) रु० रोज की मजदूरी कम करके आठ आना प्रतिदिन कर दी जाय तो मूल्य में उसका भाग कम हो जाता है और पूँजीपति के लाभ में वृद्धि हो जाती है। वह आठ घंटों में जो चार रुपये के मूल्य की वस्तुएं बनाता है, उसमें से वह अपने वेतन के लिए केवल एक घंटे काम करता है और सात घंटे पूँजीपति के मुनाफे के लिए। अतः जब श्रमिक का वेतन कम होगा तो पूँजीपति का लाभ अधिक होगा।

पूँजीवाद में सम्पत्ति-उत्पादन का प्रोत्साहन केवल लाभ पर आश्रित है। पूँजीपति मुनाफे के लिए ही व्यापार करता एवं कारखाने खोलता है। यदि मजदूरों का वेतन कम हो तो उसका मुनाफा अधिक होगा। पूँजीपति का लक्ष्य अधिक से अधिक मुनाफा करना है। अतः वह मजदूरों को कम से कम मजदूरी देना चाहता है। मार्क्सवादी कहते हैं कि पूँजीपति मजदूरों को केवल इतना ही वेतन देता है जिससे वे किसी तरह भूख दूर कर सकें और भविष्य के लिए श्रमिक सन्तान पैदा कर सकें। मजदूरों की दशा पूँजीवाद में कभी भी सन्तोषजनक नहीं हो सकती। उनको अपनी दशा सुधारने के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

आर्थिक संकट :—मार्क्स ने बताया है कि पूँजीवाद में आन्तरिक असंगतियाँ या विरोध हैं। एक महत्त्वपूर्ण असंगति है, उत्पादन शक्तियों और सामाजिक सम्बन्धों की। उत्पादन शक्तियों में निरन्तर प्रगति होती रहती है। नये-नये साधनों का आविष्कार और प्रयोग होता रहता है। परन्तु सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन नहीं होता। सामाजिक-सम्बन्ध का अर्थ है, पूँजीपति और श्रमिक का सम्बन्ध। इस सम्बन्ध का तथ्य है कि पूँजीपति श्रमिकों को कम से कम वेतन देना चाहता है, वह उनके श्रम का शोषण करना चाहता है।

इस आन्तरिक विरोध—उत्पादन शक्तियों में प्रगति और सामाजिक सम्बन्धों की

अपरिवर्तनशीलता—के फलस्वरूप प्रायः प्रत्येक दसवें वर्ष एक आर्थिक संकट आता है। उत्पादन शक्तियों में प्रगति के फलस्वरूप उत्पादन बढ़ता है और साथ ही साथ कम श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। (नयी मशीनों से उत्पादन की वृद्धि होती है और साथ ही साथ उनके चलाने के लिये कम श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है।) श्रमिकों की संख्या में कमी से बेकारी बढ़ती है। बेकारी के फलस्वरूप देश की क्रयशक्ति घटती है। कम व्यक्ति उत्पादित वस्तुएँ मोल ले सकते हैं। पूँजीपति इन कम श्रमिकों का वेतन नहीं बढ़ाता। क्योंकि पूँजीपति के जीवन का लक्ष्य लाभ की वृद्धि है और इस हेतु श्रमिकों को कम वेतन देना स्वाभाविक है। इधर श्रमिकों की संख्या में कमी हुई और उधर वेतन स्थिर भी रहा।

फलतः बाजार में वस्तुओं को खरीदने के लिए द्रव्य की कमी होती है। अर्थात् अधिक उत्पादित वस्तुओं के लिए देश का बाजार पर्याप्त नहीं होता। अतः उत्पादन के साधनों में प्रगति से बाजार में वस्तुओं की संख्या बढ़ जाती है और सामाजिक सम्बन्धों की अपरिवर्तनशीलता से बाजार सिकुड़ जाता है। परिणामतः आर्थिक संकट उत्पन्न होता है। इस संकट को मार्क्स ने अधिक उत्पादन का संकट कहा है।

कल्पना कर लीजिये, १८३० ई० में इंगलैंड में १०,००० मनुष्य रहते थे। इनमें से ६,००० श्रमिक थे और इन्हें ६,००० पौंड वेतन मिलता था। १८४० में उत्पादन के साधनों में प्रगति से केवल ८,००० श्रमिक रह गये। इनको ८,००० पौंड वेतन मिला। १८३० में इंगलैंड में ४०,००० गज कपड़ा बुना जाता था और १८४० में ५०,००० गज। १८४० में श्रमिकों की कमी के कारण ग्राहकों की कमी हुई जिसके परिणामस्वरूप क्रय-शक्ति घटी। फलतः वस्तुओं का विक्रय बहुत कम हो गया।

अब पूँजीपति के सामने यह समस्या आती है कि वह अपनी अधिक वस्तुओं को कहाँ और कैसे बेचे? यही आर्थिक संकट है। मार्क्स के मतानुकूल यह प्रायः हर दसवें वर्ष आता है। ऐसी परिस्थिति में पूँजीपति या तो नये बाजार ढूँढ़े या अपनी फैक्टरी बन्द कर दे। केवल यही दो रास्ते खुले हैं।

साम्राज्यवाद :—१९वीं सदी के पूँजीपतियों ने पहला मार्ग अपनाया। वे निर्भीक होकर दुनिया के कोने-कोने में अपना बाजार बनाने के लिए गये। उन्होंने दिग्-विजय का मार्ग अपनाया। औपनिवेशिक युद्ध किये। आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि देशों के जंगल काटे। बिना बुलाये और बिना स्वागत के सभी देशों में पहुँचे। कहीं मूल निवासियों को पराजित किया (भारतवर्ष) और कहीं उनका अस्तित्व ही मिटा दिया

(जैसे अमेरिका और आस्ट्रेलिया)। कहा जाता है कि अफ्रीकावासी कहते हैं कि "यूरोपवासी हमारी भूमि में बाइबिल लेकर आये थे। अब उनकी बाइबिल हमारे पास है और हमारी भूमि उनके पास।"

इस प्रकार पूरी दुनिया को यूरोप के पूँजीपतियों ने अपना बाजार बना लिया, यद्यपि वे प्रचार करते हैं कि उन्होंने दुनिया को सभ्य बनाया। रूसी कवि मायकोवस्की ने इस सभ्यता को सिफलिस, बाइबिल और कोड़ों का विशेषण दिया है। उन्होंने लोगों को अपनी मिलों के कपड़े पहनाये और अन्य कारखानों की वस्तुओं की भी खपत की। अफ्रीका के जंगलों को काट-कर अपना साम्राज्य स्थापित किया।

साम्राज्य से दो मुख्य लाभ होते हैं। एक तो कच्चा माल सस्ता मिल जाता है, दूसरे अपने माल के लिए निश्चित बाजार भी। लार्ड डलहौजी के काल में भारतवर्ष में जो सुधार हुए थे, वे मार्क्सवाद के अनुसार केवल सुधार ही नहीं समझे जा सकते। उस समय औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप इंगलैंड में रेल, तार आदि का सामान बनने लग गया था। इस माल के लिए पहले यूरोप और अमेरिका के बाजार थे। किन्तु कुछ समय बाद नये बाजारों की आवश्यकता पड़ी। भारतवर्ष ने इस समस्या की पूर्ति की। रेल का माल भारतवर्ष में महँगे से महँगे दामों पर बेचा गया। फिर, रेलों द्वारा भारतवर्ष का कच्चा माल इंगलैंड भेजने के लिये सुगमता से एकत्र किया जा सकता था। साथ ही साथ इंगलैंड का माल भी भारत के कोने-कोने में पहुँच सका।

औद्योगिक क्रान्ति (करीब १७५०—१८५०) सर्वप्रथम इंगलैंड में हुई थी। फलतः इंगलैंड ने सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में औद्योगिक उन्नति बाद में हुई। इसलिये वे साम्राज्य-निर्माण में पिछड़ गये।

साम्राज्यवादियों ने पहले एशिया, उत्तरी अमेरिका और आस्ट्रेलिया में प्रवेश किया। उस समय तक इंगलैंड औद्योगिक क्षेत्र में सब से आगे बढ़ चुका था। इसीलिए उन महाद्वीपों में इंगलैंड का ही साम्राज्य बना। तत्पश्चात् अन्य यूरोपीय देश भी औद्योगिक क्षेत्र में आगे बढ़े। उन्होंने भी अपना साम्राज्य (कच्चे माल के लिए स्रोत और तैयार माल के लिए बाजार) बनाना चाहा। अब इन लोगों ने दक्षिणी अमेरिका और फिर अफ्रीका में प्रवेश किये। इन दोनों महाद्वीपों को आपस में बाँटा गया ; इस बँटवारे के सिलसिले में विकट युद्ध भी हुए। कहा जाता है कि १९वीं सदी के अन्त के ३० वर्षों में अफ्रीका के युद्धों में प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) की अपेक्षा अधिक लोग मरे थे।

१९वीं सदी के अन्त तक यूरोप के प्रमुख देशों ने सारी दुनिया को अपने बाजारों और

साम्राज्यों में बाँट लिया था। प्रायः जब कभी आर्थिक संकट (जो हर दस वर्ष बाद अधिक उत्पादन से होता है) उपस्थित होता था, तब बाजार और साम्राज्य की खोज होती थी। इस प्रकार नये बाजारों में अतिरिक्त पैदावार पटक दी जाती थी। २०वीं सदी के प्रारम्भ में दुनिया का कोई ऐसा कोना बाकी न बचा था, जिसे जीत कर बाजार न बना लिया गया हो। सेसिल रोड्स (Cecil Rhodes) की उक्ति इस विषय में बड़ी दिलचस्प है। उसने एक बार कहा कि जब मैं सितारों को देखता हूँ तो मन में आता है कि इनको भी स्वायत्त कर लिया जाय।

महायुद्ध :—अब बीसवीं सदी के आर्थिक संकटों को कैसे दूर किया जाय, यह एक बड़ी जटिल समस्या थी। पुराने पूँजीवादी देशों के पास साम्राज्य थे। वे अपना माल वहाँ बेच सकते थे। किन्तु जर्मनी, इटली आदि नये पूँजीवादी देशों के पास साम्राज्य न थे; वे अपनी वस्तुएँ कहाँ बेचें? अब केवल एक ही मार्ग था महायुद्ध करके इंगलैंड और फ्रांस के साम्राज्य को बाँट लेना। यही संघर्ष प्रथम महायुद्ध का कारण बना। यह संघर्ष भी मार्क्सवादियों के अनुसार पूँजीवाद के आन्तरिक वैषम्य का विस्फोट था।

प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) के बाद जर्मनी को दबा दिया गया। उसके और उसके मित्रराष्ट्रों के साम्राज्य को इंगलैंड और फ्रांस ने आपस में बाँट लिया। महायुद्ध के बाद संयुक्तराष्ट्र अमेरिका भी इंगलैंड के बराबर में आ गया था। किन्तु अब इन पूँजीवादी देशों के सामने एक नया भय—साम्यवादी रूस का भय—आ खड़ा हुआ। अतः वे जर्मनी को कम्युनिस्ट या साम्यवादी प्रभाव से बचने तथा उसे सोवियत रूस के विरुद्ध मुकाबिले में खड़े होने के लिए प्रोत्साहन देने लगे। १९२९—३१ के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के बाद अमेरिका, इंगलैंड और फ्रांस के पूँजीपतियों ने जापान, जर्मनी और इटली के फासीवादियों (Fascists) को प्रोत्साहन दिया। इन फासीवादी राज्यों ने साम्यवाद के विरुद्ध आवाज उठायी। इन्होंने इस बहाने इंगलैंड आदि देशों के साम्राज्यवादियों से सहायता ली। कमजोर और अरक्षित देशों पर आक्रमण किये (अबीसीनिया, स्पेन, चीन, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, मंचूरिया, अल्बा-निया)। जर्मनी, जापान और इटली का बड़े साम्राज्यवादियों से साम्राज्य विभाजन के सम्बन्ध में समझौता न हो सका और दूसरा महायुद्ध (१९३९—४५) छिड़ गया।

अस्तु, आधुनिक इतिहास की व्याख्या कम्युनिस्ट मार्क्सवादी विश्लेषण द्वारा करते हैं। उन्हें अपने विश्लेषण के सत्य होने का बड़ा विश्वास है। संक्षेपतः यह विश्लेषण इस प्रकार है। पूँजीपति लाभ के लिए उत्पादन करता है। वह श्रमिक को कम वेतन देता

लिए बाजार की आवश्यकता पड़ी और उन्होंने दुनिया के सभी पिछड़े हुए देशों में (अफ्रीका को छोड़ कर) साम्राज्य स्थापित किया। तब तक जर्मनी भी, जहाँ औद्योगिक क्रान्ति बाद में हुई, औद्योगिक क्षेत्र में अग्रसर हुआ और उसे भी कच्चे माल के स्रोत और तैयार माल के बाजार के लिए साम्राज्य-स्थापना की आवश्यकता पड़ी। किन्तु साम्राज्य-स्थापना के क्षेत्र में फ्रांस और इंगलैंड का एकाधिकार था। साम्राज्य-स्थापना की होड़ में पिछड़ा हुआ मध्य यूरोप का पूँजीवाद अब केवल पुराने साम्राज्यवादियों (ब्रिटेन और फ्रांस) से संघर्ष और युद्ध कर के ही अपने लिए साम्राज्य बना सकता था। इसी कारण जर्मनी और अन्य ऐसे साम्राज्यवादी देशों (जापान, इटली) ने अपने को सैनिक दृष्टि से दृढ़ और सुसंगठित बना कर महायुद्धों की तैयारियाँ की। फलतः पूँजीवादी साम्राज्यवादियों के दो शिविर बन जाते हैं। ये शिविर अस्थायी होते हैं; क्योंकि युद्धों तथा महायुद्धों द्वारा एक का विनाश होता है और दूसरे का आधिपत्य। किन्तु साम्राज्यवादी संघर्ष का अन्त नहीं होता। पूँजीवाद का आन्तरिक विरोध फिर हावी होता है और यह संघर्ष परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से उसी प्रकार चलता रहता है जिस प्रकार पूँजीवाद और श्रमिक वर्ग का।

पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत तीसरा विरोध होता है, सभ्य कहे जानेवाले साम्राज्यवादी राष्ट्रों और पराधीन देशों के बीच। साम्राज्यवादी देशों द्वारा औपनिवेशिक और पराधीन देशों का निर्लज्ज शोषण होता है। साम्राज्यवादी शोषण को संगठित और दृढ़ बनाने के लिए पराधीन देशों में रेल, तार और कारखाने चलाये जाते हैं। स्वभावतः इन देशों की जनता इस हेय शोषण से मुक्त होना चाहती है। वह एक साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मोर्चा स्थापित करती है। समय की प्रगति के साथ-साथ इन देशों का शोषण बढ़ता जाता है। फलतः राष्ट्रीय संघर्ष भीषण रूप धारण करता है। ऐसे काल में साम्राज्यवादी देशों के शोषित श्रमिकों की सहानुभूति पराधीन देशों के शोषितों और उनके राष्ट्रीय आन्दोलनों से होती है। बन्धु-भाव से प्रेरित हो ये दोनों पूँजीवादी साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। १९०८ में लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी से असन्तुष्ट भारतीय मजदूरों की हड़ताल पर दिया गया लेनिन का सहानुभूतिपूर्ण भाषण संसार के श्रमिकों एवं शोषितों की उपर्युक्त एकता और पारस्परिक सहानुभूति का द्योतक है।

ऐतिहासिक महत्त्व :—एक मार्क्सवादी पूँजीवाद की आलोचना ही नहीं करता, वरन् उसके ऐतिहासिक महत्त्व को भी स्वीकार करता है। मार्क्स ने कहा था कि मानव-इतिहास में पूँजीवाद का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूँजीवादी युग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। मानव-समाज को स्वर्ग-साम्यवादी युग में पदार्पण करने के पहले इस

पूँजीवादी युग से होकर यात्रा करनी होगी। किन्तु मार्क्स पुनरुत्थानवादी न था। उसने पूँजीवाद की बुराइयाँ इसलिए प्रस्तुत नहीं की कि मध्यकालीन समाज की पुनर्स्थापना की जाय।

मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद के फलस्वरूप सारा संसार एक इकाई बन जाता है। आधुनिक यातायात यंत्रों द्वारा सारे संसार के अर्थ में एकता उत्पन्न हो जाती है। पूँजीपति सारे संसार को अपने माल का बाजार बनाता है। पिछड़े हुए देशों में मध्यकालीन अर्थ का अन्त होकर पूँजीवादी अर्थ का प्रादुर्भाव होता है। यह परिवर्तन अनिवार्य है और व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र भी। इस एकता से पूँजीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चा सम्भव होता है। यह लेनिन के उक्त वर्णन से स्पष्ट है। इस प्रकार पूँजीवाद के फलस्वरूप पुरानी स्थानवादी आर्थिक और सामाजिक प्रथाओं और मनोवृत्तियों का अन्त हो जाता है और विश्व प्रगति की ओर अग्रसर होता है। यह पुराने मध्यकालीन सामन्तशाही ढाँचे में सम्भव नहीं था।

मार्क्स ने यह भी बताया था कि पूँजीवाद द्वारा एक नयी सभ्यता और संस्कृति का जन्म होता है। अर्थवाद ही इस सभ्यता और संस्कृति का एकमात्र सूत्र है। इससे पुरानी परम्परा का अन्त होता है और पुराने सम्बन्ध नया रूप धारण करते हैं। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, शिक्षक-शिष्य, डाक्टर-रोगी आदि के सम्बन्ध परम्परा एवं आदर पर आधृत नहीं होते, वरन् वे केवल अर्थ-सूत्र से संचालित होते हैं। पुनरुत्थानवादियों के विपरीत मार्क्स इस परिवर्तन को देख कर आँसू नहीं बहाता था। उसके अनुसार यह परिवर्तन भी व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र है, यह अवश्यम्भावी है। मार्क्स ने कहा कि इस परिवर्तन के फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष स्पष्ट और सीधा हो गया है। सामन्तशाही युग में सामन्त और किसान का सम्बन्ध परम्परा पर आश्रित था। सामन्त के शोषण को भी परम्परा से पुष्टि मिलती थी। परम्परा का अन्त करना एक जटिल समस्या थी। पूँजीवाद ही इसका अन्त कर सका। आज पूँजीपति और श्रमिक का सम्बन्ध परम्परागत नहीं है। वह आर्थिक हित पर आश्रित है। इसलिए वर्ग-संघर्ष अब परम्परा की आड़ में नहीं छिपा हुआ है, वह स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष है। ऐसे वर्ग-संघर्ष के फलस्वरूप क्रान्ति द्वारा वर्ग-हीन समाज की स्थापना सरल है।

इस प्रकार मार्क्स ने पूँजीवाद की केवल आलोचना ही नहीं की, वरन् उसकी देन को भी स्वीकार किया—यह व्याख्या पुनरुत्थानवाद के विरुद्ध थी। मार्क्स ने पूँजीवाद की महत्त्वपूर्ण देनों को बताते हुए उसकी आलोचना की और उसके पतन का मार्ग व्यक्त किया।

सर्वहारा क्रान्ति

श्रमिक आन्दोलन की गति :—मार्क्स ने केवल पूँजीवाद के अर्थ का ही विश्लेषण नहीं किया, उसने श्रमिकों की प्रगति की भी व्याख्या की। इसी व्याख्या के मूल तत्त्व के अनुसार साम्यवादी आधुनिक राजनीति का विश्लेषण करते हैं। मार्क्स ने कहा था कि श्रमिक पूँजीवाद की कब्र खोदते हैं। श्रमिक वर्ग अपने जन्मकाल से ही संघर्ष करता है। पूँजीपति उसे सदा कम से कम वेतन देता है। संघर्ष द्वारा श्रमिक अपने वेतन की वृद्धि का प्रयत्न करता रहता है। मार्क्स ने पूँजीवादी अर्थ की प्रगति पर प्रकाश डालते हुए बताया कि उस व्यवस्था में राष्ट्र के धन का कम से कम लोगों के पास एकत्रीकरण होता जाता है और अधिक से अधिक लोग दरिद्रता और गरीबी के शिकार बनते हैं।

मजदूर अपने संघर्ष में पहिले तो तोड़-फोड़ का साधन अपनाते हैं। फिर अनुभव से वे संगठन का पाठ सीखते हैं। धीरे-धीरे कारखाना संघ और फिर क्रमशः जिला, प्रान्त, देश तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ बनते हैं। इस श्रमिक आन्दोलन की प्रगति में यातायात के साधनों की प्रगति भी सहायक होती है। अपने संघर्ष द्वारा श्रमिक निम्नलिखित सबक सीखते हैं :—

(१) उनकी दशा पूँजीवादी व्यवस्था में कभी भी सन्तोषजनक नहीं हो सकेगी।

(२) पूँजीवाद का अर्थ है—साम्राज्य-वृद्धि, शोषण, युद्ध, महायुद्ध, गरीबी और हत्या आदि।

(३) आधुनिक राज्य, पूँजीपति का राज्य है। जब कभी भी हड़ताल होती है राज्य के संचालक मजदूरों को मारते हैं, जेल भेजते हैं और पूँजीपतियों के पक्ष में निर्णय देते हैं।

इन बातों से मजदूर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसकी स्वतंत्रता, प्रगति और समृद्धि पूँजीवाद तथा उसके राज्य के अन्त करने से ही हो सकती है। वह क्रान्ति का मार्ग अपनाता है। जब कभी आर्थिक संकट और महायुद्ध होते हैं, श्रमिक वर्ग क्रान्ति की शरण लेता है। इसी विश्लेषण के आधार पर प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) में लेनिन और उसके अनुयायियों ने यूरोप के श्रमिकों को आदेश दिया कि वे पूँजीवादी युद्ध को गृहयुद्ध में परिणत कर दें और प्रत्येक देश में अपना राज्य स्थापित कर लें।

मजदूर ही साम्राज्यवादियों के लिए युद्ध लड़ा करता है। इन युद्धों के दौरान में

मजदूर लड़ाई की कला सीखता है। यह युद्ध-शिक्षा उसको क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित करती है और वह निर्भीक बन जाता है।

मार्क्स ने कहा कि केवल मजदूर दल ही स्थायी रूप से पूँजीवाद का विरोध कर सकता है। मजदूर अपने संघर्ष द्वारा इस परिणाम पर पहुँचता है कि पूँजीवाद में उसकी दशा कभी अच्छी नहीं रह सकती। उसके पास न धन है, न जमीन। उसके पास केवल उसका श्रम है। वह उसी से जीवित रहता है। अन्य वर्ग भी पूँजीवाद का विरोध करते हैं, किन्तु उनका पूँजीवादी समाज में कोई न कोई स्वार्थ निहित रहता है। वे पूँजीवाद का विनाश नहीं, अपितु सुधार चाहते हैं। अतएव, मार्क्स ने कहा कि पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति केवल मजदूर दल के नेतृत्व में ही हो सकती है। पूँजीवाद का अन्त होने से मजदूर, केवल एक चीज खोता है, वह है गुलामी। परिस्थितियों के अनुसार मजदूर दल पूँजीपतियों के खिलाफ अन्य वर्गों की सहायता और सहयोग प्राप्त करते हुए क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार मार्क्सवाद एक क्रान्तिकारी विचारधारा है।

चीन की क्रान्ति :—चीन के साम्यवादी दल का इतिहास बताता है कि मार्क्सवाद अन्ध-विश्वास नहीं है, वरन् पथ-प्रदर्शक है। मार्क्स ने कहा था कि सर्वहारा क्रान्ति श्रमिकों द्वारा होगी। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने यह क्रान्ति किसानों द्वारा की। मार्क्सवाद में यह अस्थायी परिवर्तन कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण हुआ था। १९२७ के लगभग कम्यूनिस्ट पार्टी को क्योमिन्तांग (Kuomintang) से, जो भारतवर्ष की काँग्रेस की भाँति एक राष्ट्रीय संस्था थी, अलग होना पड़ा। यही नहीं क्योमिन्तांग के आक्रमण के फलस्वरूप कम्युनिस्ट पार्टी को करीब २,००० मील की राजनीतिक पैदल यात्रा के बाद चीन के उत्तर-पश्चिमी भाग में शरण लेनी पड़ी। यहीं से इस पार्टी ने क्योमिन्तांग का मुकाबला किया। यह पार्टी करीब पन्द्रह वर्षों तक क्योमिन्तांग के साथ जापानी साम्राज्यवाद का मुकाबिला एक संयुक्त मोर्चे द्वारा करती रही। अन्त में १९४९ में क्योमिन्तांग को पराजित कर इसने एक नये समाज का निर्माण किया। इतने वर्षों तक कम्युनिस्ट पार्टी ने किसानों की सहायता से संघर्ष किया। अतः चीन की क्रान्ति किसानों द्वारा हुई, मजदूरों द्वारा नहीं। यह पुराने मार्क्सवाद से भिन्न था।

माओ-त्से-तुंग के अनुसार चीन की क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति नहीं, वरन् पूँजीवादी जनतंत्रीय क्रान्ति (bourgeois democratic revolution) है। इस क्रान्ति द्वारा सामन्तशाही का अन्त किया गया, पूँजीवाद का नहीं। मार्क्स ने कहा था कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा की क्रान्ति होगी। लेनिन ने कहा था कि पिछड़े हुए सामन्त-

शाही अथवा पूँजीवादी देश में (जैसा चीन या जारशाही रूस था) पूँजीवादी जनतंत्रीय क्रान्ति को शीघ्र ही समाजवादी क्रान्ति में परिणत किया जा सकता है। चीन में ऐसा नहीं हुआ। माओ-त्से-तुंग के मतानुसार चीन की क्रान्ति पूँजीवादी जनतंत्रीय क्रान्ति तो अवश्य है, किन्तु वह ऐसी पुरानी क्रान्तियों से भिन्न है। रूसी क्रान्ति के पूर्व की क्रान्तियाँ पूँजीपतियों के नेतृत्व में हुई थीं। श्रमिक वर्ग ने उनमें अपना समुचित सहयोग दिया था। किन्तु उन क्रान्तियों के उपरान्त देश और समाज पर पूँजीपतियों का एकाधिकार स्थापित हुआ और श्रमिक वर्ग की हीन दशा ज्यों की त्यों बनी रही। १६१७ की रूसी क्रान्ति ने विश्व के श्रमिक वर्ग में राजनीतिक जागृति पैदा कर दी और अब श्रमिक अपने अधिकारों के प्रति सतर्क हो गये हैं। अतः अब फ्रांस जैसी पूँजीवादी जनतंत्रीय क्रान्ति (१७८६), जिसमें श्रमिकों का क्रान्ति के बाद कोई स्थान ही न रहे, सम्भव नहीं है। चूँकि चीन की क्रान्ति कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हुई है, इसलिए चीन के पूँजीपति वहाँ अपना एकाधिकार स्थापित नहीं कर सकते, उन्हें किसान और मजदूरों के आदेशों और निर्देशों पर चलना ही होगा। पूँजीवाद को रखते हुए भी माओ का कहना है कि किसान-मजदूरों के हित पूर्णतया सुरक्षित रहेंगे। यही नहीं, वे देश के कर्णधार होंगे। यह सब मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या है एवं पुराने मार्क्सवाद से भिन्न है।

सर्वहारा-क्रान्ति की विशेषता :—मार्क्स ने सर्वहारा क्रान्ति की एक विशेषता बतायी थी। उसने बताया कि सर्वहारा क्रान्ति पिछली अन्य क्रान्तियों से भिन्न है। पिछली क्रान्तियाँ एक शोषक वर्ग के नेतृत्व में दूसरे शोषक वर्ग को पदच्युत करने के लिए होती थीं। फ्रांस की ऐतिहासिक राज्य-क्रान्ति पूँजीपतियों ने सामन्तशाही के विरुद्ध की थी। ब्रिटेन के गृह-युद्ध (१६४२—४६) और रक्तहीन क्रान्ति (१६८८) का सार भी यही था। इन पिछली क्रान्तियों के परिणामस्वरूप एक शोषक वर्ग के स्थान पर दूसरे शोषक वर्ग ने समाज और राज्य पर अपना आधिपत्य जमाया, किन्तु शोषण का अन्त न हुआ। इसके विपरीत सर्वहारा-क्रान्ति द्वारा वर्गों तथा शोषण का अन्त हो जायेगा। श्रमिक तो शोषण का अन्त करने के लिए ही क्रान्ति करते हैं।

मार्क्स ने बताया कि समाज तभी बदलता है जब कि उसमें प्रगति की सम्भावना नहीं रह जाती, अर्थात् जब उसका आन्तरिक विरोध चरम सीमा तक पहुँच जाता है। पूँजीवादी उत्पादन की वृद्धि के फलस्वरूप नये-नये बाजारों की ढूँढ होती रही। जब तक नये बाजार मिलते रहे, पूँजीवाद प्रगति करता रहा, किन्तु एक समय ऐसा आया जब कि नये बाजारों का अभाव हो गया। सारा विश्व यूरोप के पूँजीवाद का बाजार बन गया।

अब, पूँजीवाद केवल महायुद्ध द्वारा ही जीवित रह सकता है। मार्क्सवादियों के अनुसार बीसवीं सदी पूँजीवाद की अवनति की सदी है। आज पूँजीवाद में प्रगति की कोई सम्भावना नहीं है, उसमें प्रगति का कोई भी मार्ग खुला नहीं रह गया है। इस पूँजीवाद एवं तत्सम्बन्धित आर्थिक संकटों का अन्त केवल क्रान्ति से ही होगा।

मार्क्स के अनुसार पुराने समाज के अन्त और नये समाज के जन्म के लिये क्रान्ति नितान्त आवश्यक है। हाँ, एक स्थल पर उसने यह भी कहा था कि ब्रिटेन या अमेरिका जैसे जनवादी देशों में संसदीय नीति से सामाजिक परिवर्तन सम्भव है। समष्टिवादी अपनी सुधारवादी नीति की पुष्टि के लिए मार्क्स के इस (ब्रिटेन और अमेरिका-सम्बन्धी) कथन को अपने भाषणों और लेखों में दुहराते हैं। वे कहते हैं कि मार्क्स ने भी उनकी संसदीय नीति को उपयुक्त बताया था। परन्तु साम्यवादी मार्क्स के क्रान्ति-सम्बन्धी कथनों पर जोर देते हैं। मार्क्स की भाँति उनका कथन है कि पतनोन्मुख समाज के स्वामी संसदीय नियमों द्वारा अपने एकाधिकार का कभी भी परित्याग नहीं करेंगे। ये स्वामी शान्तिपूर्वक पदच्युत न होंगे; अर्थात् केवल क्रान्ति द्वारा ही नये समाज का जन्म हो सकता है। इस सम्बन्ध में मार्क्स के ऐतिहासिक कथन का उद्धरण दिया जाता है—नये समाज के जन्म के हेतु बल तथा क्रान्ति धाय स्वरूप है।

सर्वहारा का अधिनायकत्व

यह नया समाज क्या है और कैसा है? क्या यह पूर्णतया नया है? मार्क्स के अनुसार नये समाज के कीटाणु का जन्म पिछले समाज में हो जाता है। अर्थात् समाजवादी समाज के कीटाणु का जन्म पूँजीवादी समाज में ही होता है। श्रमिक दल तथा बड़े-बड़े कारखानों का पूँजीवादी समाज में ही प्रादुर्भाव हुआ है। ये कारखाने नये समाजवादी समाज के प्रमुख अंग होंगे। अन्तर यह है कि जहाँ पूँजीवाद में इन कारखानों पर पूँजीपतियों का एकाधिकार होता है, समाजवादी समाज में इन पर श्रमिकों का एकाधिकार होगा। उत्पादन-शक्तियों का प्रयोग समाज-हित के लिये होगा, पूँजीपति के लाभ के लिए नहीं। इस नये समाज के सांस्कृतिक पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लेनिन ने कहा था कि नये समाज के श्रमिक-स्वामियों का कर्तव्य है कि मानव जाति की देनों (कला-कौशल, विज्ञान, दर्शन आदि) को स्वीकार करें और उन्हें समाज-हित के लिए उपयोग में लायें। अर्थात् इन देनों को आगे बढ़ावें तथा जनसाधारण की वस्तु बनायें। अतः मार्क्सवाद के अनुसार नये समाज का अर्थ है, मानव की देनों को जनवादी रूप देना।

विशेषताएँ :—जैसा ऊपर कहा गया है मार्क्स ने साम्यवादी समाज को ही मानव इतिहास की प्रगति की चरम सीमा बताया था। परन्तु क्या पूँजीवाद के अन्त के बाद ही ऐसे आदर्श साम्यवादी समाज की स्थापना हो सकती है? नहीं। मार्क्स ने पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच एक ऐतिहासिक युग का होना अवश्यम्भावी बताया था। यह ऐतिहासिक संक्रमणकाल है सर्वहारा के अधिनायकत्व का। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

1) उत्पादन पर राज्य का अधिकार होगा। व्यक्तिगत अधिकार का अन्त हो जायेगा। पूँजीपति और जमींदार नहीं रहेंगे।

2 उत्पादन उपभोग के लिए होगा, लाभ के लिए नहीं। इसलिये उत्पादन में स्वभावतः वृद्धि होगी। पूँजीवाद में उत्पादन पूँजीपति के लाभ के लिए होता है। इसलिए समाजवाद के विपरीत, पूँजीवादी समाज में उत्पादन सीमित है।

3 देश के सभी उत्पादन-स्रोतों को पूर्णतया उपयोग में लाया जायेगा। विज्ञान, विद्या, कला आदि को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलेगा। प्रगति ही इस नये समाज का एकमात्र लक्ष्य होगा।

4 प्रत्येक नागरिक को काम करना पड़ेगा। "जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं।" प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा और उसे उसके काम के अनुसार वेतन मिलेगा। वेतनों में अधिक अन्तर न होगा।

5 व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि होगी। यहां यह जानना उपयुक्त होगा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार भिन्न हैं। उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार का अर्थ है, कारखानों और जमीन (जो उत्पादन के साधन हैं) पर एक या कुछ व्यक्तियों का स्वामित्व। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्तर्गत हैं—मकान, मोटर साइकिल, रेडियो आदि उपयोग की वस्तुएँ। उत्पादन की वृद्धि के फलस्वरूप समाजवादी समाज में स्वभावतः व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि होगी। उत्पादन वृद्धि के कारण वस्तुओं का मूल्य कम होगा। सभी नागरिक उनका उपयोग कर सकेंगे। परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का कोई व्यक्ति दुरुपयोग नहीं कर सकता। कोई भी व्यक्ति अपनी एकत्र सम्पत्ति के आधार पर जीवन निर्वाह नहीं करेगा, उसको अनिवार्य रूप से कार्य करना पड़ेगा। अतः सर्वहारा के अधिनायकत्व में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं होगा, अपितु नागरिकों की वैयक्तिक सम्पत्ति की वृद्धि होगी।

नया राज्य:—सर्वहारा के अधिनायकत्व का राजनीतिक ढांचा मार्क्स के विचार

कम्यून (Paris Commune, १८७१) के अनुभवों पर आधृत है। उसने कहा है कि सर्वहारा अपने शासन के लिए पुराने पूँजीपति-राज्य के ढाँचे को प्रयोग में नहीं ला सकता। उसे पुराने राज्य को समाप्त करना पड़ेगा और एक नये राज्य की स्थापना करनी होगी। १८७१ ई० में बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी ने फ्रांस पर धावा किया। जर्मनी की फौजें पेरिस (फ्रांस की राजधानी) तक पहुँच गयीं। थियर्स की राष्ट्रीय सरकार पेरिस छोड़कर दूसरे स्थान को चली गयी। राष्ट्रीय सरकार एवं सेना ने पेरिस की रक्षा नहीं की। परन्तु मजदूरों ने पेरिस को दो महीने तक जर्मनी के सैनिक आक्रमणों से बचाया। उन्होंने इस नगर पर राज्य किया। यह राज्य पेरिस कम्यून के नाम से सुप्रसिद्ध है। मजदूरों ने इस अल्प-राज्यकाल में राज्य के पुराने ढाँचे को न तोड़ कर बड़ी भूल की थी। पुराने राज्य कर्मचारियों ने थियर्स को सब सूचनाएँ पहुँचा दी। थियर्स और जर्मनी को सेना ने मिल कर मजदूरों के पेरिस-कम्यून का अन्त किया। जर्मनी से सन्धि के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार द्वारा मजदूरों का बड़ी निर्दयता और क्रूरतापूर्वक दमन किया गया। इस अनुभव के आधार पर मार्क्स ने कहा कि श्रमिकों को क्रान्ति के पश्चात् एक नये राज्य का निर्माण करना होगा।

परन्तु मार्क्स ने उक्त विचार केवल अपने शास्त्रीय अनुभव के आधार पर प्रकट किया था। उसने किसी सर्वहारा के राज्य का संगठन और संचालन नहीं किया था। यह कार्य तो लेनिन, स्तालिन और माओ द्वारा ही हुआ है। इसलिए इन्होंने सर्वहारा-राज्य की विशेषताओं को व्याख्या अपने व्यावहारिक अनुभवों से की है।

लेनिन ने, जो रूस के सोवियत-राज्य का सर्वप्रमुख संचालक और नेता था, सर्वहारा के अधिनायकत्व को दार्शनिक रूप से न्यायसंगत बताया। उसका कहना था कि यह अधिनायकत्व इसलिए आवश्यक है कि पूँजीपतियों के पुनरुत्थान के प्रयत्नों का अन्त किया जाय। क्रान्ति के बाद पूँजीपतियों की विरोधात्मक शक्ति दसगुनी बढ़ जाती है। "मरता क्या न करता" की कहावत से यह कथन स्पष्ट हो जाता है। रूस की क्रान्ति के पश्चात् वहाँ के पदच्युत पूँजीपतियों और अन्य देशों के पूँजीपतियों के कान खड़े हो गये थे। सभी ने मिलकर नये सोवियत (soviet) राज्य का अन्त करने की चेष्टा की। चार वर्षों तक पूँजीवादी संयुक्त मोर्चे द्वारा नये रूस पर आक्रमण होते रहे। अनेकानेक राजनीतिक षड्यंत्र जारी रहे। पदच्युत पूँजीपतियों के पास धन था, विद्या थी, अस्त्र-शस्त्र थे और कला-कौशल भी। ये सब बातें नये रूस के मजदूरों को अभी उपलब्ध न थीं। पूँजीपतियों के पास सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु थी—जनता की पूँजीवादी मनोवृत्ति।

इन सब का अन्त करने के लिए और नवीन समाज, विचारधारा तथा मनोवृत्ति की स्थापना के हेतु लेनिन ने अधिनायकत्व का होना आवश्यक बताया।

लेनिन ने कहा कि सर्वहारा का अधिनायकत्व एक नया राज्य है। यह न तो एक नई सरकार है और न एक सहयोगी समाज ही। उसमें केवल मजदूर और उनकी संस्थाएँ ही राज्य करती हैं। ऐसी स्थिति में वर्गों के सहयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, रूस में कुछ वर्षों तक किसानों और छोटे-छोटे व्यापारियों के सहयोग द्वारा योजनाओं को कार्यान्वित किया गया। परन्तु यह सहयोग अस्थायी था। इस सहयोग का एकमात्र ध्येय वर्गों का अन्त करना था। इस नये राज्य में कोई भी नीति ऐसी नहीं हो सकती जो मजदूरों के हित के विपरीत हो।

सर्वहारा के अधिनायकत्व का अर्थ है राज्य में केवल सर्वहारा दल का ही सर्वेसर्वा होना। यह दल साम्यवादी दल (कम्यूनिस्ट पार्टी) है। मार्क्स ने इसी दल को श्रमिकों का क्रान्तिकारी दल बताया था। यह दल ही श्रमिकों को राजनीतिक शिक्षा द्वारा क्रान्ति की ओर अग्रसर करता है। लेनिन ने भी इसी विचारधारा का अनुकरण किया। केवल कम्यूनिस्ट पार्टी ही श्रमिकों के वास्तविक हितों का प्रतिनिधित्व करती है। उसी के नेतृत्व में श्रमिक-क्रान्ति होगी। स्तालिन ने मार्क्स और लेनिन के मूल विचारों के आधार पर एक-दलीय राज्य को न्याय-संगत बताया और कम्यूनिस्ट पार्टी की विशेषताओं की भी व्याख्या की।

कम्यूनिस्ट पार्टी:—संघवादियों और अन्य आलोचकों का कहना है कि सर्वहारा के अधिनायकत्व का अर्थ है सर्वहारा पर बोलशेविक या कम्यूनिस्ट पार्टी का अधिनायकत्व। यह सत्य है कि रूस में एक ही दल है। उस दल के सदस्य का राज्य और समाज में प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इसके साथ ही उसका उत्तरदायित्व भी काफी है। वही मजदूर, वही किसान या वही विद्यार्थी पार्टी का सदस्य हो सकता है, जो अपने साथियों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य हो। इस विशेषता की पूर्ति द्वारा ही वह पार्टी का सदस्य रह सकता है, अन्यथा उसकी सदस्यता समाप्त कर दी जाती है। यदि एक अपराध के लिए किसी नागरिक को एक वर्ष की सजा मिलती है, तो उसी अपराध के लिए एक पार्टी के सदस्य को कई गुणा सजा भुगतनी पड़ती है। इस कारण पार्टी एक व्यक्ति को शासक वर्ग का सदस्य तो अवश्य बनाती है किन्तु साथ ही साथ यह सदस्यता काँटों का ताज भी है।

स्तालिन ने लेनिन के विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए बताया कि कम्यूनिस्ट पार्टी एक नई पार्टी है, वह लेनिनवादी पार्टी है। वह अन्य पार्टियों से भिन्न है। वह सर्वहारा

का उग्र दल है। वह मजदूर दल का मार्ग-प्रदर्शन करती है, राजनीतिक नेतृत्व एवं सेनापतित्व करती है, और उसका एक अभिन्न अंग है। यह पार्टी श्रमिक-वर्ग का संगठित सैन्यदल है। लेनिन के कथनानुसार वह सर्वहारा के वर्ग-संगठन का उच्चतम रूप है। वह सर्वहारा वर्ग के सर्वश्रेष्ठ जनों को अपनी ओर आकर्षित करती है। मजदूर-दल के नेताओं के लिए यह पार्टी सर्वोत्तम संस्था है। यह सर्वहारा-आधिपत्य की स्थापना और उसके विस्तार का साधन है। यह सर्वहारा की एकता का प्रतीक है तथा हर प्रकार की गुटबन्दी की शत्रु। अवसरवादी सदस्यों को निकाल देने से पार्टी सुदृढ़ होती है, कमजोर नहीं।

कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति जनतंत्रीय-केन्द्रीयकरण (democratic centralism) की प्रणाली द्वारा निर्धारित होती है। यह प्रणाली केवल कम्यूनिस्ट पार्टियों की ही विशेषता है। एक योजना पार्टी की किसी समिति या केन्द्रीय समिति से आरम्भ होती है। इस योजना को थीसिस (thesis) कहते हैं। इस थीसिस को पार्टी के सभी इकाइयों में भेजा जाता है। इकाइयों में इस पर स्वतंत्र परामर्श होता है। इन इकाइयों के मत पार्टी की केन्द्रीय समिति में भेजे जाते हैं। यहाँ इन मतों और थीसिस पर गम्भीर रूप से विचार होता है। इसी दौरान में पार्टी के पत्रों में इस थीसिस पर विचार प्रकट किये जाते हैं। पार्टी की केन्द्रीय समिति का निर्णय ही स्वीकृत थीसिस बनता है। इस स्वीकृत थीसिस के अनुसार सभी इकाइयों और सदस्यों को कार्य करना पड़ता है। उल्लंघन करने पर सदस्योंको कठोर दंड दिया जाता है। अतः योजना जनतंत्रीय रूप से बनती है और सभी सदस्यों को इस पर विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता है। इस स्वतंत्रता का पूर्णतः वास्तवीकरण भी होता है। परन्तु जब केन्द्र इन परामर्शों के उपरान्त एक योजना घोषित करता है, तब उसका पालन करना सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य हो जाता है। ऐसा ही जनतंत्रीय केन्द्रीकरण सोवियत-राज्य के संगठन और संचालन में व्याप्त है।

सोवियत रूस में केवल एक राजनीतिक दल है। परन्तु वहाँ निर्वाचनों में स्वतंत्र उम्मीदवार भाग ले सकते हैं। १९३४ में रूस के सब ग्राम-सोवियतों में केवल २०.४ प्रतिशत और नगर सोवियतों में ५३.९ प्रतिशत सदस्य कम्यूनिस्ट थे (वेब-दम्पत्ति— 'सोवियत-साम्यवाद' १९४४—पृ० २७२)। अन्य सदस्य, कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं थे। किन्तु सोवियत रूस में कम्यूनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त दूसरी पार्टी की उपस्थिति अवैधानिक है। इस परिस्थिति को स्तालिन ने न्यायसंगत बताया था। उसके मतानुकूल सोवियत संघ में केवल एक ही राजनीतिक दल इसलिए है कि वहाँ वर्ग नहीं हैं। पूँजीवादी

जनतंत्र में अनेक वर्ग हैं। वहां विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए भिन्न-भिन्न राजनीतिक दल हैं। सोवियत रूस में ऐसे वर्गों का अन्त हो गया है। फलतः वहां वर्ग-स्वार्थ का प्रतिनिधित्व करनेवाले राजनीतिक दलों की भी आवश्यकता नहीं है।

राज्य आदि

जन्म एवं रूप :—मार्क्सवाद का राज्य-सम्बन्धी विश्लेषण, एंगेल्स की पुस्तक (कुटुम्ब, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्य के जन्म) में मिलता है। मनुष्य जाति प्रारम्भिक काल में साम्यवादी समूहों में रहती थी। कुछ समय बाद कृषि और गो-पालन प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। कृषि-यंत्रों की जानकारी जिन थोड़े लोगों को थी, वे ही उत्पादन के साधनों के स्वामी बने। इन व्यक्तियों ने अन्य साधनहीन लोगों को अपना दास बनाया और भूमि पर अपना व्यक्तिगत अधिकार स्थापित किया। शोषक और शोषितों के दो वर्ग बने। शोषक वर्ग ने अपना आधिपत्य जमाने और उसे स्थायी रखने के हेतु धीरे-धीरे, पुलिस, धर्म, न्याय आदि की स्थापना की। इन संस्थाओं की स्थापना द्वारा राज्य का जन्म हुआ।

अतः मानव-इतिहास में राज्य का जन्म उस समय हुआ जब उत्पादन के साधनों (भूमि और कृषि-यंत्रों) पर व्यक्तिगत अधिकार के फलस्वरूप वर्गों का जन्म हुआ था। अर्थात् राज्य का जन्म वर्गों के जन्म के साथ-साथ हुआ। अतः राज्य एक वर्गीय संस्था है। सदा ही देश के उत्पादन के साधनों के स्वामियों का राज्य पर आधिपत्य या स्वामित्व रहा है। राज्य की बागडोर अर्थ के इन स्वामियों के हाथों में रही है। दासता युग में दासों के स्वामियों के हाथ में राज्य की बागडोर थी, और सामन्तशाही युग में सामन्तों के हाथों में। पूँजीवादी युग में पूँजीपतियों का राज्य पर एकाधिकार है। सर्वहारा युग में राज्य की बागडोर का श्रमिकों के हाथों में होना अनिवार्य है।

इसी विश्लेषण के आधार पर लेनिन ने राज्य को दमन-यंत्र बताया था। जिस वर्ग के हाथों में राज्य की बागडोर होती है, वह वर्ग अपना आधिपत्य स्थायी रखने के लिए इस संस्था को दमन-यंत्र की भांति उपयोग में लाता है।

राज्य लोप हो जायेगा :—सर्वहारा के युग में सर्वहारा का अधिनायकत्व होगा। मार्क्स ने इस अधिनायकत्व के काल को संक्रमण काल कहा था। इसके पश्चात् भविष्य में साम्यवादी समाज का जन्म होगा। यह कैसे सम्भव है? इस संक्रमण काल में उत्पादन की वृद्धि होगी। क्योंकि पूँजीवादी प्रथा के विपरीत समाजवादी प्रथा में उत्पादन

उपभोग के लिए होता है। उत्पादन वृद्धि से उपभोग की वस्तुओं की संख्या बढ़ेगी। फलतः निम्नलिखित परिस्थितियों का प्रादुर्भाव होगा :—

(१) गाँव और शहर में भेद नहीं रहेगा। पूँजीवादी युग में और इसके पूर्व यह भेद इसलिए था कि उत्पादन सीमित होता था एवं है। गाँव में न बिजली थी और न तज्जन्य अन्य आधुनिक सुविधाएँ ही। सर्वहारा के अधिनायकत्व-काल में उत्पादन की वृद्धि होगी। उत्पादन उपभोग के लिए होगा, अतएव सर्वसुलभ होगा। तब गाँव और शहर का भेद लुप्त हो जायेगा। अर्थात् गाँवों में भी सब सुविधाएँ सम्भव हो जायेंगी। आधुनिक रूस में प्रायः प्रत्येक गाँव में स्कूल, सिनेमा तथा बिजली है। साम्यवादियों का कहना है कि यह प्रगति निरन्तर जारी रहेगी। अन्ततोगत्वा ग्राम और शहर के जीवन का भेद मिट जायेगा।

(२) शारीरिक और बौद्धिक कार्य में भेद नहीं रहेगा। यह भेद भी विज्ञान के अपूर्ण विकास का द्योतक है। आज विज्ञान की प्रगति के कारण ही झाड़ू देने और जमीन खोदने की मशीनें बन गयी हैं। यदि ऐसी प्रगति सतत होती रही तो यह भेद भी समाप्त हो जायेगा। वैज्ञानिक प्रगति से शारीरिक कार्य भी सुगम हो जायेंगे। उनके गन्दे रूप का भी अन्त हो जायेगा। वे बौद्धिक कार्य की भाँति ही सरल बनेंगे।

(३) समाजवादी समाज में (जैसा आधुनिक रूस में है) कार्य-वितरण नियम "योग्यता के अनुसार कार्य, और कार्य के अनुसार वेतन" के सिद्धान्त पर आश्रित है। वस्तुओं का वितरण वेतन पर आश्रित है। एंगेल्स ने कहा था कि उत्पादन-वृद्धि के फलस्वरूप एक समय ऐसा आयेगा जब उपभोग की वस्तुएँ इतनी पर्याप्त मात्रा में होंगी कि उक्त कार्य-वितरण नियम के स्थान पर एक नया नियम सम्भव होगा। यह नियम है—"योग्यता के अनुसार कार्य और इच्छा के अनुसार वस्तुएँ"। यही नियम साम्यवादी समाज का आधार एवं प्रतीक है।

(४) संक्रमण-काल में नागरिकों को शिक्षा में प्रगति होगी। तदनन्तर सभी नागरिकों को शासन की योग्यता प्राप्त हो सकेगी। तब राज्य का कार्य उतना ही सरल हो जायेगा जितना कि साधारण जीवन के अन्य कार्य। तब शासन के लिए किसी विशेषज्ञ की आवश्यकता न होगी। सभी नागरिक विशेषज्ञ होंगे।

एंगेल्स ने कहा कि समाज में उक्त विशेषताओं के उपस्थित होने पर सच्ची स्वतंत्रता सम्भव होगी। उस अवस्था में मार्क्स के कथन "राज्य का लोप हो जायेगा" का वास्तवीकरण हो सकेगा।

स्वतंत्रता :—इस सम्बन्ध में मार्क्सवादियों के स्वतंत्रता-सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण उपयुक्त है। अराजकतावादियों और व्यक्तिवादियों की स्वतंत्रता नकारात्मक स्वतंत्रता थी। उनके अनुसार हस्तक्षेप का न होना ही स्वतंत्रता का निर्देशक है। इसके विपरीत आदर्शवादियों ने कहा था कि स्वतंत्रता का अर्थ है—नैतिकता और विवेक द्वारा जीवन-संचालन (कान्ट), या "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" के अनुसार जीवन-यापन (हीगेल)। इनकी स्वतंत्रता सकारात्मक थी। इस सकारात्मक स्वतंत्रता को मार्क्सवादियों ने आर्थिक और सामाजिक रूप दिया।

एंगेल्स ने स्वतंत्रता का अर्थ बताया था—आवश्यकता की जानकारी (Freedom is the recognition of necessity)। प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति, समाज, विज्ञान आदि के नियमों की जानकारी आवश्यक है। जितनी मात्रा में एक व्यक्ति को यह जानकारी है, उतनी ही मात्रा में वह स्वतंत्र है। एक साधारण उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। प्रत्येक व्यक्ति को हवाई जहाज चलाने की स्वतंत्रता है। परन्तु आधुनिक समाज में केवल थोड़े-से ही व्यक्ति इस स्वतंत्रता को कार्यान्वित कर सकते हैं। क्योंकि अन्य सुविधाओं के अतिरिक्त हवाई जहाज चलाने के हेतु एक व्यक्ति के लिए कुछ विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है। इस ज्ञान के द्वारा ही एक व्यक्ति अपनी हवाई जहाज चलाने की स्वतंत्रता का वास्तवीकरण कर सकता है। यह ज्ञान इस स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। अन्यथा यह स्वतंत्रता उस व्यक्ति के लिए नाममात्रीय होगी।

ऐसी सकारात्मक स्वतंत्रता केवल तभी सम्भव हो सकती है, जब समाज द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की जानकारी के लिए उचित व्यवस्था हो। केवल ऐसे ही समाज का व्यक्ति हवाई जहाज चलाने की स्वतंत्रता को वास्तविक बना सकता है, जिसमें नागरिक की पर्याप्त शिक्षा का प्रबन्ध हो। ऐसा समाज केवल साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता है। इसी आधार पर एंगेल्स ने कहा था कि केवल साम्यवादी समाज में ही सच्ची स्वतंत्रता सम्भव है।

स्तालिन ने वर्त्तमान स्थिति में "राज्य के लोप" होने वाले कथन का स्पष्टीकरण करते हुए १९३९ ई० में कहा कि सोवियत रूस की प्रगति के अनुसार तो यह मालूम होता है कि राज्य का अनुशासन कम हो जाना चाहिये। उत्पादन की निरन्तर वृद्धि के फल-स्वरूप उन परिस्थितियों की उपस्थिति हो जानी चाहिये जिनके कारण राज्य का लोप हो जाता है। किन्तु शायद एंगेल्स राज्य-विलोपन के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति की कल्पना न कर सका था। आज एक समाजवादी राज्य (रूस) पूंजीवादी राज्यों से

घिरा हुआ है। इन विरोधी राज्यों के षड्यंत्रों से बचने के लिए सोवियत रूस का एक दृढ़ राज्य की आवश्यकता है। मार्क्सवादियों का यह कहना है कि स्तालिन के इस कथन को द्वितीय महासमर ने अक्षरशः सत्य प्रमाणित कर दिया है। सोवियत रूस ही एक ऐसा देश था जहाँ हिटलर के पाँचवें दस्ते (देशद्रोही) का नाम निशान न था। महायुद्ध के पूर्व ही (१९३५—३६ में) पुलिस द्वारा रूस में ऐसे पाँचवें दस्ते का अन्त कर दिया गया था।

जनतंत्र :—मार्क्स ने तत्कालीन राज्य के विषय में कहा था कि उसकी कार्यपालिका पूँजीपतियों के सामान्य हितों की सुरक्षा के लिए एक प्रबन्ध-समिति है। वह तत्कालीन जनवाद का भी आलोचक था। उसके मतानुसार हर पाँचवें वर्ष के संसदीय निर्वाचन का अर्थ है कि श्रमिक मत दें कि वे किस पूँजीवादी उम्मीदवार को अपने कुप्रतिनिधित्व के लिए चाहते हैं।

इस विश्लेषण के आधार पर मार्क्सवादी आधुनिक जनतंत्रों (जैसे ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका आदि की आलोचना करते हैं। इन जनतंत्रों में भाषण, लेख आदि की स्वतंत्रता है। वहाँ व्यवस्थापिका सभा ही वैधानिक दृष्टि से नियम-निर्माण की सर्वोच्च संस्था है। निर्वाचन में मतदान की स्वतंत्रता है। परन्तु यह जनतंत्र और स्वतंत्रता तभी तक सम्भव है, जब तक पूँजीपति वर्ग का अर्थ-व्यवस्था, समाज एवं राज्य पर एकाधिकार सुरक्षित है। जिस समय श्रमिक वर्ग उक्त जनतंत्रीय सुविधाओं द्वारा पूँजीपतियों के एकाधिकार पर आघात करता है और जब यह आघात गम्भीर रूप धारण कर पूँजीपतियों के एकाधिकार को खतरे में डाल देता है तब पूँजीपति उक्त जनतंत्रीय संस्थाओं को स्थायी या अस्थायी रूप से स्थगित कर देते हैं। अतः तब पूँजीवादियों द्वारा नग्न पुलिस राज्य की स्थापना होती है। अर्थात् शोषक वर्ग अपना अधिनायकत्व स्थापित करता है। वस्तुतः पूँजीवादी जनतंत्र एक ढोंग है या धोखे में रखने वाला एक पर्दा है।

इस आधार पर मार्क्सवादी राज्यों का द्विधा विभाजन करते हैं—पूँजीपति का अधिनायकत्व और सर्वहारा का अधिनायकत्व। इस सम्बन्ध में लेनिन और स्तालिन के वक्तव्यों के उद्धरण दिये जाते हैं। लेनिन ने सर्वहारा के अधिनायकत्व को न्यायसंगत ही नहीं, अपितु जनतंत्रीय भी बताया था। उसने कहा कि आधुनिक पूँजीवादी जनतंत्रों में तो राज्य, समाज और अर्थ की बागडोर मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में होती है। वहाँ (ब्रिटेन, संयुक्त राष्ट्र, फ्रांस आदि देशों में) अल्पसंख्यकों (पूँजीपतियों) का बहुसंख्यकों (श्रमिकों) पर शासन होता है। लेनिन ने कहा कि सोवियत् रूस में बहुसंख्यकों (श्रमिकों) का अल्पसंख्यकों (पूँजीपतियों) पर शासन है। इसलिए सर्वहारा का अधिनायकत्व वास्तव में

सच्चा जनतंत्र है। लेनिन, स्तालिन आदि मार्क्सवादी कहते हैं कि पूँजीवादी राज्य में जनवादी स्वतंत्रताएँ तो श्रमिकों के लिए नाममात्र को हैं। आर्थिक पराधीनता की परिस्थिति में ये स्वतंत्रताएँ कभी भी कार्यान्वित नहीं हो सकतीं। स्वतंत्रताओं की घोषणा करना एक बात है और उनको कार्यान्वित करना दूसरी बात। उदाहरणार्थ, पूँजीवादी देशों में लेख की स्वतंत्रता है, किन्तु श्रमिकों के कितने समाचार-पत्र हैं? प्रत्येक नागरिक समाचार-पत्र प्रकाशित कर सकता है, परन्तु कितने नागरिकों के पास प्रकाशन के लिए प्रर्याप्त धन है?

ऐसी आलोचना के साथ ही वेब-दम्पत्ति (Sydney & Beatrice Webb) की सुप्रसिद्ध पुस्तक (Soviet Communism) से उद्धरण देते हैं। वेब-दम्पत्ति फेबियनवादी थे। वे समाजशास्त्र के प्रमुख वेत्ता माने जाते थे। (उनके दर्शन के विषय में समष्टिवाद का अध्याय देखिये)। उन्होंने उक्त पुस्तक में आंकड़ों द्वारा बताया कि सोवियत राज्य में स्तालिन अधिनायक नहीं हैं। कम्यूनिस्ट पार्टी जनतंत्रीय शिक्षागृह और पथ-प्रदर्शन केन्द्र है। दुनिया में रूस जैसा सर्वव्यापी और समानता-पूर्ण जनतंत्र कहीं नहीं है। जहाँ ब्रिटेन और अमेरिका में करीब ६० प्रतिशत मताधिकारी निर्वाचन में भाग लेते हैं, वहाँ सोवियत रूस में करीब ८० प्रतिशत। इसके आधार पर मार्क्सवादी सर्वहारा के अधिनायकत्व को वास्तविक जनतंत्र बताते हैं और ब्रिटेन एवं अमेरिका के जनतंत्र को ढोंग। यह तो सत्य है कि अगर उनकी जनवाद की परिभाषा को उचित माना जाय तो यू० एस० एस० आर० (U. S. S. R. समाजवादी सोवियत जनतंत्रों का संघ) अवश्य एक सर्वश्रेष्ठ जनवाद है। परन्तु परिभाषा का प्रश्न सदा ही जटिल रहा करता है।

संस्कृति आदि

संस्कृति का आधार:—सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में भी मार्क्सवाद का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। आदर्शवाद के अनुसार प्रकृति की अपेक्षा आत्मा मूल है। इसके विपरीत भौतिकवाद प्रकृति को मूल मानता है। मार्क्स ने कहा था कि चिन्तन से चिन्त्य वस्तु (जो भौतिक है) को पृथक नहीं किया जा सकता। चेतना और विचार चाहे कितने ही गोतीत क्यों न जान पड़ें, वास्तव में मस्तिष्क की उपज हैं। यह मस्तिष्क क्या है? यह भौतिक और दैहिक इन्द्रिय है। यह भौतिक जगत की सर्वश्रेष्ठ इन्द्रिय है; यह भौतिक जगत की सर्वश्रेष्ठ उपज है। मार्क्स के शब्दों में "पदार्थ मन से उत्पन्न नहीं हुआ, वरन् मन पदार्थ की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है।" लेनिन ने इस विचार को इन शब्दों में

व्यक्त किया—"सृष्टि-ज्ञान का अर्थ है पदार्थ की गति और उसकी चिन्तनशीलता का ज्ञान।"

इस प्रकार पदार्थ या प्रकृति ही मूल है, विचार या चेतना उसका प्रतिविम्ब है। व्यक्ति के विचार उसकी सामाजिक सत्ता या परिस्थिति से स्वतंत्र नहीं होते; वे उस पर आश्रित होते हैं। कहा ही जाता है कि एक दार्शनिक अपने युग का कीचड़ अपने पैरों के साथ लेता जाता है। उसके दर्शन पर उसके समाज की छाप (कीचड़) अवश्य ही रहती है। वह इस छाप से मुक्त नहीं हो सकता। या जैसा लास्की कहा करता था, "जो जैसे रहता है, वैसे ही सोचता है।"

समाज के विचार-सिद्धान्त और राजनीतिक संस्थाएँ समाज की सत्ता और उसके भौतिक जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल होती हैं। समाज की सत्ता या परिस्थितियाँ किस पर आश्रित हैं? मार्क्सवादी इसका श्रेय उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों को देते हैं। इस पर ही समाज का ढाँचा या रूप निर्भर है। दासता-युग में सामाजिक रीतियाँ आदि अन्य युगों से भिन्न थीं। यही विशेषता सामन्तवादी युग की थी और पूँजीवादी युग की है। इस भिन्नता के एक-मात्र कारण उत्पादन-शक्तियाँ और उत्पादन-सम्बन्ध हैं। क्योंकि जैसा मार्क्स ने कहा था, "मनुष्य की सत्ता उसकी चेतना द्वारा नहीं निश्चित होती, वरन् उसकी चेतना ही उसकी सामाजिक सत्ता द्वारा निश्चित होती है।"

परिवर्तन का नियामक कारण :—स्तालिन ने अपने सुप्रसिद्ध लेख "द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद" में यूरोप के सामाजिक परिवर्तनों के नियामक या मुख्य कारण का विश्लेषण किया है। भौगोलिक परिस्थितियों का मानव-जीवन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह प्रभाव नियामक नहीं है। क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से सदियों से यूरोप अपरिवर्तनशील-सा रहा है, जब कि तीन हजार वर्षों में यूरोप में एक के बाद दूसरी सामाजिक व्यवस्थाएँ आ चुकी हैं; प्राचीन पंचायती-व्यवस्था, दास-व्यवस्था, सामन्तवादी-व्यवस्था, पूँजीवादी-व्यवस्था और रूस में समाजवादी-व्यवस्था। अवश्य ही समाज के विकास पर जनसंख्या की वृद्धि का भी प्रभाव पड़ता है, वह उसकी गति धीमी तथा तीव्र करती है। परन्तु उसका भी नियामक प्रभाव नहीं हो सकता। देखने में आता है कि जनसंख्या के घनत्व पर सामाजिक ढाँचा आश्रित नहीं होता। भारतवर्ष में जनसंख्या का घनत्व रूस या अमेरिका से अधिक है, परन्तु यहाँ का सामाजिक ढाँचा न तो पूर्णतया पूँजीवादी है और न समाजवादी ही।

स्तालिन का कहना है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद (मार्क्सवाद) के अनुसार आवश्यक जीवन-साधनों को प्राप्त करने की प्रणाली ही सामाजिक परिवर्तन की नियामक शक्ति है। व्यक्ति को जीवित रहने के लिए भौतिक मूल्यों (वस्तुओं) की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता-पूर्त्ति के हेतु वह उत्पादन करता है, उसे उत्पादन-शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादन के सिलसिले में वह अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करता है। यह उत्पादन-सम्बन्ध स्वेच्छा पर आश्रित नहीं होता, वरन् उत्पादन-शक्तियों के रूप पर। उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि वह किसी अवस्था में देर तक स्थिर नहीं रहता, अपितु सदा परिवर्तन तथा विकास की दिशा में रहता है। उत्पादन-पद्धति में परिवर्तन होने से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था, विचारों, राजनीतिक मतों और राजनीतिक संस्थाओं में परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है। अर्थात् उत्पादन-पद्धति में परिवर्तन होने से समग्र राजनीतिक एवं सामाजिक रचना में नव निर्माण अवश्यम्भावी हो जाता है। इस सम्बन्ध में मार्क्स का कथन विषय की स्पष्टता में सहायक होगा। उसने कहा है—"सामाजिक सम्बन्ध उत्पादक-शक्तियों से जुड़े हुए हैं। नयी उत्पादक-शक्तियों के अर्जन में मनुष्य अपनी उत्पादन-पद्धति बदल देते हैं। अपनी उत्पादन-पद्धति तथा अपनी जीविकोपार्जन की प्रणाली बदलने से वे तमाम सामाजिक-सम्बन्ध को परिवर्तित करते हैं। हाथ की चक्की की व्यवस्था में सामन्तशाही सामाजिक-सम्बन्ध व्याप्त होते हैं। भाप से चलने वाली चक्की वह समाज बनाती है, जिसमें प्रभुत्व औद्योगिक पूँजीपति का होता है।"

सामाजिक प्रगति में विचारों, सिद्धान्तों, मतों और संस्थाओं का भी स्थान होता है। ये समाज के भौतिक जीवन पर तो अवश्य आश्रित होते हैं, किन्तु इनका सामाजिक-शक्तियों को समेटने और संगठित करने में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नये विचार और सिद्धान्त नयी भौतिक-परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं। इनके द्वारा जनसाधारण को भौतिक-जीवन की त्रुटियों और आन्तरिक-विरोधों का ज्ञान हो जाता है। जब ये विचार जनता की निधि बनते हैं, तो ये सामाजिक परिवर्तन के लिए अमूल्य हो जाते हैं। इनकी पृष्ठभूमि में ही जनता उन शक्तियों का विध्वंस कर सकती है जो समाज की प्रगति में बाधक हैं। (पूँजीवाद का मार्क्सवादी विश्लेषण इस विचार का स्पष्टीकरण करता है। पूँजीवाद की असंगतियाँ नये समाजवादी दर्शन द्वारा ही स्पष्ट होती हैं।)

इतिहास विज्ञान :—इस आधार पर स्तालिन ने कहा है कि यदि इतिहास-विज्ञान को वास्तविक विज्ञान बनाना है तो सामाजिक इतिहास के विकास को सम्राटों तथा सेनापतियों,

या विजेताओं तथा शासकों के कृत्यों की परिधि के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। इतिहास-विज्ञान के लिए आवश्यक है कि वह भौतिक मूल्यों के सृजनहार, लाखों करोड़ों मजदूरों, के इतिहास के चिन्तन को अपना मूल विषय बनाये। द्वन्द्ववाद की विशेषता बताते हुए स्तालिन ने कहा कि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के सभी बाह्य रूपों और पदार्थों में आन्तरिक असंगतियाँ सहज रूप से विद्यमान हैं। इन पदार्थों और रूपों में भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष दोनों हैं। उनका अतीत है तो अनागत भी, एक अंश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख। इन दो विरोधी अंशों का संघर्ष—पुरातन और नवीन, मरणशील और विकासोन्मुख, निर्वाण और निर्माण का संघर्ष ही—विकास-क्रम की आन्तरिक प्रक्रिया है। स्तालिन ने इस आधार पर कहा कि कम्यूनिस्ट या मार्क्सवादी सदा ही नवीन एवं विकासोन्मुख विचारधारा या दल का साथ देता है, चाहे वे बाह्य रूप से कितनी ही बलहीन दशा में क्यों न हों। मार्क्सवादी कभी भी पुरातन एवं मरणशील विचारधारा या दल से सहानुभूति नहीं रखता, चाहे वह कितना ही समृद्ध दृष्टिगोचर क्यों न हो।

इसी पृष्ठभूमि के आधार पर मार्क्सवादियों का कहना है कि नये समाजवादी राज्य (सर्वहारा का अधिनायकत्व) द्वारा एक नयी सभ्यता और संस्कृति का जन्म होगा। यह नयी सभ्यता मानव की सब देनों को ग्रहण करेगी और उन्हें जनवादी रूप देगी। साथ ही, विज्ञान तथा उत्पादन की प्रगति से नयी मानवता का जन्म होगा। सोवियत रूस में जो सामाजिक परिवर्तन हुए हैं, उनको वहाँ से प्रकाशित साहित्य स्पष्ट कर देता है। सुप्रसिद्ध वेब-दम्पत्ति का कहना है कि रूस में नागरिक के पूर्ण सप्ताह का जीवन उसके रविवार के जीवन की तरह होता है। (रविवार को ईसाई गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करते हैं और ईसा के आदेशों से जीवन-निर्वाह करने की शपथ लेते हैं। परन्तु वे सप्ताह भर ऐसे कार्य करते हैं जो ईसा के आदेशों से भिन्न हैं।) अपितु रूस में नागरिक उसी जीवन को आदर्श जीवन मानते हैं जिसका ध्येय बन्धुओं का हित हो चाहे वे बन्धु किसी भी आयु, लिंग, धर्म या जाति के हों। इसी के आधार पर जौन्सन (Hewlett Johnson) का विचार है कि ईसाइयों की भाँति कम्यूनिस्ट भी समाज-हित को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। कम्यूनिस्ट अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में इतने लीन रहते हैं कि वे एक सच्चे ईसाई को लज्जित कर देते हैं। अतः कम्यूनिस्ट ईसा मसीह के सच्चे उत्तराधिकारी हैं। जौनसन का कहना है कि केवल रूस में ही नागरिक उन आदेशों के अनुसार जीवन निर्वाह करता है, जो सभी धार्मिक नेताओं ने मानव के सम्मुख प्रस्तुत किये हैं। यह सब कैसे सम्भव हो सका? मार्क्सवादी इसका एकमात्र कारण

उत्पादन-शक्तियों एवं उत्पादन-सम्बन्धों में परिवर्तन बताता है। क्योंकि रूस में उत्पादन-शक्तियों पर जनता का राज्य द्वारा एकाधिकार है और उत्पादन-सम्बन्ध समाजवादी हैं, इसलिए वहाँ एक नयी सभ्यता का जन्म सम्भव हो सका। सुप्रसिद्ध रूसी साहित्यकार मैक्सिम गोर्की (Maxim Gorky) का कहना था कि सोवियत कारखाना एक समाजवादी शिक्षा-केन्द्र है, न कि पूँजीवादी कसाईखाना। (मार्क्सवाद के सामाजिक दृष्टिकोण और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सम्बन्ध में देखिये—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास—अनुवादक डा० रामविलास शर्मा, जनप्रकाशन गृह लि०, पृ० १०८—३६)

राष्ट्रीयता :—मार्क्सवाद के अनुसार राष्ट्रीयता का प्रश्न पूँजीवाद से मिला हुआ है। यूरोप में राष्ट्रीयता का जन्म पूँजीवाद के साथ-साथ हुआ था। व्यापारिक स्पर्द्धा के फलस्वरूप पूँजीपतियों में राष्ट्रीयता की चेतना जागरित हुई। पन्द्रहवीं सदी के व्यापारियों और मल्लाहों के प्रोत्साहन द्वारा यूरोप के देशों ने अन्य महाद्वीपों की खोज की। उदाहरणार्थ भारतवर्ष में अंग्रेजों ने धीरे-धीरे व्यापारिक और राजनीतिक एकाधिकार स्थापित किया। अन्य देशों के व्यापारियों ने व्यापारिक सुविधा प्राप्त न होने का कारण यही समझा कि वे पिछड़े हुए देश के नागरिक थे। इसलिए उन्होंने ब्रिटेन जैसे समृद्ध देशों से मुकाबले के लिए अपने राष्ट्र को सुदृढ़ बनाया। राष्ट्रीयता की भावना का, जिसका जन्म करीब-करीब १४वीं सदी में हुआ था, उपयोग किया गया। अब इस स्पर्द्धा के फलस्वरूप राष्ट्रीयता ने उग्र रूप धारण किया। इस सम्बन्ध में स्तालिन ने कहा है कि पूँजीपति राष्ट्रीयता का पाठ बाजार में ही सीखता है।

स्तालिन का १९१८ का निबन्ध मार्क्सवाद के राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण करता है। इसके अनुसार राष्ट्र ऐतिहासिक रूप से बना हुआ वह समाज है जिसमें भाषा, प्रदेश, आर्थिक-जीवन और संस्कृति का स्थायी समन्वय हो। इन सभी विशेषताओं का होना एक राष्ट्र के लिए आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से यहूदियों को एक राष्ट्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में फैले हुए हैं। मध्यकालीन साम्राज्यों को भी राष्ट्र नहीं माना जा सकता। सिकन्दर का साम्राज्य एक राष्ट्र न था। इस प्रकार अन्य साम्राज्य भी राष्ट्र का रूप धारण न कर पाये।

राष्ट्रीयता की आड़ में भी आधुनिक साम्राज्यों का जन्म हुआ। इन साम्राज्यों में भिन्न-भिन्न जातियां तथा राष्ट्र हैं। साम्राज्यवादी देश इन राष्ट्रों और जातियों का शोषण करते हैं। वे अपने को इस सम्बन्ध में अधिक सभ्य मानते हैं, और ऐसा प्रचार भी करते हैं। जारशाही रूस के साम्राज्य में कई परतंत्र जातियां एवं राष्ट्र थे। इन परतंत्र

जातियों तथा राष्ट्रों पर जारशाही के रूसी अधिकारी शासन करते थे। इन जातियों का हर प्रकार से शोषण किया जाता था। यही दशा अन्य साम्राज्यों की भी थी। इन सब परतंत्र राष्ट्रों में धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की भावना जागरित हुई और राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुए इनका नेतृत्व पूँजीपतियों के हाथ में था। ये राष्ट्र स्वतंत्र होना चाहते थे।

१९वीं सदी में यूरोप और २०वीं सदी में एशिया जैसे महादेशों में राष्ट्रीयता ने उग्र रूप धारण किया। विश्व के सभी परतंत्र राष्ट्रों ने भिन्न-भिन्न साम्राज्यों (ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, तुर्की आदि) से मुक्त होने के लिए आन्दोलन किये। इस सम्बन्ध में मार्क्सवादियों ने, मुख्यतः रूस की बोलशेविक पार्टी ने, कहा कि राष्ट्रीयता का प्रश्न तब तक हल नहीं हो सकता जबतक साम्राज्यवादी शोषण का अन्त नहीं हो जाता। यही स्तालिन के उक्त निबन्ध का तथ्य था।

१९१७ की क्रान्ति के फलस्वरूप रूस में सोवियत राज्य की स्थापना हुई। जारशाही साम्राज्य के सभी परतंत्र राष्ट्रों और जातियों को आत्मनिर्माण का अधिकार प्राप्त हुआ। कम्यूनिस्ट पार्टी का कहना था कि पूँजीवादी शोषण के साथ-साथ सभी प्रकार के शोषणों का अन्त हो जाना चाहिए। राष्ट्रीय शोषण भी एक प्रकार का शोषण है। इसी आधार पर आत्मनिर्माण के अधिकार की घोषणा की गई और प्रत्येक राष्ट्र को सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ में रहने या न रहने की स्वतंत्रता मिली। धीरे-धीरे जारशाही साम्राज्य के अन्य राष्ट्रों तथा जातियों ने सोवियत संघ को सदस्यता के पक्ष में निर्णय किया।

आत्मनिर्णय के अधिकार के साथ-साथ प्रत्येक राष्ट्र को सांस्कृतिक स्वतंत्रता प्रदान की गयी। स्तालिन का आदेश था कि कोई भी कम्यूनिस्ट किसी भी परतंत्र राष्ट्र में एक शासक की भाँति व्यवहार नहीं कर सकता। पार्टी सदस्यों को चाहिए कि वे इन पिछड़े राष्ट्रों की जागरित में योग दें। शोषण-रहित नीति के फलस्वरूप आज रूस में पिछड़ी हुई जातियों में निरन्तर सांस्कृतिक उन्नति हो रही है। मार्क्सवादियों के मतानुकूल इस नव-जागरित एवं नवनिर्माण का एकमात्र कारण शोषण का अन्त हो जाना है।

अन्तर्राष्ट्रीय

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीयः—१९वीं सदी के मध्य तक यूरोप का श्रमिक-आन्दोलन काफी शक्तिशाली हो गया था। अब एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य राष्ट्रों के श्रमिक नेताओं द्वारा एक ऐसी संस्था की स्थापना की गयी। यह

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संस्था (The First International or the International Association of Working-men, १८६४—७६) के नाम से प्रसिद्ध है।

इसमें दो प्रमुख विचारधाराओं का पारस्परिक संघर्ष रहा। ये थीं—साम्यवाद और अराजकतावाद। साम्यवाद के नेता और दार्शनिक कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स थे। अराजकतावाद का दार्शनिक माइकेल बाकुनिन (१८१४—७६) था। मतभेद के कारण अराजकतावादियों को १८७२ में अन्तर्राष्ट्रीय से अलग होना पड़ा। इसके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय का नेतृत्व मार्क्स और एंगेल्स ने किया। १८७६ ई० में यह अन्तर्राष्ट्रीय कुछ परिस्थितियों के कारण टूट गया।

द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीयः—मार्क्स की मृत्यु के बाद १८८९ में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय (Second International) की स्थापना हुई। अब यह अन्तर्राष्ट्रीय "समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय" के नाम से पुकारा जाता है। मृत्युकाल (१८९५) तक एंगेल्स इसका दार्शनिक तथा नेता रहा। इसके पश्चात् किसी भी व्यक्ति का विशेष प्रभाव इसके दर्शन और संगठन पर नहीं था। इस अन्तर्राष्ट्रीय के सुप्रसिद्ध नेताओं में लेनिन, काट्स्की (Karl Kautsky), रैमजे मैकडॉनल्ड (Ramsay MacDonald), रोजा लुक्जेम्बर्ग (Rosa Luxemburg) और बर्न्स्टीन (E. Bernstein) थे। प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) के बाद ब्लूम (Leon Blum) वेन्डरवल्ड (Vandervelde), लास्की आदि का भी इसमें प्रमुख स्थान रहा है।

इस अन्तर्राष्ट्रीय की विशेषता यह थी कि इसमें दार्शनिक एकता पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। फलतः इसमें अन्य विचारधाराएँ—सुधारवादी, क्रान्तिकारी, फेबियन सुधारवादी समाजवाद आदि—थीं। इस अन्तर्राष्ट्रीय ने केवल मजदूर-संगठन की एकता पर ही ध्यान दिया। इसलिए एक समय ऐसा आया कि दार्शनिक विभिन्नता के कारण इसमें फूट पड़ गयी।

अन्तर्राष्ट्रीय का अधिवेशन प्रायः प्रति वर्ष हुआ करता था। १९०७ की स्टटगार्ट (Stutgartt) की बैठक में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्ताव के प्रस्तावक तथा समर्थक लेनिन, लुक्जेम्बर्ग और मार्तोव थे। प्रस्ताव का सारांश पूँजीवाद की प्रगति बताती है कि साम्राज्यवादी गुट बन रहे हैं। इन गुटों द्वारा शीघ्र ही एक महायुद्ध छिड़ने की सम्भावना है। यह साम्राज्यवादी महायुद्ध होगा। इसमें यूरोप के प्रायः सभी देश सम्मिलित होंगे। यह युद्ध भिन्न-भिन्न देशों के पूँजीपतियों के साम्राज्यवादी बाजारों की वृद्धि के लिए होगा। इससे मजदूरों की केवल हानि होगी, लाभ नहीं। बाजारों पर

बरबाद होंगे, लाखों आदमी मरेंगे एवं भूख और दरिद्रता की वृद्धि होगी। यह सब पूँजीपतियों के बाजारों के लिए पारस्परिक झगड़ों का फल है। ऐसी स्थिति में मजदूर और उनके नेताओं का हित और कर्त्तव्य यह है कि वे इस महायुद्ध को जन आन्दोलन द्वारा रोकें। यदि तब भी युद्ध आरम्भ हो जाय तो श्रमिक नेताओं का ध्येय होना चाहिये कि वे युद्ध को शीघ्र अन्त करने की चेष्टा करें। इसलिए उन्हें युद्ध से बिगड़ी हुई आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति से लाभ उठाकर जनता को युद्ध के विरुद्ध भड़काना चाहिए और इस प्रकार क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का अन्त करना चाहिये। उनका कर्त्तव्य है कि वे साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में परिणित कर दें। कोपेनहेगेन (Copenhegen) की बैठक (१९१०) में इस प्रस्ताव को फिर से स्वीकार किया गया था।

१९१४ में जब महायुद्ध आरम्भ हुआ तब यूरोप के समाजवादी नेताओं में केवल थोड़े ही ऐसे थे, जिन्होंने इस प्रस्ताव का अनुसरण किया। युद्ध में दो पक्ष थे। एक पक्ष में ब्रिटेन, फ्रांस, बेलजियम और रूस थे, दूसरे में जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और तुर्की। सभी देशों के समाजवादी नेताओं ने अपनी सरकारों की युद्ध-नीति का समर्थन किया और उनकी सहायता की। उन्होंने संसदों में युद्ध-बजट के पक्ष में अपना मत दिया।

एक पक्ष (फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और बेलजियम) के समाजवादी नेताओं ने मजदूरों से अनुरोध किया कि वे युद्ध में तन और मन से भाग लें और अपने देश एवं जनवाद की रक्षा करें। जर्मनी ने शान्ति भंग की है। यदि वह युद्ध में विजयी हुआ तो उनके देशों में प्रजातंत्र तथा स्वतंत्रता का अन्त हो जायेगा। कैसरशाही स्थापित हो जायेगी। इसलिए मजदूरों का और सर्वसाधारण का यह कर्त्तव्य है कि वे राष्ट्र की रक्षा करें। दूसरे पक्ष (जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी) के समाजवादियों ने कहा कि यदि मित्रराष्ट्रों (इंगलैंड, फ्रांस और रूस) की युद्ध में विजय हुई तो जर्मनी गुलाम हो जायगा और वहाँ जारशाही की स्थापना होगी। इस प्रकार मजदूरों से कहा गया कि वे युद्ध में पूर्ण रूप से भाग लेकर अपने देश और उसकी सभ्यता की रक्षा करें।

द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के बहुमत ने उक्त महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव का उल्लंघन किया। वे राष्ट्रीयता की लहर में बह गये। यह लहर बड़ी भीषण थी। इसकी चपेट में फ्रांस के क्रान्तिकारी संघवादी, (जिनके पूर्ण विरोधात्मक दर्शन का वर्णन एक अगले अध्याय में किया जायेगा) तक भी आ गये। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय का अस्थायी रूप से अन्त हुआ, क्योंकि एक देश का समाजवादी दल दूसरे देश के समाजवादी दल से राष्ट्रीयता की ओट में लड़ रहा था।

परन्तु प्रत्येक देश में कुछ अल्पसंख्यक समाजवादी थे जो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के उक्त (स्टटगार्ट) प्रस्ताव का समर्थन करते हुए युद्ध का निरन्तर विरोध करते रहे। इनमें कुछ तो शान्तिवादी थे, कुछ मध्यमार्गी और कुछ क्रान्तिकारी। इन अल्पसंख्यक समाजवादियों की एक बैठक जिमेरवाल (Zimmerwald) में हुई। इस दल का सर्वप्रमुख नेता लेनिन था। लेनिन ने युद्धसमर्थक समाजवादियों का दार्शनिक रूप से विरोध किया। १९१७ की फरवरी में रूस की प्रथम क्रान्ति हुई। जार पदच्युत किया गया। उसी वर्ष अक्तूबर में दूसरी क्रान्ति हुई। इस दूसरी क्रान्ति का नेता लेनिन था। इस क्रान्ति के फलस्वरूप रूस में सोवियत राज्य और सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना हुई। जारशाही, सामन्तशाही, पूँजीवाद और शोषण का अन्त हुआ। साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में परिणत किया गया। स्टटगार्ट और कोपेनहेगेन के प्रस्तावों का वास्तवीकरण हुआ और हुआ एक नये समाज का निर्माण। दुनिया के छठे भाग में समाजवाद की स्थापना हुई। मानव इतिहास में मजदूरों की पहली सरकार बनी।

तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय :—१९१९ में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना की गयी। इस अन्तर्राष्ट्रीय को साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय कहते थे। यह मार्क्सवाद का पूरा अनुयायी था और इसीलिए इसके नेताओं ने इसका नाम वही रखा जो मार्क्स द्वारा स्थापित पहले अन्तर्राष्ट्रीय का था। प्रत्येक देश की कम्यूनिस्ट पार्टी, जिनका लक्ष्य मजदूरों की विश्वक्रान्ति है, इस अन्तर्राष्ट्रीय से सम्बद्ध हुई। ये दल सोवियत रूस को अपना नेता मानते हुए श्रमिकों के सम्मुख उसका आदर्श रूप उपस्थित करते हैं। पहले अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों द्वारा इनकी नीति निर्धारित होती थी। ये दल एक दूसरे की सहायता तो अवश्य करते थे किन्तु इनका दृढ़ विश्वास था कि क्रान्ति किसी देश पर बाहर से नहीं लादी जा सकती। एक देश में क्रान्ति उसी देश के मजदूरों तथा जनता द्वारा हो सकती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाता गया। द्वितीय महायुद्ध (१९३९—४५) के काल में १९४२ में इस अन्तर्राष्ट्रीय का स्वयं अन्त किया गया। अब इसके स्थान पर कॉमिनफॉर्म (Comminform) नाम की नई संस्था है। इस अन्तर्राष्ट्रीय का दर्शन द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के दर्शन से भिन्न है।

प्रथम महायुद्ध के काल में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय को अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया गया था। युद्ध के पश्चात् इसकी पुनः स्थापना की गयी। इस अन्तर्राष्ट्रीय से सम्बन्धित समाजवादी दल हर देश में (अधिनायकवादी देशों के अतिरिक्त) हैं। ये भिन्न-भिन्न समाजवादी एवं समष्टिवादी विचारधाराओं में आस्था रखने वाले दल हैं।

(इनके दर्शन आदि के विषय में समष्टिवाद वाला अध्याय देखिये)।

चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय :—१६२८ में त्रात्स्की सोवियत रूस से निर्वासित किया गया। कुछ काल बाद उसने चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना की। इस अन्तर्राष्ट्रीय का ध्येय विश्व-क्रान्ति था। इसके सदस्यों का कहना था कि वे मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के अनुयायी हैं। वे स्तालिन और सोवियत रूस को इस क्रान्तिकारी परम्परा का प्रतिनिधि नहीं मानते। उनका कहना है कि स्तालिन और सोवियत कम्यूनिस्टों ने मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन की परम्परा का उल्लंघन किया और समाजवादी विचारधारा का परित्याग कर एक ऐसे राज्य का निर्माण किया जिसमें नौकरशाही का बोलबाला है।

त्रात्स्की का सोवियत-विरोधी विचार क्रान्ति-काल से ही प्रारम्भ होता है। उसका कहना था कि १६१७ की रूसी-क्रान्ति तभी स्थायी रूप धारण कर सकती है, जब रूसी मजदूरों और यूरोप के मजदूरों का एक संयुक्त मोर्चा बने। अर्थात् रूसी-क्रान्ति को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक है कि यूरोप के अन्य देशों में भी वैसी ही क्रान्ति हो। वह किसानों को क्रान्तिकारी वर्ग नहीं मानता था। इसलिए उसका मत था कि रूस की क्रान्ति मजदूर-किसान संयुक्त मोर्चे द्वारा स्थायी नहीं बनायी जा सकती। इसके विपरीत लेनिन और स्तालिन की धारणा थी कि गरीब किसानों के सहयोग से रूस में श्रमिक अपना अधिनायकत्व स्थापित कर सकते हैं। यदि यूरोप में श्रमिक आन्दोलन होंगे तो सोवियत रूस अवश्य उनकी सहायता करेगा। परन्तु यूरोप की श्रमिक-क्रान्ति की सम्भावना के आधार पर वे सोवियत रूस का संगठन स्थगित नहीं कर सकते। रूसी बोल्शेविक पार्टी ने लेनिन एवं स्तालिन के मत को स्वीकार किया। इस मतभेद तथा कुछ व्यक्तिगत कारणों के फलस्वरुप त्रात्स्की को रूस छोड़ना पड़ा।

त्रात्स्की के चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय के अतिरिक्त अन्य वामपक्षी दार्शनिक और दल भी सोवियत रूस और उसके स्तालिनवाद का विरोध करते हैं। त्रात्स्की की भांति उनका भी कहना है कि सोवियत रूस मार्क्सवादी परम्परा के अनुसार नहीं चल रहा है। उसने विश्वक्रान्ति के मार्ग का परित्याग कर दिया है, उसमें नौकरशाही तथा स्तालिनशाही का एकाधिकार है, वह दुनिया के प्रतिक्रियावादियों से समझौता कर उन्हें प्रोत्साहन देता है आदि आदि। ऐसे दल प्रायः सभी देशों में हैं। भारतवर्ष में इन विचारों के समर्थक दल आर० एस० पी० और आर० सी० पी० हैं।

सारांश

साम्यवाद तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय का दर्शन है। मार्क्स इसका जन्मदाता था। एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ-त्से-तुंग इसके अन्य दार्शनिक और व्याख्याता हैं। यह एक क्रान्तिकारी तथा श्रमिक दर्शन है। यह दर्शन बताता है कि श्रमिकों को किस प्रकार राज्य पर एकाधिकार स्थापित कर उसे स्थायी बनाना चाहिये।

मार्क्स ही सर्वप्रथम दार्शनिक था जिसने बताया कि पूंजीवाद का अन्त और साम्यवाद की स्थापना अवश्यम्भावी है। इतिहास को नया रूप देते हुए उसने कहा कि मानव-जाति का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। उसने हीगेल के द्वन्द्ववाद को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का रूप दिया, फ्रांस के काल्पनिक समाजवाद को वैज्ञानिक-समाजवाद में परिणत किया और ब्रिटेन के अर्थशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों से सम्बद्ध किया। संक्षेप में उसने एक नये समाज-शास्त्र की व्याख्या की, जिसको ऐतिहासिक भौतिकवाद भी कहते हैं।

पूंजीवाद की सर्वश्रेष्ठ आलोचना, मार्क्सवादी ही है। लाभ, पूंजीवादी उत्पादन के प्रोत्साहन का स्रोत है। श्रमिक द्वारा बनाये गये अतिरिक्त मूल्य को ही लाभ कहते हैं। श्रम द्वारा मूल्य बनता है। एक श्रमिक केवल अपने वेतन के लिए, नहीं वरन् पूंजीपति के लाभ के लिए भी मूल्य बनाता है। यदि श्रमिक का वेतन कम होगा तो पूंजीपति का लाभ अधिक होगा। इसीलिए, पूंजीपति सदा ही श्रमिक को कम से कम वेतन देना चाहता है। श्रमिक को अनुभव से विदित होता है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में वह कभी सुखी तथा सम्पन्न नहीं हो सकता। वह अपनी दशा सुधारने के लिए, संघ बनाता है और संघर्ष करता है। यह संघर्ष निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

पूंजीवाद के आन्तरिक विरोधों के कारण हर दस वर्ष में अधिक उत्पादन का संकट आता है। उत्पादन की प्रमुख विशेषता है कि उसमें सदा वृद्धि होती रहती है। यह वृद्धि नयी उत्पादन-शक्तियों के आविष्कार से होती है। इन आविष्कारों के कारण अधिक उत्पादन के साथ-साथ कम श्रमिकों की आवश्यकता होती है। इधर उत्पादन बढ़ा, उधर श्रमिकों की संख्या घटी; फलतः बाजार सिकुड़ा। पूंजीपति अधिक उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिए, साम्राज्य-स्थापना का मार्ग अपनाते हैं। कितने ही युद्ध छिड़ जाते हैं, दलित जातियों को कुचला जाता है, पिछड़े देशों का शोषण होता है।

पूंजीवाद का विकास असमान तौर पर होता है। जर्मनी जैसे देशों में ब्रिटेन और फ्रांस के बाद नये उद्योगों का प्रसार हुआ। जर्मनी जैसे देश साम्राज्य-स्थापना

की होड़ में पीछे पड़ गये। इन्हें भी अपने आन्तरिक आर्थिक संकट को दूर करने के लिए साम्राज्य की आवश्यकता पड़ी। साम्राज्यवादी देशों में निरन्तर संघर्ष हुआ। फलतः प्रथम और द्वितीय महासमर हुए। इसीलिए लेनिन ने साम्राज्यवाद को मरणासन्न पूँजीवाद कहा था। उसने पूँजीवाद के तीन आन्तरिक विरोधों का विश्लेषण किया। (१) पूँजीपति और श्रमिक विरोध (२) साम्राज्यवादी देशों का पारस्परिक विरोध (३) साम्राज्यवादी देशों और परतंत्र राष्ट्रों का विरोध। अतः अब श्रमिकों को स्पष्टतः विदित होता है कि शोषण, युद्ध, महायुद्ध, हत्या, दुख दरिद्रता आदि ये सब पूँजीवाद के पर्याय हैं। श्रमिक-आन्दोलन, जिसकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है, अब क्रान्ति की ओर अग्रसर होता है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व से ही श्रमिक–अन्तर्राष्ट्रीय ने साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में परिणत करना अपना लक्ष्य बनाया था। १९१७ की रूसी-क्रान्ति हुई और वहाँ सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित हुआ।

यह अधिनायकत्व संक्रमणकालीन है। उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीकरण होता है, व्यक्तिगत सम्पत्ति घटती है, शोषण का, चाहे वह किसी प्रकार का हो, (लिंग, जाति, रंग, राष्ट्र सम्बन्धी) अन्त होता है। एक नयी सभ्यता और नए मानव का जन्म होता है। वेब–दम्पत्ति और जौनसन जैसे लेखकों की कृतियाँ इसके साक्षी हैं। यह सब एक नए राज्य द्वारा सम्भव है, जैसा मार्क्स ने १८७१ के पेरिस कम्यून के अनुभव से बताया था। इस अधिनायकत्व में केवल एक ही दल (कम्यूनिस्ट पार्टी) होता है। मार्क्सवादी इस अधिनायकत्व को आदर्श जनवाद बताते हैं और कहते हैं कि पूँजीवादी जनतंत्र वास्तव में पूँजीवादी अधिनायकत्व को छिपाने का एक परदा है।

मार्क्सवाद के अनुसार राज्य एक वर्गीय संस्था तथा दमन-यंत्र है। राज्य का प्रादुर्भाव उस समय होता है जब मानव इतिहास में वैयक्तिक सम्पत्ति और फलतः वर्गों का जन्म होता है। एक युग के अर्थ के स्वामियों का उस युग की विचारधारा, संस्कृति, सभ्यता तथा राज्य पर एकाधिपत्य होता है। उनका धर्म ही युग धर्म है। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों का ही इन संस्थाओं पर एकाधिकार है। अन्य क्रान्तियों के विपरीत, सर्वहारा क्रान्ति के फलस्वरूप वर्गों का अन्त होगा और राज्य एक नया रूप धारण करेगा। वह सर्वहारा वर्ग की संस्था बनता है। इस नयी परिस्थिति के फलस्वरूप एक समय ऐसा आता है जब उत्पादन–वृद्धि से साम्यवादी समाज की स्थापना होती है, वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव होती है, और राज्य का (जैसा एंगेल्स ने कहा था) लोप हो जाता है। मार्क्सवादी स्वतंत्रता सकारात्मक है। इसका अर्थ है—आवश्यकता का ज्ञान। यह साम्यवादी समाज में ही सम्भव हो सकता है।

मार्क्सवादियों का कहना है कि एक युग की उत्पादन-शक्तियां और उत्पादन-सम्बन्ध ही उस युग की विचारधारा, सभ्यता, संस्कृति, राजनीतिक ढांचा, कानून आदि के नियामक हैं। क्योंकि चिन्तन, चिन्त्य वस्तु से अलग नहीं हो सकता। स्तालिन ने कहा है कि ऐसा विश्व का दृष्टिकोण ही कम्युनिस्ट पार्टी का पथ-प्रदर्शक है। स्तालिन के मतानुसार मार्क्सवाद अन्धविश्वास नहीं वरन् पथ-प्रदर्शक है। माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन की ऐतिहासिक क्रान्ति इस कथन का समर्थन करती है। पुरानी मार्क्सवादी धारणा के विपरीत चीन की क्रान्ति किसानों के नेतृत्व में हुई है, सर्वहारा के नेतृत्व में नहीं।

षष्ठ अध्याय

अराजकतावाद

(ANARCHISM)

इस सिद्धान्त के प्रमुख दार्शनिक माइकेल बाकुनिन (Mikhail Bakunin) १८१४—१८७६) और प्रिंस क्रोपोत्किन (Prince Kropotkin १८४२—१९१९) हैं। वैसे तो प्रूधों (Proudhon) ने कहा था, "मैं पहला अराजकतावादी हूँ," परन्तु अराजकतावाद को सैद्धान्तिक रूप बाकुनिन और उसके शिष्य क्रोपोत्किन द्वारा मिला। इस सिद्धान्त का प्रभाव १९वीं सदी के श्रमिक आन्दोलन पर काफी पड़ा।

१८६४ में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International १८६४—१८७६) की स्थापना हुई थी। इसे मजदूर अन्तर्राष्ट्रीय संघ या इंटरनेशनल ऐसोसियेशन ऑफ वर्किंगमेन कहा जाता था। इसमें यूरोप और अमेरिका के मजदूर दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इसके दार्शनिक मार्क्स, बाकुनिन और एंगेल्स आदि थे। १८७२ ई० में आपसी मतभेदों के कारण बाकुनिन और उसके अनुयायी इस संस्था से पृथक हो गये।

अराजकतावाद और मार्क्सवाद के कई विचार समान हैं। अराजकतावादी, मार्क्सवादियों की भाँति, पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं। दोनों राज्य को वर्ग विशेष की संस्था मानते हैं। राज्य की उत्पत्ति का भी दोनों एक ही कारण बतलाते हैं। परन्तु दोनों के सिद्धान्तों में काफी भेद है।

दर्शन

अराजकतावादी राज्य को एक विकार मानते हैं। उनका कहना है कि क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का अन्त होने पर राज्य का भी अन्त हो जायगा। राज्य की उत्पत्ति

उसी प्रकार हुई जिस प्रकार मार्क्सवादी बताते हैं। अर्थात् मनुष्य जाति के इतिहास में जब व्यक्तिगत सम्पत्ति या वर्गों का प्रादुर्भाव हुआ तभी राज्य की स्थापना हुई। श्रमिक-क्रान्ति के पश्चात् वर्गों का अन्त हो जायेगा। अतएव वर्गीय संस्था, राज्य, का भी अन्त हो जाना आवश्यक है। न मर्ज़ (वर्ग) रहेगा, न मरीज़ (राज्य)।

मार्क्सवादी कहते हैं कि राज्य एक वर्ग विशेष की संस्था है। लेनिन के मतानुसार वह एक दमन-यंत्र है। श्रमिक-क्रान्ति के बाद भी इसकी आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु तब वह मजदूरों की संस्था होगी। उनका कहना है कि क्रान्ति के पश्चात् अधिकार-च्युत पूँजीपतियों के कान खड़े हो जायेंगे। वे सम्भव तथा असम्भव उपायों द्वारा नये मजदूर राज्य को ध्वंस करने की चेष्टा करेंगे। उस समय मजदूरों को उनके विरोध का अन्त करना आवश्यक होगा। यह कार्य राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकता है। १९१७ से १९२० तक सोवियत रूस पर दुनिया के सब पूँजीवादी देशों ने आक्रमण किया था। इस आक्रमण को रोकने के लिए एक सुसंगठित राज्य आवश्यक था। अतः मार्क्सवादी, राज्य का अन्त करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि कुछ समय के बाद ऐसी परिस्थिति आयेगी जब राज्य स्वयं ही लुप्त हो जायेगा।

अराजकतावादी इस मत का विरोध करते हुए, राज्य का अन्त करने के पक्ष में कई कारण देते हैं।

ऐतिहासिक :—ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य आवश्यक नहीं है। राज्य की उत्पत्ति से पहले भी मनुष्य रहते थे। वे अपने समूहों में सुखी और स्वतंत्र जीवन निर्वाह करते थे। श्रमिक क्रान्ति के बाद भी वे वैसे ही बिना राज्य के सुखी और सर्व-सम्पन्न रह सकते हैं।

राज्य वर्गीय संस्था है। वर्ग-विहीन समाज में, जिसकी स्थापना श्रमिक-क्रान्ति के बाद होगी, राज्य की आवश्यकता न रहेगी। आखिर वर्गीय संस्था की वर्ग-विहीन समाज में आवश्यकता ही क्या है?

मजदूरों का अविश्वास :—अराजकतावादी कहते हैं कि राज्य का इतिहास बतलाता है कि उसने कभी भी न्यायपूर्ण कार्य नहीं किया। राज्य सदा ही व्यक्तिगत सम्पत्ति, को जिसके द्वारा उसकी उत्पत्ति हुई थी, स्थायी बनाता रहा है। व्यक्तिगत सम्पत्ति, जैसा प्रूधों ने कहा था, एक चोरी है। इस चोरी की रक्षा राज्य करता आया है। वह सदा शोषकों के पक्ष में रहा है तथा उनके एकाधिकार का समर्थन करता आया है। उसने शोषितों के पक्ष में कभी भी कोई काम नहीं किया, वह सदा ही मजदूरों को कुचलता रहा है। वह सदा अन्यायपूर्ण शोषण का समर्थन करे

सहायक रहा है। उसके नियम इस विशेषता के साक्षी हैं। ऐसी संस्था को मजदूर अपने हित के लिए प्रयोग में कैसे ला सकते हैं? जैसे हम एक झूठे मनुष्य का विश्वास नहीं करते, चाहे वह कभी सच भी बोले; वैसे ही श्रमिक इस संस्था को, जिसने उसको सदा कुचलता है, कैसे प्रेमपूर्ण नेत्रों से देख सकता है। इस सम्बन्ध में क्रोपोत्किन ने कहा है, "पूँजीवादी प्रथा के अभाव का अर्थ है शासन प्रथा का अभाव"।

राज्य निरंकुशता :—राज्य, चाहे किसी प्रकार का हो, निरंकुशता का प्रतीक है। उसका तथ्य है मनुष्य की स्वतंत्रता का अपहरण। राजतंत्र में एक मनुष्य द्वारा सबकी स्वतंत्रता, कुलीनतंत्र में अल्पसंख्यकों द्वारा बहुसंख्यकों की स्वतंत्रता, एवं प्रजातंत्र में बहुमत द्वारा वैयक्तिक स्वतंत्रता का हरण होता है।

जनतंत्र का तर्काभास :—अराजकतावादी सभी प्रकार के राज्यों को एक ही दृष्टि से देखते हैं। बाकुनिन ने कहा था, निरंकुशता राज्य के तत्त्व में भरी हुई है, उसका रूप चाहे किसी प्रकार का हो। जनवाद-प्रेमी कहते हैं कि प्रजातंत्र में न्याय होता है तथा जनता की अनुमति से राज्य का संचालन। किन्तु अराजकतावादी इसे ढोंग समझते हैं।

कोई मनुष्य दूसरे का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। "अ" का प्रतिनिधि किसी सभा में बिलकुल "अ" की ही भाँति नहीं बोलेगा। जब यह परिस्थिति एक मनुष्य के साथ है, तब मनुष्यों के समूह की तो बात ही अलग है।

प्रतिनिधि एक विशेषज्ञ नहीं होता। उदाहरणार्थ एक वकील धारासभा का सदस्य बनता है। वह सफाई, शिक्षा, शासन और सड़क आदि से सम्बद्ध विषयों में नौसिखिया है। धारासभा इन सभी विषयों पर नियम बनती है। इसलिए जनतंत्रीय सरकार का अर्थ है, ऐसे प्रतिनिधियों की सरकार जो प्रत्येक कार्य अयोग्यता पूर्वक करे।

कहा जाता है कि प्रतिनिधि-सरकार में जनता की "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व होता है। प्रतिनिधि का चुनाव तीन या पाँच वर्ष में एक बार होता है। यह प्रतिनिधि चुनाव के समय की परिस्थिति के अनुसार जनता द्वारा निर्वाचित होता है। समय-समय पर नयी-नयी परिस्थितियाँ आती हैं। फलतः जनता की "सामान्य इच्छा" भी बदलती रहती हैं। परन्तु प्रतिनिधि नहीं बदलता। इसलिए यह कहना कि प्रतिनिधि और उनकी धारासभा जनता की "सामान्य इच्छा" का प्रदर्शन करती है, नितान्त भ्रामक है।

शक्ति का मद :—क्रोपोत्किन कहता है कि मनुष्य नेक है परन्तु पद पर पहुँचने से दुष्ट हो जाता है। मनुष्य इसलिए दुष्ट नहीं होता कि वह मनुष्य है, परन्तु इसलिए कि वह राजनीतिज्ञ है। लार्ड ऐक्टन (Lord Acton) ने भी, जो आधुनिक युग का

प्रमुख इतिहासकार माना जाता है, कुछ ऐसा ही कहा है—Power corrupts and absolute power corrupts absolutely। तुलसीदास की उक्ति प्रसिद्ध है--"प्रभुता पाई काहि मद नाहीं।" चाणक्य के मतानुसार शक्ति-मद सबसे बड़ा मद है। अराजकता-वादी का मत है कि पदप्राप्ति से मनुष्य में स्वार्थ, लोलुपता, अत्याचार तथा घमंड आदि पैदा हो जाता है।

नैतिक ह्रास :—राज्य द्वारा नैतिक ह्रास भी होता है। सभी नागरिकों पर इसका प्रभाव पड़ता है। नागरिक दो प्रकार के होते हैं—शासक और शासित। शासक-वर्ग घमंडी और स्वार्थी हो जाता है तथा शासित-वर्ग पददलित और हतोत्साह।

राज्य एक बेकार संस्था :—मनुष्य राज्य के बिना भी रह सकता है। राज्य का निकम्मापन निम्नलिखित बातों से प्रकट होता है :—

राज्य के कार्य बहुत सीमित हैं। प्रति दिन मनुष्य कितने ही काम ऐसे करता है जिनमें राज्य का कुछ भी भाग नहीं होता। वह खाता है, सोता है, बोलता है और पढ़ता है। ऐसे कार्यों में राज्य की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अराजकता-वादी कहते हैं कि बहुत से मनुष्य अपने जीवन-काल में राज्य के बारे में बिना जाने ही मर जाते हैं। उन्हें जीवन-यापन में राज्य से कोई सहायता नहीं मिलती।

प्रतिदिन करोड़ों समझौते ऐसे होते हैं जिनका राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ये समझौते काफी महत्त्वपूर्ण होते हैं। मनुष्य इन सबको कार्यान्वित करता है। यदि कोई मनुष्य जुये में रुपये हार जाता है, तो बिना राजकीय दबाव के ही वह रुपये अदा कर देता है। इसी प्रकार अन्य समझौते भी राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही लागू हो जाते हैं। (जैसे चोरों के आपसी समझौते या घूस देनेवालों के समझौते।) कितने ही सामाजिक कार्य स्वेच्छात्मक संस्थाओं द्वारा होते हैं। क्रोपोट्किन ने कई ऐसे दृष्टान्त दिये हैं। भारत में रामकृष्ण मिशन, आर्य समाज, स्वयं सेवक दल आदि द्वारा कितने ही सामाजिक कार्य किये जाते हैं। अराजकतावादी कहते हैं कि आधुनिक युग में ऐसी संस्थाओं की संख्या बढ़ती ही जा रही है। यदि राज्य का अन्त कर दिया जाय, तो ऐसी स्वेच्छात्मक संस्थाएँ समाज की रक्षा और सेवा स्वतः कर सकेंगी। यह असम्भव नहीं है।

कहा जाता है कि राज्य देश की रक्षा करता है। वह उसको बाह्य आक्रमणों से बचाता है। अराजकतावादी इस तर्क का भी खंडन करते हैं। बाकुनिन ने ऐतिहासिक दृष्टान्त देते हुए कहा कि जब कभी राज्य की सेनाओं की मुठभेड़ जनता की सेनाओं से हुई (जैसे आधुनिक चीन), तब उन्हें मुँह की खानी पड़ी। इसलिए यह कह देना कि राज्य

द्वारा ही देश की रक्षा हो सकती है, नितान्त भूल है। जनता की सेना इस कार्य को भली-भाँति कर सकती है।

कहा जाता है कि राज्य अपराधियों को दंड देता है और इससे अपराध कम होते हैं। जेलों द्वारा अपराधियों को सामाजिक कार्य करने से रोका जाता है। जेल एक सुधारक संस्था है। परन्तु अराजकतावादी यह सब नहीं मानते। क्रोपोत्किन का कहना है कि जेलें पाखंड और कायरता की स्मारक हैं। वह रूस और फ्रांस की जेलों में कई वर्ष रहा। उसने अपने जेल-काल के अनुभव से बताया कि आधे से अधिक हत्यारे तथा चोर ऐसे थे जो एकाधिक बार जेल काट चुके थे। इससे विदित होता है कि जेलों द्वारा अपराध कम नहीं होते। यह कह देना कि दंड के भय से मनुष्य अपराध नहीं करता, शत-प्रतिशत भूल है। एक हत्यारा हत्या करते समय सदा यही सोचता है कि वह अपने को दंड से बचा लेगा। फिर देखा जाता है कि कभी-कभी अपराध से अधिक भीषण राज्य का दंड होता है। जब एक अपराधी को फाँसी या देशनिकाले का दंड दिया जाता है, तो उसका सामाजिक परिणाम उसके अपराध से अधिक घातक होता है। उसके बच्चे आदि निराश्रित तथा असहाय हो जाते हैं।

राज्य के नियम या तो बेकार हैं या हानिकारक। यदि वे सामाजिक रीतियों पर आश्रित हैं, तो वे बेकार हैं। क्योंकि सामाजिक रीतियाँ तभी बनती हैं जब मनुष्य उनका पालन करते हैं। अतः भविष्य में भी मनुष्य उनका पालन स्वतः कर लेंगे। उसके लिए राज्य की कोई आवश्यकता नहीं। यदि राज्य के नियम प्रथाओं पर निर्भर नहीं हैं, तो वे हानिकारक हैं। क्योंकि ऐसे नियम सदा ही शोषकों के हितैषी होते हैं।

राज्य द्वारा कभी भी उच्च आदर्श की पूर्त्ति नहीं हो सकती। क्रोपोत्किन के मतानुसार इतिहास इसका साक्षी है कि राज्य ने कभी भी मनुष्यों के दुःख और अन्याय को दूर करने की चेष्टा नहीं की। उसने सदा ही दुःख और अन्याय को स्थायी बनाने का प्रयत्न किया। ऐसी संस्था कभी भी शोषितों के लिए हितकर नहीं हो सकती।

राज्य-अनिवार्यता का प्रचार :—यदि राज्य ऐसी बेकार, हानिकारक और निकम्मी संस्था है, तो फिर मनुष्य उसमें विश्वास क्यों करते आये हैं? आधुनिक युग का मनुष्य समझता है और कहता है कि वह बिना राज्य के जीवित नहीं रह सकता। यह विचार कैसे उत्पन्न तथा दृढ़ होता है? अराजकतावादी इसका भी उपयुक्त उत्तर देते हैं। उनका कहना है कि सदियों से राज्य के कर्णधार, जो समाज के शोषक रहे हैं, प्रचार करते आये हैं कि राज्य नितान्त आवश्यक है। आधुनिक मनुष्य को जन्म से ही यह पाठ

सिखाया जाता है। विद्यालय, पुस्तकें, दर्शन, लेख, समाचारपत्र आदि सभी संस्थाएँ मनुष्य के मस्तिष्क में दिन-रात इस बात को बैठा देने का निरन्तर प्रयत्न करती रहती हैं। राजनीतिज्ञ भी यही कहता है कि जरा मुझको अधिकार दीजिये तो मैं दूध और शहद की नदियाँ बहा दूँगा। यह ढोंग और पाखंड राज्य का अन्त होने पर स्वतः ही समाप्त हो जायगा।

कार्यक्रम

राज्य का अन्त किस प्रकार किया जायगा? कम्यूनिस्टों की भाँति अराजकतावादी भी क्रान्ति का मार्ग अपनाते हैं, परन्तु दोनों के साधन भिन्न-भिन्न हैं।

क्रान्ति से पहले जनता को अराजकतावाद के विषय में शिक्षित करना आवश्यक है। अराजकतावादी का कहना है कि प्रत्येक अराजकतावाद के अनुयायी का कर्त्तव्य है कि जनता को मनुष्य-जाति का इतिहास बताते हुए यह विश्वास दिलाये कि मनुष्य जाति की प्रगति अराजकता की ओर हो रही है।

क्रोपोत्किन जीवशास्त्र का विद्यार्थी था। उसका कहना है कि मनुष्य तथा मनुष्य-जाति ने सहयोग द्वारा प्रगति की है, प्रतियोगिता द्वारा नहीं। मनुष्य ने सहयोग द्वारा प्रकृति पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। प्राचीन मनुष्यों को देखिये तो पता चलेगा कि वे केवल सहयोग द्वारा ही जीवित रहते थे।

आधुनिक युग में सहयोग की मात्रा बढ़ती जा रही है। सहयोग के फलस्वरूप स्वेच्छात्मक संस्थाओं की वृद्धि हो रही है। इन संस्थाओं की वृद्धि के कारण राज्य के कार्यों की सीमा भी घटती जाती है। इससे स्पष्ट है कि जैसे-जैसे मनुष्य अधिक सभ्य होता जाता है, वैसे-वैसे वह अधिक सहयोगी बनता है।

सभ्यता की प्रगति के फलस्वरूप स्वेच्छात्मक संस्थाओं ने राज्य के कार्यों को सीमित कर दिया है। अब यदि जरा-सा प्रयत्न किया जाय तो राज्य का अन्त और स्वेच्छात्मक संस्थाओं का युग आरम्भ हो जायेगा। यही युग अराजकतावादी युग होगा।

अराजकतावादियों का कर्त्तव्य है कि ऐसे वैज्ञानिक तर्क द्वारा जनता को अपने पक्ष में कर लें। जनता के मस्तिष्क में यह विचार कूट-कूट कर भर देना चाहिये कि अराजकतावादी युग बस अब निकटवर्ती है। जनता का कर्त्तव्य है कि उसके स्वागत के लिए तैयार रहे। यह एक अन्धविश्वास नहीं, वरन् विशुद्ध वैज्ञानिक तर्क है।

परन्तु केवल शिक्षा द्वारा ही अराजकतावादी समाज की स्थापना नहीं होगी। इसके

लिए क्रान्ति परमावश्यक है। वह इस प्रकार होगी। प्रत्येक नगर में अराजकतावादियों की मुहल्ला-समितियाँ होंगी। इन समितियों से नगर की केन्द्रीय समिति को प्रतिनिधि भेजे जायँगे। उपयुक्त समय पर राजधानी की केन्द्रीय समिति से क्रान्ति की घोषणा होगी। तब देश भर की सब समितियाँ जगह-जगह पर राज्य का अन्त करेंगी। क्रोपोत्किन का कहना है कि समस्त यूरोप में इस कार्य की पूर्त्ति के लिए तीन या पाँच वर्ष पर्याप्त हैं।

भावी समाज

ध्येय :—अराजकतावादियों ने भविष्य के आदर्श समाज की व्याख्या की है। वे इस समाज को सम्पूर्ण साम्यवादी, स्वेच्छावादी, सहयोगवादी और स्थानवादी कहते हैं। जोड (C. E. M. Joad) का कहना है कि अराजकतावाद का ध्येय है कि मनुष्य को तीन प्रकार से स्वतंत्र किया जायगा। नागरिक की हैसियत से राज्य से, उत्पादक की हैसियत से पूँजीवाद से और मनुष्य की हैसियत से धर्म से स्वतंत्र किया जायगा।

अराजकतावादी समाज एक अटूट विश्वास पर आश्रित है। अन्य समाजवादी दर्शनों की भाँति अराजकतावाद भी यह मानता है कि मनुष्य एक नेक प्राणी है। अन्य समाजवादी दर्शनों के अनुसार पूँजीवादी शोषण के कारण मनुष्य दुष्ट हो गया है, पर फिर से समाजवादी संगठन के वातावरण में शिष्ट बन सकता है। अराजकतावाद के अनुसार मनुष्य को दुष्ट बनाने का श्रेय राज्य को ही है। यदि राज्य का अन्त कर दिया जाये तो मनुष्य स्वयं एवं स्वतः ही नेक हो जायगा।

कार्य-काल :—इस विश्वास के आधार पर अराजकतावादी समाज की व्याख्या की गयी है। अराजकतावाद पूर्ण स्वतंत्रता का युग होगा। इस युग में जो व्यक्ति स्वस्थ और काम करने योग्य है काम करेगा। काम करने की अवस्था २४ वर्ष से ४० या ५० वर्ष तक की होगी। प्रतिदिन काम करने के घंटे ४ या ५ होंगे। इस प्रकार वर्ष भर में एक मनुष्य १२०० से १५०० घंटे तक काम करेगा।

वेतन प्रथा का अन्त होगा। यह पूँजीवादी प्रथा है। कहा जाता है कि मनुष्य बिना वेतन और बिना प्रोत्साहन दिये काम नहीं करेगा। अराजकतावादी इस धारणा का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। काम करना तो मनुष्य का स्वभाव है। बर्नार्ड शा (G. B. Shaw) ने ठीक ही कहा है कि नरक की सर्वोत्तम परिभाषा स्थायी छुट्टी है। मनुष्य केवल गन्दा तथा अरोचक कार्य नहीं करना चाहता। भावी समाज में प्रायः सभी कार्य सुगम और रोचक

बना दिये जायेंगे। यदि कोई कार्य उस समय भी ऐसा न हो पायेगा, तो उसे करने के लिए कुछ विशेष प्रलोभन दिये जायेंगे। यह विज्ञान की प्रगति से सम्भव होगा। आधुनिक युग में वैज्ञानिक साधनों द्वारा बर्त्तन साफ करना या झाड़ू देना गन्दा काम नहीं रह गया है। विज्ञान की प्रगति से अन्य गन्दे काम भी गन्दे नहीं रह जायंगे।

वितरण :—वस्तुओं के वितरण का ढंग भी अन्य समाजवादी दर्शनों से भिन्न है। अन्य समाजवादियों के अनुसार उत्पादन के साधनों और उपभोग की वस्तुओं में अन्तर माना जाता है। समाजवादी समाज में उत्पादन की वस्तुओं का राष्ट्रीकरण होगा और उपभोग की वस्तुएँ व्यक्तिगत सम्पत्ति होगी। मोटर, घर, साइकिल इत्यादि सब वैयक्तिक सम्पत्ति के अन्तर्गत हैं। अराजकतावाद के अनुसार उत्पादन और उपभोग की वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं है। किसी भी वस्तु को केवल भोग की वस्तु नहीं कहा जा सकता। खाना, वस्त्र, साइकिल इत्यादि की सहायता से मनुष्य उत्पादन करता है। इसलिए वे भी उत्पादन की वस्तुएँ हैं, केवल उपभोग की नहीं। अतः सभी वस्तुओं का वितरण अराजकतावादी संघों द्वारा होगा और उनका उपभोग सामान्य रूप से। वितरण इस आधार पर होगा। पहले बच्चों, बूढ़ों और अंगहीनों को उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ दी जायेंगी, फिर अन्य लोगों को। पहले जीवनोपयोगी वस्तुएँ बांटी जायेंगी, इसके बाद आराम की।

क्रोपोत्किन ने कहा कि यदि मनुष्य को सीमित घंटे और सीमितकाल तक रोचक कार्य करने को दिया जाय, तो उसको ज्ञान, कला, संगीत तथा अन्य योग्यताओं की प्राप्ति के लिए अवसर मिलेगा। अब तक ये सब योग्यताएँ केवल शोषक वर्ग को ही उपलब्ध थीं। भावी आदर्श समाज में साधारण मनुष्य भी उनका उपयोग कर सकेगा। क्योंकि उसके पास पर्याप्त समय तथा सुविधाएँ होंगी।

असामाजिक कार्य :—अब रही बात ऐसे मनुष्यों की जो असामाजिक कार्य करते हैं। उन्हें कैसे सुधारा जाय? उनका सामाजिक बहिष्कार किया जायगा। तब वे स्वयं ही सुधर जायेंगे। (आधुनिक रूस में कुछ ऐसा ही होता है। यदि कोई मजदूर अनुचित रूप से शराब पीता है, तो उसके सुधार के लिए उसका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। देखा गया है कि वह सुधर जाता है।) अराजकतावादियों के अनुसार यदि कोई व्यक्ति इससे भी न सुधर सके तो उसका डाक्टरी इलाज किया जायगा। उसे रिफर्मेटरी, अथवा सुधार-गृह में भेज दिया जायगा। (रूस में ऐसा ही होता है। कहा जाता है कि बाल्टिक से आर्कटिक तक जो नहर बनी है उसे

रिफर्मेटरी में रह कर सुधरे हुए व्यक्तियों ने बनाया है।)

अराजकतावादी समाज में मनुष्य अपने समझौतों का उल्लंघन नहीं करेगा। मनुष्य की प्रवृत्ति है कि वह रीति-रिवाज और समझौतों को भंग नहीं करता। आधुनिक समाज दुर्गुणों का कारण इस समाज की विषय-रचना में है जिस पर पूँजीवाद, सामन्तवाद और राजतंत्र के संस्कारों की अमिट छाप है। जब उनका लोप हो जायगा तो स्वतः दुर्गुण भी लुप्त हो जायेंगे।

संगठन :—भविष्य के समाज का संगठन स्थानवादी होगा। छोटे-छोटे प्रादेशिक संघ होंगे जिनको कम्यून कहा जायगा। इनमें प्रत्यक्ष जनवादी प्रबन्ध होगा। इन संघों से प्रान्तीय समिति बनेगी। प्रान्तों की समितियों से देश की समिति के लिए प्रतिनिधि और देश के प्रतिनिधियों से संयुक्त यूरोप के संघ की समिति में प्रतिनिधि भेजे जायेंगे और वहाँ से दुनिया की समिति में। ये सब संस्थाएँ अस्थायी होंगी। जैसे-जैसे समस्याएं आयेंगी वैसे-वैसे स्थानीय संघों से प्रान्त, प्रान्तों से देश, देशों से यूरोप, और यूरोप से दुनिया के संघों में प्रतिनिधि भेजे जायेंगे। ये प्रतिनिधि विशेषज्ञ होंगे, नौसिखिए नहीं। जब समस्या की पूर्त्ति हो जायगी तो उन अस्थायी संघों का भी अन्त हो जायगा। दूसरी समस्या आने पर दूसरे प्रकार के विशेषज्ञ प्रतिनिधि भेजे जायेंगे (जैसे हैजे की समस्या को दूर करने के लिए डाक्टर प्रतिनिधि, शिक्षा के लिए अध्यापक, खेल के लिए खिलाड़ी इत्यादि।) अतः, जैसा जोड ने कहा है, अराजकतावाद के अनुसार विशेषज्ञों के प्रतिनिधित्व पर जोर दिया गया है। अराजकतावादी नौसिखुओं के प्रतिनिधित्व में विश्वास नहीं करते थे। सभी संस्थायें स्वेच्छात्मक होंगी। अराजकतावादी संघ स्वतंत्र संघों का समुच्चय होगा।

स्वतंत्रता और समाजवाद :—इस प्रकार साधारण से जटिल की ओर संगठन होगा। एक छोटे से साधारण स्थान से पूरे विश्व का जटिल संघ तथा संगठन। ऐसे समाज में पूर्ण स्वतंत्रता होगी। टकर (Tucker) के अनुसार अराजकतावाद का सारव्यवस्था का अन्त नहीं है वरन् निरंकुशता का अन्त। क्रोपोत्किन ने कहा था कि बस राज्य का अन्त कीजिये और तुरन्त ही उसके अवशेषों पर एक स्वतंत्र समाज का जन्म हो जायगा। इस समाज में आधुनिक अराजकतावाद के जन्मदाता बाकुनिन के कथन की पूर्त्ति होगी। उसने कहा था कि स्वतंत्रता और समाजवाद दोनों की साथ-साथ स्थापना होनी चाहिए। बिना समाजवाद के स्वतंत्रता का अर्थ है शोषण और अन्याय, बिना स्वतंत्रता के समाजवाद का अर्थ है दासत्व और पशुता।

प्रभाव :—संगठन एवं दर्शन की दृष्टि से आज अराजकतावाद इतिहास का विषय बन गया है। परन्तु कई वर्षों तक यूरोप के श्रमिक आन्दोलन में इस सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अराजकतावादियों और संघवादियों ने श्रमिक आन्दोलन के क्रान्तिकारी रूप को योग दिया। श्रमिक आन्दोलन में अराजकतावादियों एवं संघवादियों ने मिल कर काम किया। इसलिए इस आन्दोलन के एक पक्ष को अराजक-संघवादी (Anarcho-Syndicalism) भी कहते हैं। यह पक्ष अराजकतावाद के दर्शन और संघवाद की कार्यनीति के समन्वय का प्रतीक है। यूरोप का वामपक्षी एवं अद्वैतवाद-विरोधी दर्शन (मुख्यतः संघवाद, श्रेणी-समाजवाद और बहुलवाद) अराजकतावाद की राज्य-विरोधी विचारधारा से प्रभावित हुआ।

सारांश

अराजकतावाद के दार्शनिक बाकुनिन और क्रोपोत्किन थे। ये लोग भी मार्क्सवादी राज्य-विश्लेषण में विश्वास करते थे। अन्तर इतना था कि जहाँ मार्क्सवादी मजदूर क्रान्ति के बाद भी राज्य को आवश्यक मानते थे, ये ऐसा नहीं समझते। ये पूँजीवाद के अन्त के साथ ही राज्य का भी अन्त चाहते थे।

अराजकतावादी राज्य को एक वर्गीय संस्था मानते हैं। अतएव इनका निष्कर्ष यह है कि जब श्रमिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप वर्गों का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा तब इस वर्गीय संस्था, राज्य, का भी अन्त आवश्यक है। इतिहास इनका साक्षी है कि राज्य सदा अन्यायपूर्ण शोषण का समर्थक एवं सहायक रहा है। इसने सर्वदा श्रमिकों के न्यायपूर्ण अधिकारों का अपहरण किया है। श्रमिक ऐसी संस्था का कदापि विश्वास नहीं कर सकते, वे अपने हित के लिए उसका उपयोग नहीं कर सकते। राज्य द्वारा शासक और शासित दोनों वर्गों का नैतिक ह्रास होता है। शासक घमंडी, और स्वार्थी, तथा शासित पद-दलित और हतोत्साह हो जाते हैं। यह कहना कि प्रजातंत्र में मनुष्य का सच्चा प्रतिनिधित्व सम्भव है, भ्रामक है। राज्य का अर्थ है निरंकुशता।

सदियों के प्रचार द्वारा मनुष्य के मन में यह बात अच्छी तरह बैठा दी गयी है कि राज्य नितान्त आवश्यक है। परन्तु वास्तव में राज्य एक बेकार संस्था है। मनुष्य जाति के इतिहास से प्रकट है कि राज्य के जन्म के पहले भी छोटे-छोटे समुदायों में मनुष्य सुखपूर्वक रहता था। आज भी मनुष्य के दैनिक व्यवहारों में राज्य का कोई हाथ नहीं होता। कितने ही समझौते ऐसे होते हैं जिनमें राज्य की स्वीकृति आवश्यक

नहीं। कई स्वेच्छात्मक संस्थाएँ समाज-सेवा का कार्य करती हैं। जन-सेना सदा राज्य-सेना को परास्त करती आयी है। जेलों के अस्तित्व के कारण अपराधों की संख्या में कोई कमी नहीं आयी है। राज्य के नियम या तो बेकार हैं या हानिकारक। राज्य ने कभी भी मनुष्यों का दुःख कम करने की चेष्टा नहीं की। ऐसी निकम्मी संस्था को क्यों न समाप्त कर दिया जाय ?

मनुष्य जाति का इतिहास बताता है कि सहयोग की मात्रा बढ़ती ही जा रही है। यह प्रवृत्ति इस तथ्य का निर्देश करती है कि भविष्य के समाज का निर्माण, राज्य के बिना भी सम्भव है। हाँ, मनुष्यों को यह बताना आवश्यक है कि इतिहास के अनुसार मनुष्य-जाति अराजकता की ओर प्रगति कर रही है। जब लोगों को इस बात का विश्वास करा दिया जायेगा तब वे क्रान्ति में अराजकतावादी क्रान्तिकारियों का साथ देंगे। ये क्रान्तिकारी केन्द्रीय सरकारपर कब्जा करेंगे और फिर अन्य प्रादेशिक संस्थाओं पर।

इस क्रान्ति के बाद एक ऐसे समाज का निर्माण होगा जिसमें मनुष्य, पूँजीवादी, राजकीय, और धार्मिक बन्धनों से विमुक्त होंगे। ऐसे समाज में उत्पादन और उपभोग सम्बन्धी सभी वस्तुओं का समाजीकरण होगा। रुचि के अनुसार लोगों को काम दिया जायेगा तथा काम के घंटे भी कम होंगे। वस्तुओं का वितरण न्यायपूर्ण ढंग से होगा। सब सुखी होंगे। अपराधियों को असहयोग द्वारा दंड दिया जायगा। प्रादेशिक संघों द्वारा देश का संगठन होगा। इस प्रकार सारे समाज को सुव्यवस्थित किया जायेगा।

इस दर्शन के अनुयायियों ने संघवादियों के साथ मिल कर मजदूर आन्दोलन में काफी महत्त्वपूर्ण भाग लिया। इस सिद्धान्त का प्रभाव संघवाद तथा श्रेणी-समाजवाद पर काफी पड़ा और इन दोनों दर्शनों का बहुलवाद एवं जनवाद पर। अब यह वाद केवल इतिहास का विषय रह गया है।

सप्तम अध्याय

समष्टिवाद

(COLLECTIVISM)

द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय (The Second International) की विचारधारा ही समष्टिवाद नाम से प्रसिद्ध है। इस अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना १८८६ ई० में हुई थी। यह विश्व के श्रमिक संघों का प्रतिनिधित्व करता था। इस में दो प्रमुख समाजवादी विचारधाराओं के अनुयायी थे—मार्क्सवादी और अन्य समाजवादी। साम्यवाद वाले अध्याय में कहा गया है कि १६१७ की रूस की क्रान्ति के पश्चात् मार्क्सवादियों ने १६१६ में एक नये अर्थात् तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना की थी। इसके फलस्वरूप द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय में केवल वे ही समाजवादी रह गये जो मार्क्सवाद का पूर्णतः समर्थन नहीं करते थे।

समष्टिवाद को समाजवादी जनवाद (Social Democracy), जनवादी समाजवाद (Democratic Socialism), सुधारवादी समाजवाद, (Reformist Socialism) और विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism) भी कहते हैं। साम्यवादी देशों (रूस, चीन और मध्य यूरोप) को छोड़कर अन्य देशों में समष्टिवादी दल पाये जाते हैं। ये दल समाजवादी दल (Socialist Party) या श्रमिक दल (Labour Party) के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारत का समाजवादी दल भी समष्टिवादी विचारधारा का समर्थक है।

साम्यवाद और समाजवाद :— साधारणतया साम्यवाद और समष्टिवाद में कार्यक्रम का मुख्य भेद है। साम्यवाद एक क्रान्तिकारी दर्शन है और समष्टिवाद सुधारवादी। साम्यवाद के अनुसार समाजवाद की स्थापना और पूँजीवाद का अन्त केवल

क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है। समष्टिवादियों की धारणा है कि शनैः-शनैः आधुनिक पूँजीवादी ढाँचे को सुधारों द्वारा समाजवाद में परिणत किया जा सकता है।

साम्यवाद का आधार मार्क्सवाद है। परिस्थिति के अनुसार मार्क्सवाद का संशोधन अवश्य किया गया है, परन्तु मार्क्स के मूल सिद्धान्तों को अपरिवर्तनशील-सा माना जाता है। समष्टिवाद का आधार मार्क्सवाद के साथ-साथ अन्य समाजवादी विचारधारा भी हैं। ये विचारधाराएँ फेबियनवाद (Fabianism) और संशोधनवाद (Revisionism) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका विश्लेषण इस अध्याय में किया जायेगा।

साम्यवादी दर्शन साधारणतः अधिनायकवादी माना जाता है। यह परम्परागत संसदीय-जनवाद का समर्थक नहीं है। इसमें केवल एक ही दल का प्रभुत्व होता है, अन्य राजनीतिक दलों का कोई स्थान नहीं होता। साम्यवादी अपने को जनवादी मानते हैं, वे जनवाद की एक नवीन परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार सच्चा जनवाद वही है जिसमें प्रत्येक नागरिक का राजनीति में सक्रिय भाग सम्भव हो सके। (साम्यवाद वाला अध्याय देखिये)। समष्टिवादी परम्परागत संसदीय-जनवाद के कट्टर अनुयायी हैं। समाजवादी दार्शनिक आधुनिक संसदीय-जनवाद को अधिक जनवादी बनाना चाहते हैं। वे जनवादी कार्यक्रम द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं।

साम्यवादी दलों में दर्शन और संगठन की एकता होती है। दल के निर्णय की विधि जनवादी होती है। पूर्ण वाद-विवाद के पश्चात् कोई भी सदस्य उसका किसी प्रकार भी विरोध नहीं कर सकता। इस प्रथा को जनवादी-केन्द्रीकरण कहा जाता है। दल का अनुशासन सैनिक ढंग का होता है। सभी सदस्यों का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टिकोण अनिवार्य रूप से मार्क्सवादी होना चाहिये। समाजवादी या समष्टिवादी दलों में केवल संगठन की एकता को महत्त्व दिया जाता है, दर्शन की एकता को नहीं। यह विशेषता द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की परम्परागत देन है। कोई भी व्यक्ति जो समाजवाद को न्यायसंगत मानता है, एक समाजवादी दल का सदस्य बन सकता है। सदस्यों की राजनीतिक, आर्थिक तथा समाजिक विचारधाराओं की एकता पर जोर नहीं दिया जाता। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश लेबर पार्टी (The British Labour Party) जो द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है और जिससे भारतवासी बहुत हद तक परिचित भी हैं, के संगठन का विश्लेषण उपयुक्त होगा।

ब्रिटिश लेबर पार्टी का संगठन संघीय है। उसके मंत्री फिलिप्स (Morgan Philips) का कहना है कि मजदूर दल का क्षेत्र सीमित तथा संकुचित नहीं है। कोई भी व्यक्ति जो

सुधारवादी समाजवाद में निष्ठा रखता है, इस दल का सदस्य हो सकता है। ऐसे वातावरण में भिन्न-भिन्न दार्शनिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति मजदूर दल के सदस्य होते हैं। इन सदस्यों में ध्येय की एकता (सुधार द्वारा समाजवाद की स्थापना) अनिवार्य है, विचारों की एकता नहीं।

ब्रिटिश मजदूर दल के कुछ सदस्य बहुत हद तक मार्क्सवाद के अनुयायी हैं। १९४५-५० में संसदीय मजदूर दल के कुछ सदस्य, जैसे सुप्रसिद्ध प्रिट (D. N. Pritt) तथा जिलियकस (K. Zilliacus) आदि प्रच्छन्न साम्यवादी कहे जाते थे। स्वर्गीय लास्की का मजदूर दल में महत्त्वपूर्ण स्थान था। (उसकी जीवनी और दर्शन के सम्बन्ध में बहुलवाद वाला अध्याय देखिये)। लास्की का ऐतिहासिक दृष्टिकोण बहुत हद तक मार्क्सवादी था। मजदूर दल में ऐसे भी सदस्य हैं जो मार्क्सवाद को विषतुल्य मानते हैं। कैटलिन (Catlin) और स्वर्गीय डर्बिन (E. F. M. Durbin) आदि मार्क्स के आधारभूत सिद्धान्तों से भी असहमत थे। यही नहीं, मजदूर दल में ऐसे सदस्य तथा नेता भी थे जो मूलतः उदारवादी थे। ये "लिब-लेब" (Lib-Lab या Liberal-Labour) के नाम से सुप्रसिद्ध थे। ऐसे दृष्टिकोण का अन्तिम महान् पुरुष लिजस्मिथ (Lees-Smith) था। मानवतावाद इन सदस्यों को उदारवादी दल से मजदूर दल की ओर लाया। मजदूर दल में कुछ ईसाई समाजवादी (Christian Socialists) भी हैं। स्वर्गीय क्रिप्स (Stafford Cripps) का कहना था कि उसने सर्वदा ही समाजवाद और ईसाई धर्म को पर्यायवाची समझा। १९४४ में लास्की ने अपनी पुस्तक (Faith, Reason and Civilisation) में लिखा था कि आज पूँजीवाद के पतन काल में यूरोप की सभ्यता को सोवियत रूस का आदर्श ही जीवित रख सकता है। करीब ३ वर्ष पश्चात् उसके मित्र, क्रिप्स, ने अपनी पुस्तक में प्रतिपादित किया कि ईसाई धर्म का आदर्श ही आधुनिक यूरोप की सभ्यता को पतन से बचा सकता है। ऐसे विचार-वैभिन्न्य के कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। एटली (C. R. Attlee) ने अपनी पुस्तक (Labour Party in Perspective) में बताया कि ब्रिटिश मजदूर दल उनका उत्तराधिकारी है जिन्होंने अतीत में स्वतंत्रता के लिए युद्ध किये थे। उसने कहा कि श्रमिक संघ, सहकारी आन्दोलन, चार्टिस्ट आन्दोलन, आयरलैंड का स्वातंत्र्य आन्दोलन, और मार्क्सवादी तथा धार्मिक विचारधाराओं का प्रभाव मजदूर दल के संगठन की प्रगति पर पड़ा है। धर्म और मजदूर दल का परस्पर-घनिष्ट सम्बन्ध बताते हुए एटली ने कहा कि अन्य दलों से अधिक मजदूर दल के मंचों से बाइबिल का उद्धरण प्रसारित किया जाता है। अतः, जहाँ साम्यवाद दार्शनिक दृष्टि से एकात्मक

है, समष्टिवाद या समाजवाद संघात्मक है।

इस संबन्ध में समाजवादी और साम्यवादी समाज का अन्तर बताना आवश्यक होगा। समाजवादी समाज में अर्थ-व्यवस्था का आधार इस प्रकार माना गया है,—"प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार काम करेगा, उसे श्रम के अनुसार वेतन मिलेगा।" साम्यवादी समाज की अर्थ-व्यवस्था का आधार है,—"प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार काम करेगा, उसे आवश्यकतानुसार पदार्थ मिलेंगे।" यह अन्तर व्यवस्था का है, दर्शन का नहीं। लेकिन अन्ततोगत्वा दोनों दर्शनों का सामाजिक लक्ष्य एक ही है, इनमें केवल दृष्टिकोण और कार्यक्रम का अन्तर है।

समष्टिवादी दलों का इतिहास :—समष्टिवादी दर्शन के विश्लेषण के पूर्व द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के दलों के विषय में परिचय देना आवश्यक है। जैसा ऊपर कहा गया है, १९१९ में तृतीय या साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना हुई थी। इसके फलस्वरूप विश्व के श्रमिक आन्दोलन के दो भाग हो गये थे—साम्यवादी और समाजवादी। प्रथम महायुद्ध के समय (१९१४-१८) द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय निष्क्रिय-सा हो गया था। युद्धोपरान्त इसको पुनर्जीवित किया गया। अन्य देशों में दो श्रमिक दल स्थापित हुए—साम्यवादी और समाजवादी। कुछ ऐसे नेता थे जो एक संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय के समर्थक थे। १९२३ तक इन्होंने साम्यवादियों और समाजवादियों में एकता का प्रचार किया। ये अढ़ाई अन्तर्राष्ट्रीय (The Two and a Half International) के नाम से प्रसिद्ध हुए। मध्यस्थता में असफल होने के कारण ये द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय में सम्मिलित हो गये। इस फूट के परिणामस्वरूप श्रमिक आन्दोलन को काफी क्षति पहुँची।

फ्रांस में मजदूरों की कई संस्थाएँ थीं—समाजवादी, संघवादी, अराजकतावादी और साम्यवादी। १९१९ के चुनाव में केवल ६८ समाजवादी सदस्य संसद में पहुँच सके। धीरे-धीरे इनकी संख्या बढ़ती गयी। १९३२ की संसद में १२९ समाजवादी सदस्य थे। १९३४ में समाजवादी और साम्यवादी दलों ने संयुक्त मोर्चा स्थापित किया। इस मोर्चे का ध्येय फासीवाद का विरोध करना था। थोड़े समय बाद उदारवादी तथा जनतंत्र-प्रेमी भी इस मोर्चे में सम्मिलित हुए। यह 'जनमोर्चे' (Popular Front) के नाम से विख्यात हुआ। ४ जून १९३६ से २१ जून १९३७ तक समाजवादी नेता ब्लूम के नेतृत्व में जनमोर्चे की सरकार राज्य करती रही। १९३८ के मार्च-अप्रैल में ब्लूम की दूसरी सरकार २८ दिन के लिए बनी। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय अन्य प्रगतिशील दलों के साथ समाजवादी दल ने हिटलरशाही के विरुद्ध गुप्त आन्दोलन में सक्रिय

भाग लिया। महायुद्ध के पश्चात् समाजवादी दल ने कुछ संयुक्त सरकारों की स्थापना में सहयोग दिया।

बेल्जियम में लेबरपार्टी (मजदूर दल) ने १९१९, १९२५, १९३५ और १९३६ में संयुक्त सरकारों में भाग लिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भी बेल्जियम की लेबर पार्टी का संसद् में बहुमत न हो सका और इसलिये वह केवल संयुक्त सरकारों में ही भाग ले सकी। हालैंड की सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी १९३७ की संसद् में दूसरी सबसे बड़ी पार्टी थी। १९३९ में यह प्रथम बार एक संयुक्त सरकार में सम्मिलित हुई। द्वितीय महायुद्ध के बाद कुछ समय तक इस दल की सरकार राज्य करती रही।

जर्मनी में भी सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी की प्रगति धीरे-धीरे हुई। इबर्ट (Ibert), जो इस दल का प्रमुख नेता था, १९१९-२५ तक राष्ट्रपति रहा। १९२८ में एक वर्ष के लिये इस दल ने संयुक्त मंत्रिमंडल में भाग लिया। कुछ संसदों में यह दल प्रभावशाली होते हुए भी बहुमत में नहीं था। १९३३ के पश्चात् हिटलरशाही ने सभी राजनीतिक दलों को अवैध घोषित किया। समाजवादी और साम्यवादी नेतागण या तो फांसी पर लटका दिये गये या गुप्त जीवन व्यतीत करने लगे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी के पूर्वीय भाग में साम्यवादी आधिपत्य स्थापित हुआ। पश्चिमी जर्मनी में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने पुनः कुछ सम्मान प्राप्त किये।

हंगरी और पोलैंड में समाजवादियों द्वारा होर्थी (Admiral Horthy) और पिलसुस्की (Marshal Pilsudski) के अधिनायकवाद का विरोध किया गया। आस्ट्रिया में भी समाजवादी दल ने डाल्फस (Dollfuss) की तानाशाही का विरोध किया। चेकोस्लोवाकिया और स्वीज़रलैंड में समाजवादी दलों का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

नार्वे में १९२९ और १९३२ में समाजवादी सरकारें बनी। डेनमार्क में समाजवादी दल का राजनीतिक जीवन में उच्च स्थान रहा। समष्टिवाद के इतिहास में स्वीडन की सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहां द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इस दल ने पाँच सरकारें बनायीं (१९१८, १९२१-२३, १९२४, १९३२-३६, १९३६-३९)। इस दल ने बहुत हद तक राज्य को एक समाज-सेवक संस्था का रूप दिया। मुख्य हथियार बनाने वाले कारखानों का राष्ट्रीकरण किया गया। १९३२ की समाजवादी सरकार ने बेरोजगारों की संख्या १६४,००० (१९३३ में) से ३५,००० (१९३६ में) कर दी। स्वीडन की सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी सभी समष्टिवादी दलों की आदर्श बनी।

ब्रिटिश लेबर पार्टी द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की एक प्रमुख शाखा है। इसकी स्थापना

१९०० के लगभग हुई थी। १९०४ में यह द्वितीय अन्तराष्ट्रीय में सम्मिलित हुई। कोल (G. D. H. Cole) के कथनानुसार १९१८ तक इस दल के विधान में इसके ध्येय का स्पष्टीकरण नहीं किया गया। इसने समाजवाद की स्थापना को अपना ध्येय घोषित नहीं किया था। १९१८ की योजना (Labour and the New Social Order) में इसका ध्येय समाजवादी-सा था। परन्तु 'समाजवाद' शब्द का स्पष्ट प्रयोग नहीं किया गया। प्रथम महासमर के पश्चात् इस दल की सदस्यता में निरन्तर वृद्धि होती रही। १९२४ में पहली और १९२९-३१ में दूसरी मजदूर सरकार बनी। १९३१ में मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald,) ने, जो मजदूर दल के प्रादुर्भाव से ही उसका नेता था, धोखाधड़ी द्वारा प्रतिक्रियावादी दलों से समझौता कर एक राष्ट्रीय सरकार का नेतृत्व किया। इससे मजदूर दल की प्रतिष्ठा को काफी धक्का पहुँचा। १९४० में इस दल ने चर्चिल के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय सरकार में भाग लिया। १९४५ और १९५० के निर्वाचनों में इस दल ने बहुमत प्राप्त किया और इसकी दो सरकारें (१९४५, १९५१) बनीं।

(ब्रिटिश मजदूर दल का द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय में एक प्रमुख स्थान है। उसके दर्शन और योजनाओं के अध्ययन से समष्टिवादी विचारधारा का ज्ञान होता है। इसलिए इस अध्याय में इसी दल के नेताओं के कथनों का उद्धरण दिया जायेगा।)

स्रोत

समष्टिवाद के दो प्रमुख दार्शनिक स्रोत हैं—फेबियनवाद और संशोधनवाद। फेबियनवाद ब्रिटेन की विशेष देन है। यह आधुनिक ब्रिटिश मजदूर दल और समाजवाद का आधार है। यूरोप की समाजवादी दलों की विचारधारा पर संशोधनवाद की छाप है। यह "संशोधन" मार्क्सवाद का है।

फेबियनवाद :—प्रसिद्ध फेबियन संघ (Fabian Society) की स्थापना ब्रिटेन में ४ जनवरी, १८८४ में हुई थी। यह मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों की संस्था थी। कई आधुनिक ब्रिटिश समाजवादी लेखक तथा नेता इस संघ के सदस्य रहे हैं। वेब दम्पति एनी बेसेन्ट (Annie Besant), मैकडानल्ड सिडनी अलिवर (Sidney Oliver), शॉ (George Bernard Shaw), वेल्स (H. G. Wells), ग्राहम वालास (Graham Wallas), लास्की ब्रेल्सफोर्ड (H. N, Brailsford), कोल, एटली ऐसे महान् व्यक्ति इस संघ के सदस्य रह चुके हैं। मजदूर दल के दोनों प्रधान मंत्री

(मैकडानल्ड और एटली) इस संघ से सम्बद्ध रहे हैं। मजदूर दल के अन्य नेता तथा दार्शनिक भी इस संघ के सदस्य रह चुके हैं।

फेबियन संघ का ध्येय एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें जनता का नैतिक एवं भौतिक उत्थान हो सके। बर्नार्ड शा, जो इस संघ का प्रमुख दार्शनिक था, के कथनानुसार फेबियनों ने कभी भी इस बात का ढोंग न रचा कि वे श्रमिकों के प्रतिनिधि हैं। अर्थात् यह संघ केवल मध्यमवर्ग से ही सम्बद्ध था। पीज (Edward Pease), जो कई वर्षों तक इस संघ का मंत्री रह चुका था, ने कहा था कि फेबियनों का लक्ष्य समाजवाद बनाना है, समाजवादी बनाना नहीं। वे एक ऐसा संसदीय कार्यक्रम प्रस्तुत करना चाहते थे जिसे ब्रिटेन का कोई भी प्रधान मंत्री, जो समाजवाद को अपना लक्ष्य मानने लगे, प्रयोग में ला सके। १९वीं सदी में प्रधान मंत्री पील (Sir Robert Peel) ने मुक्त-व्यापार के सिद्धान्त को अपनाया था (१८४६)। फेबियन आशा करते थे कि पील की भाँति कोई दूसरा प्रधान मंत्री भी स्वयं विचार परिवर्तन कर समाजवाद को स्वीकार कर सकता है। फेबियनों ने ऐसी परिस्थिति के लिए और ऐसे प्रधान मंत्री के हेतु लगन से एक योजना बनायी।

पीज के मतानुकूल फेबियनों का दूसरा लक्ष्य था समाजवाद को सम्माननीय रूप देना। वे ऐसे सम्माननीय समाजवाद का प्रचार करते थे जिसे एक सम्भ्रान्त अंग्रेज उसी प्रकार निःसंकोच स्वीकार कर सके जैसे वह उदारवादी या अनुदारवादी दल की सदस्यता स्वीकार करता है। इस सम्बन्ध में बर्नार्ड शॉ को गर्व था कि जहाँ १८८४ में फेबियनवादी नवयुवकों को विपथगामी समझा जाता था, वहाँ १९०९ में उन्हें सम्मानित नागरिक माना जाने लगा। अस्तु, फेबियनों का समाजवाद ऐसा था जिसे स्वीकार करने में एक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी अपने वर्गीय अस्तित्व का अपमान न समझे।

फेबियनवादी समाजवाद प्रचलित मार्क्सवादी समाजवाद से पूर्णतः भिन्न था। ग्रे (Alexander Grey) ने ठीक ही कहा था कि फेबियनों ने मार्क्सवाद से किनारा काटते हुये एक नये समाजवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की। उन्होंने लब्धप्रतिष्ठ अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों के आधार पर समाजवाद को न्यायसंगत बताया। उनके दर्शन पर रिकार्डो के 'भूमिकर' सिद्धान्त और जेवोन (Jevon) के उपयोगिता सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा था। अमेरिका निवासी हेनरी जार्ज (Henry George) के भाषणों से प्रभावित होकर फेबियनों ने कहा कि पुराने राजनीतिक कार्यक्रम द्वारा जमीन्दारी प्रथा पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। बार्कर (E. Barker) के कथनानुसार मार्क्स की अपेक्षा

मिल (John Stuart Mill) ही फेबियनों के दर्शन का आदि-प्रवर्तक है।

फेबियनवाद ने मार्क्सवाद के विपरीत एक नये समाजवादी दर्शन का निर्माण किया। फेबियन संसदीय नीति या सुधार द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे। वे क्रान्तिकारी न थे। शनैःशनैःवाद उनकी मुख्य विशेषता थी। उन्होंने पूँजीवादी अर्थ और समाज की त्रुटियों को ब्रिटिश बुद्धिजीवियों के समक्ष प्रस्तुत किया। उनकी खोजों से कई बुद्धिजीवी प्रभावित हुए, वे पूँजीवाद विरोधी बने, उन्होंने समाजवाद को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मजदूर दल की योजनाएँ वेब आदि वयोवृद्ध फेबियनों द्वारा बनायी गयीं थीं। फेबियन संघ की सबसे बड़ी सफलता इस बात में मानी जाती है कि उसने ब्रिटेन में मार्क्सवादी जादू को पनपने न दिया। उसने मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों (वर्ग संघर्ष, इतिहास की आर्थिक व्याख्या, क्रान्तिकारी पद्धति और अर्ध सिद्धान्त) पर दार्शनिक आक्रमण किया। फेबियनों के निबन्ध सरल और प्रचलित भाषा में होते थे। उन्होंने उसी अर्थशास्त्र को अपनाया जो प्रतिष्ठित अध्यापकों द्वारा विश्वविद्यालयों में प्रचलित किया जा चुका था। इसी अर्थशास्त्र द्वारा उन्होंने बताया कि सुधारों से समाजवाद की स्थापना आवश्यक ही नहीं वरन् अवश्यम्भावी भी है।

संशोधनवाद :—यूरोप में मार्क्सवाद को कुछ दार्शनिकों ने दुहराया। इस दुहराने के कार्य का सर्वप्रमुख श्रेय बर्नस्टाइन (Eduard Bernstein १८५०—१९२२) को था। संशोधनवाद से यूरोप की समाजवादी विचारधारा प्रभावित हुई। बर्नस्टाइन ने कहा कि सामान्यतः मार्क्स का सिद्धान्त ठीक है, परन्तु मार्क्स ने कहीं-कहीं गलतियाँ की हैं। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद की प्रगति ऐसी है और होगी कि मध्यमवर्ग का अन्त हो जायेगा। इस वर्ग के सदस्य अधिकतर श्रमिक बन जायेंगे, केवल थोड़े से ही पूँजीपति बन सकेंगे। बर्नस्टाइन ने आँकड़े एकत्रित कर बताया कि पश्चिमी यूरोप में मध्यमवर्ग का अन्त नहीं हो रहा है, अपितु वह बढ़ता ही जा रहा है। मार्क्स ने यह बताया था कि आन्तरिक विरोधों के कारण पूँजीवाद में समय-समय पर अधिक उत्पादन के संकट उपस्थित होते रहेंगे। एक संकट के बाद दूसरे संकट की सीमा और प्रभाव अधिक गम्भीर होता जायेगा। पूँजीवाद में इस संकट को दूर करने का कोई भी साधन नहीं है। इस विचारधारा के विपरीत बर्नस्टाइन ने बताया कि पूँजीपतियों के संघ और एकाधिकार के फलस्वरूप अब आर्थिक संकट का वैसा गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ता जैसा मार्क्स ने बताया था। दुनिया के बाजारों की वृद्धि एवं उत्पादन के साधनों की प्रगति से भी ऐसे संकटों के बुरे प्रभावों का ह्रास हो गया है।

मार्क्स ने क्रान्तिकारी मार्ग के अनुसरण पर जोर दिया था। बर्नस्टाइन ने कहा कि यूरोप में, विशेषकर जर्मनी में, समाजवादी मतदाताओं की संख्या बढ़ती जा रही है। साथ ही साथ उपभोक्ता सहकारी समितियों की संख्या की भी वृद्धि हो रही है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप एक समय ऐसा आयेगा जब संसदों में समाजवादी दलों के बहुमत द्वारा समाजवादी सरकारें बनेंगी और वैधानिक क्रम से समाजवाद की स्थापना सम्भव होगी। मार्क्स ने कहा था कि समाजवादी क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीवाद का अन्त और सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना होगी। बर्नस्टाइन ने कहा कि अधिनायकत्व तो अतिप्राचीन सभ्यता की उपज और विशेषता थी। आधुनिक वयस्क मताधिकार की शिष्ट प्रणाली द्वारा देश सशस्त्र क्रान्ति के दुष्परिणामों से बच सकता है। ऐसे मताधिकार द्वारा शान्तिपूर्वक समाजवाद की स्थापना हो सकती है। इसलिए श्रमिकों को प्रत्येक देश में वयस्क मताधिकार की स्थपना के लिए आन्दोलन करना चाहिये। ऐसी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष उग्र रूप धारण नहीं करेगा और स्वतः यूरोप समाजवाद की ओर अग्रसर हो जायगा।

१९वीं सदी के अन्त और २०वीं सदी के प्रारम्भ में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय से सम्बद्ध यूरोप के समाजवादी नेता संसदीय नीति को अपना रहे थे। बर्नस्टाइन ने इन नेताओं के कार्यक्रम की दार्शनिक पुष्टि की। उसने बताया कि संसदीय सुधारों द्वारा भी समाजवाद की स्थापना सम्भव है। समाजवाद तो उदारवाद का वैधानिक उत्तराधिकारी है। उदारवाद तथा जनवाद की वृद्धि से समाजवाद की स्थापना सरल हो जायेगी। समाजवाद की प्रगति जनवादी प्रणाली द्वारा होनी चाहिये। समाजवादियों का कर्तव्य क्रान्ति करना नहीं वरन् जनशिक्षा और समाजवाद का प्रचार करना है। उनका कर्तव्य यह भी है कि वे मजदूर संघों और सहकारी समितियों को बलवान बनायें। अस्तु, बर्नस्टाइन ने जनवादी-समाजवाद की स्थापना के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

बर्नस्टाइन के संशोधनवाद का दार्शनिक विरोध कार्ल कौट्स्की (१८५४-१९३२) द्वारा हुआ था। कौट्स्की जर्मनी के श्रमिक आन्दोलन का एक प्रमुख नेता एवं दार्शनिक था। १९१७ की रूसी क्रान्ति का उसने दार्शनिक दृष्टिकोण से विरोध किया। उसकी विचारधारा का प्रभाव आधुनिक यूरोप के समष्टिवाद पर पड़ा। प्लेखेनाव (G. Plekhanov) १९वीं सदी के रूस में सर्वश्रेष्ठ मार्क्सवादी दार्शनिक माना जाता था। परन्तु उसने बीसवीं सदी में और मुख्यतः १९१७ की रूसी क्रान्ति के समय लेनिनवादी क्रान्तिकारी मार्ग की दार्शनिक आलोचना की। लेनिन और उसके मार्क्सवादी अनुगामियों की दृष्टि से कौट्स्की और प्लेखेनाव भी संशोधनवादी दार्शनिक माने जाते हैं। यह

विषय विवादास्पद है। परन्तु यह सत्य है कि वे समष्टिवादी, जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बहुत हद तक अपनाते हैं, कौट्स्की और प्लैकेनाव की मार्क्सवादी व्याख्या के अनुगामी हैं। ऐसे समष्टिवादी, लेनिन, स्तालिन, ट्राट्स्की और माओ की मार्क्सवादी व्याख्या के समर्थक नहीं हैं।

कार्यपद्धति

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक-भौतिकवादी विश्लेषण द्वारा बताया कि समाजवाद की स्थापना और पूँजीवाद का अन्त अवश्यम्भावी है। पूँजीवाद के विकास की प्रक्रिया ऐसी है कि साम्राज्यवादी प्रथा का अवश्य ही प्रादुर्भाव होगा, युद्ध होंगे और फिर महायुद्ध। श्रमिकों की संगठित शक्ति का विकास होगा और वे क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का अन्त करेंगे तथा समाजवादी समाज का निर्माण करेंगे। मैकडानल्ड ने भी समाजवाद की स्थापना अवश्यम्भावी बतायी। परन्तु मार्क्सवाद के विपरीत वह इस निष्कर्ष पर किसी ऐतिहासिक विश्लेषण द्वारा नहीं पहुँचा था। उसका तर्क था कि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह मानवता, स्वतंत्रता और समानता के नाते समाजवाद को अपनायेगा। बस, तर्क द्वारा नागरिकों का समाधान करना चाहिये—इतना ही पर्याप्त है। वे स्वतः समाजवाद के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करेंगे और एक समय ऐसा आयेगा जब नागरिक निर्वाचन में प्रसन्नता से समाजवादी सदस्यों को मत देंगे। इस प्रकार संसद में श्रमिक दल का बहुमत होगा और श्रमिक सरकार बनेगी। तब धीरे-धीरे समाजवाद की स्थापना होगी। अतः समाजवाद अवश्यम्भावी है।

वर्ग-सहयोग :—मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त "वर्ग-संघर्ष" है। समष्टिवादी वर्ग सहयोग के कट्टर अनुगामी हैं। फेबियनों का कहना था कि वर्ग-संघर्ष से ही नहीं बल्कि वर्ग-सहयोग से भी व्यक्तियों के कार्य प्रभावित होते हैं। देखा जाता है कि यदि एक पूँजीपति के मकान में आग लग जाय तो उसका पड़ोसी श्रमिक भी आग बुझाने में उसकी सहायता करता है। यह सहायता "वर्ग-सहयोग" का निर्देशक है, न कि "वर्ग-संघर्ष" का। १९०४ ई० में ब्रिटिश श्रमिक दल ने द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय से सम्बद्ध होने के लिए आवेदन किया था। इस आवेदन की स्वीकृति के पक्ष में कहा गया था कि यह मजदूर संघ वर्ग-संघर्ष को प्रयोग में लाता है किन्तु उसका प्रचार नहीं करता। २४ वर्ष पश्चात् एटली ने भी कुछ ऐसा ही विचार प्रकट किया। उसने कहा कि लेबर पार्टी वर्ग-संघर्ष में

विश्वास करती है किन्तु वर्ग-संघर्ष को समाज का आधार नहीं मानती। समष्टिवादी विचारक यह तो अवश्य मानते हैं कि पूँजीपतियों और श्रमिकों में संघर्ष स्वाभाविक है, परन्तु वे समाज का आधार वर्ग-संघर्ष नहीं समझते।

जनतंत्रीय प्रणाली :—मार्क्सवादी अपने कार्यक्रम में सशस्त्र क्रान्ति को सर्वोच्च स्थान देते हैं। वे अन्य स्वतंत्रताओं को अपने आदेशों के प्रचार के लिये निःसंकोच प्रयोग में लाते हैं, परन्तु उनका अटूट विश्वास है कि केवल क्रान्ति द्वारा ही सामाजिक परिवर्त्तन सम्भव है। समष्टिवादी क्रान्तिकारी मार्ग के कट्टर विरोधी हैं। १९१८ में इबर्ट (F. Ibert) ने, जो जर्मनी के समाजवादी-जनतंत्रीय दल का प्रमुख नेता था, कहा था कि वह क्रान्ति को पाप मानता है। फेबियन कट्टर विधानवाद में विश्वास रखते थे। शॉ का कहना था कि फेबियनों ने सरल और साहसिक क्रान्तिकारी मार्ग का परित्याग कर कठिन शिक्षा-मार्ग को अपनाया। शिक्षा द्वारा जब ब्रिटेन की अधिकांश जनता समाजवाद की ओर आकृष्ट हो जायेगी तभी निर्वाचन में समाजवादी दल बहुमत प्राप्त कर सकेगा। संसदीय नीति द्वारा समाजवाद की धीरे-धीरे स्थापना होगी। यही दृष्टिकोण आधुनिक समाजवाद का भी है।

जनतंत्रात्मक समाजवाद की कार्यनीति का वर्णन द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की बर्न बैठक (Bern Conference, २६ जनवरी, १९१९) के प्रस्ताव से स्पष्टतः परिलक्षित होता है। यह प्रस्ताव ब्रैंटिंग (Branting) प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध है। (ब्रैंटिंग स्वीडन देश का प्रमुख श्रमिक नेता था।) यह प्रस्ताव यों है :—समाजवादी समाज तब तक निश्चित रूप से स्थायी नहीं हो सकता जब तक वह जनतंत्र और स्वतंत्रता के सिद्धान्तों पर आश्रित न हो। जनतंत्रीय प्रणालियाँ ये हैं—भाषण और लेख की स्वतंत्रता, संगठन का अधिकार, वयस्क मताधिकार, उत्तरदायी शासन, राज्य के संचालन में जनता का अधिकाधिक सहयोग आदि। अर्थात् समाजवाद की स्थापना केवल जनतंत्रीय कार्यक्रम द्वारा ही हो सकती है।

संसदीय नीति :—समष्टिवादी कार्यक्रम संसदीय कार्यक्रम के नाम से जाना जाता है। संसद में बहुमत प्राप्त करने के लिये समष्टिवादी दल जनता में अपने विचारों का प्रचार करते हैं। वे जनता के समक्ष पूँजीवाद की आलोचना करते हैं तथा अपनी कार्यपद्धति की ओर उनको आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। जनता में राजनीतिक चेतना के लिये पर्चों, सभाओं, प्रदर्शनियों एवं वाचनालयों आदि यंत्रों को ये दल अपनाते हैं। वे संसद और अन्य सभाओं के निर्वाचनों में भाग लेते हैं। उनका एकमात्र ध्येय

संसदीय बहुमत प्राप्त करना है। यह कार्यपद्धति फेबियनवाद और बर्नस्टाइन के संशोधनवाद की भाँति है। परन्तु जहाँ फेबियनों ने राजनीतिक दल बनाने का प्रयत्न नहीं किया था, आधुनिक समष्टिवादी राजनीतिक दलों द्वारा अपने ध्येय की पूर्ति करना चाहते हैं।

मार्क्सवादी, अराजकतावादी और संघवादी दल अल्पसंख्यकों (क्रान्तिकारियों) द्वारा क्रान्ति कर के समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। फेबियनवाद और संशोधनवाद की परम्परा का अनुकरण करते हुए समष्टिवादी बिना बहुमत की स्वीकृति के समाजवाद तो दूर रहा, कोई साधारण नियम भी नहीं बनाना चाहते। वे ऐसी योजना को स्वीकार करने में संकोच करते हैं जिसे देश का बहुमत शायद स्वीकार न करे। उनके मतानुसार जनतंत्र का सार है कि राज्य की सभी नीतियाँ जन स्वीकृति और जनविवाद द्वारा निर्धारित होनी चाहिये (Herbert Morrison)। जनतंत्रीय समाजवादियों का मत है कि वही सुधार स्थायी हो सकता है जिसका आधार जनता का दृढ़ संगठन हो।

शनैःशनैःवाद :—पुराने समष्टिवादियों की भाँति आधुनिक जनतंत्रीय समाजवादी भी शनैःशनैःवाद के कट्टर समर्थक हैं। समाजवाद की स्थापना धीरे-धीरे होनी चाहिये। पहले एक, फिर दूसरे और फिर तीसरे व्यवसाय का राष्ट्रीकरण करना चाहिये। उनका कहना है कि राष्ट्रीकरण की गति में तभी आगे बढ़ना उचित है जब उन व्यवसायों का सुसंगठन हो जाय जिनका राष्ट्रीकरण हो चुका है। ऐसे शनैःशनैःवाद से संचालकों को पर्याप्त अनुभव प्राप्त होगा। यह अनुभव भविष्य की राष्ट्रीकरण योजनाओं के लिये अत्यन्त हितकर होगा। समष्टिवादियों का कहना है कि वे न तो शीघ्रता ही करना चाहते हैं और न हाथ पर हाथ रख कर बैठे ही रहना चाहते हैं। "शनैःशनैःवाद" द्वारा त्रुटियों को दूर किया जा सकता है। इससे राष्ट्र का अहित नहीं हो पायेगा।

वैधानिक नीति :- पुराने समष्टिवादियों (फेबियनवाद और संशोधनवाद) के आदर्शानुसार आधुनिक समष्टिवादी भी सुधार और विकास का मार्ग अपनाते हैं। इसीलिये समष्टिवादियों को सुधारवादी समाजवादी भी कहते हैं। जनतंत्रीय संस्थाओं तथा रीतियों द्वारा वे वैधानिक ढंग से समाजवाद की स्थापना के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि ब्रिटेन ऐसे देशों में जहाँ जनतंत्रीय परम्परा सुदृढ़ है समाजवाद की स्थापना के लिये क्रान्ति या रक्तपात अनावश्यक है। रक्तपात की आवश्यकता तभी पड़ सकती है जब पूँजीपति उन्हें ऐसे मार्ग के लिये बाध्य करें। यदि पूँजीपति अत्याचार करें या संसद द्वारा निर्मित

समाजवादी नियमों का जानबूझ कर उल्लंघन करें, तब रक्तपात के मार्ग को अपनाने में समष्टिवादी संकोच न करेंगे।

वैधानिक जनतंत्रीय नीति समष्टिवादियों के रग-रग में भरी है। वे फूंक-फूंक कर कदम रखने के आदी हैं। मार्क्सवादी, अराजकतावादी तथा संघवादी अपने कार्यक्रम और नीति को क्रान्ति के लक्ष्य के अनुसार ढालते हैं। मार्क्सवादी संसदीय नीति को अस्थायी रूप से यह सोच कर अपनाते हैं कि कदाचित् यह नीति क्रान्ति में सहायक हो। परन्तु समष्टिवादी सभी मसलों को केवल मतदान की दृष्टि से देखते हैं। वे वही कार्य या नीति अपनाते हैं जिसे वे निर्वाचन की दृष्टि से उपयोगी समझते हैं। १९३७ में ब्रिटिश मजदूर दल ने जनमोर्चे को अस्वीकार किया क्योंकि एटली के मतानुकूल उसकी दृष्टि से ऐसा मोर्चा संसदीय निर्वाचन में हितकर नहीं था। (यूरोप के कुछ देशों में, मुख्यतः फ्रांस में, फासिष्टवाद की प्रगति को रोकने के लिये प्रगतिशील दलों ने जनमोर्चा बनाया था।)

आर्थिक कार्यक्रम

जैसा ऊपर बताया गया है, फेबियनवाद का आधुनिक समष्टिवाद पर काफी प्रभाव पड़ा। आधुनिक ब्रिटिश श्रमिक दल की आर्थिक योजनायें बहुत हद तक फेबियनवाद की प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं। फेबियनों के मूल सिद्धान्तों को आधुनिक श्रमिक दल के नेताओं ने समयानुकूल नया रूप दिया। फेबियनों ने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, पूँजीवादी दावों, और व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र की आलोचना की थी। साथ ही साथ उन्होंने एक आर्थिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया। उनकी विचारधारा १८८८ में प्रकाशित एक पुस्तक (Fabian Essays) में मिलती है।

फेबियनवादी विचारधारा :—मार्क्स ने कहा था कि वस्तु का मूल्य सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम द्वारा निर्धारित होता है। फेबियनों ने इस श्रम-सिद्धान्त की आलोचना की। उन्होंने बताया कि वस्तु का मूल्य समाज द्वारा निर्धारित होता है। (उदाहरणार्थ दो प्रकार की भूमि लीजिये। 'अ' क्षेत्र श्मशान के निकट है और 'ब' बाजार के निकट। 'ब' भूमि का मूल्य 'अ' से अधिक होगा। समाज के उपयोग से ही 'ब' का मूल्य अधिक है।) यह सिद्धान्त रिकार्डो के 'भूमिकर' और जेवोन के उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित है। रिकार्डो ने कहा था कि जमीन्दारों का बढ़ा हुआ लगान अनुपार्जित आय है। जेवोन ने बताया कि यह आय समाज की उपयोगिता के फलस्वरूप

है। इन दोनों विचारों का सार यह है कि समाज द्वारा ही भूमिपति को अनुपार्जित आय मिलती है। फेबियनों ने कहा कि यह आय समाज-हित के लिये खर्च होनी चाहिये। राज्य का कर्त्तव्य है कि जमीन्दारों की अनुपार्जित आय को टैक्स या आयकर द्वारा लेकर समाज-सेवा-कार्यों में व्यय करे। पूँजीपतियों का लाभ भी ऐसा ही अनुपार्जित धन है। यह लाभ भी राज्य द्वारा समाज-सेवक योजनाओं में खर्च होना चाहिये। अनुपार्जित धन सामाजिक उपयोगिता पर आश्रित है। न्याय की दृष्टि से वह समाज को ही मिलना चाहिये।

फेबियनों ने पूँजीपति के अस्तित्व को कार्यहीन एवं अनावश्यक बताया। औद्योगिक वृद्धि की प्रक्रिया समाजवाद की ओर है। सिडनी वेब के कथनानुसार १९वीं सदी का आर्थिक इतिहास समाजवाद की प्रगति का क्रमिक इतिहास है। यह प्रगति व्यावसायिक यंत्रों और संगठन की वृद्धि का फल है। पूँजीवाद के आरम्भिक काल में पूँजीपति अपनी पूँजी एक नये व्यवसाय को चलाने में लगाता था। वह स्वयम् प्रबन्धक था। उसका मजदूरों से सम्पर्क होता था। उस काल में पूँजीपति एक उपयोगी कार्य करता था। परन्तु अब नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप पूँजीपति का व्यवसाय से नाममात्र का सम्बन्ध रह गया है। वह केवल उत्पादन से लाभ एकत्र करता है। आज पूँजीपति का कार्य केवल लाभ का उपभोग करना ही रह गया है। शायद एक वर्ष में वह एक या दो बार अपने कारखाने में पदार्पण करता है। समस्त व्यवसाय का संचालन अन्य कर्मचारियों तथा श्रमिकों द्वारा होता है। व्यवसाय का समाजीकरण हो गया है। ऐसी परिस्थिति में पूँजीपति का अनुपार्जित लाभ न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। उस लाभ का राज्य द्वारा अन्त हो जाना चाहिये।

पूँजीपति सगर्व घोषित करते थे कि उनके बिना न तो व्यवसाय ही संचालित हो सकता है और न समाज ही। इस घोषणा का क्लार्क (Clarke) ने मुँहतोड़ उत्तर दिया था। उसने कहा कि पूँजीपतियों की अनुपस्थिति में समाज उसी प्रकार संचालित होगा जैसे वह दास-पतियों तथा सामन्तों के बिना संचालित होता आया है। दासों के स्वामी और सामन्त भी अपने-अपने काल में अपने को अनिवार्य समझते थे। इस सम्बन्ध में बर्नार्ड शॉं ने बताया कि बारूद के आविष्कार से राजतंत्र की सत्ता-वृद्धि हुई। केवल केन्द्रीय सरकार ही बारूद बना सकती थी। बारूद बनाने के कारखानों और यंत्रों का संचालन एक धनाढ्य एवं शक्ति-सम्पन्न केन्द्रीय संस्था के ही बूते की बात थी, सामन्तों के नहीं। अतः सामन्तों की सेनाएँ राजा की सेना का मुकाबला न कर सकीं। इसी प्रकार

आज डाइनामाइट के आविष्कार के फलस्वरूप बड़े-बड़े कारखानों का जन्म हो गया है। इनका संचालन समाज द्वारा ही हो सकता है, पूँजीपतियों द्वारा नहीं।

अपने समाजवाद को व्यक्तिवादी परम्परा का विस्तृत स्वरूप स्वीकार करते हुए फेबियनों ने व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र की आलोचना की। सिडनी आलिवर (Sidney Oliver) के मतानुसार समाजवाद वास्तव में सतर्क, सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित व्यक्तिवाद है। वह व्यक्तिवादी संघर्ष की निष्पत्ति है। व्यक्तिवादी आदर्श की पूर्ति के लिए समाजवाद नितान्त आवश्यक है। फेबियनों ने व्यक्तिवादी आदर्श "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख"—को अपनाया। उन्होंने मिल (J. S. Mill) की परम्परा स्वीकार की। ऐसी नीति द्वारा वे ब्रिटिश बुद्धिजीवियों को अपने दर्शन की ओर आकर्षित करने में सफल हुए। यह स्वाभाविक-सा था। क्योंकि जैसा व्यक्तिवाद के सम्बन्ध में बताया गया है, १९ वीं सदी के बुद्धिजीवियों के लिए मिल ही आदर्श पथप्रदर्शक था।' मिल की दुहाई देने से फेबियनवाद एक सम्माननीय दर्शन बना और उसे प्रगतिशील शिक्षित वर्ग ने अपनाया।

बर्नार्ड शॉ के मतानुकूल फेबियनवाद ने व्यक्तिवादियों की बन्दूक उन्हीं पर दागी। यह कैसे ? व्यक्तिवादी अपने उक्त आदर्श की पूर्ति के हेतु "यद्भाव्यम् नीति" को आवश्यक तथा न्यायसंगत बताते थे। राज्य के न्यूनतम हस्तक्षेप के वातावरण में ही मिल की वैयक्तिक स्वतंत्रता और "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" सम्भव माना जाता था। इसके विपरीत फेबियनवादियों ने इन आदर्शों की पूर्ति के हेतु समष्टिवादी व्यवस्था को नितान्त आवश्यक बताया। गरीबी या भुखमरी की स्थिति में मिल की वैयक्तिक स्वतंत्रता अस्तित्वहीन हो जाती है। यूनानी कहावत है कि दिनचर्या के प्रबन्ध के उपरान्त ही व्यक्ति अन्य सद्गुणों का अभ्यास कर सकता है। भारतवर्ष में कहा जाता है, "भूखे भजन न होइ गोपाला"। केवल समष्टिवादी राज्य ही व्यक्ति को आर्थिक एवं सामाजिक निश्चिन्तता प्रदान कर सकता है। तभी मिल की आदर्श स्वतंत्रता सफलीभूत हो सकती है और "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख" भी तभी प्राप्त हो सकता है।

आधुनिक विचारधारा :—इस प्रकार फेबियनों ने एक नये अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण की व्याख्या की। यह प्रचलित मार्क्सवादी और व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र से भिन्न था। ब्रिटिश मजदूर दल ने फेबियनवादी अर्थशास्त्र को स्वीकार किया। प्रथम महायुद्ध के समय तक मजदूर दल ने संसद में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। अब एक संसदीय कार्यक्रम की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस कार्यक्रम का आधार उक्त फेबियन दर्शन था।

समयानुकूल इसमें संशोधन किये गये, परन्तु मूल आधारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

ब्रिटिश मजदूर दल के संविधान से उसका ध्येय स्पष्ट हो जाता है। सभी प्रकार के श्रमिकों को व्यवसाय के उत्पादन का उचित फल प्राप्त होना चाहिए। उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों पर समाज का अधिकार अपेक्षित है। अतः प्रत्येक व्यवसाय का संचालन जनतंत्रीय ढंग से होना चाहिए। इस ध्येय पर फेवियनवादी वेब की छाप स्पष्ट अंकित है। कोल का कहना है कि १६१८ की वेब द्वारा निर्मित योजना के अनुसार व्यवसायों पर समाज का अधिकार होना चाहिए, मजदूरों का नहीं। यह विचारधारा अन्य समाजवादी दर्शनों से भिन्न है। उन दर्शनों के अनुसार उत्पादन शक्तियों पर श्रमिकों का एकाधिपत्य होना चाहिए।

फेवियनों की भाँति आधुनिक समष्टिवादी भी पूँजीपतियों को निष्क्रिय मानते हैं। आधुनिक व्यवसाय में पूँजीपति का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। वह केवल सट्टेबाजी करता है। वास्तव में वह एक दरवान की भाँति है। आधुनिक आविष्कारों के फलस्वरूप ऐसा दरवान भी अनावश्यक है। विजली की सहायता से फाटक वन्द हो सकता है और खुल भी जाता है। ऐसी परिस्थिति में दरवान की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार आधुनिक व्यवसायों में पूँजीपति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उसको व्यवसाय से पूर्णतया पृथक कर देना चाहिए।

पूँजीवादी और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था :—समष्टिवादी दल व्यवसाय का समाजीकरण या राष्ट्रीकरण धीरे-धीरे करना चाहता है। अन्य अर्थशास्त्रियों की भाँति जनतंत्रात्मक समाजवादी दार्शनिक भी राष्ट्रीय अर्थ को दो भागों में विभाजित करते हैं—व्यक्तिगत क्षेत्र तथा सामाजिक क्षेत्र। व्यक्तिगत क्षेत्र वाले व्यवसायों पर व्यक्ति-विशेष का अधिकार होता है, और सामाजिक क्षेत्र वाले व्यवसायों पर समाज या राज्य का। प्रथम का संचालन पूँजीपति एवं उसके कर्मचारियों द्वारा होता है, और दूसरे का राष्ट्र की संसद, कार्यपालिका तथा नौकरशाही द्वारा। प्रथम तो पूँजीपति के लाभ के दृष्टिकोण से संचालित होता है, द्वितीय समाज के हित एवं उपभोग की दृष्टि से। समष्टिवादियों का कहना है कि धीरे-धीरे व्यक्तिगत क्षेत्र वाले व्यवसायों को सामाजिक क्षेत्र वाले व्यवसायों में परिणत कर देना चाहिए।

डा० डाल्टन (Dr. Hugh Dalton) ने, जो १९४५—४७ में ब्रिटिश मजदूर सरकार का अर्थमंत्री था, समष्टिवादी दृष्टिकोण की व्याख्या इस प्रकार की थी—समाजवाद

परिमाणात्मक है, गुणात्मक नहीं। पूँजीवाद और समाजवाद में परिमाण का भेद है, गुण का नहीं। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था ऐसी नहीं है जिसमें व्यवसाय पूर्णतः या तो व्यक्तिगत क्षेत्र वाला हो (पूँजीवादी) या सामाजिक क्षेत्र वाला (समाजवादी)। पूँजीवाद और समाजवाद में अन्तर यही है कि जहाँ पूँजीवाद में व्यक्तिगत क्षेत्र की प्रधानता होती है वहाँ समाजवादी व्यवस्था में सामाजिक क्षेत्र की। (उदाहरणार्थ :—भारतवर्ष में व्यक्तिगत क्षेत्र की प्रधानता है। परन्तु कुछ व्यवसाय, जैसे रेल, तार आदि, सामाजिक क्षेत्र के हैं। आधुनिक रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में सामाजिक क्षेत्र की प्रधानता तो अवश्य है किन्तु वहाँ भी कुछ व्यवसाय व्यक्तिगत क्षेत्र वाले हैं।) अतः अन्तर केवल न्यून और अधिक का है।

राष्ट्रीकरण की रीति :—जनतंत्रात्मक समाजवाद व्यवसायों का समाजीकरण उनकी आर्थिक और संगठनात्मक परिस्थिति द्वारा निश्चित करता है। व्यवसाय निम्न तीन प्रकार के माने जाते हैं :—(१) ऐसे व्यवसाय जिनका समाजीकरण तत्काल किया जा सके। ये हैं—अधिकोष, खान, इस्पात के व्यवसाय, विद्युत, यातायात आदि। (२) ऐसे व्यवसाय जो समाजीकरण के लिये पूर्ण रूप से परिपक्व न हों। जैसे साबुन, तेल, वस्त्र आदि। इन व्यवसायों का धीरे-धीरे पुनः संगठन किया जाना चाहिए जिससे उनमें सामाजिक नियंत्रण की मात्रा में वृद्धि हो सके। (३) ऐसे व्यवसाय जो व्यक्तिगत क्षेत्र के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं, जैसे—बढ़ई, दर्जी, धोबी, रँगरेज और होटल आदि सम्बन्धी व्यवसाय।

इस विभाजन के आधार पर ब्रिटिश लेबर पार्टी धीरे-धीरे राष्ट्र के व्यवसायों के संचालन की प्रणाली बदलना चाहती है। गत दो लेबर सरकारों ने बैंक, खान, फौलाद के कारखानों और चिकित्सा-सेवा का धीरे-धीरे राष्ट्रीकरण संसदीय नीति द्वारा किया था। इन व्यवसायों को व्यक्तिगत क्षेत्रों से हटा दिया गया।

पूँजीपतियों के सम्बन्ध में जनतंत्रीय समाजवाद की क्या नीति है? एक व्यवसाय के राष्ट्रीकरण पर उस व्यवसाय से सम्बद्ध पूँजीपतियों से कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए? मजदूर दल की सरकार इन पूँजीपतियों को मुआवजा देने के पक्ष में है। मुआवजा-प्रथा की अनुपस्थिति में कुछ पूँजीपतियों के प्रति अन्याय सम्भव है। मान लीजिये कि एक व्यवसाय का राष्ट्रीकरण १९५० में हुआ और दूसरे का १९५२ में। यदि मुआवजा न दिया जाय तो प्रथम व्यवसाय सम्बन्धी पूँजीपतियों के प्रति अन्याय होगा। क्योंकि उनके वैयक्तिक अधिकार का अन्त १९५० में हुआ, जब कि दूसरे व्यवसाय के

पूँजीपतियों के वैयक्तिक अधिकार का अन्त १९५२ में। एटली ने १९३४ में कहा था कि हमें सारी जनता को अपने साथ रखना है और जनता ऐसे अन्याय को सहन नहीं कर सकती। इस दृष्टिकोण से मुआवजा देना आवश्यक है।

राष्ट्रीकरण के पश्चात् व्यवसायों का संचालन किस विधि से होना चाहिए? राष्ट्रीकरण के कई रूप हो सकते हैं। समष्टिवादियों के अनुसार ब्रिटेन में कई जन-सेवा-योजनाओं (Public Utility Services) का संगठन भिन्न-भिन्न प्रकार से राष्ट्र द्वारा किया जाता है। इस परम्परा के अनुसार मजदूर सरकार ने जिन व्यवसायों का राष्ट्रीकरण किया उनका संगठन एक ही साँचे में नहीं ढाला। इस राष्ट्रीकरण द्वारा इन व्यवसायों का ध्येय अब समाज-सेवा बना, व्यक्ति-विशेष का लाभ नहीं। इन व्यवसायों में काम करने वाले श्रमिकों की दशा में पर्याप्त सुधार हुआ। संसद के परोक्ष नियंत्रण से इनके संचालन को जनवादी पुट मिला।

समष्टिवादियों द्वारा सहकारी समितियों को अधिकाधिक प्रोत्साहन प्राप्त होता है। नार्वे, डेनमार्क और स्वीडन की सहकारी समितियाँ आदर्श मानी जाती हैं। ब्रिटेन में भी ऐसी समितियों की निरन्तर प्रगति होती आयी है। मजदूर सरकारों ने इन समितियों को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया।

अतः जनतंत्रीय समाजवाद राष्ट्रीय अर्थ का शनैः शनैः समाजीकरण करने के पक्ष में है। वह व्यक्तिगत लाभ की प्रथा का अन्त करते हुए जनता और मजदूरों की दशा सुधारना चाहता है। बेरोजगारी का अन्त करना उसका प्रमुख लक्ष्य है। बेरोजगारी अप्रिय और लादी हुई निष्क्रिय स्थिति है। इसका अन्त समाज की प्रगति के हेतु नितान्त आवश्यक है। यह केवल समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है, पूँजीवाद में नहीं।

मार्क्सवाद और समष्टिवाद :— मार्क्सवाद और समष्टिवाद में अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से पर्याप्त भेद हैं। मार्क्सवादियों के अनुसार क्रान्ति के पश्चात् देश के सभी बड़े उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीकरण तत्काल और बिना किसी मुआवजे के किया जाना चाहिए। समष्टिवाद मुआवजा देकर धीरे-धीरे राष्ट्रीकरण करने की नीति अपनाता है। मार्क्सवादी वेत्ता "श्रमजन्य-मूल्य-सिद्धान्त" के समर्थक हैं। प्रायः सभी प्रमुख समष्टिवादी अर्थशास्त्र-वेत्ता फेबियनों की "सामाजिक-परिस्थिति-जन्य सिद्धान्त" के अनुगामी हैं। जहाँ एक मार्क्सवादी व्यवसायों पर श्रमिक तथा कृषक का एकाधिकार राज्य द्वारा स्थापित करना चाहता है, वहाँ एक समष्टिवादी राज्य द्वारा समाज के एकाधिकार के पक्ष में है।

राजनीतिक कार्यक्रम

सिडनी वेब का कहना था कि समाजवाद की स्थापना धीरे-धीरे होती जा रही है। राष्ट्र धीरे-धीरे समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। आर्थिक तथा सामाजिक जीवन सम्बन्धी कानून बनते जा रहे हैं। पुराने व्यक्तिवाद का अज्ञात रूप से परित्याग हो रहा है। एनी बेसेन्ट का कहना था कि ऐसा कोई बिन्दु कदापि निश्चित नहीं किया जा सकता जहाँ कोई राज्य या समाज व्यक्तिवाद को पार करके समष्टिवादी हो जाय। यह प्रगति तो शनैः शनैः होती है। एक ही दिन में राज्य का रूप व्यक्तिवादी से समष्टिवादी में परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

फेबियनों ने सदा इस बात पर जोर दिया था कि ब्रिटेन धीरे-धीरे जनवाद की ओर बढ़ रहा है। इस सम्बन्ध में वे एवं आधुनिक समष्टिवादी १८३२, १८६७, १९१८ और १९२८ के सुधार-कानूनों का उद्धरण देते हैं। इसी आधार पर उनका कहना है कि राष्ट्र के अर्थ का भी जनतंत्रीय रूप होना आवश्यक है। अर्थ के जनवादी होने का अभिप्राय है व्यवसायों का समाजीकरण या राष्ट्रीकरण। राजनीतिक प्रगति के साथ-साथ आर्थिक प्रगति का होना न्यायसंगत ही नहीं वरन् आवश्यक भी है।

सावयव का सिद्धान्त :—फेबियनवादी सावयव के सिद्धान्त के समर्थक थे। मैकडानल्ड, जो कई वर्षों तक लेबर पार्टी का नेता और प्रमुख विचारक रहा, राज्य तथा समाज को सावयव की भाँति मानता था। सावयव और उसके अंगों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है, एक दूसरे का सुख और विकास अन्योन्याश्रित है। इसी प्रकार समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध भी है। यदि समाज सम्पन्न और प्रगतिशील है तो व्यक्ति भी सुखी होंगे। यदि व्यक्ति सुखी हैं तो समाज भी सम्पन्न होगा। समाज या राज्य के समाजवादी संगठन द्वारा ही नागरिक की नैतिक एवं बौद्धिक प्रगति सम्भव हो सकती है। नागरिक की ऐसी उन्नति द्वारा ही समाज भी प्रगति की ओर अग्रसर होगा।

आदर्श राज्य वह है जिसमें रूसो की "सामान्य इच्छा" ही सत्ताधारी हो। यह "सामान्य इच्छा" नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। नागरिकों की इच्छा तभी सामाजिक हो सकती है जब वे शिक्षित हों। उनकी शिक्षा के लिए जनवाद और समाजवाद नितान्त आवश्यक है। रूसो का राज्य और उसकी "सामान्य इच्छा" सावयव की एकता के प्रतीक थे। मैकडानल्ड ने बताया कि ऐसा

आदर्श राज्य और "सामान्य इच्छा" समष्टिवादी व्यवस्था द्वारा ही सम्भव हो सकती है। ये दोनों प्रथायें अन्योन्याश्रित हैं।

इस विचारधारा से सम्बन्धित यह धारणा है कि राज्य एक वर्ग-सहयोगी संस्था है। सावयव के अंग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, उनमें पारस्परिक सहयोग होता है। समाज के भिन्न-भिन्न अंग भी अन्योन्याश्रित हैं, उनमें पारस्परिक सहयोग स्वाभाविक है। हाँ, पूँजीपति और श्रमिक में वर्गभेद तो अवश्य होता है परन्तु समाज-हित की दृष्टि से उनका पारस्परिक सहयोग नितान्त आवश्यक है। सावयव रूपी समाज का हित तभी सम्भव है जब सब सदस्य सुखी और सम्पन्न हों। इस दृष्टि से पूँजीपति का धन सीमित होना चाहिए और श्रमिकों की आर्थिक तथा सामाजिक दशा सुधरनी चाहिए। ऐसी सुव्यवस्था केवल राज्य द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इसलिए राज्य का समाज-सेवक होना नितान्त आवश्यक है। आर्थिक तथा सामाजिक जीवन का संचालन राज्य द्वारा होना चहिए।

फेवियनवादी विचारधारा :—परन्तु क्या फेवियनवादी तथा समष्टिवादी १९वीं सदी के अर्द्ध-जनवादी ब्रिटिश राज्य और स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक और सामाजिक संचालन के योग्य समझते थे? नहीं। व्यवसाय के समाजीकरण या केन्द्रीकरण के साथ-साथ राज्य का जनतंत्रीय होना नितान्त आवश्यक समझा जाता है। देश की आर्थिक एवं सामाजिक सम्पत्ति अर्द्ध-प्रजातंत्रीय राज्य के हाथों नहीं सौंपी जा सकती। यदि राज्य की सत्ता थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में होगी तो व्यवसाय के राष्ट्रीकरण से केवल ये थोड़े से व्यक्ति ही लाभ उठायेंगे। समस्त समाज को राष्ट्रीकरण से तभी लाभ हो सकता है जब राज्य की सत्ता जनता के हाथों में हो। बर्नार्ड शॉ के कथनानुसार फेवियनवाद का ध्येय था कि राष्ट्र धीरे-धीरे जनतंत्र की ओर प्रगति करे।

समय-समय पर फेवियनों ने राज्य सम्बन्धी सुधार योजनायें बनाईं। सबसे प्राचीन योजना 'शॉ' की थी (१८८९)। इस सुधार-योजना के मुख्य उद्देश्य थे—वयस्क-मताधिकार की स्थापना, लार्ड सभा (House of Lords) का सुधार, उम्मीदवारों का राज्य द्वारा निर्वाचन सम्बन्धी प्रचार-व्यय, प्रतिनिधियों को राज्य-कोष द्वारा वेतन और संसद का वार्षिक निर्वाचन आदि। राज्य के जनतंत्रीय होने के लिए केवल केन्द्रीय सरकार में सुधार पर्याप्त नहीं है। स्थानीय संस्थाओं का सुधार भी परमावश्यक है। फेवियनवादी विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे। स्थानीय संस्थाओं द्वारा नागरिक को जनतांत्रिक एवं राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होगी। तभी जनता का सक्रिय सहयोग सम्भव

है और जनसत्ता का वास्तवीकरण भी। शासन की दृष्टि से स्थानीय संस्थाओं के कार्यक्षेत्र की वृद्धि कार्यकुशलता में सहायक होगी।

पूँजीवाद और साम्राज्यवाद :—मार्क्सवादी और अन्य समाजवादी "श्रम-सिद्धान्त" के समर्थक हैं। इनके विपरीत समष्टिवादी "परिस्थिति-जन्य-सिद्धान्त" के अनुयायी हैं। मार्क्सवादी, अराजकतावादी तथा संघवादी क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं। समष्टिवादी शनैः शनैः सुधार द्वारा पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तित करना चाहते हैं। अन्य समाजवादियों की भाँति समष्टिवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि पूँजीवाद का अर्थ है दुःख, दरिद्रता, बेरोजगारी, युद्ध तथा महायुद्ध आदि। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि पूँजीवाद अवनति की ओर जा रहा है। परन्तु जहाँ अन्य समाजवादी पूँजीवादी अर्थ-संकट पर जोर देते हैं, समष्टिवादी सुधार-योजनाओं में लीन रहते हैं।

मार्क्सवादी साम्राज्यवाद का अन्त करना चाहते हैं। उनका कहना है कि साम्राज्यवाद मरणोन्मुख पूँजीवाद का प्रतीक है। वे औपनिवेशिक देशों की स्वतंत्रता के समर्थक हैं। समष्टिवादी राष्ट्रमंडल के अनुगामी हैं। वे साम्राज्य को राष्ट्रमंडल में परिवर्तित करना चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण ऐसा है। साम्राज्य के पिछड़े हुए देशों में जनता की आर्थिक दशा सुधारी जानी चाहिए। वहाँ औद्योगिक विकास परमावश्यक है। जनता की राजनीतिक चेतना की वृद्धि पर भी ध्यान देना चाहिए। इस हेतु शासन का धीरे-धीरे संसदीय रूप में परिवर्तित होना आवश्यक है। इससे जनता को संसदीय जनतंत्र के संचालन का ज्ञान प्राप्त होगा। इसकी पूर्ति के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की क्रमशः स्थापना आवश्यक है। इसी नीति के अनुसार ब्रिटेन की लेबर सरकार ने अन्य औपनिवेशिक देशों में धारासभाओं को कुछ हद तक प्रजातंत्रीय रूप दिया। समष्टिवादियों के मतानुसार जब एक औपनिवेशिक देश के नागरिकों में पर्याप्त जागृति हो जाय तब वहाँ के निवासियों को औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाना चाहिए। भारतवर्ष, पाकिस्तान, बर्मा और लंका इस नीति के प्रतीक हैं।

अतः समष्टिवादी साम्राज्य के अन्त करने के पक्ष में नहीं हैं। वे साम्राज्य को राष्ट्रमंडल का रूप देना चाहते हैं। राष्ट्रमंडल के पक्ष में स्टैफर्ड क्रिप्स ने १९४३ में निम्न विचार प्रगट किये थे :—

(१) राष्ट्रमंडल एक विकासशील सजीव संस्था है। इसका कोई लिखित विधान नहीं है। इसके अंग सदा और सब प्रकार से प्रगति करते आये हैं। यह एक अनोखी

हैं। ब्रिटेन की लेबर पार्टी की योजनाओं से विदित हो जायगा कि परम्परागत ढाँचे को रखते हुए भी किस प्रकार जनतंत्रात्मक समाजवाद एक प्रजातंत्रीय राज्य का निर्माण करना चाहता है। ब्रिटेन का श्रमिक दल राजा और लार्ड सभा को सुरक्षित रखते हुए भी जनवादी योजना प्रस्तुत करता है।

राजा (Crown) :—नार्वे, स्वीडन, हालैंड, बेल्जियम और डेनमार्क की समाजवादी पार्टियों की भाँति ब्रिटेन का श्रमिक दल राजतंत्र का अन्त नहीं करना चाहता। सम्राट को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक माना जाता है। प्रायः सभी श्रमिक दल के वेत्ताओं का कहना है कि आंग्ल सम्राटों ने स्टुअर्ट काल के पश्चात् कभी भी जनमत का विरोध नहीं किया। ये नरेश सदा ही जनमत का सम्मान करते आये हैं। आज राजा ने अपने को प्रजातंत्रीय धाराओं के अनुकूल बना लिया है। जार्ज लैंसबरी, एटली, डाल्टन आदि नेताओं की कृतियाँ उक्त विचारधारा की साक्षी हैं।

लेबर पार्टी का ध्येय राजतंत्र को जनवादी बनाना है। सम्राट के इर्द-गिर्द रूढ़िवादी सज्जन न रहें। राजा का सम्पर्क जनतंत्र-प्रेमियों से पर्याप्त मात्रा में होना चाहिये। राजा का अधिक व्यय भी आवश्यक नहीं। प्रोफेसर फ्लूगल (Professor Flugal) का कहना है कि ब्रिटेन में दो "पितृ तुल्य-व्यक्ति" (Father Figures) हैं—राजा और प्रधान मंत्री। समय-समय पर जनता सरकार के विरुद्ध विचार व्यक्त करती है। वह मंत्रिमंडल तथा प्रधान मंत्री की आलोचना करती है, किन्तु राजा एवं राज-कुटुम्ब को सर्वदा प्रेम-पूर्ण दृष्टि से देखती आयी है। जनता की राजभक्ति दृढ़तर रहती है। यही नहीं, राजा देश एवं साम्राज्य की एकता का भी प्रतीक है।

लार्ड सभा (House of Lords) :—कई वर्षों से जनतंत्र प्रेमी बड़ी धारा-सभा के सुधार सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करते आये हैं। जनतंत्रात्मक समाजवादी इस सुधार-आन्दोलन के अगुवा रहे हैं। लार्ड सभा प्रजातंत्र के लिये कलंक स्वरूप मानी जाती है। यह भवन प्रतिक्रियावादियों का गढ़ रहा है। इसे व्यर्थ एवं निकम्मी संस्था माना जाता है; इसकी तुलना अजायबघर से भी की जाती है। समाजवादियों ने इसके सुधार के सम्बन्ध में कई योजनायें बनायीं। वामपक्षियों का मत है कि आधुनिक लार्ड सभा का अन्त करना उचित है; परन्तु लेबर पार्टी ऐसी बड़ी धारा-सभा के पक्ष में है जो जनतंत्रीय छोटी धारा-सभा के मार्ग में बाधक न हो। लेबर सरकार ने एक कानून बनाया (१९४९) जिसके अनुसार लार्ड सभा एक सार्वजनिक विधेयक को (Public Bill), जिसको छोटी धारा सभा स्वीकार कर चुकी हो, नियम बनने से केवल एक वर्ष तक रोक सकती है।

(पहले यह अवधि दो वर्ष की थी।)

छोटी धारा-सभा (House of Commons) :—ब्रिटेन में संसद ही सत्ताधारी संस्था मानी जाती है। वास्तव में छोटी धारा-सभा ही जो जनता की प्रतिनिधि सभा है, सत्ताधारी है। ब्रिटेन के संसदीय जनवाद का सार है कि कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी है। आज वास्तव में कार्यपालिका सत्ताधारी बन गयी है। सभी जनवादी इस अप्रजातंत्रीय व्यवस्था का अन्त करना चाहते हैं। वे सुधार द्वारा संसद की सत्ता का पुनरुत्थान करना चाहते हैं। उनका कहना है कि १९वीं सदी के व्यक्तिवादी राज्य की संसदीय कार्य-पद्धति आज पर्याप्त नहीं है। २०वीं सदी के समाज-सेवक-राज्य के कार्य बहुत बढ़ गये हैं। फलतः पुरानी पद्धति अपर्याप्त हो गयी है।

समाजवादियों ने इस सम्बन्ध में कई सुधार योजनायें बनाईं। १९२० में वेब ने व्यावसायिक विकेन्द्रीकरण द्वारा केन्द्रीय संसद का भार कम करने के लिए एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना को लेबर पार्टी ने नहीं अपनाया। अन्य योजनायें भी प्रस्तुत की गई थीं। संसदीय सत्ता के पुनरुत्थान के लिए कमेटियों (आयोगों) की संख्या में वृद्धि आवश्यक मानी जाती है। राज्य के कार्यों की वृद्धि के फलस्वरुप आज संसद कार्यपालिका पर नियंत्रण नहीं रख सकती। कमेटियों की संख्या की वृद्धि से यह नियंत्रण सम्भव हो सकता है। इसी दृष्टिकोण से लेबर सरकार ने कमेटियों की संख्या कुछ बढ़ा दी। अतः जनतंत्रीय समाजवादी कार्यपालिका को संसद के अधीन बनाना चाहते हैं।

अन्य सुधार :—लेबर पार्टी अन्य राजनीतिक सुधार भी करना चाहती है। प्रत्येक योग्य पुरुष को प्रतियोगिता द्वारा सरकारी पदों को प्राप्त करने की सुविधा होनी चाहिये। निर्वाचन प्रणाली को अधिक जनवादी बनाने का श्रेय लेबर पार्टी को ही है। अब कोई भी उम्मीदवार निर्वाचन में मनमाने तरीके से अति व्यय नहीं कर सकता। लेबर पार्टी समाचार-पत्र आदि प्रचार यंत्रों को भी प्रजातंत्रीय बनाना चाहती है। वह जनमत के जनवादी संगठन के पक्ष में है। इस सम्बन्ध में यह बताना पर्याप्त होगा कि लेबर पार्टी और उसकी सरकार जनता से परामर्श एवं सहयोग करने का प्रयत्न करती रही है। टामी डगलस (Tommy Douglas) के उस कथन पर समाजवादी पूरा विश्वास करते हैं जिसका तथ्य है कि आप एक अच्छे समाजवादी को अच्छा इंजीनियर नहीं बना सकते अपितु एक अच्छे इंजीनियर को अच्छा समाजवादी बना सकते हैं। इसीलिए समाजवादी संसदीय सदस्य जनता के साथ अपना सम्बन्ध घनिष्ट बनाये रखते हैं।

लास्की का कहना था कि जनतंत्र को जनतंत्रीय बनाना चाहिये। समाज और

राज्य की सभी संस्थाओं में जनता का अधिकाधिक सहयोग होना चाहिये। पुराने जनतंत्रीय ढांचे को जनतंत्रीय बनाने के लिए जनमत का जागरण आवश्यक है। इस जागरण के लिये केवल सरकारी ढांचे में सुधार पर्याप्त नहीं है प्रत्युत प्रचार के सभी यंत्रों (प्रेस, रेडियो आदि) का स्वतंत्र तथा जनतंत्रीय होना नितान्त आवश्यक है। अन्य व्यावसायिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक संघों के स्वतंत्र अस्तित्व के वातावरण में ही वास्तविक जनतंत्र सम्भव हो सकता है। सामाजिक तथा आर्थिक निश्चिन्तता की परिस्थिति में राजनीतिक जनवाद दृढ़ बनता है।

स्वतंत्रता :—व्यक्तिवाद ने वैयक्तिक स्वतंत्रता को सर्वोच्च स्थान दिया था। समष्टिवादी भी ऐसी स्वतंत्रता को मानव प्रगति के लिए आवश्यक मानते हैं। परन्तु जहाँ व्यक्तिवादी कहते थे कि व्यक्ति की नकारात्मक स्वतंत्रता "यद्भाव्यम् नीति" के वातावरण में ही सम्भव हो सकती है, समष्टिवादियों की धारणा है कि स्वतंत्रता केवल समाज-सेवक राज्य में ही सम्भव है। राज्य को सभी सामाजिक तथा आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप करना चाहिये। तभी नागरिक शोषण और दबाव से मुक्त हो सकेगा। तभी वह अपने विचार स्वतंत्रता से प्रगट कर सकेगा तथा मतदान की स्वतंत्रता को कार्यान्वित भी। न्याय ही स्वतंत्रता का आधार है। न्याय का अर्थ है—आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक न्याय। इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक होगा कि साम्यवादियों के विपरीत समष्टिवादी सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर राज्य के सैनिक नियंत्रण के विरोधी हैं। क्योंकि ऐसा सैनिक नियंत्रण और वैयक्तिक स्वातंत्र्य विरोधात्मक हैं।

सारांश

आधुनिक समष्टिवाद के मूल स्रोत फेवियनवाद और संशोधनवाद हैं। द्वितीय या समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय के दल इस दर्शन के समर्थक हैं। इसको समाजवादी जनतंत्र, जनतंत्रीय समाजवाद, सुधारवादी समाजवाद या विकासवादी समाजवाद भी कहते हैं। ब्रिटिश लेवर पार्टी इस विचारधारा की प्रतीक है।

मार्क्स की अपेक्षा मिल ही फेवियनों के दर्शन का उद्गम है (वार्कर)। इन्होंने ब्रिटेन में मार्क्स से वच कर एक सुधार-मूलक समाजवादी दर्शन का निर्माण किया था (ग्रे)। उन्होंने ब्रिटिश व्यक्तिवादी परम्परा के आधार पर एक सम्माननीय तथा सुधारवादी समाजवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की। उनका लक्ष्य समाजवाद वनाना था, समाजवादी नहीं (पीज)। आज ब्रिटिश मजदूर दल का दर्शन फेवियनवाद का रूपान्तर है। वर्नस्टाइन (१८५०—१९३२) ने मार्क्सवाद का संशोधन करते हुए वताया कि समाजवाद की स्थापना संसदीय नीति द्वारा सम्भव है। यूरोप के समाजवादी दलों और दर्शन पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

मार्क्सवाद के विपरीत समष्टिवाद एक सुधारवादी दर्शन है। वह कट्टर विधानवाद का समर्थक है। क्योंकि व्यक्ति विवेकशील है, इसलिए निर्वाचक समाजवादी दल के पक्ष में मतदान करेंगे। वस, निरन्तर प्रचार द्वारा इतना वताना पर्याप्त है कि केवल समाजवादी व्यवस्था में ही आधुनिक कुरीतियों का अन्त हो सकेगा। निर्वाचन-सफलता के पश्चात् समाजवादी सरकार वनेगी। यह सरकार शनैः-शनैः पूँजीवादी व्यवस्था को समाजवाद में परिवर्तित करेगी। अतः, जैसा मैकडानल्ड ने कहा था, समाजवाद अवश्यम्भावी है। संसदीय नीति, शनैःशनैःवाद तथा सुधारवाद ही समष्टिवादियों की सामान्य विशेषतायें हैं। अन्य विषयों में उनमें मतैक्य अनिवार्य नहीं माना जाता। इसीलिए समष्टिवादी दल का संगठन संघवादी होता है। संगठन की एकता पर तो अवश्य जोर दिया जाता है; किन्तु मार्क्सवादियों के विपरीत दार्शनिक एकता पर नहीं।

अन्य समाजवादियों के विपरीत, "सामाजिक परिस्थिति-जन्य-सिद्धान्त" का समर्थन करते हुए समष्टिवादी कहता है कि सामन्तों तथा पूँजीपतियों के अनुपार्जित लाभ को राज्य द्वारा समाजहित के लिये प्रयोग में लाना चाहिये। अन्य समाजवादियों की भाँति वह भी परोपजीवी पूँजीवाद का अन्त करना चाहता है। परन्तु इस कार्य में वह न तो शीघ्रता ही करना चाहता है और न हाथ पर हाथ रख कर वैठ रहना ही।

एक राष्ट्र के व्यवसाय तीन प्रकार के माने जाते हैं—(१) जिनका राष्ट्रीकरण तुरन्त हो सकता है (अधिकोष, खान, इस्पात, विद्युत, यातायात आदि); (२) जो अभी समाजीकरण के लिये परिपक्व नहीं हैं (साबुन, तेल, वस्त्र आदि); (३) जिनका व्यक्तिगत संचालन ही उपयुक्त होगा (नाई, बढ़ई, होटल आदि)। इस आधार पर समष्टिवादी धीरे-धीरे प्रथम और द्वितीय प्रकार के व्यवसायों का समाजीकरण आवश्यक और न्यायसंगत मानते हैं। शनैःशनैःवादी नीति अनुभव की दृष्टि से अत्यधिक हितकर है। पूँजीपतियों को मुआवजा मिलना चाहिये ; क्योंकि, एटली के मतानुसार, जनता अन्याय सहन नहीं कर सकती। समष्टिवादी सदा जनमत तथा निर्वाचन की ओर आँख लगाये रहने हैं। डाक्टर डाल्टन का कहना है कि पूँजीवाद और समाजवाद में गुणात्मक नहीं वरन् मात्रात्मक भेद है। समष्टिवाद का लक्ष्य यह है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिगत क्षेत्र धीरे-धीरे कम हो और सामाजिक क्षेत्र बढ़े।

फेबियनवादी परम्परानुकूल समष्टिवादियों की धारणा है कि राष्ट्रीकरण केवल जनवादी व्यवस्था में ही पूरे समाज के लिये हितकर हो सकता है। इसलिए आधुनिक जनवाद को अधिक जनवादी रूप देना चाहिये। इस दृष्टि से परम्परागत संस्थाओं में जनतंत्रीय सुधार परमावश्यक हैं। नार्वे, स्वीडेन, हालैंड, बेल्जियम और डेन्मार्क की भाँति ब्रिटिश लेबर पार्टी राजतंत्र को उपयुक्त सुधारों (कम व्यय, जनतंत्र-प्रेमी दरबारियों की नियुक्ति आदि) द्वारा जनतंत्रीय बनाना चाहती है। बड़ी धारा-सभा को जनवादी रूप देना चाहिये। छोटी धारा-सभा की सत्ता का वास्तवीकरण जनवाद के लिए नितान्त आवश्यक है। यह कमेटियों की संख्या में वृद्धि से सम्भव है। तभी शासन पर संसदीय नियंत्रण हो सकेगा। अन्य सुधार (निर्वाचन, नियुक्ति, प्रचारयंत्र आदि) भी जनवाद की पुष्टि कर सकते हैं।

मार्क्सवादियों के विपरीत समष्टिवादी न तो राज्य को एक वर्गीय संस्था मानते हैं और न वर्ग-संघर्ष को समाज का आधार ही। राज्य एक सावयव की भाँति है। इसलिए नागरिक-हित और राज्य-हित अन्योन्याश्रित हैं। पूँजीपति और श्रमिक का सम्बन्ध वर्गीय है, परन्तु सामाजिक जीवन में वर्ग-सहयोग की भी प्रधानता होती है। व्यक्तिवादी परम्परानुसार समष्टिवादी भी वैयक्तिक स्वतंत्रता के पुजारी हैं। परन्तु व्यक्तिवाद के विपरीत उनकी धारणा है कि स्वतंत्रता केवल समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव हो सकती है।

मार्क्सवादियों के विपरीत, समष्टिवादी राष्ट्रमंडल के समर्थक हैं। शनैः-शनैः औपनिवेशिक देशों में आर्थिक तथा राजनीतिक प्रगति आवश्यक है। उपयुक्त समय

पर इन देशों में औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित होना चाहिये। क्रिप्स ने राष्ट्रमंडल को एक विकासशील, सजीव, प्रजातंत्रीय तथा परिवर्तनशील संस्था बताया था। यह संस्था विकेन्द्रीकरण एवं केन्द्रीकरण की प्रतीक है।

अतः समष्टिवाद एक मध्यम-मार्गीय दर्शन है। एक ओर वह पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीपतियों के एकाधिकार, व्यक्तिवाद और रूढ़िवाद का विरोधी है तो दूसरी ओर वह मार्क्सवाद, पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य, श्रमिक एकाधिकार, अधिनायकवाद और पूर्ण नवीन समाज का भी विरोधी है। डार्विन के मतानुसार वह पूँजीवादी दुनिया की वैयक्तिक स्वतंत्रता और साम्यवादी दुनिया की अर्थ-योजना का समन्वय करना चाहता है।

अष्टम अध्याय

संघवाद

(SYNDICALISM)

यह दर्शन फ्रांस की विशेष देन है। १९वीं सदी के अन्तिम भाग में इसका जन्म हुआ था। इसने मार्क्सवाद और अराजकतावाद के कुछ सिद्धान्तों को अपनाया और उन्हें नया रूप दिया। यह दर्शन समष्टिवाद विरोधी था। फ्रांस के अतिरिक्त इटली, स्पेन, अमेरिका आदि देशों में भी श्रमिक-आन्दोलन पर इस दर्शन का प्रभाव पड़ा।

कोकर (F. W. Cooker) के मतानुसार संघवाद एक विरोधात्मक दर्शन है। यह केवल पूँजीवादी अर्थ का ही विरोध नहीं करता, वरन् पूँजीवादी सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का भी। यह दर्शन राज्य-विरोधी, देशप्रेम-विरोधी, सैन्यवाद-विरोधी, संसद-विरोधी, राजनीतिक दल-विरोधी, मध्यमवर्ग-विरोधी और सोवियत-विरोधी है। समाजिक क्रान्ति के साथ-साथ यह समाजवाद में भी क्रान्ति करना चाहता है। इसीलिए इसके अनुयायी इसको एक नया समाजवादी दर्शन कहते हैं। उनका कहना है कि केवल यही दर्शन विशुद्ध श्रमिक-दर्शन है।

राज्य की दमनीय नीति :—फ्रांस की विशेष परिस्थितियों में इस दर्शन का जन्म हुआ था। १७८९ को ऐतिहासिक राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप फ्रांस की जनता में राजनीतिक चेतना व्यापक हुई। इसी चेतना के फलस्वरूप १९वीं सदी में तीन प्रसिद्ध मजदूर-क्रान्तियाँ (१८३०, १८४८ और १८७१ ई०) में हुईं। इधर तो वर्ग-चेतना व्यापक थी, उधर शासकवर्ग सदा ही इस चेतना का दमन करना चाहता था। उक्त क्रान्तियों के बाद पेरिस और अन्य नगरों में श्रमिकों के खून की नदियाँ बहायी गयीं। साथ ही साथ

सरकारों ने श्रमिकोद्धारक संघों की स्थापना को कई बार अवैध घोषित किया। १८७१ ई० के पश्चात् बीस से अधिक मनुष्य एक स्थान पर एकत्र नहीं हो सकते थे। स्वभावतः श्रमिकों और उनके नेताओं में राज्य के प्रति घृणा और विरोध की भावना उत्पन्न हुई।

राजनीतिक भ्रष्टाचार :–१९वीं सदी के अन्त में फ्रांस में कुछ भ्रष्टाचारपूर्ण राजनीतिक घटनाएँ हुईं। बोलैंजर घटना (Boulanger Episode) से फ्रांस की बुरी राजनीति का नग्न रूप सामने आया। बोलैंजर, जो एक जेनरल और संसदीय सदस्य था, जनता का अग्रदूत बना और दो-तीन बार अपनी भूल के कारण अधिनायक बनने में असफल रहा। ड्रेफुस अभियोग (Dreyfus Case) में प्रगतिशील नेताओं ने सैनिक अत्याचार का भंडाफोड़ किया। कहा जाता है कि सेना के एक यहूदी कप्तान ड्रेफुस पर झूठा अभियोग लगाया गया और उसे कोर्ट मार्शल की सजा दी गई। पनामा षड्यंत्र (Panama Scandal) से राजनीतिज्ञों के भ्रष्टाचार की पोल खुली। एक कम्पनी स्थापित की गई थी जिसका ध्येय पनामा-नहर बनाना था। कई नागरिकों ने कम्पनी के हिस्से खरीदे। बाद में कम्पनी दिवालिया करार दी गयी और हिस्सेदारों की पूँजी डूब गयी। इस षड्यंत्र में कुछ मंत्रिगणों और प्रायः एक तिहाई संसदीय सदस्यों का हाथ था। ग्रेवी-विल्सन घटना (Grevy-Wilson Episode) में वयोवृद्ध राष्ट्राध्यक्ष ग्रेवी पर भ्रष्टाचार का कलंक लगा। उसका अंग्रेज दामाद (विल्सन) नागरिकों से यह कह कर घूस लेता था कि वह कुछ धन राष्ट्राध्यक्ष को देकर उन्हें नौकरी, ठेका आदि दिला देगा। मुकदमे से ग्रेवी निर्दोष तो अवश्य साबित हुआ परन्तु राज्य की तो बदनामी हो ही गयी। इन सब घटनाओं को तत्कालीन लेखकों ने अपनी कृतियों में चित्रित किया। अनातोल फ्रांस (Anatole France), तेन (Taine) और (Zola) की कृतियों ने इन घटनाओं को जनसाधारण के सम्मुख रखा।

वर्ग-चेतनायुक्त श्रमिकों पर इन सब बातों का प्रभाव पड़ा। एक ओर तो राज्य उन्हें कुचलता था और दूसरी ओर वह उक्त घृणास्पद अनाचारों का अतिरेक प्रस्तुत करता था। राज्य के प्रति घृणा स्वाभाविक थी। श्रमिक सोचने लगे कि उनका उद्धार ऐसी भ्रष्टाचारपूर्ण संस्था द्वारा नहीं हो सकता। पूँजीवादी शोषण के साथ-साथ उन्हें ऐसी अनाचारी संस्था का भी अन्त करना होगा। परिणाम-स्वरूप वे पूर्णतया राज्य-विरोधी बने।

नेताओं का प्रतिक्रियावाद :—फ्रांस के श्रमिकों में संसद तथा राजनीति के प्रति घृणा केवल उक्त पनामा-कलंक के ही कारण नहीं उत्पन्न हुई थी वरन् कुछ श्रमिक

नेताओं के व्यवहार से भी। बीसवीं सदी में मिलरां (Millerand), ब्रियाँ (Briand) और विवियानी (Viviani) जैसे श्रमिक नेता संसद् के सदस्य बने। ये पहले क्रान्तिकारी थे, परन्तु संसद् में प्रवेश करने से सुधारवादी, प्रतिक्रियावादी एवं समझौतावादी बन गये। इससे श्रमिकों में राजनीतिक दल और धारा-सभा के प्रति भी घृणा पैदा हुई। वे सोचने लगे कि संसद् और राजनीतिक दलों से उनके क्रान्तिकारी उत्साह का ह्रास होता है।

बोर्ज तथा सी० जी० टी० :—ऊपर कहा गया है कि १९वीं सदी में फ्रांस में राज्य ने सदा ही श्रमिक आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया। कई बार श्रमिक संस्थाओं को अवैध घोषित किया गया। परन्तु श्रमिक चुप न रहे। उनकी राजनीतिक चेतना का अन्त असम्भव था। यह चेतना पर्याप्त मात्रा में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय से ही चली आ रही थी। ऐसे श्रमिकों को संगठित होने से नहीं रोका जा सकता था।

फलतः श्रमिकों ने वैधानिक प्रतिबन्धों के वातावरण में ऐसी मानवतावादी संस्थाओं की स्थापना की जिन्हें अवैध घोषित नहीं किया जा सकता था। ये संस्थाएँ बोर्ज (Bourse) के नाम से प्रसिद्ध थीं। १८८७ में पेरिस में एक बोर्ज की स्थापना हुई थी। इसकी सफलता से उत्साहित होकर अन्य नगरों में भी शीघ्र ही ऐसी संस्थाओं की स्थापना की गयी। पांच वर्ष बाद इन बोर्जों के एक राष्ट्रीय संघ का जन्म हुआ। इस संघ के मंत्री पेलोते (Ferdinand Pelloutier) ने बोर्ज के चार ध्येय बताये।

(१) परस्पर सहयोग :—बोर्ज एक धर्मशाला की भाँति था। एक श्रमिक मुसाफिर इसमें टिकता था। वहाँ उसे व्यवसाय, नौकरी आदि सम्बन्धी सूचना प्राप्त हो सकती थी। वह अन्य श्रमिकों के सम्पर्क में आता था।

(२) शिक्षा :—बोर्ज में पुस्तकालय भी होता था। श्रमिकों को व्यावसायिक और राजनीतिक शिक्षा की सुविधा मिलती थी।

(३) प्रचार :—परामर्श और पुस्तकों द्वारा श्रमिकों में संघवाद और वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी विषयों का प्रचार सम्भव था।

(४) प्रतिरोध :—इस प्रकार बोर्ज द्वारा श्रमिकों को प्रतिरोध के लिए प्रोत्साहन मिलता था। धर्मशाला को राजनीतिक कार्यक्रम का गढ़ बनाया गया।

अतः क्रान्तिकारी वर्ग-संघर्ष का प्रचार बोर्ज ऐसी मानवतावादी संस्था द्वारा किया जाता था। वैधानिक प्रतिबन्धों की पृष्ठभूमि में ऐसी संस्था का पनपना स्वाभाविक था। यह संस्था संघवादियों के भावी समाज का आदर्श बनी। संघवाद के अनुसार क्रान्ति के पश्चात् राज्यविहीन समाज में बोर्ज ऐसी संस्था द्वारा स्थानीय समस्याओं की पूर्ति होगी। संघवादी श्रमिकों ने सोचा कि जब बोर्ज द्वारा पूँजीवाद तथा राज्य का विरोध हो सकता है तो उसके आधार पर भविष्य के समाज का निर्माण भी सम्भव है। इस प्रकार बोर्ज का संघवादी संघर्ष, आन्दोलन एवं विचारधारा में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्रमिकों की एक दूसरी संस्था भी थी। यह सी० जी० टी० (C. G. T. या Confederation Generale du Travail) के नाम से सुप्रसिद्ध थी। यही संघवादियों की राष्ट्रीय संस्था थी। यह बोर्जों और व्यावसायिक संघों की प्रतिनिधि थी। सी० जी० टी० केवल संघवादी आन्दोलन की राष्ट्रीय संस्था ही न थी, वरन् आदर्श भावी समाज की केन्द्रीय संस्था भी।

दर्शन

यह स्वाभाविक था कि ऐसे वातावरण में फ्रांस का श्रमिक आन्दोलन पूर्णतया विरोधात्मक रूप ग्रहण करे। इस विरोधात्मक दर्शन को संघवादी दर्शन कहते हैं। क्योंकि वैधानिक दृष्टि से बीस से अधिक मनुष्य एक जगह पर एकत्र नहीं हो सकते थे; इसलिए वर्ग-चेतनापूर्ण फ्रांसीसी मजदूरों ने अपनी छोटी-छोटी अस्थायी समितियाँ बनायीं। इन संस्थाओं को सिन्डिकेट (Syndicate) कहते थे। इसी शब्द से सिन्डिकलिज्म (Syndicalism) या संघवाद बना है।

संघवादी नेता कार्य में अधिक विश्वास करते थे, दर्शन में कम। उनके भाषणों तथा लेखों द्वारा उनकी विचारधारा का पता लगता है। जैसा ऊपर कहा गया है, यह दर्शन राज्य-विरोधी, देशभक्ति-विरोधी, सैन्यवाद-विरोधी, राजनीतिक दल-विरोधी, संसद-विरोधी, मध्यमवर्ग-विरोधी और सोवियत-विरोधी था।

राज्य-विरोधी :—अराजकतावाद की भाँति यह दर्शन भी राज्य के अन्त का समर्थक है। भविष्य के संघवादी समाज में राज्य का कोई स्थान न होगा; क्योंकि :—

(१) राज्य सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत है। राज्य अद्वैतवादी है। वह वर्ग-सहयोग और समाज के प्रतिनिधित्व का दावा करता है। कहा जाता है कि राज्य एकता का प्रतीक है और "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व करता है। संघवाद के अनुसार यह सब ढोंग है; क्योंकि समाज बहुलवादी है। समाज में शासक और शोषित, लुटेरे और लूटे जानेवाले विद्यमान हैं। ऐसी परिस्थिति में वर्ग-सहयोग, एकता और "सामान्य इच्छा" कैसे सम्भव हो सकती है? संघवादी समाज के संगठन में राज्य जैसी अद्वैतवादी संस्था का कोई स्थान नहीं हो सकता। बहुलवादी समाज का संगठन बहुलवादी प्रणाली द्वारा होना चाहिये।

(२) राज्य एक मध्यमवर्गीय संस्था है। भविष्य का राज्य भी ऐसा ही होगा। उसके संचालक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी होते हैं और होंगे। वे श्रमिकों की समस्याओं और मांगों को न तो समझ सकते हैं, और न उनसे सहानुभूति ही रख सकते हैं। राज्य तो नौकरशाही के कन्धों पर चलता है। नौकरशाही की विशेषताएँ हैं संकुचित दृष्टिकोण, कागजी करामात, केन्द्रीकरण, दीर्घसूत्रता और अपरिवर्तनशीलता। ऐसी संस्था द्वारा भविष्य के संघवादी एवं क्रान्तिकारी समाज का निर्माण कैसे सम्भव हो सकता है?

(३) लेवीन (L. Levine) एक सुप्रसिद्ध संघवादी था। उसके मतानुसार राज्य बाहर से शासन करता है। धारा-सभा के मुट्ठी भर नौसिखुए सदस्य सभी समस्याओं के सम्बन्ध में नियम बनाते हैं। यही बाहर से शासन का अर्थ है। संघवादी केवल ऐसे ही शासन को आदर्श व्यवस्था मानते हैं जिसमें शासन आन्तरिक हो, अर्थात् जिस शासन में नागरिक स्वयं नियम-निर्माण करें। यही वास्तविक जनवाद है। संघवादियों की धारणा है कि ऐसी व्यवस्था में राज्य जैसी निरंकुश तथा दमनकारी संस्था का कोई स्थान न होगा।

देश-भक्ति-विरोधी:—जनता को बाल्यावस्था से ही अन्य संस्थाओं द्वारा पूंजीपति देश-प्रेम तथा देश-भक्ति का पाठ सिखाता है। संघवादियों के मतानुकूल 'हमारा देश' और 'हमारा राष्ट्र' की धारणा पूंजीपतियों का ढोंग है। वे मार्क्स के कथन 'श्रमिकों की कोई मातृभूमि नहीं होती' को पूर्णतः अपनाते हैं।

१९०७ की सी० जी० टी० की कांग्रेस में एक सदस्य ने कहा था कि मातृभूमि की भावना तो शोषण का एक सूत्र है। श्रमिकों के लिए परम्परा का बन्धन भ्रममात्र है। उनके लिए सामान्य, बौद्धिक और नैतिक परम्परा ढोंग है। उनका कोई

निवास स्थान नहीं है। जीविकोपार्जन का स्थान ही उनका घर है। भूखे, नंगे और पीड़ित श्रमिकों के लिए मातृभूमि की भावना खोखला आदर्श है। १६०५ की एक घटना से इस विरोधी भावना को अधिक पुष्टि मिली। उस वर्ष फ्रांस की पूर्वी सीमा पर एक श्रमिक हड़ताल को फ्रांसीसी और जर्मन सेनाओं द्वारा कुचल डाला गया था। इससे संघवादियों ने निष्कर्ष निकाला कि पूँजीपति अपने वर्गीय हित के लिए देश-बन्धुत्व का परित्याग कर परराष्ट्रीय सेनाओं द्वारा भी श्रमिकों को कुचलने में संकोच नहीं करता। ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों से राष्ट्र-प्रेम की आशा कैसे की जा सकती है?

सैन्यवाद-विरोधी:—लेवीन का कहना है कि संघवादी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के दृढ़ अनुयायी हैं। वे सोचते हैं कि शान्ति के वातावरण में उनके आन्दोलन की सफलता सरल है। विश्व-शान्ति उनके कार्यक्रम की सफलता के लिए नितान्त आवश्यक है। स्वभावतः वे सैन्यवाद-विरोधी हैं।

इस विरोध का एक दूसरा रूप भी है। कई अवसरों पर श्रमिक हड़तालों को सेना द्वारा भंग किया गया था। ऐसे दमन को रोकने के लिए संघवादियों ने सेना में प्रचार किया। सिपाहियों से कहा गया कि वे श्रमिकों के पुत्र हैं। सिपाही होने के पूर्व वे श्रमिक थे, या श्रमिक कुटुम्बों के सदस्य। अब अस्थायी रूप से उन्होंने फौजी वर्दी पहन ली है। सैनिक-नौकरी के बाद भी उन्हें फिर श्रमिक जीवन ही अपनाना पड़ेगा एवं श्रमिक कुटुम्ब की सदस्यता ग्रहण करनी पड़ेगी। इसलिए वास्तव में एक सिपाही श्रमिक है। सैनिक वर्दी उसके वर्ग को नहीं बदल सकती। ऐसे तर्क द्वारा सैनिकों से अनुरोध किया जाता था कि वे पूँजीपतियों के कहने पर अपने वर्गीय बन्धुओं पर हड़ताल के समय गोली न चलावें। उन्हें मजदूर-संघ की एकता की ओर आकर्षित किया जाता था। कभी-कभी संघवादी यह भी कहते थे कि श्रमिकों को युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए क्योंकि युद्ध तो पूँजीपतियों के हित के लिए लड़ा जाता है।

राजनीतिक दल-विरोधी:—साम्यवादियों का ध्येय था पूँजीवाद का निरन्तर विरोध। वे आर्थिक कार्यक्रम में विश्वास करते थे; राजनीतिक कार्यक्रम में नहीं। वे राजनीतिक दलों को अपनी ध्येय-पूर्ति का उपयुक्त साधन नहीं मानते थे।

एक राजनीतिक दल में भिन्न-भिन्न स्वार्थों या वर्गों के सदस्य होते हैं। एक समाजवादी पार्टी में पूँजीपति, मध्यमवर्गीय सदस्य, किसान तथा मजदूर होते हैं। इन सभी का अलग-अलग वर्गीय तथा सामाजिक स्वार्थ होता है। आधुनिक राजनीतिक

दल तो एक संघीय संगठन है, जिसमें भिन्न-भिन्न स्वार्थों का समावेश होता है। संघवादी तो अपने दर्शन को विशुद्ध श्रमिक दर्शन मानते थे। स्वभावतः वे राजनीतिक दल-ऐसी संघीय संस्था को अपनी ध्येय-पूर्ति के लिए लाभदायक नहीं समझते थे। उनके मतानुसार श्रमिकों का उद्धार केवल श्रमिकों द्वारा ही हो सकता है।

संघवादियों का विश्वास था कि श्रमिक संगठन के लिए राजनीतिक से आर्थिक यंत्र अधिक उपयोगी है। श्रमिक साथ-साथ हड़ताल करते हैं। उनका एकमात्र ध्येय है—पूँजीवाद का अन्त करना। हड़ताल का नारा दीजिये और सब मजदूर एकत्र हो जायँगे। यह विशेषता राजनीतिक कार्यक्रम में नहीं है। निर्वाचन में सब श्रमिक केवल एक ही दल को मतदान नहीं करते। इसलिए राजनीतिक दलों द्वारा श्रमिक संगठन दृढ़ तथा क्रान्तिकारी नहीं बन सकता। संघवादियों का कहना है कि मजदूर एक साथ हड़ताल करते हैं; भले ही वे चुनाव में एक साथ वोट न दें।

सन् १६०० की सी० जी० टी० की कांग्रेस में एक सदस्य ने कहा था कि 'सभी राजनीतिक धोखेबाज होते हैं।" दूसरे ने घोषित किया कि "राजनीति तो छल-कपट पूर्ण है"। फ्रांस के मजदूरों में वहाँ के श्रमिक नेताओं (मुख्यतः मिलरां, ब्रियां और विवियानी) के दृष्टान्तों से राजनीति के प्रति घृणा पैदा हो गयी थी। वे नेता क्रान्तिकारी थे परन्तु राजनीति में भाग लेकर और संसद में पहुँच कर सुधारवादी बन गये थे। ऐसे कायाकल्प का श्रेय राजनीतिक दलबन्दी को दिया जाता था।

संसद-विरोधीः—राजनीतिक दलों के विरोध के साथ-साथ संसद का विरोध भी सम्मिलित था। संघवादियों का कहना था कि संसद एक पूँजीवादी संस्था है। संसद का अर्थ है "समझौते एवं समन्वय द्वारा नियम-निर्माण तथा राज्य-संचालन करना।" संसद की विशेषता समझौतावादी तथा सुधारवादी है। इसलिए श्रमिक नेताओं को संसद की सदस्यता नहीं ग्रहण करनी चाहिए। कारण वे संसदीय समझौतावादी मनोवृत्ति के शिकार हो जायँगे और क्रान्तिकारी मार्ग का परित्याग कर देंगे। इस सम्बन्ध में मिलरां, ब्रियां और विवियानी के उदाहरण दिये जाते थे।

संसदीय प्रथा से स्वार्थी राजनीतिज्ञों का जन्म होता है। भले लोग भी भ्रष्टाचार में फंस जाते हैं। ऊपर बतायी हुई 'बोलेंजर घटना और पनामा षड्यंत्र इसके साक्षी हैं। फिर संसदीय प्रथा षड्यंत्रों का घर है। पूँजीपति की स्वार्थपरता, उसकी विचारधारा और उसके मिथ्याभिमान का प्रभाव संसद के श्रमिक सदस्यों

पर भी पड़ता है। ये सदस्य श्रमिक-हित को भूल जाते हैं और निजी स्वार्थ-पूर्ति के हेतु संसदीय दाव-पेंचों में लीन हो जाते हैं। वे क्रान्ति के मार्ग को त्याग देते हैं।

देखा जाता है कि संसद, जो पूँजीपतियों की संस्था है, स्वतः श्रमिकोद्धारक नियम नहीं बनाती। ऐसे नियम तभी बनते हैं जब श्रमिक-आन्दोलन से पूँजीपति और उसकी संसद को बाध्य किया जाता है। बिना भय के संसद कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं करती। ऐसी संस्था श्रमिकों के उद्धार के लिए कैसे उपयोगी हो सकती है? संसद पूँजीपतियों के हित के अनुकूल है। कहा जाता है कि राज्य "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व करता है। वास्तव में "सामान्य इच्छा" कल्पना-मात्र है। वर्गीय समाज में ऐसी इच्छा सम्भव नहीं। कहा जाता है कि संसदीय जनवाद का अर्थ है बहुसंख्यक का राज्य। वास्तव में पूँजीवादी संसदीय जनवाद में सत्ता अल्पसंख्यक पूँजीपतियों के हाथों में रहती है। फिर जनवादी मार्ग या समझौतावाद और क्रान्तिकारी मार्ग विरोधात्मक हैं। अस्तु जैसा मेकडानल्ड का कहना है संघवाद मुख्यतः समष्टिवाद-विरोधी है।

मध्यमवर्ग-विरोधी:—संघवादी की संस्थाओं में मध्यमवर्ग के लिए कोई स्थान नहीं है। वे इस वर्ग को बिल्कुल निकम्मा मानते हैं। यह वर्ग कभी भी पूँजीवाद-विरोधी विचारों और आन्दोलनों का जन्मदाता नहीं हो सकता। क्योंकि उसका पूँजीवाद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सोरेल (George Sorel), जिसके विषय में आगे बताया जायगा, मध्यमवर्ग को बौद्धिक-सर्वहारा कहता था। एक मध्यमवर्गीय सदस्य का राजनीति से केवल शौकिया लगाव है। वह केवल अपनी ख्याति-वृद्धि के लिए राजनीति में घुसता है। वह तो केवल नेतृत्व करना चाहता है। उसकी विचारधारा श्रमिकों के अनुकूल नहीं है। मजदूर संघों की सदस्यता ग्रहण करने पर भी वह अपनी पुरानी मध्यमवर्गीय मनोवृत्ति का परित्याग नहीं करता। यह मनोवृत्ति क्रान्तिकारी नहीं वरन् सुधारवादी है। इसलिए श्रमिक संस्थाओं में ऐसे सज्जनों को स्थान नहीं मिलना चाहिए।

सोवियत-विरोधी:—१९१७ की रूसी-क्रान्ति के फलस्वरूप सोवियत-राज्य की स्थापना हुई थी। इस व्यवस्था में पूँजीपतियों और सामन्तों का कोई स्थान न था। संघवादी इस नये राज्य की भी आलोचना करते थे। उनका कहना था कि सवियत-राज्य पूँजीवादी राज्यों से भिन्न तो अवश्य है, परन्तु उन राज्यों की भाँति वह

भी शक्ति के आधार पर संचालित होता है। वह राज्य है, भले ही वह श्रमिकों का हो। वहाँ नागरिकों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वहाँ सेना है, चाहे वह लाल सेना ही क्यों न हो। मेनहीम (Mouheim) ने १६२१ ई० में कहा था कि रूस में सर्वहारा का अधिनायकत्व नहीं है, वहाँ एक दल का प्रभुत्व है।

कार्यक्रम

इस प्रकार संघवादियों का ध्येय और दर्शन अन्य समाजवादी दलों से भिन्न था। उनका कार्यक्रम भी भिन्न था। वह विशुद्ध श्रमिक संघर्ष का पक्षपाती था। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय के सूत्र—मजदूरों की स्वतंत्रता मजदूरों द्वारा ही प्राप्त हो सकती है—का अनुकरण इस दर्शन का ध्येय था। जोड का कहना है कि संघवाद इस बात का दावा करता है कि केवल वही एक ऐसा समाजवादी दर्शन है जो मजदूरों की देन है। संघवादियों के कार्यक्रम में केवल आर्थिक संघर्ष का ही स्थान है।

संघवादियों के अनुसार पूँजीवाद का विरोध हर समय और हर स्थान पर होना चाहिये। वे गृह-युद्ध के पक्षपाती थे। सोरेल का कहना था कि भय ही पूँजीपति के दर्शन और जीवन का सार है। इसी आधार पर संघवादी कहते थे कि पूँजीपति को सदा ही भयभीत रखना चाहिए। तभी वह श्रमिकों को सुविधाएँ देगा। संघवादी निरन्तर संघर्ष और क्रान्ति के वातावरण के पक्षपाती थे। उनके कार्यक्रम में हड़ताल का प्रमुख स्थान था। परन्तु हड़ताल रोज नहीं हो सकती। इसलिए छापामार-युद्ध-प्रणाली का उपयोग किया जाना चाहिये।

छापामार-युद्ध-प्रणाली :—इस प्रणाली द्वारा पूँजीपतियों का निरन्तर विरोध किया जाता था। छापामार युद्ध का अर्थ था तोड़फोड़। यह बता देना उचित होगा कि संघवादी या कोई भी समाजवादी ऐसे तोड़फोड़ के पक्षपाती न थे जिनसे आम जनता को हानि पहुँचे। उनका लक्ष्य तो केवल पूँजीपति को हानि पहुँचाना था।

तोड़फोड़ के कई रूप थे। उनमें से एक केकैनी-नीति (CaCanny) के नाम से प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है अपर्याप्त वेतन के लिए अपर्याप्त कार्य। श्रम एक वस्तु-विशेष की भाँति है। बाजार में कई प्रकार के सेब मिलते हैं। यदि कोई मनुष्य एक रुपये सेर वाले सेब लेगा तो उसे खराब सेब मिलेंगे। यदि वह पाँच रुपये सेर वाले

सेब खरीदेगा तो उसे अच्छे सेब मिलेंगे। इसी प्रकार यदि पूँजीपति अधिक वेतन देगा तो श्रमिक अच्छा कार्य करेगा ; यदि वह कम वेतन देगा तो स्वतः श्रमिक खराब कार्य करेगा। आधुनिक समाज में श्रमिकों को कम वेतन दिया जाता है। इसलिए उन्हें कम और खराब काम करना चाहिये। जब मिल-मालिक या व्यवस्थापक उपस्थित न हो तो श्रमिक को कामचोरी की नीति अपनानी चाहिये। श्रमिक कामचोरी कितने ही प्रकार से कर सकता है।

संघवादियों का कहना था कि श्रमिकों को कुशलतापूर्वक पूँजीपतियों की वस्तुएँ बिगाड़ देनी चाहिये। एक दर्जी, जो पूँजीपति की सिलाई की कम्पनी में नौकर है, सरलता से एक सूट को खराब कर सकता है। एक दुकान का नौकर काम की वस्तुओं को इधर-उधर डाल सकता है। बजाज का नौकर थान लपेटते समय चुपके से तेजाब या पाउडर द्वारा थान के बीच के भाग को नष्ट कर सकता है। कृषि-क्षेत्रों में श्रमिक निकृष्ट धान बो सकते हैं और औजारों का ऐसा प्रयोग कर सकते हैं कि फसल नष्ट हो जाय। १६०६ ई० में एक नगर के नाइयों ने दुकान के साइनबोर्डों को तेजाब द्वारा नष्ट किया और इस प्रकार की तोड़फोड़ की नीति से वेतन-वृद्धि तथा काम के घंटों में कमी करवाने में सफलता प्राप्त की। पूँजीपति की दुकान पर जाकर ग्राहक को चुपके से वस्तु का लागत मूल्य बता देना और वस्तु की गुप्त बुराइयों को प्रकट कर देना भी तोड़फोड़ का एक ढंग है।

नियमों का पूर्णतः और अक्षरशः पालन करना भी तोड़फोड़ का ही एक रूप है। इससे कार्य में बाधा हो सकती है। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के रेल-मजदूरों ने कभी-कभी इस नीति का अनुकरण किया। साधारणतः जब गाड़ी देर (लेट) हो जाती है, तो गाड़ी के कर्मचारी दो स्टेशनों के बीच गाड़ी की गति को तेज कर देरी को कम कर देते हैं। परन्तु उक्त संघवादी रेल-मजदूरों ने ऐसा न किया। वे गाड़ी की गति को नहीं बढ़ाते थे, केवल नियमित गति से ही चलाते थे। नतीजा यह होता था कि गाड़ियाँ घंटों देर में पहुँचती थीं। रेल-मजदूर कभी-कभी फल जैसी वस्तुओं को गलत गाड़ी में रख देते थे। इससे जिन फलों को लखनऊ से सीधे कलकत्ते पहुँचना है, वे मद्रास होकर कलकत्ते पहुँचेंगे। फलतः वे फल कलकत्ते पहुँचने पर सड़ जायेंगे और सौदागर को हानि होगी।

हड़ताल :—हड़ताल का संघवादी कार्यक्रम में प्रमुख स्थान था। हड़ताल दो

मजदूर-क्रान्ति की दिशा में प्रथम प्रयत्न माना जाता है। यदि हड़ताल असफल भी होती है, तब भी वह अत्यन्त लाभदायक है। आज की पराजय कल की विजय का द्योतक है। हड़ताल द्वारा श्रमिकों का वर्गीय संघर्ष सुदृढ़ होता है। इनमें भ्रातृत्व तथा एकता की भावना पैदा और प्रबल होती है। श्रमिकों को अपनी त्रुटि का ज्ञान होता है। हड़ताल श्रमिक संघर्ष में एक पाठशाला का कार्य करती है। संघवादी गृह-युद्धों में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि राजनीति तो कूटनीति है, सीधी कार्यवाही ही शुद्ध है। इसलिए उनका नारा था "संघ में कोई राजनीति नहीं होनी चाहिये।" राजनीतिक कार्यक्रम व्यक्तिवादी होता है, जब कि हड़ताल समष्टिवादी। राजनीति में श्रमिकों का एक मत नहीं होता; हड़ताल में भ्रातृत्व की भावना व्यापक होती है। अन्य समाजवादी पहिले श्रमिकों की मांगों को पूंजीपति के सम्मुख रखते हैं और समझौते की बातचीत चलाते हैं। यदि कोई न्याय-संगत समझौता न हो सके तो वे हड़ताल की घोषणा करते हैं। परन्तु संघवादी पहले हड़ताल करते थे और तब समझौते की बातचीत। कारण यह है कि संघवादियों के अनुसार जब हड़ताल द्वारा पूंजीपति को भयभीत किया जायगा तब ही वह श्रमिकों की मांगों की पूर्ति करेगा।

हड़ताल की उपयोगिता के पक्ष में कई दृष्टान्त दिये जाते थे। हड़ताल द्वारा बेल्जियम (१८९३), स्वीडन (१९०२), रूस (१९०७) में प्रजातांत्रिक मताधिकार प्राप्त हुआ। १९२० ई० में वानकाप (Von Kupp) ने जर्मनी में बलपूर्वक अपना अधिनायकवाद स्थापित करना चाहा था। हड़ताल द्वारा ही श्रमिक इस षड्यंत्र का अन्त कर सके और जनवाद की रक्षा में सफल हुए। हड़ताल द्वारा ही १९२० में इंगलैंड के श्रमिकों ने सरकार को सोवियत रूस में सैनिक हस्तक्षेप करने से रोका था।

आम-हड़ताल :—हड़तालों की सर्वश्रेष्ठ उपयोगिता यह थी कि इनके द्वारा श्रमिक अपने अन्तिम युद्ध, अर्थात् आम हड़ताल, के लिए तैयार किये जा सकते हैं। एक समय ऐसा आयेगा कि जागरित श्रमिक देश भर में आम-हड़ताल करेंगे। इस आम-हड़ताल से पूंजीपतियों को पदच्युत किया जायेगा; पूंजीवाद का अन्त होगा और शोषणरहित समाज का जन्म होगा।

संघवादी आम-हड़ताल को ही क्रान्ति मानते थे। मार्क्स का कहना था कि सभी पिछली क्रान्तियां जागरित अल्पसंख्यकों द्वारा ही हुई थीं और भविष्य की क्रान्ति भी

ऐसे ही अल्पसंख्यकों द्वारा होगी। संघवादी इस विचार से सहमत थे। मार्क्स ने कहा था कि नये समाज के जन्म में क्रान्ति एक दाई का काम करती है। इसलिए क्रान्ति प्रगति की धात्री है। संघवादी इस विचार के भी अनुयायी थे। परन्तु जहाँ साम्यवादियों के अनुसार क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमिकों का राज्य पर आधिपत्य स्थापित होगा, संघवादियों की क्रान्ति द्वारा राज्य का अन्त किया जायेगा

सोरेल का दर्शन

जार्ज सोरेल एक इंजीनीयर और धनी व्यक्ति था। उसका संघवादी आन्दोलन में कोई सक्रिय भाग न था। परन्तु उसके दर्शन का प्रभाव संघवाद पर पर्याप्त पड़ा। उसके दर्शन में मार्क्स और वर्गसों (H. Bergson) के विचारों का मिश्रण है। लेवीन के मतानुकूल उसका दर्शन मार्क्स से आरम्भ होता है और वर्गसों पर अन्त।

सोरेल के अनुसार मार्क्सवाद इतिहास का दर्शन है, उसमें अर्थशास्त्र का स्थान गौण है। मार्क्स का वर्ग-संघर्ष ही मार्क्सवाद है। आधुनिक समाज में पूँजीपतियों और श्रमिकों में निरन्तर संघर्ष रहता है। पूँजीपति कभी भी स्वेच्छा से श्रमिकों की माँगों की पूर्ति नहीं करता। सोरेल का कहना था कि भय ही पूँजीपति के दर्शन का मूल तत्त्व है। भय ही उसके जीवन का सार है। इसलिए यदि श्रमिक अपनी आर्थिक दशा सुधारना चाहते हैं तो उन्हें पूँजीपति को निरन्तर भयभीत रखना चाहिये। भय के फलस्वरूप हो वह मजदूरों को माँगों की पूर्ति करेगा।

सोरेल ने उक्त वर्ग-संघर्ष को वर्गसोंवाद की पुट दी। वर्गसों के अनुसार व्यक्ति के कार्य, प्रेरणा पर आधृत होते हैं। हमें क्या करना चाहिये, यह प्रेरणा निर्धारित करती है। हमें कैसे एक कार्य करना चाहिये, यह विवेक द्वारा स्पष्ट होता है। सोरेल ने वर्गसों की इस विचारधारा को संघवादी आम-हड़ताल पर लागू किया। बस आम-हड़ताल के प्रति श्रमिकों की प्रेरणा जागरित करना पर्याप्त है। इस प्रेरणा से प्रभावित हो कर श्रमिक आम-हड़ताल करेंगे। यदि वे पूछें कि आम-हड़ताल के पश्चात् क्या होगा, तो संघवादी नेता उनसे केवल यह कहें कि आम-हड़ताल के पश्चात् शोषण का अन्त होगा और श्रमिक ही समाज के स्वामी होंगे। बस ऐसे स्वर्णयुग का आश्वासन नेट

पर्याप्त है। तर्क द्वारा उस स्वर्णयुग के संगठन आदि के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि व्यक्ति के कार्य तर्क से नहीं वरन् प्रेरणा से प्रभावित होते हैं।

सोरेल ने संघवादी आम-हड़ताल को सामाजिक अन्धश्रद्धा (social myth) का रूप दिया। उसने इस विचारधारा की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक दृष्टान्त दिये। ईसाई धर्म के आरम्भ में उस युग के शासकों ने ईसाइयों का दमन करना चाहा था। परन्तु वे इस दमन-कार्य में असफल हुए। क्योंकि आरम्भिक ईसाई एक अन्ध-श्रद्धा से प्रभावित होकर दमनकारियों का विरोध करते रहे। यह अन्ध-श्रद्धा थी 'ईसा का पुनर्जन्म'। उन ईसाइयों का अटूट विश्वास था कि ईसा का पुनर्जन्म होगा और दमनकारियों को 'न्याय की तिथि' पर ईश्वर द्वारा उचित दंड दिया जायेगा। इस अन्ध-श्रद्धा से प्रेरित हो कर अति प्राचीन ईसाइयों ने ईसाई धर्म का झंडा ऊँचा रखा। इसलिए आम-हड़ताल और भविष्य के श्रमिक-स्वर्णयुग को अन्ध-श्रद्धा का रूप देना चाहिये। जैसे जागरित अल्पसंख्यक ईसाइयों ने उक्त प्रेरणा से, प्रभावित होकर ईसाई धर्म को जीवित रखा था, उसी प्रकार आज जागरित, सशक्त और अल्पसंख्यक संघवादी भी आम हड़ताल रूपी अन्ध श्रद्धा के आधार पर एक नये समाज का निर्माण कर सकते हैं।

भविष्य के समाज के विषय में तर्क करना व्यर्थ है। क्योंकि बर्गसोंवाद के अनुसार प्रेरणा से ही व्यक्ति के कार्य निर्धारित होते हैं। सोरेल का कहना था कि क्रान्तिकारी कार्यक्रम के लिए एक आकर्षक नारा नितान्त आवश्यक है। इसलिए आम-हड़ताल को एक आकर्षक नारे का रूप देना चाहिये। इस सामाजिक अन्ध श्रद्धा या क्रान्तिकारी नारे की पृष्ठभूमि में संघवादी-क्रान्तिकारी अविचल रह सकेंगे और श्रमिकों को स्वर्णयुग की ओर अग्रसर कर सकेंगे। अतः सोरेल ने बर्गसों के प्रेरणा-सिद्धान्त को मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के साथ युक्त किया और संघवादी क्रान्तिकारी कार्यक्रम की दार्शनिक पुष्टि की।

वैसे तो सोरेल तोड़फोड़ के कार्यक्रम का विरोधी था। उसका कहना था कि श्रमिकों को नैतिकता की वृद्धि पर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि वे ही भावी समाज के निर्माता हैं। वह नैतिकता की दृष्टि से तोड़फोड़ के कार्यक्रम को न्यायसंगत नहीं मानता था। संघवादियों ने सोरेल के दर्शन के इस पहलू को नहीं अपनाया। उन्होंने केवल उसके सामाजिक अन्ध-श्रद्धा के सिद्धान्त को स्वीकार किया और आम हड़ताल को ऐसा ही रूप दिया।

भावी समाज

संघवादियों के पास क्रान्तिकारी कार्यक्रम था, आदर्श भावी-समाज की योजनाएँ नहीं। अराजकतावादियों के पास आदर्श भावी समाज की योजनाएँ थीं, क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं। इन दोनों समाजवादी दर्शनों का ध्येय एक ही था, अर्थात् पूँजीवाद और राज्य का अन्त करना। ध्येय की एकता के कारण इन दोनों दर्शनों के अनुयायियों ने श्रमिक आन्दोलन में साथ-साथ काम किया। इसलिए केवल उन्हीं संघवादियों ने भाविष्यकालीन समाज की रूपरेखा पर विचार प्रकट किया है जो पहले अराजकतावादी थे और फिर संघवादी बने। ऐसे संघवादियों में एक पेलोते नामक नवयुवक था। वह अराजकतावादी था। उसने अपने मृत्युकाल (१६०२) तक बोर्ज (Bourse du Travail) की सेवा की। वह इस संस्था का मंत्री था। उसने भविष्य के ढाँचे पर कुछ विचार प्रकट किये थे। उसके मतानुसार श्रमिक क्रान्ति का ध्येय है मनुष्य जाति को शासन से मुक्त करना और साथ ही साथ ऐसी संस्थाओं से भी जिनका उत्पादन से कोई सम्बन्ध नहीं है। भविष्य का समाज उत्पादकों का एक स्वेच्छात्मक एवं स्वतंत्र संघ होगा।

संघवादियों ने भविष्य के आदर्श समाज का चित्रण अपनी संस्थाओं (बोर्ज और सी० जी० टी०) के आधार पर किया था। बोर्ज एक स्थानीय संस्था थी जो शिक्षा, प्रचार तथा संघर्ष से सम्बन्धित थी। सी० जी० टी० एक राष्ट्रीय संस्था थी। भविष्य के संघवादी समाज में बोर्ज ही समाज की विभिन्न स्थानीय संस्थाओं का समन्वय करेगा। वह अर्थ सम्बन्धी आँकड़ों का एकत्रीकरण और वस्तुओं का वितरण करेगा। स्थानीय सभी विषयों का संचालन बोर्ज द्वारा होगा। सी० जी० टी० एक राष्ट्रीय संस्था होगी। वह राष्ट्र सम्बन्धी विषयों (रेल, तार, डाक, आदि) का संचालन करेगी। इस प्रकार बोर्ज और सी० जी० टी० केवल संघवादी क्रान्तिकारी संस्थाएँ ही न थी, वरन् भविष्य के समाज के लिए आदर्श भी। ऐसे संघवादी समाज में राज्य जैसी दमनीय संस्था का कोई स्थान नहीं होगा।

संघवादी आधुनिक समाज को आधुनिक कारखाने का प्रतिबिम्ब मानते थे। आधुनिक कारखाने में शोषण ही सामाजिक सम्बन्ध का आधार है। कारखाने के स्वामियों और श्रमिकों में शोषक तथा शोषित का सम्बन्ध होता है। ऐसा ही सम्बन्ध

समाज में भी व्यापक है। समाज के कर्मचारों और साधारण सदस्यों का भी सम्बन्ध शोषक और शोषित का है। जैसे पूँजीपति कारखाने के श्रमिकों को कम वेतन देता है, वैसे ही अन्य सामाजिक संस्थाओं के स्वामी इन संस्थाओं के कर्मचारियों को कम वेतन देते हैं। इस तर्क के आधार पर संघवादी घोषित करते हैं कि जब सफल आम हड़ताल के फलस्वरूप कारखाने के शोषण का अन्त हो जायगा; तब स्वतः उसके प्रतिबिम्ब सामाजिक शोषणका भी अन्त होगा। कारखाने में स्वतंत्रता स्थापित होगी और स्वतः समाज में भी।

संघवादियों के मतानुसार समाज बहुलवादी है। उसमें हितों और वर्गों की भिन्नता है। आम-हड़ताल के पश्चात् वर्गों का तो अन्त हो जाएगा, परन्तु हितों की भिन्नता का नहीं। हितों की दृष्टि से भविष्य का आदर्श समाज भी बहुलवादी होगा। ऐसे समाज में जनवाद व्यापक होगा; भिन्न-भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व भिन्न-भिन्न व्यवसायिक संघों द्वारा होगा। इन संघों द्वारा व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न ध्येयों तथा हितों का प्रतिनिधित्व सम्भव है। एक संघ केवल एक ही हित से सम्बन्धित होगा। अराजकतावादियों की भांति संघवादी भी स्थानवाद के पक्षपाती थे। परन्तु जहां अराजकतावादियों का स्थानवाद प्रादेशिक था, वहां संघवादियों का व्यावसायिक।

मार्क्स की भांति संघवादी भी एक युग की सभ्यता एवं संस्कृति को उस युग के स्वामियों की सभ्यता और संस्कृति मानते थे। युग-धर्म, युग-स्वामियों का धर्म है। समाज के उत्पादन के साधनों के स्वामी ही युग के स्वामी होते हैं। जिनका अर्थ पर स्वामित्व होता है, उन्हींका समाज है, उन्हीं की सभ्यता और संस्कृति। आधुनिक पूँजीवादी युग में पूँजीपतियों की विचारधारा तथा मनोवृत्ति ही युग की विचारधारा तथा मनोवृत्ति है। भविष्य के संघवादी समाज में श्रमिकों का स्वामित्व होगा तब। उन्हीं की सभ्यता और संस्कृति पर छाप होगी।

इस प्रकार संघवादियों ने आदर्श भविष्य समाज के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये, परन्तु उन्होंने कोई विशेष विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया। जैसा ऊपर कहा गया है, वे कार्य को ही ऊँचा स्थान देते थे। उनका विश्वास था कि आम हड़ताल द्वारा पूँजीवाद का अन्त हो जायगा और स्वतः स्वर्णयुग का जन्म होगा।

क्रान्तिकारी रूप का अन्त

प्रथम महायुद्ध और संघवाद :—साम्यवाद के अध्याय में कहा गया है कि प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय समाजवादी दलों और श्रमिक आन्दोलन में फूट पड़ गयी थी। जर्मनी की सेनाओं ने बेल्जियम को परास्त कर फ्रांस में शीघ्र प्रवेश किया। वे फ्रांस की राजधानी पेरिस के निकट पहुँचे। फ्रांस की राष्ट्रीय स्वतंत्रता खतरे में थी। राष्ट्रीय-रक्षा प्रत्येक नागरिक का लक्ष्य बना। राष्ट्रीयता की भावना व्यापक और दृढ़ बनी। तत्कालीन व्यापक राष्ट्रीयता और राष्ट्र-रक्षा बहुसंख्यक श्रमिकों और उनके नेताओं का भी लक्ष्य बनी। यह स्वाभाविक भी था। जब एक घर में आग लगती है तब पड़ोसी पुराने झगड़ों को भूल कर आग बुझाने में सहायता देते हैं। जब राष्ट्र की स्वतंत्रता पर भीषण धक्का लगा, तब फ्रांस के क्रान्तिकारी श्रमिकों ने पुराने वर्गीय भेदों को भूलकर एक स्वर से राष्ट्र-रक्षा सिद्धान्त को अपनाया।

इस राष्ट्रीयता की प्रबल, लहर से क्रान्तिकारी संघवादी भी मुक्त न हो सके। उन्होंने राष्ट्र-रक्षा के हेतु क्रान्तिकारी कार्यक्रम का परित्याग किया। जौहो (Leon Jouhaux) कई वर्षों तक संघवादी सी० जी० टी० का प्रधान मंत्री था। १९१४ में भी वह उस पद पर था। ४ अगस्त सन् १९१४ को उसने जीं० जोरे (Jean Jaures) की समाधि पर घोषित किया कि हम (संघवादी) स्वतंत्रता के सेनानी हैं। (जी० जोरे फ्रांस की संसद में समाजवादी नेता था। उसकी मृत्यु हत्या द्वारा हुई थी)। जौहो ने कहा कि जर्मनी ने फ्रांस पर अन्यायपूर्ण आक्रमण किया है। इसलिए सभी श्रमिकों को राष्ट्र-रक्षा के हेतु युद्ध में भाग लेना चाहिए। आक्रमण का प्रतिरोध और देश-रक्षा सभी फ्रांसीसी श्रमिकों का ध्येय होना चाहिए।

राष्ट्र-संकट के समय सी० जी० टी० या संघवाद के क्रान्तिकारी रूप का अन्त हुआ। सैन्य-विरोध तथा देश-भक्ति-विरोध का परित्याग कर प्रायः सभी संघवादी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सैनिक बने। जौहो ने सरकारी प्रचारक का पद स्वीकार किया। उसने कहा कि उसका यह कार्य मानवता की भावना से प्रेरित हुआ है न कि वर्ग-संघर्ष या वर्ग-सहयोग की भावना से। परन्तु कुछ अल्पसंख्यक संघवादी इस राष्ट्रीयता की लहर से प्रभावित न हुए। उन्होंने अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा का परित्याग नहीं किया।

नई संस्थाएं :— युद्ध के पश्चात् इस अल्पसंख्यक दल ने १९२१ में एक नई संस्था (सी०जी०टी०यू० C.G.T.U.) की स्थापना की। इस संस्था के सदस्य साम्यवादी तथा अराजकतावादी थे। १९२२ में अराजकतावादियों ने अपनी एक पृथक संस्था (सी० जी० टी० एस० आर० C. G. T. S. R.) बनायी। बहुसंख्यक संघवादियों की राष्ट्रीय संस्था सी० जी० टी० ही रही। इस बहुसंख्यक दल के कार्यक्रम ने अब सुधारवादी रूप धारण किया। यद्यपि सिद्धान्ततः संघवाद अभी भी राज्य-विरोधी रहा, परन्तु व्यवहार में सहयोग की नीति के फलस्वरूप यह विरोध केवल शाब्दिक हो रह गया। अब संघवादी नेता राज्य को तटस्थ संस्था मानने लगे, न कि शत्रु। अब वे राजनीतिक दलों की नीति और उनके प्रचार तथा संगठन पर भी प्रभाव डालने लगे।

सी० जी० टी० के कार्यक्रम में परिवर्तन हुए। अब उसका ध्येय श्रमिकों की तात्कालिक उन्नति, बौद्धिक एवं शैक्षिक प्रगति तथा रचनात्मक शोध रह गया। संघवादी यह तो अब भी मानते रहे कि भविष्य के समाज का नव-निर्माण श्रमिकों द्वारा ही होगा, परन्तु इस स्थिति पर पहुँचने के लिए आम हड़ताल नहीं वरन् श्रमिकों को सुशिक्षित और सुसंस्कृत करना आवश्यक है। इसी सम्बन्ध में सी० जी० टी० के अन्तर्गत एक नवीन संस्था सी० ई० टी० (C. E. T.) की स्थापना की गयी। इस सी० ई० टी० में श्रमिकों के अतिरिक्त इतर वर्गों के सदस्य भी थे। इस संस्था का ध्येय उन आर्थिक विषयों पर शोध करना था जिनके आधार पर भविष्य के राष्ट्र-उद्योग संचालित होंगे।

अन्य देशों में :—अतः फ्रांस में क्रान्तिकारी संघवाद का अन्त हुआ। वह अब प्रचार की वस्तु न होकर इतिहास की थाती-मात्र रह गया। यूरोप के अन्य पश्चिमी देशों में भी संघवादी विचारधारा का प्रचार हुआ था। इटली और स्पेन में अराजक-संघवादी संस्थाएँ थीं। इटली का सुप्रसिद्ध अधिनायक मुसोलिनी (Benito Mussolini) एक समय ऐसी संस्था का सदस्य रह चुका था। परन्तु मुसोलिनी के फासी-अधिनायकवाद (१९२२) की स्थापना के पश्चात् अन्य राजनीतिक दलों के साथ-साथ श्रमिक संस्थाओं का भी अन्त हो गया। स्पेन में तीन अराजक संघवादी संस्थाएँ थीं— (P. O. U. M., F. A. I., और U. G. T.) १९३९ में फ्रेंको (General Franco) के फासिस्ट अधिनायकवाद की स्थापना

के पश्चात् इनका भी अन्त हो गया। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में आई० डब्ल्यू० डब्ल्यू० (I. W. W. या Industrial Workers of the World) एक संघवादी संस्था थी। इसका भी विघटन हो गया।

परन्तु इस क्रान्तिकारी दर्शन का प्रभाव समाजवादी दर्शन एवं श्रमिक आन्दोलन की प्रगति पर काफी पड़ा। सुधारवादी नेताओं की नीति के विरुद्ध इस दर्शन और आन्दोलन ने मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष को जीवित रखा। संसदीय नीति, नौकरशाही राज्य और राजनीतिक दलों का विरोध कर श्रमिकों को क्रान्तिकारी मार्ग अपनाने में प्रेरणा मिली। रूस की साम्यवादी पार्टी की कार्यनीति पर भी संघवादी विचारधारा (अल्पसंख्यकों द्वारा क्रान्ति और व्यावसायिक संघ) का परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा। मुसोलिनी के इटली के सहयोगी राज्य (Corporate State) के संगठन पर भी संघवाद का प्रभाव स्पष्ट था। अन्तर यह है कि इटली के फासिस्ट राज्य में स्थानीय व्यावसायिक संघों में श्रमिक अधिपति नहीं, वरन् दास होते थे। संघवाद से ब्रिटेन के श्रेणी-समाजवाद भी प्रभावित हुआ। श्रेणी समाजवाद ने क्रान्तिकारी संघवाद को सुधारवादी रूप दिया। इस विचारधारा का प्रभाव बहुलवादी दर्शन पर पड़ा और परोक्ष रूप से जनवादी विचारधारा पर। (इस सम्बन्ध में श्रेणी-समाजवाद और बहुलवाद वाले अध्याय देखिये।) संघवाद का राज्य-विरोधी सिद्धान्त तत्कालीन अद्वैतवाद-आदर्शवादी विचारधारा के विपरीत था। अतः संघवाद ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ अराजकतावाद के राज्य-निरपेक्षता-विरोधी विचारधारा को भी जीवित रखा।

सारांश

संघवाद फ्रांस की विशेष देन है। यह विरोधात्मक दर्शन था। यह केवल पूँजीवाद का ही नहीं वरन् उसकी सभी संस्थाओं का अन्त करना चाहता था। यह समाजवादी दर्शन में क्रान्ति करना चाहता था। संघवादी केवल अपने ही दर्शन को विशुद्ध श्रमिक दर्शन मानते थे।

१६वीं सदी के अन्तिम भाग में फ्रांस में कुछ ऐसी घटनायें (बोलेंजर-घटना, ड्रेफस-कलंक, पनामा-कलंक और ग्रेवी-विल्सन-घटना आदि) हुई जिनके कारण

वहाँ श्रमिकों में राज्य, राजनीति और राजनीतिज्ञों के प्रति घृणा पैदा हुई। यह घृणा ही संघवादी दर्शन की परोक्ष रूप से धात्री बनी। यह दर्शन राज्य-विरोधी, देशप्रेम-विरोधी, सैन्य-विरोधी, राजनीतिक दल-विरोधी, संसद-विरोधी, मध्यमवर्ग-विरोधी और सोवियत-विरोधी था।

राज्य अद्वैतवादी संस्था है, समाज बहुलवादी। इसलिए समाज का प्रतिनिधित्व राज्य द्वारा नहीं हो सकता। राज्य मध्यमवर्गीय संस्था है। उसके द्वारा श्रमिकों का हित सम्भव नहीं है। भविष्य के पूँजीवाद-रहित राज्य में भी नौकरशाही का बोलबाला होगा। नौकरशाही कभी श्रमिकों के प्रति सहानुभूति नहीं रख सकती। इसलिए संघवादी समाज में राज्य ऐसी संस्था का कोई स्थान न होगा। फिर राज्य का नियंत्रण बाहरी है। आदर्श व्यवस्था तो वही है जिसमें व्यक्तियों की सक्रियता द्वारा ही समाज का संचालन हो।

भूखे और अर्द्धनग्न श्रमिकों की कोई मातृभूमि नहीं होती। अतः उनसे देशभक्ति की आशा कैसे की जा सकती है? देशभक्ति का प्रचार तो पूँजीपतियों का ढोंग है। सेना के सिपाही श्रमिक वर्ग के सदस्य हैं और सैनिक जीवन के उपरान्त फिर श्रमिक वर्ग के सदस्य बनेंगे। इस आधार पर सिपाहियों से अनुरोध किया जाता था कि उन्हें श्रमिक हड़ताल के समय अपने वर्गीय बन्धुओं पर गोली नहीं चलानी चाहिए। सैनिक की वर्दी से उनका वर्ग परिवर्तित नहीं होता। सैनिकों से यह भी अनुरोध किया जाता था कि वे पूँजीपतियों द्वारा संचालित युद्ध के सैनिक न बनें।

संसद और राजनीतिक दलों द्वारा समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। ये दोनों संस्थाएँ पूँजीवादी व्यवस्था की प्रतीक हैं। इनके द्वारा श्रमिक हितों की सिद्धि नहीं हो सकती। इन संस्थाओं का मूलाधार समझौता, सुधार एवं वर्ग-सहयोग है। श्रमिकोद्धार केवल निरन्तर वर्ग-संघर्ष से ही सम्भव है। वर्ग-संघर्ष के यंत्रों द्वारा ही श्रमिक स्वयं अपने को तथा शेष समाज को स्वतंत्र कर सकता है। इसीलिए श्रमिकों को मध्यमवर्गीय नेताओं तथा उनकी मनोवृत्ति से भी दूर रहना चाहिए। संघवादी सोवियत रूस की भी आलोचना करते थे। संघवादियों का कहना था कि रूस में राज्य है, भले ही वह पूँजीवादी न हो। वहाँ सेना है, चाहे वह 'लाल' सेना ही क्यों न हो।

संघवादी तोड़फोड़, हड़ताल और आम-हड़ताल के यंत्रों द्वारा पूँजीवाद का

विरोध करते थे। उनके विचार में श्रमिक-शक्ति तथा संघर्ष के यही एकमात्र अस्त्र हैं। इन्हीं द्वारा पूँजीवाद और उसकी संस्थाओं का निरन्तर विरोध सम्भव है। इन्हीं द्वारा श्रमिक-संगठन एवं जाग्रति हो सकती है। श्रमिक साथ-साथ हड़ताल करते हैं, वे साथ-साथ वोट नहीं देते। तोड़फोड़ रूपी छापामार युद्ध निरन्तर होना चाहिये। हड़ताल-एक-पाठशाला-है। हड़तालों द्वारा श्रमिक आम-हड़ताल के लिए तैयार किये जाते हैं। आम-हड़ताल से पूँजीवाद का विध्वंस होगा।

जार्ज सोरेल के दर्शन का प्रभाव संघवाद पर पड़ा था। उसके मतानुसार पूँजीपतियों को सदा भयभीत रखना चाहिये। भय ही पूँजीपति के जीवन एवं दर्शन का सार है। आम हड़ताल को अन्ध-श्रद्धा (myth) का रूप देना चाहिये। तभी श्रमिक, आरम्भिक काल के ईसाइयों की भाँति, अपराजित उत्साह के साथ संघर्ष करेंगे और सफल होंगे।

संघवादियों ने केवल कार्यक्रम पर ही अधिक जोर दिया था। उन्होंने भविष्य के आदर्श समाज की योजना पर विशेष ध्यान न दिया। उन्होंने ध्येय की एकता के कारण अराजकतावादियों से सहयोग किया था। वह आन्दोलन अराजक-संघवाद के नाम से सुप्रसिद्ध बना। अराजकतावादियों ने संघवाद को भविष्य की रूपरेखा दी। उस भावी-समाज में स्वतंत्रता व्यापक होगी और उसका संगठन श्रमिक संघों द्वारा होगा। ग्रैहम वालास ने आलोचनात्मक दृष्टि से ठीक ही कहा है कि संघवादी सोचते हैं कि व्यक्ति मजदूर होने के नाते एक दूसरे से जितना प्रेम करते हैं उतना सामान्य नागरिक होने के नाते नहीं।

प्रथम महायुद्ध के समय और उसके पश्चात् फ्रांस के संघवाद और उसकी संस्था सी० जी० टी० ने संघर्ष तथा क्रान्ति के मार्ग का परित्याग कर वर्ग-सहयोग, राष्ट्र-भक्ति और सुधारवाद का मार्ग ग्रहण किया। अन्य देशों में संघवाद का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया। अन्ततोगत्वा वह शोध और इतिहास का विषय बन गया। परन्तु इसका प्रभाव रूस, इटली और श्रेणी-समाजवाद पर काफी पड़ा। संघवादी दार्शनिक चिन्तन से अद्वैतवाद-विरोधी विचारधारा को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

नवम अध्याय

श्रेणी-समाजवाद

(GUILD-SOCIALISM)

समाजवादी विचारधारा के लिए यह सिद्धान्त ब्रिटेन की एक अभूतपूर्व भेंट है। इसका जन्म एवं विकास बीसवीं सदी में हुआ था। पिछले अध्याय में बताया गया है कि अराजकतावादी दर्शन का प्रभाव फ्रांसीसी संघवाद पर पड़ा था। संघवाद के राज्य-विरोधी दर्शन से श्रेणी-समाजवादी प्रेरित हुए थे। श्रेणी-समाजवाद के प्रचार का प्रभाव ब्रिटेन के बहुलवादी एवं वामपक्षी जनवादी दर्शन पर पड़ा था।

श्रेणी-समाजवाद का शब्दार्थ ही इस दर्शन के तथ्य का सूचक है। समाजवाद का अर्थ है—ऐसा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संगठन जो पूर्णतः शोषण-रहित तथा जनवादी हो। श्रेणी उस संघ को कहते हैं जिसके द्वारा व्यवसाय का संचालन जनवादी आधार पर होता है। इसलिए श्रेणी-समाजवाद का अर्थ है—श्रेणियों के आधार पर भावी-समाज का समाजवादी-संगठन।

'श्रेणी' एक मध्य-कालीन संस्था थी। पूँजीवादी युग के पूर्व श्रेणियों द्वारा व्यवसाय का संचालन होता था। प्रत्येक व्यवसाय की एक श्रेणी होती थी। सौदागरों की भी अलग-अलग श्रेणियां थीं। यूरोप के आर्थिक-जीवन में इनका प्राधान्य था। श्रेणी द्वारा ही वस्तुओं का मूल्य, आयात, निर्यात, और गुण निर्धारित होता था। उत्पादन के साधनों पर दस्तकारों का व्यक्तिगत अधिकार था। कला के प्रदर्शन की सुविधा थी। श्रेणी सार्वजनिक कार्य भी करती थी। यदि किसी सदस्य को आकस्मिक हानि हो जाती तो उसे श्रेणी द्वारा सहायता मिलती थी। किसी सदस्य की

अकाल मृत्यु होने पर श्रेणी उसके अनाथ परिवार के भरण-पोषण में सहायक होती थी। यूरोपीय व्यावसायिक क्रान्ति (लगभग १७५०—१८५०) के फलस्वरूप श्रेणी प्रथा का अन्त हो गया था।

ऐसी श्रेणियाँ बौद्धकालीन भारतवर्ष में भी पायी जाती थीं। उस समय श्रेणियों का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में सर्वश्रेष्ठ स्थान था। वर्तमान काल में धोबियों की पंचायत के रूप में श्रेणी-संगठन का अवशेष प्राप्य है।

श्रेणी-समाजवादी मध्य-कालीन आर्थिक संगठन के प्रशंसक थे। उनका कहना था कि पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक के व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं रहता। मध्य-कालीन श्रेणी व्यवस्था में ऐसे व्यक्तित्व की सुरक्षा सम्भव थी। अतः पूँजीवाद का अन्त कर ऐसे नव समाज का निर्माण करना चाहिये जो श्रेणी पर आधृत हो।

दार्शनिक स्रोत

श्रेणी-समाजवाद पर कई विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा था। इस दर्शन का जन्म अन्य समाजवादी दर्शनों के बाद हुआ था। परिणामतः उन दर्शनों से यह प्रभावित हुआ। इन दर्शनों के अतिरिक्त अन्य विचारधाराओं एवं आन्दोलनों का प्रभाव भी इसकी योजनाओं पर स्पष्ट है।

औद्योगिकतावाद की प्रतिक्रिया— भारतवर्ष के विद्यार्थी इस प्रतिक्रिया से भली भाँति परिचित हैं। गाँधीजी, टैगोर जैसे आधुनिक नेताओं की विचारधारा में ऐसी प्रतिक्रिया स्पष्ट है। १९वीं सदी के ब्रिटेन में भी औद्योगिकतावाद के विरुद्ध कई लेखकों और राजनीतिज्ञों ने विचार प्रकट किये थे, तथा उनका प्रचार किया। गाँधीजी और टैगोर की भाँति वे भी आधुनिक नागरिक-जीवन के आलोचक थे। नये नगरों में गरीबों के गन्दे मकान, गन्दी गलियाँ, सड़क की धूल, चिमनी का धुआँ, शोरगुल, चोरी, गिरहकटी आदि से लेखकों की कलात्मक-भावुकता को ठेस पहुँची; उन्होंने इस नवीन औद्योगिक-सभ्यता की कलात्मक दृष्टि से आलोचना की। हुड (T. Hood) ब्राउनिंग (E. B. Browning) और टेनिसन (Lord Tennyson) जैसे विख्यात कवियों की कविताओं में औद्योगिकतावाद की प्रतिक्रिया स्पष्ट है। डिसरैली (Disraeli), किंग्सले (Kingsley), गेस्केल (Mrs, Gaskell), डिकेन्स

(Dickens), गेल्सवर्दी (Galsworthy) और शॉ (G. B. Shaw) जैसे कथाकारों एवं नाटककारों ने भी अपनी कृतियों द्वारा औद्योगिकतावाद की आलोचना की थी। फिर, कार्लायल (Carlyle), रस्किन (Ruskin) और मैथ्यू आर्नाल्ड (Mathew Arnold) आदि लेखकों ने भी औद्योगिक सभ्यता की आलोचना की। इन लेखकों की रचनाओं का प्रभाव ब्रिटेन के बुद्धिजीवियों पर पड़ा।

पुनरुत्थानवादी विचारधारा—उक्त लेखक केवल आलोचक ही न थे, प्रत्युत उनमें से कुछ मध्य-युगीन सामाजिक जीवन के भक्त भी थे। इनके विचारों का सार यह था कि मध्य-कालीन सभ्यता आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से श्रेयस्कर थी। ऐसी विचारधारा का जन्म आंग्ल साहित्य में रोमान्टिक आन्दोलन (Romanticism) के साथ-साथ हुआ था। ऐसी कुछ संस्थाओं की स्थापना की गयी जिनका उद्देश्य मध्य-कालीन सभ्यता की प्रशंसा एवं प्रचार था। ये संस्थाएँ थीं—युवक इंगलैंड (Young England), टोरी जनवाद (Tory Democracy), और टोरी समाजवाद (Tory Socialism)। ये सामान्तशाही युग के गरीब किसानों के जीवन की नैतिक दृष्टि से प्रशंसा करती थीं तथा उस युग की गरीब जनता को आदर्श रूप देती थीं।

रस्किन भी मध्य-कालीन सभ्यता का प्रशंसक था। उसकी औद्योगिकतावाद-विरोधी और पुनरुत्थानवादी विचारधारा का प्रभाव बुद्धिजीवियों पर पड़ा। गांधीजी ने भी उसकी पुस्तकों का अध्ययन किया था। रस्किन के नाम पर आक्सफोर्ड में एक कालेज स्थापित किया गया। इसमें युवकों को रस्किन की विचारधारा के अनुकूल समाजशास्त्रीय शिक्षा दी जाती थी। इस कालेज के स्नातक श्रमिक-आन्दोलन के नेता बने। इनके द्वारा रस्किन की विचारधारा ने परोक्षरूप से ब्रिटिश श्रमिक-आन्दोलन में प्रवेश किया।

विलियम मौरिस (W. Morris) केवल एक विख्यात कवि और लेखक ही न था बल्कि समाजवादी प्रचारक भी। एक समय वह मार्क्सवादी सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन (Social Democratic Federation) का प्रमुख सदस्य था। मौरिस के मतानुकूल कला का मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। यही उसके सामाजिक दर्शन का सार था। इसी कारण वह समाजवाद की ओर आकर्षित हुआ। उसने देखा कि पूंजीवाद में कला तथा साहित्य ने व्यापारिक रूप धारण कर लिया है। आज कलाकार का ध्येय कला का प्रदर्शन नहीं वरन् अपनी

कला द्वारा जीवन निर्वाह करना है। इस आलोचनात्मक दृष्टिकोण का उसने अपनी रचनाओं द्वारा प्रचार किया। मौरिस के मतानुसार मध्य-कालीन कलाकार को कला-प्रदर्शन के पर्याप्त साधन प्राप्त थे। इस प्रकार वह मध्य-कालीन श्रेणियों का प्रशंसक बना। उसने कुछ दस्तकारियों का पुनरुत्थान किया (जैसे शीशा बनाना, बुनाई, जिल्दसाजी, मूर्ति-निर्माण आदि)। स्वयं भी एक दक्ष शिल्पी की भाँति उसने इन संस्थाओं में काम किया। दस्तकारों की श्रेणियों की भी स्थापना की। ऐसी एक श्रेणी तो १९०६ तक बनी रही। उक्त औद्योगिकतावाद विरोधी एवं मध्यकालीन प्रशंसा के वातावरण में रस्किन और मौरिस की विचारधाराओं ने बुद्धिजीवियों और युवक श्रमिक-नेताओं को काफी आकर्षित किया।

समष्टिवाद :—ब्रिटेन में फेबियन-समाजवादी विचारधारा का बोलबाला था। फेबियन वेत्ताओं ने आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज के विश्वविद्यालयों के नवयुवकों में सुधारवादी समाजवाद का प्रचार किया। प्रायः सभी वामपक्षी नवयुवक फेबियनवादी बने। वे बुद्धिजीवी भी, जिन्होंने भविष्य में श्रेणी-समाजवाद का प्रचार किया, फेबियन संघ के सदस्य रह चुके थे। विशिष्ट परिस्थिति एवं उक्त औद्योगिकता-विरोधी तथा पुनरुत्थानवादी वातावरण के कारण समय-समय पर कुछ नवयुवकों ने फेबियन संघ से सम्बन्धविच्छेद किया और श्रेणी-समाजवाद को अपनाया।

ए० जे० पेन्टी (A. J. Penty) एक मुख्य श्रेणी-समाजवादी था। इसके पूर्व वह फेबियनवादी था। उसका फेबियनों से पृथक होने का वृत्तान्त रोचक-सा है। सुप्रसिद्ध 'लन्दन स्कूल आफ इकनामिक्स' के संस्थापक फेबियन थे। एक दिन पेन्टी को ज्ञात हुआ कि उक्त स्कूल के भवन निर्माण का ठेका उस व्यक्ति को दिया गया था जो फेबियनों की रुचि के अनुसार भवन निर्माण करे। इस सूचना से पेन्टी का मन फेबियनों की समष्टिवादी विचारधारा से उचट गया। उसने सोचा कि फेबियन-वाद या समष्टिवाद में कलाकार को कला प्रदर्शन की स्वतंत्रता नहीं हो सकती। बस यह मनन उसके फेबियनवाद से सम्बन्ध विच्छेद का कारण बना। पेन्टी की इस मनोवृत्ति पर विलियम मौरिस की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है।

कुछ अन्य बुद्धिजीवी युवक भी मतभेदों के कारण फेबियन संघ से पृथक हुए। ए० आर० ओरेज (A. R. Orage), एस० जी० हॉब्सन (S. G. Hobson) और जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) श्रेणी-समाजवाद के प्रमुख वेत्ता

तथा प्रचारक थे। ये सभी युवावस्था में फेबियन संघ के सदस्य थे। परन्तु फेबियन-वाद की एक प्रमुख विशेषता को इन्होंने कभी नहीं त्यागा। ये सदा ही सुधारवादी और शनैःशनैःवादी विचारधारा के अनुयायी रहे। श्रेणी-समाजवादी आन्दोलन के अन्त होने पर (१६२५) कोल जैसा वेत्ता पुनः फेबियनवाद एवं समष्टिवाद का समर्थक बना।

मार्क्सवाद :—१६वीं सदी के अन्तिम भाग के पश्चात् ब्रिटेन में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार होने लगा था। इस प्रचार का प्रभाव श्रेणी-समाजवादी वेत्ताओं के दर्शन पर भी पड़ा। उन्होंने मार्क्सवादी "अतिरिक्त मूल्य" के सिद्धान्त को अपनाया। ये इस सिद्धान्त को इतना स्पष्ट और स्वयंसिद्ध समझते थे कि उन्हें इसका प्रचार करना व्यर्थ-सा लगा।

संघवाद :—ब्रिटेन में २०वीं सदी के आरम्भ में लेबर पार्टी की स्थापना हुई थी। समष्टिवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि इस पार्टी की विचारधारा और इसके कार्यक्रम पर फेबियनवाद की छाप है। इस पार्टी ने संसद के निर्वाचनों में श्रमिकों को आश्वासन दिया था कि संसदीय नीति द्वारा मजदूरों की दशा में सुधार अवश्य होगा। परन्तु १६०५ और १६१२ के बीच में पूँजीपतियों का लाभ २२.५ प्रतिशत बढ़ा, वस्तुओं का मूल्य १३.७ प्रतिशत बढ़ा और श्रमिकों का वेतन केवल २ से ४.५ प्रतिशत ही बढ़ पाया। ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे सुधारवादी विचारधारा पर अटूट विश्वास करें।

१६११—१२ में कई हड़तालें हुईं। कहा जाता है कि ब्रिटेन के श्रमिकों द्वारा ऐसी वर्ग-चेतना का प्रदर्शन पहले कभी नहीं हुआ था। नवयुवक मज़दूर नेताओं का लेबर पार्टी और फेबियनों की सुधारवादी या आधी रोटी वाली नीति में विश्वास न रहा। वे एक नई नीति को अपनाना चाहते थे। फ्रांसीसी संघवाद के उदाहरण से इस आवश्य-कता की पूर्ति हुई। संघवादी विचारधारा की कुछ विशेषताओं को ग्रहण किया गया।

मज़दूर-संस्थाओं में संघवाद का प्रचार हुआ। १६१२ के लगभग आक्सफोर्ड में वामपक्षी विद्यार्थियों ने 'आक्सफोर्ड संघवादी' (Oxford Syndicalist) नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। अमेरिका की संघवादी आई० डब्ल्यू० डब्ल्यू० (I. W. W.) नामक संस्था का प्रभाव भी ब्रिटिश-श्रमिक-आन्दोलन पर पड़ा। टॉम-मैन (Tom Man), जो ब्रिटिश मजदूर-आन्दोलन का वीर नेता था,

आस्ट्रेलिया एवं दक्षिणी अफ्रीका के भ्रमण के उपरान्त इंगलैंड लौटा। उसने आस्ट्रेलिया में संघवादी शिक्षा ग्रहण की थी। १९११-१३ की हड़तालों में उसके नेतृत्व में इस विचारधारा ने ब्रिटिश श्रमिक आन्दोलन में प्रवेश किया।

दर्शन

१९१५ में कुछ नवयुवक बुद्धिजीवियों ने फेबियन संघ से सम्बन्ध विच्छेद किया और 'नेशनल गिल्ड-लीग' (National Guild League) की स्थापना की। श्रेणी-समाजवाद का प्रचार इस लीग द्वारा होने लगा; वैसे श्रेणी-समाजवादी विचारधारा का जन्म तो इसके पूर्व ही हो चुका था। 'न्यू एज' (New Age) पत्र द्वारा इस दर्शन का प्रचार पहले से ही हो रहा था। इसी पत्र में फिग्गिस (J. N. Figgis) के बहुलवादी लेखों का प्रकाशन हुआ। किन्तु इस दर्शन ने प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) में ही आन्दोलन का रूप धारण किया। १९२५ में इस लीग का अन्त हुआ और साथ ही साथ इस दर्शन के स्वतंत्र अस्तित्व का भी। किन्तु जैसा कि आगे बताया जायगा, इस दर्शन का बहुलवादी तथा जनवादी विचारधारा पर काफी प्रभाव पड़ा। इसलिए इस दर्शन का विश्लेषण आवश्यक है। इस विश्लेषण के सम्बन्ध में उक्त स्रोतों का प्रभाव स्पष्ट हो जायगा। श्रेणी-समाजवादी दर्शन के चार मुख्य पहलू हैं—पूँजीवाद की आलोचना, जनवाद की आलोचना, राज्य-सम्बन्धी विचारधारा और भावी-समाज की योजना।

पूँजीवाद की आलोचना

श्रेणी-समाजवादियों द्वारा पूँजीवाद की आलोचना निम्न चार प्रकार से की गयी है।

गरीबी क्यों ? :—जैसा ऊपर बताया गया है, श्रेणी-समाजवादियों ने मार्क्सवादी 'अतिरिक्त मूल्य' के सिद्धान्त को अपनाया था। मार्क्सवादियों की भाँति वे भी यह मानते थे कि वस्तुओं का मूल्य श्रम द्वारा ही निर्धारित होता है। श्रमिक मूल्य बनाता है। इस मूल्य का एक भाग उसे वेतन के रूप में मिलता है। शेष भाग (अतिरिक्त मूल्य) पूँजीपति हड़प लेता है। यह अन्यायपूर्ण व्यवस्था है। मार्क्सवादी इसका प्रचार करते हैं। श्रेणी-समाजवादी इसमें विश्वास करते थे, परन्तु इसका प्रचार नहीं। कारपेन्टर (N. Carpenter) का कहना है कि श्रेणी-समाजवादी सोचते थे कि पूँजीवाद की यह बुराई इतनी स्पष्ट है कि इसका प्रचार करना अनावश्यक है।

अन्य समाजवादियों की भांति श्रेणी-समाजवादी भी कहते थे कि पूंजीवाद में मजदूरों की दशा सन्तोषजनक नहीं हो सकती। पूंजीवाद तो श्रमिकों के शोषण पर टिका है। उस व्यवस्था में श्रमिक दास-तुल्य हैं। कोल ने कहा था कि "दासत्व एक व्याधि है, और निर्धनता उसका लक्षण। यदि व्याधि (दासत्व) दूर कर दी जाय तो लक्षण (निर्धनता) का स्वतः ही लोप हो जायगा"। किन्तु व्याधि का कारण क्या है? कोल के मतानुकूल मजदूरी की प्रथा, जो पूंजीवाद की सर्वप्रमुख विशेषता है, दासत्व का कारण है। इसलिए मजदूरी-प्रथा का अन्त हो जाना चाहिये। तब दासता रूपी व्याधि का और साथ ही निर्धनता रूपी लक्षण का स्वतः अन्त हो जायगा।

प्रोत्साहन-रहित उत्पादन :—अन्य समाजवादियों की भांति श्रेणी-समाजवादी भी मानते थे कि पूंजीवाद में उत्पादन को प्रोत्साहन नहीं मिलता। क्योंकि श्रमिक सदा ही अपनी दीन दशा को सुधारने के प्रयत्न में लीन रहता है। बाध्य होकर वह हड़तालें करता है। फलतः कारखाने बन्द रहते हैं, और उत्पादन का ह्रास होता है।

फिर श्रमिक सोचता है कि वह अधिक उत्पादन क्यों करे? उसे तो निश्चित वेतन मिलता है, चाहे काम अधिक करे या कम। ऐसी परिस्थिति में कामचोरी स्वाभाविक है। कोल के शब्दों में, "मजदूर सोचता है कि पूंजीपति के लिए अच्छा और अधिक कार्य करने का अर्थ है चोर की चोरी में सहायता पहुँचाना"। (अतिरिक्त-मूल्य चोरी है। इसलिए पूंजीपति, जो अतिरिक्त-मूल्य का स्वामी है, चोर है। यदि मजदूर अधिक काम करेगा तो अतिरिक्त-मूल्य में (चोरी में) वृद्धि होगी। उसका वेतन तो ज्यों का त्यों रहेगा।)

दूसरी ओर पूंजीवाद में सट्टेबाजी व्यापक है। पूंजीपति केवल लाभ के लिए उत्पादन करता है। उसके लिए उत्पादन सट्टा-मात्र है। वह केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनसे उसको लाभ होता है। वह यह नहीं देखता कि समाज या देश को किस वस्तु के उत्पादन से अधिक लाभ होगा। (वर्त्तमान समय में वनस्पति घी इतना प्रचलित है कि यह कहना गलत न होगा कि आधुनिक युग डाल्डा-युग है।) ऐसी परिस्थिति में देशोन्नति कैसे सम्भव हो सकती है?

सौन्दर्य एवं नैतिकता का ह्रास :—श्रेणी-समाजवादियों ने सौन्दर्य और नैतिकता की दृष्टि से भी पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था की आलोचना की थी। अन्य समाजवादी भी स्वीकार करते हैं कि पूंजीवादी उत्पादन में सौन्दर्य एवं नैतिकता का ह्रास

होता है। किन्तु केवल श्रेणी-समाजवादी ही मनोवैज्ञानिक आलोचना को अपने दर्शन में सर्वोपरि स्थान देते थे। इस सम्बन्ध में मौरिस जैसे कलाकारों का प्रभाव स्पष्ट है। मौरिस की भाँति श्रेणी-समाजवादी कहते थे कि पूँजीवादी उत्पादन में श्रमिक एक मशीन की भाँति है। श्रमिक को अपनी कला प्रदर्शित करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। वह तो कारखानों में आठ घंटे मशीन की भाँति काम करता है। उसका कार्य आनन्द-रहित एवं नीरस है। उसे व्यक्तिगत विशेषता प्रदर्शित करने का अवकाश नहीं मिलता। आधुनिक कारखानों में श्रम-विभाजन इतना व्यापक है कि कोई भी श्रमिक यह नहीं कह सकता कि एक जूता, एक टोपी या एक गज कपड़ा उसका बनाया हुआ है। इस दशा में हुनर दिखलाने का प्रश्न उठता ही नहीं।

मध्य-कालीन हस्तकला युग में एक श्रमिक की मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि सम्भव थी। वह स्वयं एक वस्तु का आद्यन्त निर्माता था। उस वस्तु के सौन्दर्य से उसे आत्मगौरव एवं कला-गौरव की अनुभूति होती थी। ग्राहक की सन्तुष्टि पर वह फूला नहीं समाता था। बनारसी कारचोबी का काम करने वाले दस्तकारों को अपनी कृति के सौन्दर्य से जैसी आत्मतुष्टि होती है उसका अनुभव टाटानगर के श्रमिक स्वप्न में भी नहीं कर सकते। इस प्रकार श्रेणी-समाजवादी पूँजीवाद को केवल आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से ही नहीं, वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी न्यायरहित बतलाते हैं।

साम्पत्तिक अधिकार :—स्पेनिश पत्रकार सिनोर-डी-मिज्तू (Senor De Maeztu) का कहना था कि अधिकार नैसर्गिक तथा आत्मगत नहीं होते, वे विषयगत होते हैं। उनका सम्बन्ध कार्यों से होता है। इस विचारधारा के आधार पर ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री टानी (R. H. Tawney) ने बताया कि बिना कार्य के कोई अधिकार नहीं होता। यहाँ यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि एक समय टानी भी श्रेणी-समाजवादी था। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक (The Sickness of the Acquisitive Society) में इस विचारधारा का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार पूँजीपति को व्यवसाय में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में पूँजीपति कोई भी कार्य नहीं करता। वह केवल बड़े-बड़े नगरों में सट्टेबाजी करता है और विलासिता का जीवन व्यतीत करता है। उसका उत्पादन से केवल यही सम्बन्ध है कि वह लाभ (श्रमिक के अतिरिक्त-मूल्य) का भोगी है। इसलिए ऐसे कार्य-रहित व्यक्ति का समाज में उत्पादन सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। श्रेणी-समाज-

वादियों ने टानी की इस विचारधारा को पूर्णतः अपनाया और परोपजीवी पूँजीपति को पदच्युत करने के पक्ष में प्रचार किया।

जनवाद की आलोचना

श्रेणी-समाजवादी आधुनिक जनवाद के आलोचक भी थे। उनके मतानुसार यह जनवाद तो सार्वभौम प्रतिनिधित्व का एक ढोंग-मात्र है। सार्वभौम प्रतिनिधित्व असम्भव और पाखंडपूर्ण है। इस प्रतिनिधित्व के अनुसार तीन या पाँच वर्षों में संसदीय निर्वाचन होता है। संसद के सदस्य जनता के सभी ध्येयों के प्रतिनिधि समझे जाते हैं। संसद सर्वोच्च संस्था मानी जाती है। वह सभी विषयों सम्बन्धी नियम-निर्माण करती है। यह सर्वथा असम्भव है। एक सदस्य सभी विषयों में निपुण कैसे हो सकता है?

एक नागरिक के कई हित होते हैं। वह केवल नागरिक नहीं वरन् कई वस्तुओं का उपभोक्ता तथा उत्पादक भी है। परन्तु संसदीय निर्वाचन के आधार में यह विश्वास है कि नागरिक के सभी हितों का प्रतिनिधित्व एक व्यक्ति-विशेष द्वारा हो सकता है। यह विचार भ्रमपूर्ण है। कोल ने ठीक ही कहा था, "मुझसे इस बात का अनुरोध करना कि मैं किसी मनुष्य को अपनी समस्त समस्याओं के लिए प्रतिनिधि बनाऊँ मेरी बुद्धि का अपमान करना है।"

इसलिए श्रेणी-समाजवादी ऐसे समाज के संगठन के पक्ष में थे जिसमें अन्य स्वतंत्र संघ सम्मिलित हों। उनका विश्वास था कि इन संघों के द्वारा नागरिक के सभी हितों का प्रतिनिधित्व हो सकेगा। साथ ही साथ समाज का संचालन ऐसे योग्य व्यक्तियों द्वारा होगा, जो पृथक हितों के लिए योग्य समझ कर निर्वाचित होंगे। जनतंत्रीय योग्यता तभी सम्भव होगी। आधुनिक संसदीय प्रतिनिधित्व में तो एक संसदीय सदस्य सर्वज्ञ समझा जाता है। किन्तु यह धारणा पूर्णतः भ्रामक है। श्रेणी-समाजवादी समाज में उपयुक्त व्यक्ति उपयुक्त संस्था के सदस्य होंगे। यह आगे बताई हुई कोल की योजना से स्पष्ट हो जायगा।

राज्य की आलोचना

हाब्सन का मत :—राज्य के विषय में श्रेणी-समाजवादियों के दो मत थे। हाब्सन (S. G. Hobson) के अनुसार भविष्य के समाज में राज्य का उच्च स्थान होगा। कोल के मतानुकूल श्रेणी-समाजवादी समाज में राज्य एक निम्न संस्था होगी। उसका स्थान कम्यून (Commune) ग्रहण करेगा।

हाब्सन का कहना था कि श्रेणी-समाजवादी भविष्य के राज्य को एक जन-सेवक संस्था के रूप में रखेंगे। राज्य नागरिकता का प्रतिनिधित्व करता है। नागरिकता का मनुष्य जीवन में सर्वोपरि स्थान है। इसलिए राज्य को सार्वभौम संस्था के रूप में रखना श्रेणी-समाजवादियों के लिए आवश्यक है। इस सिद्धान्त को "नागरिक-सार्वभौम-सिद्धान्त" कहते थे।

कोल का मत :—मार्क्सवादियों की तरह कोल भी राज्य को वर्गीय संस्था तथा दमन-यंत्र मानता था। फिग्गिस-कृत अद्वैतवाद की आलोचना से कोल काफी प्रभावित हुआ था। इस आलोचना का तथ्य था कि राज्य सर्वप्रमुख एवं सर्व-शक्तिमान् संस्था नहीं है। वस्तुतः अन्य संघों का भी मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। राज्य केवल संघों का एक संघ है। (बहुलवाद वाला अध्याय देखिये।)

कोल ने अद्वैतवादी राज्य की तीखी आलोचना की थी। उसका कहना था कि सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी तथा सार्वभौम राज्य की कल्पना अब अतीत की बात हो गयी है। आधुनिक जटिल समाज में ऐसी संस्था का अस्तित्व बेमेल-सा है। जैसा अभी बताया जायगा, कोल ने राज्य को अपनी आदर्श योजना में कम्यून का रूप दिया था।

कोल ने समष्टिवादी विचारधारा का मुँहतोड़ उत्तर दिया। समष्टिवादी नेता राज्य द्वारा समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे। वे राज्य-नियंत्रण द्वारा श्रमिकोद्धार के पक्ष में थे। कोल ने कहा कि मजदूरों की दशा समष्टिवादी राज्य में भी अच्छी नहीं हो सकती। उसने डाकखानों का उदाहरण दिया। डाकखाना एक राज्य-विभाग है। परन्तु उसमें काम करनेवाले मजदूरों की दशा किसी भी प्रकार सन्तोषजनक एवं आदर्श नहीं मानी जा सकती।

कोल ने यह भी कहा कि संसदीय नियंत्रण परिहास-मात्र है। संसदीय जनवाद में कार्य-पालिका संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। इस उत्तरदायित्व की ओट में नौकरशाही की निरंकुशता व्यापक है। भविष्य का समष्टिवादी राज्य तो स्वभावतः नौकरशाही के लिए स्वर्ग-तुल्य होगा। ऐसी परिस्थिति में रूढ़िवादी तथा संकीर्ण नौकरशाही से श्रम-हित की किस प्रकार आशा की जा सकती है?

कोल ने इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक उक्ति कही है। मनुष्य ने राज्य का निर्माण किया है, वह उसका अन्त भी कर सकता है। मनुष्य राज्य से भी महान्

संस्था का निर्माण कर सकता है। यह संस्था सार्वभौम सत्ता का प्रतिनिधित्व राज्य से भी अधिक अच्छी तरह कर सकेगी। कोल इस महान् संस्था को "कम्यून" कहता था। इसीलिए उसके सिद्धान्त को 'कम्यून सिद्धान्त' भी कहा जाता है।

भावी समाज

अभी बताया गया है कि श्रेणी-समाजवादियों के अनुसार राज्य-सम्बन्धी दो विचारधाराएँ प्रसिद्ध थीं। स्वभावतः भावी-समाज के सम्बन्ध में भी हाब्सन और कोल की योजनाएँ भिन्न-भिन्न थीं।

हाब्सन की योजना :—हाब्सन के अनुसार भावी श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यवसाय की एक श्रेणी होगी। उत्पादन-सम्बन्धी विषयों में श्रेणी पूर्ण स्वतंत्र होगी। उसका संगठन जनवादी रीति से होगा। श्रेणियों का समन्वय राज्य द्वारा किया जायगा। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा नागरिकता का प्रतिनिधित्व भी होगा। उसका कहना था कि राज्य नागरिकता की संगठित अभिव्यक्ति है। राज्य द्वारा ही नागरिक की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है। नागरिकों के उपभोग की दृष्टि से राज्य ही सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था होगी। वह एक आध्यात्मिक एवं समाज-सेवक राज्य होगा। हाब्सन की योजना का स्पष्टीकरण निम्न मानचित्र से हो जायगा।
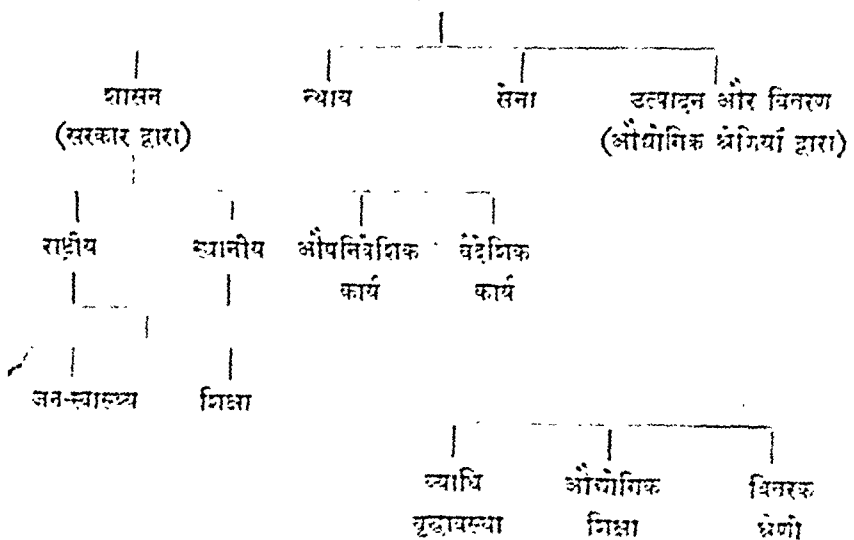
इस प्रकार हाब्सन का राज्य केवल शासन, न्याय और सेना सम्बन्धी विषयों का ही नहीं प्रत्युत उत्पादन और वितरण सम्बन्धी विषयों का भी संचालन करेगा। आधुनिक राज्य से वह केवल इस दृष्टि से ही भिन्न होगा कि उसमें श्रमिक अपनी श्रेणियों द्वारा उत्पादन करेंगे और वितरण पर जनवादी नियंत्रण होगा। श्रमिक और उनकी श्रेणियाँ इन विषयों में स्वतंत्र होंगी। भविष्य के राज्य का एकमात्र ध्येय समाज-सेवा होगा। फलतः नौकरशाही के दृष्टिकोण में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन सम्भव होगा। शक्ति-प्रदर्शन के स्थान पर नौकरशाही समाज-सेवा को अपना लक्ष्य बनायेंगे।

कोल की योजना :—जैसा बहुलवाद के सम्बन्ध में बताया जायगा, कोल एक प्रसिद्ध बहुलवादी था। उसने प्रथम महायुद्ध के समय श्रेणी-समाजवादी योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। ये योजनाएँ उसकी तीन पुस्तकों में मिलती हैं (Self-Government in Industry, १९१७ ; Guild Socialism Restated, १९२० ; और Social Theory, १९२०)। इन तीनों पुस्तकों में उसकी विचारधारा परिवर्तित होती रही, पर मूल विचार अपरिवर्तनशील रहे। यहाँ यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि जिन वर्षों में कोल श्रेणी-समाजवादी तथा बहुलवादी योजनाएँ प्रस्तुत कर रहा था, ठीक उन्हीं वर्षों में लास्की बहुलवादी दर्शन को सैद्धान्तिक रूप देने में व्यस्त था।

कोल के आदर्श समाज में राज्य का सर्वशक्तिमान् स्थान नहीं होगा। कोल के भावी समाज का संगठन ऐसा था :—

श्रेणी (उत्पादन सम्बन्धी कार्य)	सहकारी संस्थाएँ (उपयोग सम्बन्धी कार्य)	संघ (सामान्य विषय)
राष्ट्रीय	राष्ट्रीय	राष्ट्रीय
फौलाद, लोहा, जहाज आदि	यातायात, शिक्षा आदि	
प्रादेशिक	प्रादेशिक	प्रादेशिक
कपड़े, जूते, जल, सड़क, बिजली आदि	प्रकाश, शिक्षा, सड़क आदि	
स्थानीय	स्थानीय	स्थानीय
चढ़ईगीरी, लोहारी, सोनारी एवं स्वास्थ्य आदि	खाद्य सामग्री, कागज, जूता आदि	

भावी समाज में श्रेणी द्वारा उत्पादन का संचालन होगा। सहकारी संस्थाएँ उपभोग सम्बन्धी विषयों का संचालन करेंगी। संघ का कार्य समन्वय तथा सामान्य विषयों का संचालन होगा। स्थानीय श्रेणी का संगठन प्रत्यक्ष जनवादी ढंग से होगा। एक व्यवसाय का एक श्रेणी होगी। व्यवसाय के सभी मजदूर श्रेणी के सदस्य होंगे। इसी प्रकार एक स्थानीय उपभोक्ता-समिति के सदस्य वे सभी व्यक्ति होंगे जिनका उस उपभोग से सम्बन्ध होगा। स्थानीय श्रेणी और उपभोक्ता समिति से निर्वाचित सदस्य स्थानीय संघ के सदस्य होंगे। इस संघ के कुछ सदस्य प्रादेशिक रूप से भी निर्वाचित होंगे। प्रादेशिक और राष्ट्रीय श्रेणियों, समितियों तथा संघों के सदस्य स्थानीय और प्रादेशिक श्रेणियों, समितियों और संघों द्वारा क्रमशः निर्वाचित किये जायेंगे।

स्थानीय संस्थाएँ केवल स्थानीय विषयों का संचालन करेंगी। प्रादेशिक और राष्ट्रीय संस्थाएँ प्रादेशिक और राष्ट्रीय विषयों का क्रमशः संचालन करेंगी। स्थानीय उत्पादन सम्बन्धी विषय ये होंगे—बढ़ईगीरी, लोहारी, सोनारी एवं स्वास्थ्य आदि। स्थानीय उपभोक्ता सम्बन्धी विषय होंगे—खाद्य-सामग्री, कपड़ा, कागज, जूता आदि। प्रादेशिक उत्पादन की वस्तुएँ हैं—कपड़े, जूते, जल, सड़क, बिजली आदि। प्रादेशिक उपभोग के विषय होंगे—प्रकाश, शिक्षा, सड़क आदि। राष्ट्रीय उत्पादन के विषय होंगे—फौलाद, लोहा, जहाज आदि। राष्ट्रीय उपभोग की वस्तुएँ हैं—यातायात, शिक्षा आदि। कुछ ऐसी सेवाएँ भी होंगी जो स्थानीय, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में पायी जायेंगी—जैसे शिक्षा। ऐसी सेवाओं का प्रबन्ध सम्बद्ध श्रेणियों के समन्वय द्वारा होगा। सारे समाज के उत्पादन एवं वितरणसम्बन्धी नियम तथा नीति का निर्धारण श्रेणियों और समितियों के समन्वय से होगा। समय-समय पर आवश्यकतानुसार इनकी संयुक्त बैठकें होंगी।

संघ का कार्य इन संस्थाओं का समन्वय करना है। वेतन, आय, व्यय, मूल्य, कर, बैंक, शान्ति, न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों का संचालन संघ द्वारा होगा। सभी विवादास्पद विषयों में संघ सर्वोच्च न्यायालय का कार्य करेगा। संघ द्वारा पाणि-ग्रहण जैसे विषयों सम्बन्धी नियम भी बनाये जायेंगे।

कोल का यह विश्वास था कि ऐसी विस्तृत योजना के फलस्वरूप आधुनिक समाज की त्रुटियों का निराकरण हो सकेगा तथा एक आदर्श समाज का जन्म होगा। पूँजी-

वाद का अन्त होगा और साथ ही साथ अतिरिक्त-मूल्य (लाभ) की प्रथा का भी। श्रमिक स्वयं ही व्यवसायों का श्रेणी द्वारा संचालन करेंगे। श्रेणी उत्पादन सम्बन्धी सभी विषयों में सत्ताधारी संस्था होगी। ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों को अवश्य ही मनोवैज्ञानिक-सन्तुष्टि होगी। उन्हें कार्य रुचिकर लगेगा तथा उत्पादन बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलेगा। संक्षेप में पूँजीवादी दासत्व से उन्हें मुक्ति मिलेगी। प्रत्येक नागरिक उपभोग सम्बन्धी विषयों में सत्ताधारी होगा। वह भिन्न-भिन्न समितियों द्वारा अपनी रुचि की सन्तुष्टि के सम्बन्ध में विचार प्रकट करेगा। समिति के प्रत्यक्ष जनवादी निर्णय से ही कपड़े का मूल्य और प्रकार निर्धारित होगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का मूल्य आदि भी निर्धारित होगा।

अतः समाज का संगठन पूर्णतया जनवादी रूप से होगा। सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना होगी। नागरिक सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग ले सकेंगे। समाज सर्व-सम्पन्न और सुखी बनेगा। राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित हो जायगा। उसके स्थान पर संघ होगा। क्रमशः इसका कार्यक्षेत्र सीमित होता जायेगा। एक ऐसा समय आयेगा जब कार्यहीन होने पर राज्य का अन्त हो जायगा।

कार्यक्रम

कोल की उक्त योजना फ्रांसीसी संघवाद से मिलती-जुलती है। यही नहीं, श्रेणी-समाजवादियों के कार्यक्रम पर भी संघवाद का काफी प्रभाव था। बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russell), जो एक समय स्वयं श्रेणी-समाजवाद का समर्थक था, का कहना है कि फ्रांसीसी संघवाद और अमेरिकन व्यावसायिक संघवाद ने श्रेणी-समाजवाद को पर्याप्त प्रेरणा तथा बल प्रदान किया था। परन्तु, जैसा ऊपर बताया गया है, सभी श्रेणी-समाजवादी अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ में फेबियनवादी थे। उन्होंने फेबियनवाद से सम्बन्ध-विच्छेद तो अवश्य किया, किन्तु फेबियनवादी शनैःशनैःवाद से नहीं। वे समझौतावाद और सुधारवाद के सदा ही अनुयायी रहे। श्रेणी समाजवादियों ने फेबियनों के समष्टिवाद और संघवादियों के क्रान्ति-मार्ग का परित्याग किया। परन्तु उन्होंने फेबियनों के शनैःशनैःवाद पर संघवादियों के संघीय आन्दोलन का पुट दिया। यह कहना असंगत न होगा कि श्रेणी-समाजवाद ने आंग्ल-सुधारवाद के

फ्रांसीसी संघवाद का, तथा फ्रांसीसी संघवाद को आंग्ल-सुधारवाद का रूप दिया। यह विशेषता इस दर्शन के कार्यक्रम से स्पष्ट हो जाती है।

क्रान्ति या सुधार :—रूस की १९१७ की समाजवादी क्रान्ति से सभी ब्रिटिश मजदूर सहानुभूति रखते थे। श्रेणी-समाजवादी, जो बहुत हद तक श्रमिक-आन्दोलन के वामपक्ष में थे, इस क्रान्ति से प्रभावित हुए। किन्तु ब्रिटिश सुधारवादी परम्परा से वे भी मुक्त न हो सके। केवल थोड़े से ही श्रेणी-समाजवादी क्रान्ति-मार्ग के पक्षपाती बने, बहुसंख्यकों का सुधारवादी कार्यक्रम में जो अटूट विश्वास था वह स्थायी रहा। परन्तु उनका सुधारवाद फेबियनों के सुधारवाद से पूर्णतः भिन्न था।

आर्थिक मार्ग :—समष्टिवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि फेबियनवाद और ब्रिटिश लेबर पार्टी का संसदीय नीति पर अटूट विश्वास था। संघवादियों की भांति, श्रेणी-समाजवादी भी संसदीय नीति या राजनीतिक मार्ग के विरोधी थे। नव समाज के-स्थापना के हेतु वे इस मार्ग को व्यर्थ-सा समझते थे। कोल का कहना था कि संसदीय कार्यक्रम द्वारा श्रेणी-समाजवाद की स्थापना असम्भव है। संसदीय मार्ग से श्रमिकों में वर्गीय जाग्रति कठिन है। फिर पूंजीपति अपने अधिकार तथा उच्च स्थान का वैधानिक रूप से कभी परित्याग नहीं करेगा। इसलिए संघवादियों की भांति श्रेणी-समाजवादी भी आर्थिक कार्यक्रम द्वारा अपने ध्येय की पूर्ति करना चाहते थे। परन्तु उनका आर्थिक कार्यक्रम संघवादी कार्यक्रम से भिन्न था।

श्रेणी-समाजवादी चाहते थे कि श्रमिकों का संगठन एक नये रूप से हो। परम्परागत संगठन दोषपूर्ण था। वह संगठन केवल शिल्प संघों पर आश्रत था। एक कारखाने के श्रमिकों के कई शिल्प-संघ होते थे। जब एक शिल्प-संघ हड़ताल करता था तब पूंजीपति अन्य शिल्प के श्रमिकों को क्षणिक प्रोत्साहन देकर हड़ताल असफल करा सकता था। श्रेणी-समाजवादियों ने व्यावसायिक संघों का प्रचार किया। उनका विचार था कि एक कारखाने में एक ही व्यावसायिक-संघ होना चाहिये। इस संघ के सदस्य कारखाने के सभी श्रमिक (निपुण या अनिपुण) होंगे। ऐसे संयुक्त संगठन की स्थिति में पूंजीपति श्रमिकों के बीच फूट नहीं डाल सकेगा। हड़ताल भंग नहीं की जा सकेगी। श्रम-संगठन दृढ़ होगा और श्रम-संघर्ष शक्तिशाली। इन व्यावसायिक-संघों में केवल हाथ से काम करने वाले मज़दूर ही नहीं प्रत्युत बुद्धिजीवी मज़दूरों को भी सदस्यता प्राप्त होगी। संघ में जनवाद का बोलबाला होगा।

श्रेणी-समाजवादियों ने ऐसे व्यावसायिक संघों द्वारा ब्रिटिश श्रमिक आन्दोलन को बल दिया। शिल्प-संघों की संख्या क्रमशः घटती गई और इन नवीन व्यावसायिक संघों की वृद्धि हुई।

अधिकाधिक अपहारी नियंत्रण :—श्रेणी-समाजवादी कार्यक्रम की यह प्रमुख विशेषता थी कि वह पूँजीवादी निरंकुशता पर धीरे-धीरे धावा करने का पक्षपाती था। ये समाजवादी पूँजीपति को व्यावसायिक कार्यों से पृथक करना चाहते थे तथा धीरे-धीरे पूँजीपति और उसके सहायकों को निष्क्रिय बनाने के पक्ष में थे। उनका मत था कि पूँजीपति के निष्क्रिय हो जाने पर उसे पदच्युत करना सरल हो जायेगा।

यह कैसे सम्भव है ? श्रेणी समाजवादी चाहते थे कि श्रमिक धीरे-धीरे व्यवसाय संचालन पर अपना आधिपत्य जमालें। यह सिद्धान्त प्रथम महायुद्ध के 'शॉपस्टीवर्ड-आन्दोलन' पर आश्रत था। पैटन (J. Paton) इस नीति काप्रचारक था। प्रथम महायुद्ध के समय कारखानों में नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न हुईं। श्रमिकों ने इन समस्याओं को हल करने तथा अपनी दशा सुधारने के लिए कारखाने के प्रत्येक अंग (shop) से एक प्रतिनिधि (steward) को कारखाने के मजदूर-संघ में भेजने की प्रथा आरम्भ की। एक कारखाने में कई स्टीवर्ड होते थे। इनकी एक समिति होती थी। यह समिति उत्पादन तथा श्रम सम्बन्धी विषयों पर विचार प्रकट करती और कारखाने के कर्मचारियों को सहायता देती थी। ये समितियाँ व्यवसाय के संगठन तथा संचालन में हस्तक्षेप करती थीं। पूँजीपति इस हस्तक्षेप या सहायता का विरोध नहीं करता था। क्योंकि युद्धकाल में उत्पादन वृद्धि ही पूँजीपतियों का ध्येय था और इस सम्बन्ध में श्रमिकों का सहयोग लाभदायक समझा जाता था।

श्रेणी समाजवादियों ने इस नीति को अपनाया। वे यह माँग करने लगे कि श्रमिकों को व्यवसाय के संचालन में पर्याप्त भाग मिलना चाहिये। श्रमिकों द्वारा कर्मचारियों का निर्वाचन होना चाहिये। क्रय-विक्रय और कच्चे माल के क्रय पर भी श्रमिकों की राय मान्य होनी चाहिये। मजदूरों को व्यक्तिगत रूप से वेतन न दिया जाये, वरन मजदूर-संघ द्वारा वेतन वितरण किया जाना चाहिये। इस रीति से मजदूरों की एकता की वृद्धि सम्भव होगी।

इस प्रकार धीरे-धीरे मजदूरों का व्यवसाय-संचालन पर नियंत्रण हो जायगा।

अवश्य ही, पूँजीपति इस अधिकाधिक अपहारी नियंत्रण की प्रगति में रुकावट डालेगा। अतएव मजदूर-संघ का कर्तव्य है कि वह बलपूर्वक इन अधिकारों को पूँजीपति से छीन ले। तब भविष्य में पूँजीपति निष्क्रिय हो जायगा और श्रमिक का राष्ट्रीय अर्थ पर आधिपत्य स्थापित होगा। पूँजीपति के निष्क्रिय होने पर उसे सरलता से अर्थ-सम्बन्धी अधिकारों से च्युत कर दिया जायगा। अतः पूँजीवाद का अन्त होगा। यह तर्क टानी के उपर्युक्त 'साम्पत्तिक अधिकार' के सिद्धान्त पर आश्रित था। (इस सिद्धान्त के अनुसार बिना कार्य के अधिकार नहीं होना चाहिये) श्रेणी समाजवादियों का विचार था कि भविष्य में पूँजीपति से कहा जायगा कि निष्क्रिय होने से उसका अब देश के अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

उदाहरण और प्रचार :—अन्य समाजवादियों की भांति श्रेणी-समाजवादी भी पत्रों, लेखों और पुस्तकों द्वारा अपने दर्शन का प्रचार करते थे। यही नहीं, वे आदर्श उदाहरण द्वारा जनता को आकर्षित करना चाहते थे। १९वीं सदी के आरम्भ में रावर्ट ओवेन (Robert Owen) ने स्काटलैंड में न्यू लेनार्क (New Lenark) नामक आदर्श समाजवादी बस्ती की स्थापना की थी। इसी भांति श्रेणी-समाजवादी भी आदर्श श्रेणियों की स्थापना द्वारा अपने विचारों का प्रचार करना चाहते थे।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इंगलैंड में मकानों की समस्या जटिल-सी हो गयी थी। नवीन गृहों की आवश्यकता थी। १९२० में श्रेणी-समाजवादियों ने एक 'राष्ट्रीय भवन-निर्माण-संघ' (National Buildings Guild) की स्थापना की। हाब्सन इसका मंत्री था। इस संस्था ने सरकार से प्रार्थना की कि उसे गृह-निर्माण का ठेका दिया जाय। इस संघ ने आश्वासन दिया कि वह इस कार्य को साधारण ठेकेदार के मुकाबले में सस्ते और अच्छे ढंग से कर सकेगा। केवल कुछ समय तक सरकार ने इस श्रेणी को प्रोत्साहन दिया। वास्तव में इसने सस्ते और अच्छे मकान बनाये। किन्तु धनाभाव और सरकार की सहानुभूति के अभाव से १९२२ में यह संस्था तोड़ दी गयी। इस संस्था की सफलता के बल पर श्रेणी-समाजवादियों ने प्रचार किया कि श्रमिक श्रेणियों द्वारा देश का अर्थ संचालित हो सकता है।

इसी प्रकार अन्य श्रेणियों की भी स्थापना की गयी। पर ये भी अल्पजीवी रहीं। केवल दर्जियों की श्रेणी काफी दिनों तक कार्य करती रही।

ओरेज-डॅग्डस साख प्रणाली :—श्रेणी-समाजवादियों में एक अल्पसंख्यक मत

था। यह उस साख प्रणाली के अनुयायी था, जो ओरेज (Orage) और डग्लस (Douglas) द्वारा प्रचलित की गयी थी। यह पद्धति अत्यन्त सरल थी। इसके अनुसार देश की साख-व्यवस्था का समाजीकरण होने पर श्रेणी-समाजवाद की स्थापना सरलता से सम्भव हो जायेगी।

प्रभाव

संगठनात्मक दृष्टि से श्रेणी-समाजवाद का अन्त १६२५ में हुआ था। इस वर्ष उसके राष्ट्रीय श्रेणी-संघ की समाप्ति हो गयी थी। साथ ही यह दर्शन भी इतिहास की वस्तु बन गया। परन्तु इसका प्रभाव आधुनिक श्रम आन्दोलन एवं दर्शन पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा।

एक समय ऐसा था कि इंगलैंड ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी श्रेणी-समाजवादी दर्शन का प्रचार हुआ और संस्थाएँ बनीं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, जापान और यूरोप के अन्य देशों में इस दर्शन का अध्ययन किया गया। कोल का कहना था कि रूसी क्रान्ति के बाद लेनिन ने भी श्रेणी-समाजवादी साहित्य का अध्ययन किया। यह सब श्रेणी-समाजवादी विचारधारा की लहर के प्रसार का निर्देशक है। परन्तु जन्म-स्थान (इंगलैंड) की भाँति इन देशों में भी यह दर्शन अल्पजीवी रहा।

ब्रिटेन के समष्टिवादी दर्शन पर श्रेणी-समाजवाद का अधिक प्रभाव पड़ा। जैसा ऊपर कहा गया है, सभी श्रेणी-समाजवादी पहले समष्टिवादी थे। उनका फेबियन-वाद से सम्बन्ध विच्छेद तो अवश्य हुआ परन्तु वे फेबियनवादियों के साथ-साथ ब्रिटिश श्रम-आन्दोलन में भाग लेते रहे। स्वाभाविक ही था कि फेबियनों ने इस नयी विचारधारा का, जिसका उद्गम उन्हींकी संस्था में हुआ था, ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। १६२० में फेबियनों ने अपने ग्रीष्म-शिक्षण-शिविर में एक सप्ताह श्रेणी समाजवाद के अध्ययन में लगाया था। फेबियन-संघ ने टॉनी की सुप्रसिद्ध पुस्तक (The Sickness of the Acquisitive Society) को प्रकाशित किया था। यह पुस्तक श्रेणी-समाजवादी विचारधारा की समर्थक थी। १६२० में वेब-दम्पति की योजना (The Constitution of the Socialist Commonwealth for Britain)

में व्यावसायिक जनवाद को परोक्ष रूप से स्वीकार किया गया था। इस स्वीकृति पर स्पष्ट श्रेणी-समाजवादी व्यावसायिक-जनतंत्र की छाप थी। कई वर्षों तक यह योजना ब्रिटिश लेबर पार्टी की दृष्टि से आदर्श योजना मानी जाती थी। इस प्रकार फेबियनवादियों द्वारा श्रेणी-समाजवाद का प्रभाव आधुनिक ब्रिटिश श्रम-आन्दोलन और दर्शन पर परोक्ष रूप से पड़ा। यह कहना गलत न होगा कि समष्टिवादियों की विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी विचारधारा श्रेणी-समाजवाद द्वारा परोक्ष रूप से प्रेरित हुई थी।

श्रेणी-समाजवादी कोल ने अद्वैतवादी राज्य और राजसत्ता की आलोचना की थी। जैसा ऊपर बताया गया है, इस आलोचना का प्रभाव बहुलवाद पर पड़ा था। (बहुलवाद का अध्याय देखिये।) इसके अतिरिक्त नौकरशाही की आलोचना को भी श्रम-आन्दोलन ने अपनाया। इस प्रकार इस समाजवादी दर्शन का प्रभाव आधुनिक जनवाद पर भी परोक्ष रूप से पड़ा।

ब्रिटेन में व्यावसायिक संघों का प्रचार सर्वप्रथम श्रेणी-समाजवादियों ने ही किया था। आज यह प्रथा केवल ब्रिटेन में ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी प्रचलित है। इसके द्वारा श्रमिक संगठन तथा आन्दोलन को बहुत बल मिला।

यही सर्वप्रथम समाजवादी दर्शन था जिसने ब्रिटिश मजदूरों के सम्मुख ऐसी योजना प्रस्तुत की जिसमें श्रमिक ही सत्ताधारी और संचालक होगा। ब्रिटिश श्रमिक अब यह सोचने लगा कि पूँजीपति-विहीन समाज सम्भव हो सकता है। श्रमिक को प्रोत्साहन मिला। उसकी वर्गीय जाग्रति की भावना सुदृढ़ हुई। फ्रांस के क्रान्तिकारी-दर्शन (संघवाद) का ब्रिटिश मजदूरों में ब्रिटिश ढंग से प्रचार हुआ।

इस प्रकार श्रेणी-समाजवाद का आधुनिक वामपक्षी आन्दोलन और जनवादी विचारधारा में प्रमुख स्थान है। समष्टिवादी और साम्यवादी विचारधाराएँ काफी बलवान थीं; श्रेणी-समाजवादी आन्दोलन इनका मुकाबला न कर सका। कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण इस दर्शन एवं संगठन का अन्त हुआ। परन्तु इस दर्शन से आंग्ल भाषाभाषी देशों की समाजवादी विचारधारा तथा संगठन प्रभावित हुए। संघवादी तथा श्रेणी-समाजवादी योजनाओं (जो स्थानवाद पर आश्रित थीं) ने रूस के सोवियत शासन के संगठन को प्रेरित किया। मुसोलिनी ने फासिस्ट इटली के संगठन के सम्बन्ध में संघवादी तथा श्रेणी समाजवादी योजनाओं का आश्रय लिया।

सारांश

श्रेणी-समाजवाद ब्रिटेन की विशेष देन है। इसकी परिकल्पना श्रेणी-संगठन के आदर्शों पर की गई थी। इसने पूँजीवाद की आलोचना मार्क्सवादी, नैतिकतावादी और मनोविज्ञानवादी दृष्टिकोणों से की। इसने आंग्ल सुधारवाद को फ्रांसीसी संघवाद तथा फ्रांसीसी संघवाद को आंग्ल सुधारवाद का रूप दिया। यह फ्रांसीसी संघवाद का आंग्ल संस्करण है। इसके प्रमुख दार्शनिक ए० जे० पेन्टी, ए० आर० ओरेज, एस० जी० हाव्सन और जी० डी० एच० कोल थे।

श्रेणी-समाजवादियों का कहना था कि मजदूरों की गरीबी का कारण मजदूरी की वर्तमान प्रथा है। आधुनिक पूँजीवादी उत्पादन में श्रमिक एक मशीन की भाँति है। एक श्रमिक को अपने कार्यों में कोई नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रोत्साहन नहीं मिलता। गरीबी को दूर करने के लिए श्रमिक हड़तालें करते हैं। फलतः उत्पादन का ह्रास होता है। फिर मजदूरों को अपने हुनर तथा कौशल के प्रदर्शन का अवकाश नहीं मिलता। पूँजीपति का देश के उत्पादन में कोई महत्त्वपूर्ण हाथ नहीं होता। वह पूर्णतया परोपजीवी है। अतः उसका उन्मूलन समाज और अर्थ की न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिए अपरिहार्य है। इन सब बुराइयों का अन्त पूँजीवाद के अन्त से ही सम्भव है।

आधुनिक जनवाद की त्रुटियों का विश्लेषण करते हुये श्रेणी-समाजवादी बतलाते हैं कि सच्चा जनवाद व्यावसायिक प्रतिनिधित्व द्वारा ही सम्भव है। आधुनिक जनतंत्र में मनुष्य का केवल नागरिक की हैसियत से प्रतिनिधित्व होता है। ऐसा जनवाद पाखंड मात्र है। कोल के मतानुसार "मुझसे इस बातका अनुरोध करना कि मैं किसी मनुष्य को अपनी समस्त समस्याओंके लिए प्रतिनिधि बनाऊँ मेरी बुद्धि का अपमान करना है।" आदर्श श्रेणीवादी समाज के मनुष्य का प्रतिनिधित्व पूर्ण रूपेण होगा। केवल यही ही वास्तविक जनवाद है।

बहुलवादी दर्शन को श्रेणी-समाजवाद से महत्त्वपूर्ण बल मिला था। प्रायः सभी श्रेणी-समाजवादी, मुख्यतः कोल, आधुनिक अद्वैतवादी राज्य के आलोचक थे। इस दर्शन के अनुयायियों ने भावी-समाज के संगठन की दो मुख्य योजनायें प्रस्तुत की—एक हाव्सन की और दूसरी कोल की। हाव्सन के अनुसार

भावी-समाज में भी राज्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। वह एक समाज-सेवक संस्था होगी। वह अन्य सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं और समस्याओं का समन्वय करेगी। बहुलवादी कोल के अनुसार राज्य का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं होना चाहिए। अद्वैतवादी राज्य की आलोचना करते हुए उसने कहा कि सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वदण्टा, सर्वद्रष्टा तथा सार्वभौम राज्य की कल्पना आज अतीत की बात हो गई है। कोल राज्य के स्थान पर कम्यून की स्थापना का पक्षपाती था। बहुलवादी कोल की योजनानुसार राज्य के अधिकार और कार्य इतने कम हो जायेंगे कि भविष्य में शनैः शनैः वह स्वयम् ही लुप्त हो जायेगा। यह कह देना उचित होगा कि अब कोल इस मत का नहीं है।

श्रेणी-समाजवादियों पर फेबियनों के सुधारवाद का काफी प्रभाव पड़ा था। उनका बहुमत सुधारवादी था, परन्तु यह सुधारवाद फेबियनवाद से भिन्न था। श्रेणी-समाजवादियों ने मजदूरों के व्यावसायिक-संघों के पक्ष में और परम्परागत शिल्प संघों के विरुद्ध आन्दोलन किया।

समष्टिवादी संसदीय नीतिकी आलोचना करते हुए श्रेणी-समाजवादियों ने कहा कि इस कार्यक्रम को एकमात्र साधन बनाकर श्रमिक न समाजवाद की स्थापना कर सकेंगे और न अपनी दशा में महत्त्वपूर्ण सुधार ही। इसलिए उन्होंने कुछ नई योजनाएँ प्रस्तुत कीं। शाप स्टुअर्ड आन्दोलन से प्रोत्साहित होकर श्रेणी-समाजवादियों ने अधिकाधिक अपहारी नियंत्रण को अपने कार्यक्रम में उच्च स्थान दिया। इस कार्यक्रम का ध्येय पूँजीपतियों को उत्पादन की दृष्टि से धीरे-धीरे कार्यहीन बना देना था। उन्होंने 'नेशनल बिल्डिंग्स गिल्ड' आदि संस्थाओं की स्थापना की। इन संस्थाओं तथा पत्रों, लेखों तथा पुस्तकों द्वारा श्रेणी-समाजवादी योजनाओं का प्रचार किया गया। कार्यक्रम के सम्बन्ध में इस दर्शन की सर्वश्रेष्ठ तथा स्थायी देन थी व्यावसायिक संघों की स्थापना। परम्परागत शिल्प-संघों की अपेक्षा व्यावसायिक-संघों ने श्रमिक आन्दोलन को अधिक बल दिया।

श्रेणी-समाजवाद अब इतिहास का विषय बन गया है। १६२५ में 'नेशनल गिल्ड-लीग' को भंग कर दिया गया। परिणामतः यह दर्शन महत्त्वहीन बना। परन्तु इस दर्शन का यथेष्ट प्रभाव श्रमिक संगठन, विकेन्द्रीकरण, बहुलवाद तथा जनवाद पर पड़ा।

दसम अध्याय

समाजवाद की समीक्षा

आधुनिक युग में समाजवादी दर्शनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बहुसंख्यक गरीब जनता इसके नाम से ही इसकी ओर आकर्षित होती है। यही कारण है कि प्रतिक्रियावादी हिटलर ने भी अपने फासीवादी दल का नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल (National Socialist Party) रखा था। इससे अधिक समाजवादी आकर्षण के पक्ष में और क्या प्रमाण दिया जा सकता है ? समाजवाद के नाम पर सैकड़ों युवकों तथा श्रमिकों ने अपने प्राण न्योछावर कर दिये हैं। वास्तव में समाजवाद आधुनिक युग का सर्वाधिक सजीव दर्शन है।

परन्तु समाजवादी दर्शन पूर्णतः त्रुटि रहित नहीं है। अराजकतावाद, संघवाद और श्रेणी-समाजवाद का स्वयं ही अन्त हो गया है। आज इन दर्शनों के अनुयायी केवल इने गिने ही हैं। श्रमिक आन्दोलन में इनका कोई भी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रह गया। (जैसा संघवाद के अध्याय में बताया गया है, फ्रांस का आधुनिक संघवाद पुराने संघवाद से भिन्न है।) ये दर्शन अब केवल इतिहास के विषय रह गये हैं। इसलिए इनकी आलोचना करना व्यर्थ है।

आज साम्यवादी और समष्टिवादी दर्शन ही मुख्य समाजवादी प्रथायें हैं। इनकी संस्थाओं का श्रमिक आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। रूस, चीन और मध्य यूरोप के देशों में मार्क्सवादी दलों का एकाधिकार है (वैसे तो चीन में अन्य राजनीतिक दल भी हैं)। विश्व के अन्य देशों में मार्क्सवादी और समष्टिवादी दोनों दल हैं। प्रथम महायुद्ध के समय इन दोनों में विच्छेद हुआ था।

रूस की क्रान्ति के पश्चात् इनके पारस्परिक भेद बढ़ते ही गये। ये खुलेआम एक दूसरे का विरोध करने लगे। इस पारस्परिक विरोध से प्रतिक्रियावादियों, मुख्यतः फासीवादियों, ने लाभ उठाया। कुछ देशों में फासीवाद तथा प्रतिक्रियावाद के प्रभाव को रोकने के लिए १६३३ के बाद इन दोनों दलों ने संयुक्त मोर्चे बनाये। परन्तु मतभेद स्थायी ही रहा।

निम्नकोटि की आलोचना :—साम्यवाद की आलोचना कई दार्शनिकों ने की है। इसका पुनः संशोधन भी हुआ है। कुछ आलोचनायें तो बहुत ही निम्नकोटि की हैं। ऐसी आलोचनाओं द्वारा अबोध जनता में समाजवाद-विरोधी भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है।

कहा जाता है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में मनुष्य काम नहीं करेगा। आधुनिक पूंजीवादी समाज में व्यक्ति बिना प्रोत्साहन के कोई कार्य नहीं करता। प्रोत्साहन का मुख्य स्रोत लाभ है। समाजवाद में लाभ का कोई स्थान नहीं है। स्वभावतः उस व्यवस्था में प्रोत्साहन का अभाव होगा। सोवियत रूस की शक्ति और प्रगति इस आलोचना का उत्तर है। वस्तुतः प्रोत्साहन केवल लाभ से ही नहीं होता। मनुष्य के कार्य केवल बेन्थम के उपयोगितावाद से ही निर्धारित नहीं होते। मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति काम करने की है। बर्नार्ड शा ने ठीक ही कहा है कि "नरक की सबसे अच्छी परिभाषा स्थायी छुट्टी है"। पूंजीवादी समाज में कामचोरी की मनोवृत्ति कार्य के रूप (अधिक कार्य तथा अरुचिकर कार्य) से होती है। यह रूप समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में नहीं होता। इसलिए वहां मनुष्य रुचिपूर्वक काम करता है।

कहा जाता है कि समाजवाद में व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई स्थान न होगा। यह असत्य है। समाजवादी अर्थ में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार तो अवश्य नहीं होता पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रत्येक नागरिक को पूर्ण अधिकार होता है। यही नहीं, वास्तव में व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि होती है। क्योंकि उत्पादन उपभोग के लिए होता है, लाभ के लिए नहीं। उत्पादन वृद्धि से ज्ञान तथा विज्ञान को भी प्रोत्साहन मिलता है।

कहा जाता है कि समाजवादी व्यवस्था में पारिवारिक जीवन का कोई स्थान नहीं होता। यह भी निराधार आरोप है। सोवियत रूस का पारिवारिक जीवन इसका साक्षी है। वहां स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता है। परित्याग की स्वतंत्रता तो अवश्य है,

लेकिन परित्यागों को अनावश्यक प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। स्त्री, पुरुष और बच्चे सुख से पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं। यहाँ तक कि स्त्री और पुरुष को समुद्री जहाजों में भी साथ-साथ नौकरी दी जाती है जिससे कि राज-सेवा के साथ-साथ वे सुखी पारिवारिक जीवन भी व्यतीत कर सकें। एंगेल्स ने कहा था कि मानव इतिहास में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा के जन्म के साथ-साथ वर्गों का भी जन्म हुआ था। इससे दासता की प्रथा का प्रसार हुआ। स्त्री जाति ही सर्वप्रथम दास बनी। पति बाहर का काम करता था और स्त्री घर का। सम्पत्ति उपार्जन पुरुष का कार्य था। स्वभावतः स्त्री उसके अधीन बनी। इसलिए स्त्री की दासता का अन्त तभी हो सकता है जब उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार का अन्त कर दिया जाय और परिणामतः बेरोजगारी का भी। यह केवल समाजवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। अतः समाजवादी समाज में स्त्री स्वतंत्र होती है और पारिवारिक जीवन आदर्शमय।

कहा जाता है कि समाजवाद (मुख्यतः मार्क्सवाद) धर्म-विरोधी है। समष्टिवादी दलों (जैसे ब्रिटिश लेबर पार्टी में) में पादरी काफी संख्या में हैं। एटली ने कहा था कि बाइबिल का प्रचार जितना लेबर पार्टी के मंचों से होता है उतना किसी अन्य राजनीतिक संस्था द्वारा नहीं। जहाँ तक मार्क्सवादी रूस का प्रश्न है यह कहना पर्याप्त होगा कि वहाँ अभी तक गिरजे घर आदि धार्मिक संस्थाएँ हैं। रूस में धार्मिक विश्वास स्वेच्छात्मक है। राज्य का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं। धार्मिक संस्थाओं को राज्य-कोष से आर्थिक सहायता नहीं मिलती। धर्म-अनुयायियों के चन्दे से ही इन संस्थाओं का संचालन होता है। हाँ, क्रान्ति के बाद कुछ वर्षों तक पादरियों को कुछ नागरिक अधिकारों से वंचित किया गया था। सोवियत नेताओं का कहना है कि यह प्रतिबन्ध पादरियों पर उनकी आन्तरिक प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति के कारण लगाया गया था। वस्तुतः धार्मिक नेताओं ने क्रान्ति एवं नये सोवियत राज्य का विरोध किया था। १९३६ के संविधान से पादरियों को मताधिकार प्रदान किया गया है।

कहा जाता है कि समाजवाद का अर्थ पुलिस तथा सैनिक नियंत्रण है। चर्चिल के १९४५ के विख्यात गेस्टापो भाषण में, जो संसदीय निर्वाचन के समय दिया गया था, इस विचारधारा का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। पर समाजवादी राज्यों का संचालन इसका प्रतीक नहीं है। समष्टिवादी समाज में तो सभी विचारधाराओं का स्थान है। मार्क्सवादी रूस में नागरिकों को जीवन निर्वाह की पूर्ण स्वतंत्रता है; केवल

मार्क्सवाद की विरोधी विचारधारा का अवश्य कोई स्थान नहीं। अन्य विषयों में नागरिक पूर्णतया स्वतंत्र हैं। यदि वहाँ सैनिक नियंत्रण होता तो वहाँ की जनता हिटलरशाही का मुकाबला संयुक्त रूप से न कर पाती।

मार्क्सवाद की आलोचना :—उक्त आलोचना समष्टिवाद और मार्क्सवाद दोनों से सम्बन्धित है। अब पहले मार्क्सवाद और फिर समष्टिवाद की दार्शनिक आलोचना की जायेगी।

मार्क्स हीगेल का अनुगामी था। उसने हीगेल के द्वन्द्ववाद को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का रूप दिया। उसने हीगेल की निरपेक्षता को सर्वहारा के अधिनायकत्व (निरपेक्षता) का रूप दिया। मार्क्सवादी रूस में ऐसे अधिनायकत्व की स्थापना हुई। हाँ, सोवियत रूस के जन्मदाताओं (लेनिन, स्तालिन आदि) ने यूरोप के मजदूर आन्दोलनों में क्रान्तिकारी संघवादियों के साथ-साथ भाग लिया था। स्वभावतः उन पर स्थानीय संघवादी और श्रेणी-समाजवादी योजनाओं का प्रभाव पड़ा। सोवियत रूस के ढांचे पर इन दोनों विचारधाराओं (मार्क्सवादी अधिनायकवाद और संघवादी स्थानवाद) की छाप मिलती है। सोवियतों का ढांचा संघवादी है, राज्य का नियंत्रण मार्क्सवादी। इस प्रकार मार्क्सवादी अधिनायकवाद पर संघवाद के जनतंत्रीय ढांचे की पुट दी गई है। अब पुट तो केवल पुट-मात्र ही रह गई है और हीगेलवादी या मार्क्सवादी अधिनायकवाद का बोलबाला है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि अधिनायकवाद और जनतंत्र एक दूसरे के विरोधी हैं।

अन्य समाजवादियों की भांति मार्क्सवाद भी सकारात्मक स्वतंत्रता के अनुयायी हैं। वास्तव में स्वतंत्रता का वास्तवीकरण बिना आर्थिक और सामाजिक निश्चिन्तता के सम्भव नहीं है। सोवियत रूस में आर्थिक और सामाजिक निश्चिन्तता का वास्तवीकरण अवश्य हुआ है। सोवियत नागरिकों की बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा भौतिक क्षेत्रों में निरन्तर प्रगति हुई है। यह प्रगति आश्चर्यजनक और प्रशंसनीय है। यह तो सत्य है कि रूस द्वारा एक नई सभ्यता तथा मानवता का निर्माण हुआ है। परन्तु यह भी सत्य है कि मिल की नकारात्मक स्वतंत्रता, चाहे वह कितनी ही हास्यपूर्ण क्यों न हो, मानव-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। निस्सन्देह सोवियत राज्य में ऐसी नकारात्मक स्वतंत्रता का पूर्ण अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्सवादी सोवियत नेता स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि (आर्थिक और सामाजिक निश्चिन्तता) दृढ़ करने में इतने लीन हैं कि स्वतंत्रता को ही भूल गये।

मार्क्सवादियों का कहना है कि राज्य केवल दो प्रकार के होते हैं—सर्वहारा का अधिनायकत्व एवं पूँजीपति का अधिनायकत्व। पश्चिमी यूरोप के जनतंत्रों को ढोंग माना जाता है। उनका कहना है कि वास्तव में पूँजीपति के अधिनायकत्व पर ये जनतंत्र एक पर्दे की भाँति हैं। उनका विश्वास है कि सोवियत रूस में ही वास्तविक जनतंत्र है। क्योंकि वहाँ बहुसंख्यक श्रमिकों का राज्य है। यह विचारधारा राजनीतिशास्त्र की परम्परा से भिन्न है। प्रजातंत्र के अंग, भाषण, कार्य और संगठन आदि की स्वतंत्रता माने जाते हैं। रूस में सोवियत व्यवस्था के विरुद्ध कोई न विचार ही प्रकट कर सकता है और न संगठन ही। ऐसी परिस्थिति में मार्क्सवादी राज्य को जनतंत्रीय कैसे कहा जा सकता है?

वामपक्षी दार्शनिकों का कहना है कि सच्चा जनतंत्र केवल जनता की स्वीकृति से ही नहीं वरन् जनता के राजनीतिक सक्रिय सहयोग द्वारा सम्भव हो सकता है। पुरानी विचारधारा, जिसका जन्म जान लाक द्वारा हुआ था, केवल जन स्वीकृति को ही प्रधानता देती थी। सोवियत रूस में जनता के राजनीतिक सक्रिय सहयोग के सिद्धान्त का अवश्य वास्तवीकरण हुआ है। नागरिकों द्वारा राज्य तथा समाज का संचालन होता है। ऐसा पुराने जनतांत्रिक राज्यों में नहीं पाया जाता। परन्तु पुरानी जन-स्वीकृति का सिद्धान्त मार्क्सवादी रूस में नहीं मिलता। एक दलीय व्यवस्था में जन स्वीकृति का प्रश्न उठता ही नहीं। अतः जहाँ पुराने जनतंत्रों में केवल जन-स्वीकृति ही दृष्टिगोचर होती है, वहाँ सोवियत रूस में केवल जनता का सक्रिय भाग। वास्तविक जनतंत्र इन दोनों सिद्धान्तों के समन्वय से सम्भव है।

स्तालिन ने अपने एक भाषण में कहा था कि पश्चिमी देशों में पूँजीवादी ढाँचा है। इसलिए इनमें भिन्न-भिन्न वर्गों के वर्गीय अर्थैक्य का प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलों द्वारा होता है। अर्थात् एक राजनीतिक दल एक वर्ग या कुछ वर्गों के अर्थैक्य का प्रतिनिधित्व करता है। सोवियत रूस में वर्गों का अन्त हो गया है। इसलिए वहाँ राजनीतिक दल की, जो एक वर्गीय संस्था है, आवश्यकता नहीं है। यह तर्क कुछ हद तक युक्तिसंगत है, पर पूर्णतः नहीं। अभी तक राज्यशास्त्र में राजनीतिक दलों को जनतंत्र का प्राण माना जाता है। इनको वर्गीय संस्था बता कर अनावश्यक साबित करना जनतंत्रीय विचारधारा के विपरीत है। विरोधी दल की अनुपस्थिति में वास्तविक जनवाद सम्भव नहीं है।

मार्क्सवादियों का कहना है कि राज्य का लोप हो जायगा। उनके अनुसार सर्वहारा दल का अधिनायकत्व केवल संक्रमण है। संक्रमण-काल में उत्पादन की वृद्धि होगी। फलतः एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति का प्रादुर्भाव होगा जिसमें राज्य का स्वयं ही लोप हो जायगा। (इस परिस्थिति का वर्णन मार्क्सवाद के अध्याय में किया जा चुका है।) स्तालिन ने १९३९ में कहा था कि सोवियत राज्य पूंजीवादी राज्यों से घिरा हुआ है। शायद एंगेल्स, जिसने राज्य के लोप होने के विषय में कहा था, ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का अनुमान नहीं कर सका होगा। इस परिस्थिति के कारण सोवियत राज्य को समृद्ध होना आवश्यक है। स्तालिनके अनुयायियों का कहना है कि ऐतिहासिक मास्को मुकदमें (Moscow Trials १९३६-७) पूंजीवादी राज्यों के सोवियत-विरोधी षड्यंत्रों के प्रतीक हैं। इस अन्तराष्ट्रीय षड्यंत्र का अन्त करने के लिए एक समृद्ध राज्य की आवश्यकता है। अन्ततोगत्वा, मार्क्सवादी राज्य सुदृढ़ है और लोप होने की स्वतंत्र व्यवस्था की ओर अग्रसर होता विदित नहीं होता। राज्य का लोप होना वैसा ही छायावादी आदर्श कहा जा सकता है जैसा रूसो की "सामान्य इच्छा"।

लार्ड एक्टन के ऐतिहासिक कथन में कुछ सत्य अवश्य है। उसका कहना था कि—Power corrupts and absolute power corrupts absolutely. चाणक्य ने ठीक ही कहा था कि शक्ति-मद से बड़ा मद कोई नहीं है। तुलसीदास की उक्ति प्रसिद्ध है 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'। यह सभी व्यवस्थाओं में लागू हो सकती है। समाजवादी ढांचे में आर्थिक सत्ता का तो अवश्य अन्त हो जाता है, परन्तु सर्वहारा दल के अधिनायकत्व में राजनीतिक तथा सामाजिक सत्ता का अन्त नहीं होता। ये नये सत्ताधारी भी शक्ति-मद से परे नहीं हो सकते। क्रान्ति के उपरान्त इन शक्तिशाली व्यक्तियों की आन्तरिक मनोवृत्ति का स्वतः अन्त नहीं होता। उक्त मनोवृत्ति के अनुसार ये संचालक अपने स्थानों से अलग नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में न तो जनतंत्र ही सम्भव है और न राज्य का लोप होना ही।

मार्क्सवादियों के अनुसार राष्ट्रीयता का जन्म पूंजीवाद के साथ-साथ हुआ था। पूंजीपति ने राष्ट्रीयता का पाठ बाजारों से सम्बद्ध संघर्षों द्वारा सीखा। मार्क्सवादियों का कहना है कि सर्वहारा दल की क्रान्ति के फलस्वरूप शोषण का अन्त होगा। राष्ट्रीय शोषण भी नहीं रहेगा एवं राष्ट्रीयता के उग्र रूप का अन्त हो जायेगा। यह तो सत्य है

१०६९

कि सोवियत रूस में राष्ट्रीय क्या सभी प्रकार के शोषण का अन्त हो गया है। राष्ट्रीयता अब समाजवादी ढाँचे में पनप रही है। परन्तु जब विश्व में मार्क्सवादी समाज की स्थापना होगी तब राष्ट्रीय राज्यों का क्या होगा? राज्य तो मार्क्सवाद के अनुसार क्रान्ति के पश्चात् आवश्यक है। इन राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होगा? क्या इनमें भी मध्य-कालीन पोप या सम्राट् की भाँति एक विश्व का संचालक होगा? ये सब प्रश्न भविष्य से सम्बद्ध तो अवश्य हैं पर साथ ही साथ विचारणीय भी।

समष्टिवाद की आलोचना :—समष्टिवाद की आलोचना दो पक्षों से की जाती है। प्रतिक्रियावादी इस दर्शन के विरोध में वही बातें दोहराते हैं जो अभी समाजवाद के विषय में बतलाई गई हैं। उनका कहना है कि समष्टिवादी समाज में न कार्य के लिए प्रोत्साहन, न व्यक्तिगत सम्पत्ति, न आदर्श पारिवारिक जीवन, न धर्म, और न व्यक्तिगत स्वतंत्रता ही सम्भव है। इन सब की समीक्षा ऊपर की जा चुकी है। दूसरी आलोचना उग्र वामपक्षियों द्वारा की जाती है। इनमें मार्क्स-वादियों और ट्राट्स्कीवादियों का प्रमुख स्थान है।

उग्र वामपक्षियों का कहना है कि पूँजीपति कभी भी संसदीय नियमों द्वारा अपने उच्च पद को नहीं छोड़ेगा। परिस्थिति के अनुसार पूँजीपति भले ही समष्टिवादी सरकारों को संसद द्वारा कुछ सुधारवादी नियम बनाने दे। परन्तु जब उसके एकाधिकार पर किसी प्रकार का आघात होगा तब वह संसदीय नीति का खुलेआम त्याग करेगा। समष्टिवादियों तथा अन्य सुधारवादियों को जेलों में ठूँस देगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई भी वर्ग या सत्ताधारी अपने पद को संसदीय विधियों, सुधारों एवं जन-स्वीकृति द्वारा परित्याग नहीं करता। इसलिए समष्टिवादियों को काल्पनिक समाजवादी कहा जाता है।

वामपक्षियों का कहना है कि आधुनिक ब्रिटिश लेबर पार्टी की सरकारों द्वारा जो भी आर्थिक सुधार हुए हैं उनसे न तो पूँजीवादियों के लाभ में कमी हुई और न श्रमिकों की दशा ही सुधरी। फिर ब्रिटिश साम्राज्यवाद वैसे ही समृद्ध है जैसे पहले था। राष्ट्रीय आन्दोलनों का दमन उसी प्रकार किया जाता है जैसा टोरी पार्टी की सरकारों के युग में।

समष्टिवादियों की आलोचना के विषय में कहा जाता है कि ब्रिटिश राजतंत्र और लार्ड सभा की उपस्थिति में समाजवाद की स्थापना कैसे हो सकती है? यह सत्य है कि समष्टिवादियों ने कहीं भी ऐसी प्रतिक्रियावादी संस्थाओं एवं साम्राज्यवाद का अन्त नहीं किया है। ऐसी परिस्थिति समाजवाद के पूर्णतया विपरीत है।

एकादश अध्याय

बहुलवाद

(PLURALISM)

यह बीसवीं सदी का दर्शन है। इसका प्रादुर्भाव प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय हुआ था। इसके जन्म और प्रचार का श्रेय ब्रिटिश वामपक्षी लेखकों को है। जैसे शब्दार्थ से ही विदित है, यह दर्शन अद्वैतवाद विरोधी है। वस्तुतः यह आदर्शवाद-विरोधी भी है। यह दर्शन व्यक्ति उसकी स्वतंत्रता एवं उसकी संस्थाओं को मानव-व्यवस्था में उच्च स्थान देता है। बहुलवाद राज्य-विरोधी दर्शन नहीं है वरन् राजसत्ता-विरोधी है। राज्य एक निरपेक्ष संस्था नहीं है, वरन् समाज सेवक है। वह तभी आदर्श संस्था मानी जा सकती है जब वह मानव आदर्श एवं लक्ष्य की पूर्ति करे।

यह सिद्धान्त कुछ विशेष वातावरण में पनपा था। इस वातावरण के स्पष्टीकरण के हेतु अद्वैतवाद-आदर्शवाद का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है। राजसत्ता के दृष्टिकोण से राजनीति-शास्त्र का आधुनिक इतिहास कुछ ऐसा है। मध्य-कालीन यूरोप में स्थानवादी संस्थाओं का मानव जीवन में उच्च स्थान होता था। धार्मिक विषयों में चर्च, आर्थिक विषयों में श्रेणी, और लौकिक विषयों में सामन्त का बोलबाला था। नरेश एक सर्वोच्च सामन्त था। नरेश की केन्द्रीय सत्ता का विरोध स्थानवादी चर्च और सामन्तों द्वारा हुआ करता था। इस निरन्तर विरोध के फलस्वरूप कभी-कभी वर्षों तक युद्ध तथा गृह-युद्ध हुआ करते थे। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हुई। नरेश अपनी केन्द्रीय सत्ता को दृढ़ बनाना चाहते थे। स्वभावतः उन्हें चर्च एवं सामन्तों की स्थानवादी सत्ता का अन्त करना

आवश्यक विदित हुआ। उस युग के प्रगतिशील मध्यमवर्गीय सौदागर आदि भी धनोपार्जन की दृष्टि से सुदृढ़ केन्द्रीय राज्य के भक्त बने। सामन्तशाही गृह-युद्धों के अर्ध-अराजकता का वातावरण धनोपार्जन के लिए हितकर न था। फलतः १६वीं सदी में पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में (ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन) ऐसे केन्द्रीय राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई।

अद्वैतवादी दर्शन ने नये राष्ट्रीय राज्यों की पुष्टि की, और स्थानवादी अर्ध-अराजकतावाद को न्यायरहित बताया। इस दर्शन के अनुसार स्थानवादी संघों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अद्वैतवादी हाब्स ने संघों को प्राकृतिक मनुष्य की अँतड़ियों में कीड़ों के समान बताया था। उसका "दीर्घकाय" ही समाज तथा राज्य का एकमात्र प्रतिनिधि है। अद्वैतवादी रूसो के आदर्श प्रत्यक्ष जनवादी राज्य में संघों का कोई भी स्थान न था। संघों की अनुपस्थिति में ही रूसो को "सामान्य इच्छा" सम्भव हो सकती है। आस्टिन ने संस्थाओं की परम्पराओं को नियम तुल्य नहीं माना था। उसके मतानुकूल केवल "निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा ही नियम है।

अतः अद्वैतवाद ने राज्य और व्यक्ति के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित किया। मध्य-कालीन यूरोप में व्यक्ति और राज्य के मध्य अन्य सामन्तशाही, धार्मिक एवं आर्थिक संस्थाएँ होती थीं। अद्वैतवाद ने ऐसी स्थानवादी संस्थाओं को दार्शनिक दृष्टि से अनुचित तथा अनावश्यक बताया। वास्तविक दृष्टि से भी राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना से नागरिक और शासन के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हुआ। अब नागरिक अपनी समस्याओं की पूर्ति के लिए सीधे राज्य से अनुरोध करने लगा। इस अनुरोध की सफलता के हेतु उसे कुछ नयी संस्थाओं की स्थापना की आवश्यकता विदित हुई। फलतः उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों के जनवादी वातावरण में नागरिकों की अन्य संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया।

ये नई संस्थाएँ मध्य-कालीन संस्थाओं से भिन्न थीं, ये जनवादी थीं और जनजागृति इनका श्रोत और ध्येय भी था। इनके द्वारा व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं ने नागरिक जीवन में उच्च स्थान ग्रहण किया। बहुलवादी दर्शन, जो संघों के स्वतंत्र अस्तित्व का समर्थक है, इसी वातावरण में पनप सका। यह दर्शन व्यक्ति एवं उसकी जनवादी संस्थाओं को उच्च स्थान देता है। इसके अनुसार राज्य और नागरिक के सम्बन्ध में इन संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उन्नीसवीं सदी में अद्वैतवादी विचारधारा काफी प्रबल थी। इसकी पुष्टि आदर्शवाद ने की। उग्र आदर्शवादी हीगेल और उसके अनुयायियों ने राजसत्ताधारी राज्य को मानव प्रगति का चरम उत्कर्ष बताया था। हीगेल का राज्य "विश्व-आत्मा" "या सर्व-व्यापक विचार तत्व" का प्रतिनिधि था, वह ईश्वर तुल्य था। ऐसे राज्य की पूजा या भक्ति द्वारा ही व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी नैतिकता एवं स्वतंत्रता सम्भव थी। छायावादी शब्दजाल द्वारा राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन बतलाया गया। अतः अद्वैत-वादी "दीर्घकाय" या "निश्चित जनश्रेष्ठ" को आदर्शवाद द्वारा ईश्वर-तुल्य आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ। बोसांके ने अद्वैतवादी राज्य की निरपेक्षता को "सामान्य इच्छा" का पुट दिया। राज्य की इच्छा को "सामान्य इच्छा" बता कर उसके अधिनायकवाद एवं सर्वाधिकारवाद को दार्शनिक दृष्टि से न्यायसंगत बताया गया।

यह राज्य-भक्ति की मनोवृत्ति इतनी प्रबल बनी कि कई समाजवादी दार्शनिकों ने भी इसे निःसंकोच अपनाया। उन लोगों ने भी राज्य को सर्वेसर्वा मानकर अपनी मानवतापूर्ण योजनाओं की पूर्ति के लिए उससे अनुरोध किया। अद्वैतवादी राज्य को समाजवाद की स्थापना के हेतु एकमात्र साधन स्वीकार किया। मार्क्स पूंजीवाद का कट्टर आलोचक था, परन्तु उसकी मानवता भी उसे राज्य निरपेक्षता का विरोधी न बना सकी। उसने इस एकाधिकार के विरुद्ध अपनी कलम से एक शब्द भी न लिखा। ब्रिटेन के फेबियन-समष्टिवादी वेत्ता जनवादी समाजवाद के प्रेमी तथा प्रचारक थे। परन्तु मार्क्स की भांति वे भी निरपेक्ष राज्य को एकमात्र साधन मानते थे। ये दृष्टान्त अद्वैतवादी एवं आदर्शवादी वातावरण की विपुल शक्ति के निर्देशक हैं।

राज्य के कर्णधारों ने इस वातावरण से पर्याप्त लाभ उठाया। राजसत्ताधारी राज्य को आदर्श और ईश्वर-तुल्य बताकर धर्मभीरु जनता से कहा गया कि राज्य या 'निश्चित जनश्रेष्ठ" की आज्ञा के पालन करने से स्वतंत्रता, नैतिकता एवं प्रगति सम्भव है। जर्मनी में इस विचार का पूर्ण प्रचार हुआ और कैसरशाही को ईश्वर-तुल्य स्थान मिला। (जर्मनी के सम्राट् को कैसर कहा जाता था)। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन निवासियों से भी "सम्राट् और देश" के नाम पर प्राण न्योछावर करने का अनुरोध किया गया। यह प्रचार भी आस्तिनवादी, हीगेलवादी-परम्परा के वातावरण में ही सम्भव हो सकता था।

उत्कर्ष के साथ ही साथ स्वभावतः प्रतिक्रियावादी शक्तियों का भी उदय होता है।

यही परिस्थिति इस सम्बन्ध में भी हुई। कुछ मानवतावादी दार्शनिकों को इस सिद्धान्त में व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसकी नैतिकता एवं स्वतंत्रता का हनन दिखायी पड़ने लगा। इन दार्शनिकों ने उक्त निरपेक्षतावादी सिद्धान्तों की अनेक दृष्टिकोणों से आलोचना की। उन्होंने व्यक्ति के व्यक्तित्व और स्वतंत्रता पर जोर देते हुए अन्य धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संघों को राष्ट्र जीवन में उच्च स्थान दिया। इन दार्शनिकों की विचारधारा पूर्णरूपेण अद्वैतवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोणों के विपरीत थी। अतएव 'यथा नामः तथा गुणः' की कहावत को चरितार्थ करते हुए इसका नाम बहुलवाद रखा गया।

शायद एच० जे० लॉस्की (H. J. Laski, १८८३-१९५०) ही प्रथम विद्वान् था जिसने "बहुलवाद" शब्द का प्रयोग किया। इस दर्शन का प्रादुर्भाव ब्रिटेन में हुआ। यह स्वभाविक था। ब्रिटेन में ही सर्वप्रथम जनस्वीकृति-प्रेमी जॉन लॉक और जन-स्वातंत्र-प्रेमी जान स्टुअर्ट मिल हुए थे। इनकी परम्परा ब्रिटेन में ऐसी व्याप्त थी कि हीगेलवादी अधिनायकवाद को यहाँ समुचित स्थान न मिल सका। बोसांके को छोड़ कोई भी ब्रिटिश दार्शनिक पूर्ण अधिनायकवादी न हुआ। प्रथम महायुद्ध के समय कई मानवतावादी लेखकों ने अपनी कृतियों में राज्य की प्रधानता स्वीकार करते हुए व्यक्ति और उसके संघों को मानव जीवन में उच्च स्थान दिया।

स्रोत

आधुनिक युग में अद्वैतवादी दर्शन की आलोचना इसके जन्मकाल से ही होती आयी है। इस आलोचना के प्रमुख चार रूप थे—व्यक्ति की स्वतंत्रता, पुनरुत्थानवाद, कुछ समाजवादी दर्शन और मीमांसा इन दृष्टिकोणों का प्रभाव बहुलवादी दर्शन पर पड़ा।

वैयक्तिक स्वतंत्रता :—इस दृष्टिकोण के आलोचकों में जॉन लॉक, मान्टेस्क्यू, और जॉन स्टुअर्ट मिल उल्लेखनीय हैं। लॉक ने नैसर्गिक नियमों और सम्पत्ति को सर्वोपरि बताया। (उसके अनुसार सम्पत्ति के अन्तर्गत जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति थी)। उसका राज्य संरक्षक था, स्वामी नहीं। वह पूर्णतः जन-स्वीकृति पर आधृत था जन-स्वीकृति ही सत्ताधारी थी। लॉक ने व्यक्ति को राज्य से ऊँचा स्थान दिया था।

अठारहवीं सदी फ्रांस में मान्टेस्क्यू ने शक्ति-विभाजन को वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए नितान्त आवश्यक बताया। वह भी निरपेक्षता-विरोधी एवं स्वतंत्रता-प्रेमी था। शक्ति-विभाजन का अर्थ है राज्य की शक्तियों का अनेकीकरण तथा विकेन्द्रीकरण। मान्टेस्क्यू के मतानुसार यदि राज्य के एक ही अंग में कार्यपालिका, धारासभा या न्यायपालिका में अधिकार निहित हों, तो नागरिक स्वतंत्रता सम्भव नहीं है। इसलिए ये अधिकार इन तीन अंगों में विभक्त होने चाहियें, अर्थात राज्य में कोई भी संस्था सर्वाधिकारी एवं निरपेक्ष नहीं होनी चाहिये। स्पष्टतः यह विचारधारा अद्वैतवाद विरोधी थी।

उन्नीसवीं सदी में जॉन स्टुअर्ट मिल की वैयक्तिक स्वतंत्रता के दर्शन से अद्वैतवाद और आदर्शवाद विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहन मिला। व्यक्ति की स्वतंत्रता के नाते मिल ने राज्य के कार्यों और अधिकारों को सीमाबद्ध किया। अन्य कई दार्शनिकों द्वारा भी व्यक्ति की स्वतंत्रता के नाते राज्य की निरपेक्षता का विरोध हुआ।

पुनरुत्थानवाद :—द्वितीय विचारधारा पुनरुत्थानवादी थी। ओटोभान गियर्क, एफ० डब्ल्यू० मेटलैंड और जे० एन० फिग्गिस इसके प्रमुख दार्शनिक थे। श्रेणी-समाजवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि १६वीं सदी में आधुनिक औद्योगिक समाज के विरुद्ध पुनरुत्थानवादी आन्दोलन हुए थे। ऐसा प्रायः सभी संक्रमणकालों में हुआ करता है। औद्योगिकतावाद की बुराइयों से कुछ वेत्ताओं की मानवता को ठेस लगी। उन्होंने पुरानी मध्य-कालीन सभ्यता के पुनरुत्थान के पक्ष में विचार प्रकट किया। आधुनिक राज्य रूपी "दीर्घाकाय" के विरुद्ध भी कुछ वेत्ताओं ने आवाज उठाई और मध्य-कालीन सामाजिक संगठन की प्रशंसा की।

उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में गियर्क (Otto von Gierke) ने मध्य-कालीन समाज सम्बन्धी खोज की। उसने बताया कि उस युग में संघों का मानव जीवन में उच्च स्थान था। इन संघों द्वारा व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जीवन का संगठन और संचालन होता था। राज्य का स्थान सर्वप्रमुख तो अवश्य था, किन्तु वह सर्वसत्ता न था। ये संघ स्वतंत्र होते थे और उनके सदस्य स्वभावतः उनके नियमों का पालन करते थे। ऐसे संघीय जीवन का समन्वय राज्य द्वारा होता था।

ब्रिटेन में मेटलैंड (F. W. Maitland) ने भी ऐसी ही विचारधारा प्रस्तुत

की थी। इन दोनों वेत्ताओं ने आधुनिक संघों की स्वतंत्रता-पर-जोर दिया और कहा कि समाज तथा राष्ट्र में उनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। यह विचारधारा अद्वैतवादी "दीर्घकाय" के एकाधिकार के विरुद्ध थी।

१९१० ई० के लगभग फिग्गिस (J. N. Figgis) ने चर्च के स्वतंत्र अस्तित्व के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये। उसके कई लेख श्रेणी-समाजवादी पत्रिका (The New Age) में प्रकाशित हुए। १९१३ में ये लेख एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। फिग्गिस ने चर्च की स्वतंत्रता के साथ-साथ अन्य आर्थिक, व्यवसायिक, सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं की स्वतंत्रता को भी न्याय-संगत बताया। मध्य-कालीन संघों की स्वतंत्रता ही फिग्गिस की विचारधारा का आधार था। उसने राज्य को अद्वैतवादी न बताकर "संघों का संघ" बताया।

समाजवादी दर्शन :—तीन मुख्य समाजवादी दर्शनों (अराजकतावाद, संघवाद तथा श्रेणी-समाजवाद) ने अद्वैतवादी-आदर्शवादी विचारधारा की आलोचना की। उन्नीसवीं सदी में मार्क्सवाद के साथ-साथ आधुनिक अराजकतावादी दर्शन का भी प्रादुर्भाव हुआ था। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य विकार एवं बेकार है। इन वेत्ताओं ने राज्य की अनिवार्यता का खंडन किया और एक आदर्श अराजकतावादी स्वर्णयुग का चित्र प्रस्तुत किया। इस दर्शन के अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता केवल अराजकतावादी समाज में ही सम्भव हो सकती है।

फ्रांस का संघवाद पूर्णतः राज्य-विरोधी आन्दोलन था। संघवादियों का कहना था कि समाज बहुलवादी है। उसमें वर्ग-संघर्ष की प्रधानता है। अद्वैतवादी राज्य जैसी संस्था दार्शनिक रूप से गलत है। संघवादियों का आदर्श था—"स्वतंत्र समाज में स्वतंत्र कार्य।" इस क्रान्तिकारी आन्दोलन से प्रगतिशील तथा जनवादी शक्तियों को विशेष प्रश्रय मिला।

श्रेणी-समाजवाद उक्त संघवाद का ब्रिटिश संस्करण था। श्रेणी-समाजवादियों ने एक स्वर से फेबियनवादी एवं समष्टिवादी विचारधारा का विरोध किया। कोल ने प्रथम महायुद्ध के समय कई ऐसी योजनाएँ प्रस्तुत की जिनमें राज्य को सामान्य स्थान दिया गया। कोल की योजनाएँ पूर्णतः बहुलवादी थीं। अतः निरपेक्षता-विरोधी दर्शन की प्रगति अराजकतावाद से संघवाद, संघवाद से श्रेणी-समाजवाद और श्रेणी-समाजवाद से बहुलवाद की ओर हुई।

मीमांसा :—चतुर्थ आलोचना मीमांसा के आधार पर की गई। अद्वैतवादी दर्शन में मीमांसा का भी विशिष्ट स्थान है। अद्वैतवादी दार्शनिक विश्लेषणवादी मीमांसा के समर्थक थे। इतिहासवाद, विकासवाद, राष्ट्रवाद, समाजशास्त्रवाद और दर्शनवाद आदि मीमांसा-प्रथाओं ने अद्वैतवाद की विश्लेषणवादी मीमांसा की आलोचना की। बहुलवाद के सम्बन्ध में डुगे (Leon Duguit) और क्रैब (H. Krabbe) के मत महत्त्वपूर्ण हैं।

१९०१ में डुगे ने कहा था कि नियम का आधार सामाजिक दृढ़ता की भावना है। यह भावना मनुष्य में नैसर्गिक है। राज्य के नियम इसी भावना पर आश्रित हैं। यह राज्य से परे है, राज्य के अधीन नहीं। क्योंकि राज्योत्पत्ति इसी भावना का फल है। १९१९ में क्रैब ने भी व्यक्ति की न्याय-भावना को नियम का आधार बताया। राज्य के नियम इस भावना के प्रतिकूल नहीं हो सकते।

ये दोनों दार्शनिक राज्य को सर्वोच्च नियम-निर्मात्री संस्था मानते थे। परन्तु उन्होंने राज्य-नियमों को सामाजिकता की भावना (डुगे) और व्यक्ति की न्याय-भावना (क्रैब) के अधीन बनाया। इन दोनों का कहना था कि राज्य का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जो नियम-निर्माण का एकाधिकारी हो। इसलिए राज्य में कोई भी संस्था अद्वैतवादी आस्टिन का "निश्चित उच्चश्रेष्ठ" नहीं है। क्रैब अद्वैतवाद का इतना कट्टर विरोधी था कि उसने अद्वैतवादी राजसत्ता का विचार ही राजनीति-दर्शन से पृथक कर देने को कहा।

दर्शन

प्रथम महायुद्ध के समय दो परम्पराओं में संघर्ष हो रहा था। पहली विचारधारा थी परम्परागत अद्वैतवाद-आदर्शवाद की, और दूसरी स्वतंत्रता एवं विश्व-शान्ति के प्रेमी मानवतावादियों की। प्रथम परम्परा राज्य को सर्वेसर्वा और समाज का पूर्ण प्रतिनिधि मानती थी। नागरिकों से आशा की जाती थी कि वे अपनी समष्टि को "मानवदेव" रूपी राज्य की रक्षा के हेतु समर्पित कर देंगे। ऐसे वातावरण में यूरोप निवासियों को महायुद्ध में प्राण विसर्जन के लिए आमंत्रित किया जाता था।

दूसरी परम्परा स्वभावतः राज्य के एकछत्र अधिकार का विरोध करती थी।

प्रथम महायुद्ध ने यूरोपीय जनता पर अपनी वीभत्सता तथा कारुण्य की अमिट छाप अंकित कर दी थी। इससे कई मानवतावादी दार्शनिकों ने निरपेक्षता-विरोधी विचारधारा को अपनाया। यह प्रतिक्रिया इससे स्पष्ट है कि उदार आदर्शवादी ग्रीन के अनुगामियों, लिंडसे और बार्कर ने भी अद्वैतवादी एकछत्र राज्य का दार्शनिक विरोध किया। स्वभावतः वामपक्षी दार्शनिकों ने भी निरपेक्षता विरोधी एवं बहुलवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया।

बहुलवादी दर्शन के वर्णन से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि वह अराजकतावाद एवं संघवाद से भिन्न है। जहाँ ये दर्शन राज्यविहीन समाज को आदर्श व्यवस्था मानते हैं, बहुलवाद राज्य की अनिवार्यता स्वीकार करता है। परन्तु जहाँ अद्वैतवाद राज्य की अनिवार्यता का श्रेय "दीर्घकाय" या "निश्चित जनश्रेष्ठ" की उपस्थिति को देता है, वहाँ बहुलवाद राज्य की अनिवार्यता इसलिए स्वीकार करता है कि वह "संघों का संघ" है तथा समन्वय का कार्य करता है। जहाँ आदर्शवाद के अनुसार राज्य एक आदर्श संस्था है, क्योंकि वह "विश्व-आत्मा" एवं "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ बहुलवाद के अनुसार राज्य तभी आदर्श संस्था मानी जा सकती है जब वह आदर्श ध्येय (व्यक्ति की प्रगति) में सहायक हो। अतः कोकर (F. W. Coker) ने ठीक ही कहा है कि बहुलवादी राजसत्ता-विहीन राज्य के पक्षपाती हैं। उनके आदर्श समाज में राज्य का स्थान है परन्तु उसकी अद्वैतवादी राजसत्ता का नहीं।

लिंडसे :—ए० डी० लिंडसे (A. D. Lindsey) आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में कई वर्षों तक अध्यापक रहा है। वह अभी जीवित है। १९१४ में एक लेख में उसने लिखा कि वास्तविकता की दृष्टि से राजसत्ताधारी राज्य का सिद्धान्त खंडित हो गया है। साधारण जीवन के अनुभव से विदित है कि सामाजिक समन्वय और संचालन के लिए संघों की उपयोगिता राज्य से अधिक है। इन संस्थाओं का मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके द्वारा नागरिक हितों का प्रतिनिधित्व एवं पूर्ति सम्भव है। राज्य अनिवार्य तो अवश्य है और उसका क्षेत्र भी विस्तृत है, परन्तु आज के जटिल समाज में वह केवल "संघों का संघ" मात्र है।

आधुनिक पेचीले समाज की समस्याएँ केवल एक ही संस्था द्वारा हल नहीं हो सकती। इसलिए अन्य छोटी-छोटी संस्थाएँ भी सामाजिक संगठन एवं संचालन के

लिए अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में राज्य का सर्वश्रेष्ठ कार्य इन संघों का समन्वय करना है। आज नागरिक राज्य-नियमों का पालन इसलिए नहीं करता कि वह सर्वशक्तिमान संस्था है, वरन इसलिए कि वह सामाजिक जीवन का समन्वय करता है। अतः राज्य-भक्ति इसी श्रेष्ठ कार्य पर आश्रित है, शक्ति प्रदर्शन पर नहीं।

बार्कर :—यह लगभग ३० वर्ष तक आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापक था। यह अभी जीवित है। लिंडसे की भांति यह भी ग्रीन की उदार आदर्शवादी परम्परा का अनुयायी है। १९१५ में इसकी पुस्तक (Political Thought in England from Herbert Spencer to the Present Day) प्रकाशित हुई। गियर्क और मेटलैंड के विचारों तथा तत्कालीन राजनीतिक संघों (मुख्यतः श्रमिक संघ) की वृद्धि से प्रभावित होकर उसने निरपेक्षता-विरोधी विचारधारा ग्रहण की।

बार्कर ने कहा कि बेन्थमवादी परम्परा के अनुसार सामाजिक जीवन में संघों का कोई अस्तित्व नहीं है। बेन्थमवादी परम्परा नागरिक और राज्य के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करती है। परन्तु आज एक नागरिक अनेक संघों का सदस्य है। इन संघों का नागरिक जीवन में उच्च स्थान है। व्यवहार की दृष्टि से आज सामाजिक जीवन में राज्य की अपेक्षा चर्च, श्रमिक संघ आदि राष्ट्रीय संस्थाओं का विशेष महत्त्व है। इन संघों का निर्माण राज्य द्वारा नहीं हुआ, उनका स्वयं स्वतंत्र अस्तित्व है। आज नागरिक राज्य से किसी विषय में सीधे अनुरोध नहीं करता। वह अपनी मांगों की पूर्ति के लिए संघों द्वारा राज्य से अनुरोध करता है। इसलिए आज हम "मनुष्य बनाम राज्य" (जैसा बेन्थमवादी प्रयोग करते थे) के दर्शन का विश्लेषण न कर के "संघ बनाम राज्य" के दर्शन का विश्लेषण करते हैं।

आधुनिक समाज संघीय है। नागरिकों के भिन्न-भिन्न संघ हैं। एक श्रमिक का राज्य से सम्बन्ध उसके संघ द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, एक श्रमिक अपने वेतन वृद्धि के लिए सीधे राज्य से अनुरोध नहीं करता वरन अपने संघ द्वारा। यदि राज्य किसी नागरिक से अनुरोध करना या सम्पर्क स्थापित करना चाहता है तो उसे नागरिक के संघों द्वारा ऐसा करना पड़ता है। ऐसे वातावरण में राज्य के कार्यों तथा स्थान में परिवर्तन स्वाभाविक है। राज्य के लिए यह अनिवार्य है कि वह इन संघों के बढ़ते हुए अस्तित्व को स्वीकार करे। आज राज्य का कार्य केवल नियम-निर्माण या आज्ञा देना ही नहीं है। उसका सर्वश्रेष्ठ कार्य इन संघों का समन्वय करना है।

यह आस्टिनवादी "निश्चित जनश्रेष्ठ" के आज्ञा देने या नियम-निर्माण के कार्य से क
गुना गम्भीर, जटिल तथा महत्त्वपूर्ण है।

राज्य का कार्य नियम-निर्माण और समन्वय के अतिरिक्त वर्ग-शान्ति की स्थापन
भी है। आधुनिक औद्योगिक तथा वर्गीय समाज में वर्ग-संघर्ष ने भीषण रूप धार
कर लिया है। इस संघर्ष की तीव्रता का दमन केवल राज्य ऐसी तटस्थ संस्था द्वार
ही सम्भव है। यह कार्य उतना ही जटिल और गम्भीर है जितना नियम-निर्माण य
संघों के समन्वय का। अतः बार्कर ने राज्य के अस्तित्व को नवीन परिस्थितियों :
नवीन रूप दिया।

कोल :—कोल गत तीस वर्षों से आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र का अध्या-
पक है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व से वह अन्य सामाजिक समस्याओं पर लिखता आया
है। महायुद्ध के समय उसने कुछ श्रेणी-समाजवादी योजनाएँ प्रस्तुत कीं। (उसकी
विचारधारा का वर्णन श्रेणी-समाजवाद के सम्बन्ध में किया जा चुका है। यहाँ कुछ
प्रमुख अंगों का वर्णन पर्याप्त होगा)।

कोल ने आधुनिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के बेन्थमवादी आधार का खण्डन किया।
उसका कहना है कि व्यक्ति एक भावात्मक राशि नहीं है। वास्तविकता की दृष्टि से
व्यक्ति के कई ध्येय या हित होते हैं। इसलिए सच्चा जनवाद तभी सम्भव है जब
व्यक्ति के पृथक-पृथक ध्येयों का पृथक-पृथक संघों द्वारा प्रतिनिधित्व हो।

कोल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का पक्षपाती था। एक आदर्श समाज में व्यक्ति
का उत्पादक और उपभोक्ता की दृष्टि से अलग-अलग संघों में प्रतिनिधित्व होना
चाहिये। राज्य भी एक ऐसा ही संघ है। उसका कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं
है। वह राजसत्ताधारी संस्था नहीं है। सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वद्रष्टा,
सर्वव्यापी तथा सार्वभौम राज्य की कल्पना अब अतीत की बात हो गई है।

कोल का कहना था कि राज्य मनुष्यों के लिए बना है, मनुष्य राज्य के लिए
नहीं। मनुष्यों ने राज्य का निर्माण किया, वे इसका अन्त भी कर सकते हैं और
उसके स्थान पर एक नवीन संस्था की स्थापना भी। यह सब अद्वैतवाद की तीव्र
आलोचना थी।

कोल ने आदर्शवाद के मूल आधार, रूसो की "सामान्य इच्छा", का भी खण्डन
किया था। उसने कहा कि "सामान्य इच्छा" भावात्मक है। व्यक्ति के स्वार्थी या

यथार्थ इच्छा का ज्ञान सम्भव है। परन्तु विवेकशील या सामाजिक इच्छा का ज्ञान कठिन ही नहीं वरन् असम्भव भी है। इसलिए सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली "सामान्य इच्छा" का ज्ञान दुर्लभ है।

वेब आदि :—निरपेक्षता-विरोधी वातावरण के प्रभाव से समष्टिवादी वेब-दम्पति भी मुक्त न रह सके। १९२० में उन्होंने लेबरपार्टी के लिए एक आदर्श समष्टिवादी योजना बनाई (Constitution for the Socialist Commonwealth of Great Britain)। इस योजना में दो संसदों का होना आवश्यक बताया गया, एक राजनीति सम्बन्धी और दूसरी समाज। इस योजना की पृष्ठभूमि में यह विचारधारा थी कि साधारणतः आधुनिक समाज सेवक राज्य के संचालन के लिए एक संसद पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार समष्टिवादी वेब-दम्पति एकत्रीकरण के विरोधी बने और परोक्ष रूप से अद्वैतवाद के भी। बेलाक (H. Belloc) और अन्य लेखकों ने भी विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी योजनाएँ बनाई। ये लेखक वितरणवादी (Distributists) के नाम से प्रसिद्ध थे। फ्रांस में ऐसे लेखक क्षेत्रवादी (Regionalists) कहे जाते थे।

अतः अद्वैतवादी राज्य की भिन्न-भिन्न प्रकार से आलोचना की गयी। यह सब संघवादी और श्रेणी-समाजवादी दर्शन तथा आन्दोलन के वातावरण में ही सम्भव हो सकता था। यह कहना अनुचित न होगा कि प्रथम महायुद्ध के अन्तिम वर्षों और उसके उपरान्त कुछ समय तक वामपक्षी-दार्शनिकों में बहुलवादी विचारधारा व्यापक थी। यह तो सत्य है कि कुछ आदर्शवादी दार्शनिक, जैसे हीगल और ग्रीन, संघों के अस्तित्व को स्वीकार करते थे। ग्रीन ने राज्य को "संघों का संघ" बताया। परन्तु निरपेक्षता प्रेमियों ने हीगल तथा ग्रीन की इस विचारधारा को कतर कर केवल उनके आदर्शवादी अधिनायकवाद को ही ग्रहण किया। वस्तुतः निरपेक्षितावादियों ने संघों को मानव-जीवन में उच्च स्थान नहीं दिया।

दास :—आधुनिक भारतवर्ष में बहुलवादी विचारधारा की झलक मिलती है। उन्नीसवीं सदी में धर्म-सुधार आन्दोलन हुए थे। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप राष्ट्रीय जागृति के साथ पुनरुत्थानवादी भावना भी प्रबल बनी।

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने स्वदेश के एकात्मक संविधान से प्रेरित हो भारतवर्ष में केन्द्रस्थ राज्य स्थापित किया। ब्रिटिश शासन के पूर्व ग्राम पंचायत का नागरिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रिटिश शासन प्रणाली की

आलोचना की और ग्राम पंचायती राज्य को आदर्श व्यवस्था बताया। अतः पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीय आन्दोलन का संवैधानिक आदर्श पंचायती राज्य बना।

विपिनचन्द्र पाल और देशबन्धु चित्तरंजन दास दो प्रमुख पुनरुत्थानवादी नेता थे। उन्होंने इस विचारधारा की पुष्टि के लिए पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन और योजनाओं का अध्ययन किया। इसका प्रभाव उनके लेखों और भाषणों में स्पष्ट था।

चित्तरंजन दास ने करीब १९१७ से राष्ट्रीय कांग्रेस में सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया था। अपने सभी भाषणों में वह प्राचीन भारतवर्ष की प्रशंसा करता था, परन्तु साथ ही साथ उसने कुछ रचनात्मक संवैधानिक योजनाएं भी प्रस्तुत कीं। उसका कहना था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने भारतवर्ष पर एक ऐसी एकात्मक एवं अद्वैतवादी शासन प्रणाली लाद दी जिसमें शक्तियों का केन्द्रीकरण और एकत्रीकरण है। भारतीयता की दृष्टि से यह व्यवस्था न्याय-संगत नहीं है। भारतवर्ष में ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पूर्व स्थानवाद और अनेकीकरण व्याप्त था। ब्रिटिश अद्वैतवादी शासन ने इन मौलिक एवं आदर्श प्रवृत्तियों को प्रायः लुप्त कर दिया।

दास ने घोषित किया कि पाश्चात्य देशों में भी एकछत्रवाद की कटु आलोचना हो रही है। इसका श्रेय बहुलवादी दर्शन को है। उसने कहा कि केन्द्रस्थ राज्य तो नौकरशाही के लिए स्वर्ग तुल्य है। ऐसे राज्य के कर्णधार संकुचित विचार वाली नौकरशाही के सदस्य हैं। नौकरशाही तो देश की जनसंख्या का एक प्रतिशत अंश है। देशबन्धु दास के आदर्श भारत में ऐसे केन्द्रस्थ राज्य का कोई स्थान न था। देशबन्धु का ऐतिहासिक कथन था कि वह निन्यानवे प्रतिशत के लिए स्वराज्य चाहता है, एक प्रतिशत नौकरशाही के लिए नहीं। यह केन्द्रस्थ राज्य द्वारा सम्भव नहीं है।

सभापति पद से दिये गये भाषणों (१९२२ की गया कांग्रेस और फिर फरीदपुर प्रान्तीय कांग्रेस) में देशबन्धु ने आदर्श राज्य के संगठन के विषय में विचार प्रस्तुत किये। उसके अनुसार स्वतंत्र भारत का संगठन नीचे से ऊपर की ओर होगा, ऊपर से नीचे की ओर नहीं। वह तत्कालीन संगठन में आमूल परिवर्तन करना चाहता था। केन्द्रीकरण की बुराइयों को दूर करने के लिए साधारणतः विकेन्द्रीकरण पर जोर दिया जाता है। दास का कहना था कि विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि केन्द्रीय सर्व-व्यापक और सर्व-शक्तिमान् संस्था अपनी सुविधा के लिए कुछ अधिकार अन्य प्रादेशिक इकाइयों को प्रदान करती हैं। विकेन्द्रीकरण का तथ्य है ऊपर से नीचे की

और संगठन। इसके विपरीत देशबन्धु ऐसा पुनर्संगठन चाहता था जो स्थानवाद पर आश्रित हो, जिसकी मूल भीत्ति ग्राम पंचायत हो। ऐसे पुनर्संगठन से केन्द्रीय सरकार के स्थान पर स्थानवादी इकाइयों का प्रमुख स्थान होगा। पंचायत ही सर्वश्रेष्ठ सत्ताधारी संस्था होगी, केन्द्रीय राज्य नहीं। शासन सुविधा के हेतु पंचायत अपने कुछ अधिकार तहसील, जिला, प्रान्त और केन्द्र की सरकारों को दे गी। ऐसा पुनर्संगठन नीचे से ऊपर की ओर होगा। इसी के द्वारा निन्यानवे प्रतिशत जन साधारण का राज्य सम्भव हो सकता है। अतः विकेन्द्रीकरण और पुनर्संगठन भिन्न हैं।

देशबन्धु की विचारधारा और योजनाएँ मूलतः पुनरुत्थानवादी थीं। पुनरुत्थानवाद को न्यायसंगत सिद्ध करने के हेतु उसने तत्कालीन पाश्चात्य बहुलवादी दर्शन से सहायता ली और प्रचलित अद्वैतवादी राज्य का दार्शनिक विरोध किया। देशबन्धु की मृत्यु के पश्चात् भारतीय राजनीतिक जीवन में किसी भी महान् व्यक्ति द्वारा ऐसी रचनात्मक संवैधानिक योजना प्रस्तुत नहीं की गयी। प्रायः सभी नेताओं और विचारकों ने प्रचलित अद्वैतवादी व्यवस्था को स्वीकार किया। राजनैतिक पुनर्संगठन को नहीं अपनाया गया। ग्राम पंचायतों का पुनरुत्थान अवश्य ही गांधीवादी दर्शन का मूल स्तम्भ रहा। परन्तु यह पुनरुत्थान संवैधानिक पुनर्संगठन से भिन्न है। साधारणतया इन पंचायतों का अस्तित्व और एकछत्र राज्य एक दूसरे के प्रतिकूल नहीं माने जाते। दास इन्हें प्रतिकूल मानता था।

लॉस्की का दर्शन

ऊपर कहा गया है कि लॉस्की (Harold J. Laski १८९३—१९५०) ही बहुलवाद शब्द का जन्मदाता था। उसने बहुलवाद को दर्शन का रूप दिया। उसके सभी लेखों तथा भाषणों में अद्वैतवाद और आदर्शवाद की तीखी आलोचना होती थी। उसके दर्शन का विस्तार पूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है।

लॉस्की का जन्म (१८९३) एक उच्च मध्यमवर्गीय कुटुम्ब में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उसकी रुचि राजनीति की ओर थी। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक होने के पश्चात् कुछ महीनों तक वह पत्रकार रहा। विद्यार्थी जीवन में ही उसके मानवतावाद ने उसे स्वातंत्र्य एवं समानता प्रेमी बनाया। प्रथम महायुद्ध काल में वह

कनाडा और अमेरिका के विश्वविद्यालयों में अध्यापक रहा। चौबीस वर्ष की अवस्था में उसने "राजसत्ता की समस्या" (Problem of Sovereignty) नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक से उसकी गणना अपने समय के वेत्ताओं में होने लगी। दलितों का पक्ष लेकर वह हारवर्ड विश्वविद्यालय के अधिकारियों की अप्रसन्नता का पात्र बना।

१९२० में वह ब्रिटेन लौटा। तब से अपने मृत्युकाल (१९५०) तक वह "लन्दन स्कूल आफ इकोनामिक्स" (London School of Economics & Social Sciences) में राजनीतिशास्त्र का अध्यापक तथा प्रधान अध्यापक रहा। वह सुप्रसिद्ध 'फेबियन संघ' का सदस्य था। वह केवल एक दार्शनिक ही न था, वरन् प्रचारक और नेता भी। लेबर पार्टी में उसका विशिष्ट स्थान था। कई वर्षों तक वह इस दल की कार्य-समिति का सदस्य रहा। १९४५ के आम निर्वाचन के समय वह उसका सभापति था। प्रतिक्रियावादी फासिस्टवाद का उसने निरन्तर विरोध किया। वह पूर्णतः आधुनिक जनवादी युग का दार्शनिक था। उसके गम्भीर विचारों को साधारण जनता भी समझ सकती थी। उसने जन-साधारण की समस्याओं को दार्शनिक रूप दिया और दार्शनिक समस्याओं को जन-साधारण की भाषा में प्रस्तुत किया। उसने कई पुस्तकें लिखीं। इनमें Grammar of Politics ; State in Theory & Practice, Liberty in Modern State ; Parliamentary Government in Britain ; American Presidency ; American Democracy आदि प्रमुख हैं। इन सभी पुस्तकों में अद्वैतवाद, आदर्शवाद और अधिनायकवाद की कटु आलोचना है।

लॉस्की के दर्शन पर कई विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा था। अपने गुरुजनों (A. V. Dicey ; H. A. L. Fisher ; E. Barker ;) की उदार आदर्शवादी एवं व्यक्तिवादी परम्परा से वह युवावस्था में ही प्रभावित हो चुका था। व्यक्ति की स्वतंत्रता (व्यक्तिवाद) और नैतिक क्षमता (ग्रीन का आदर्शवाद) उसके दर्शन के प्रमुख सूत्र आजीवन बने रहे। उसने स्वयं स्वीकार किया कि युवावस्था में नेविन्सन (H. Nevinson) के सम्पर्क से उसने स्वतंत्रता का अर्थ तथा महत्व सीखा था। (नेविन्सन एक उदारवादी लेखक था)। लान्सबरी (George Lansbury) के सम्पर्क से उसको समानता के अर्थ तथा महत्व का ज्ञान हुआ। (लान्सबरी एक शान्तिप्रिय मजदूर नेता था। १९३१-३५ में वह लेबर पार्टी का संसदीय नेता था)। लॉस्की की युवावस्था में श्रेणी-समाजवाद का प्रचार चरम सीमा पर था। इस दर्शन

की योजनाओं का प्रभाव उसकी विचारधारा पर पड़ा। इस समाजवादी दर्शन के अद्वैतवाद-विरोधी तथ्य को स्वीकार करते हुए भी लॉस्की उसका आलोचक था। उसी समय मोजतू (Senor De Moeztu) और टानी (R. H. Tawney) का साम्पत्तिक अधिकार का सिद्धान्त वामपक्षी वेत्ताओं में प्रचलित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार साम्पत्तिक अधिकार समाज-हित पर आश्रित होना चाहिये। पूंजीपति का साम्पत्तिक अधिकार न्यायसंगत नहीं है। क्योंकि वह कोई भी सामाजिक हितकर कार्य नहीं करता। ऐसी विचारधारा का प्रभाव लॉस्की के पूँजीवाद विरोधी दर्शन पर स्पष्ट है। लगभग १९११ में जेम्स (William James) ने अमेरिका में अर्थक्रिया-कारित्ववाद (Pragmatism) की व्याख्या की थी। इस दर्शन के अनुसार सत्य वही है जो हितकर है; असत्य वह है जो हानिकारक है। लॉस्की ने इस सिद्धान्त को राज्यशास्त्र पर लागू किया और राज्य-अधिनायकवाद का खण्डन किया। लॉस्की की प्रौढ़ावस्था की कृतियों पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

लॉस्की ने अद्वैतवादी-आदर्शवादी परम्परा का कई दृष्टिकोणों से खण्डन किया। उसका कहना था कि आधुनिक युग संकट-कालीन है। इस संकट की झलक राज्य के दर्शन पर भी स्पष्ट है। प्राचीन परम्परा टूटती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। परम्परावादी विचारधारा को किसी भी दृष्टिकोण से स्वीकार नहीं किया जा सकता। नई परिस्थितियों में नये दर्शन की आवश्यकता है। उसने इस नये दृष्टिकोण एवं दर्शन की व्याख्या का प्रयत्न किया। साथ ही साथ उसने परम्परागत अद्वैतवादी आदर्शवादी दर्शन का कई प्रकार से खण्डन किया।

ऐतिहासिक :—अद्वैतवादी राज्य पर उसके जन्मकाल के धब्बे स्पष्ट हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों की विशेष परिस्थितियों में इस दर्शन तथा राष्ट्रीय राज्य का जन्म हुआ था। उस युग के नरेशों और पूँजीपतियों ने इस दर्शन (अद्वैतवाद) तथा इस संस्था (राज्य) को मध्य-कालीन सामन्तशाही परम्परा से मुक्त होने के लिए अत्यन्त उपयुक्त समझा था। इस दर्शन एवं संस्था द्वारा मध्य-कालीन स्थानवाद और पोप के एकछत्रवाद का अन्त हुआ। परन्तु नये अद्वैतवादी राज्य ने स्वयं एकछत्रवाद अंगीकार किया। यह एकछत्रवादी विशेषता अभी तक चली आ रही है। आज राजसत्ताधारी राज्य पूँजीवादी सामन्तवाद के एकाधिकार की रक्षा का यंत्र बन गया है। पूँजीवादी शासक जनता से राज्य-भक्ति का अनुरोध

करते हैं। वस्तुतः राजसत्ता की आड़ में पूँजीवादी एकाधिकार को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता है। राज्य की निरपेक्षता वास्तव में इन शासकों की निरपेक्षता है। आन्तरिक विषयों में ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी राजसत्ता के नाते ये शासक नैतिकता को पैरों तले कुचल देते हैं। १९१४ में जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण किया था। यह आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता का साक्षी है। इस प्रकार जन्मकाल की एकछत्रवादी विशेषता अभी तक राज्य में पूर्णतया सन्निहित है।

अद्वैतवादी राजसत्ता का जन्म उस युग में हुआ था जब पश्चिमी यूरोप (ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन) में एकात्मक राज्य को आदर्श-व्यवस्था माना जाता था। आस्टिन के पूर्ववर्ती अद्वैतवादी वेत्ता ऐसे संविधानों के दार्शनिक थे। आस्टिन ने उन्हीं की परम्परा को वैधानिक रूप दिया था। संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना (१७८७) के पश्चात् संघात्मक व्यवस्था की प्रथा प्रचलित हुई। आधुनिक युग में संघात्मक शासन प्रणाली को भी आदर्श व्यवस्था माना जाता है। यह व्यवस्था एकात्मक राज्यों से भिन्न है। एकात्मक राज्यों के विपरीत इसमें विकेन्द्रीकरण और अनेकीकरण होता है। अद्वैतवादी राजसत्ता संघात्मक संविधानों में नहीं पाई जाती।

आधुनिक समाज भी संघीय एवं बहुलवादी है। ऐसे समाज का प्रतिनिधित्व तथा संचालन अद्वैतवादी राज्य द्वारा सम्भव नहीं है। संघीय समाज का संचालन केवल बहुलवादी राज्य द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि अद्वैतवादी राज्य के विपरीत बहुलवादी राज्य में संघों का स्वतंत्र अस्तित्व सम्भव है। अतः अद्वैतवादी सिद्धान्त, जो एकात्मक व्यवस्था की उपज है, संघात्मक राज्यों तथा संघीय समाज में सम्भव नहीं हो सकता।

संघों का अस्तित्व :—लॉस्की ने कहा कि मनुष्य एक संघ बनाने वाला प्राणी है। एक व्यक्ति के अनेक ध्येय होते हैं। इन ध्येयों की पूर्ति के लिए वह अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है। ये व्यक्ति मिल कर भिन्न-भिन्न संस्थाएँ बनाते हैं। इन संस्थाओं के नियमों का उनके सदस्य वैसी ही श्रद्धा से अनुकरण करते हैं जैसे राज्य की विधियों का। वस्तुतः ये संघ (आर्थिक, व्यावसायिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आदि) अपने-अपने क्षेत्र में सत्ताधारी हैं। इनका मानव-जीवन में उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना राज्य का। अतः राज्य सर्वोच्च संस्था तो अवश्य है, परन्तु वह व्यक्ति की सहयोगी भावना का अन्त नहीं

कर सकता। आवश्यकतानुसार व्यक्ति संघ बनाते रहते हैं। कोई भी संस्था इस प्रवृत्ति की पूर्णतया सन्तुष्टि नहीं कर सकती।

लॉस्की ने संघों के अस्तित्व की पुष्टि के लिए कई उदाहरण दिये। उसने स्पष्टतया बताया कि कई अवसरों पर संघों के आन्दोलनों के फलस्वरूप राज्य को अपनी नीति बदलनी पड़ी। कई अवसरों पर राज्य को अपने मुँह की खानी पड़ी। कई बार स्वेच्छा के विरुद्ध राज्य को धार्मिक और श्रमिक आदि संस्थाओं की मांगों को स्वीकार करना पड़ा। (इस विचारधारा की पुष्टि के लिए आधुनिक भारतवर्ष के इतिहास से भी उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कई बार शक्तिशाली एवं निरपेक्ष ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन को जन संघर्ष या कांग्रेस के आन्दोलन के फलस्वरूप अपनी नीति बदलनी पड़ी थी। सुप्रसिद्ध १९१८ का रौलट ऐक्ट (Rowlatt Act) इस बात का साक्षी है। जन आन्दोलन के वातावरण में यह कानून लागू न किया जा सका। आज हिन्दू-कोड बिल भी इसका साक्षी है, कि राज्य की स्वेच्छाचारिता संघों एव जनता द्वारा सीमित होती है)।

समाज का ढांचा संघीय है। उसमें उक्त सत्ताधारी संघ व्यापक हैं। ये संघ व्यक्ति के भिन्न-भिन्न ध्येयों की पूर्ति करते हैं। कभी-कभी इनमें भीषण संघर्ष होता है। इसलिए सुव्यवस्था के लिए इनका समन्वय नितान्त आवश्यक है। यह समन्वय केवल राज्य ऐसी केन्द्रस्थ एवं सत्ताधारी संस्था द्वारा ही सम्भव है। परन्तु बहुलवादी लॉस्की का राज्य अद्वैतवादी राज्य से भिन्न है। बहुलवादी राज्य अन्य जन सेवक संघों की भांति है। वह सर्वोच्च समाज सेवक संस्था है। इस नाते उसका सर्वप्रमुख ध्येय समाज की प्रगति है। इस सम्बन्ध में उसे अन्य संघों के अस्तित्व को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ता है। अतः जहां अद्वैतवादी राज्य प्रधानतः शक्ति प्रदर्शक है और संघों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, वहां बहुलवादी राज्य प्रधानतः स्वतंत्र संघों का समन्वय करता है और इसी हेतु शक्ति प्रदर्शक भी है।

व्यक्तिः—लॉस्की के दर्शन में व्यक्ति का केन्द्रीय स्थान है। वह स्वतंत्रता का भक्त था। व्यक्ति का व्यक्तित्व, सम्मान, नैतिक क्षमता, भौतिक प्रगति और आत्म-सन्तुष्टि ही राज्य, सभ्यता एवं समाज का एकमात्र ध्येय होना चाहिये। इस ध्येय की पूर्ति के हेतु लॉस्की ने अव्यवस्था को अन्याय से श्रेयस्कर मानने में संकोच न किया।

उसके अनुसार ब्रिटेन के गृहयुद्ध (१६४२-४६) की अव्यवस्था स्टुअर्ट तानाशाही से अधिक हितकर थी। उस अव्यवस्था के फलस्वरूप अन्यायपूर्ण एकाधिकार का अन्त हुआ और व्यक्ति की प्रगति सम्भव हो सकी। (भारतवर्ष के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि १९४२ की अव्यवस्था व्यक्ति की प्रगति की दृष्टि से न्याय-संगत थी)। लॉस्कीवाद के अनुसार व्यक्ति साधन है, सुव्यवस्था साध्य।

लॉस्की ने राज्य को व्यक्ति के आधीन बनाया। उसका कहना था कि कोई भी संस्था मेरी समष्टि या मेरे सम्पूर्ण "मैं" के लिए नियम-निर्माण नहीं कर सकती। क्योंकि 'मैं" का क्षेत्र केवल नागरिकता तक ही सीमित नहीं है, वरन् कुटुम्बी, विद्यार्थी, उपभोक्ता, उत्पादक, खिलाड़ी आदि में भी निहित है। कोई भी ऐसी संस्था नहीं है जो व्यक्ति के इन सभी क्षेत्रों के सम्बन्ध में नियम-निर्माण कर सके। कुटुम्बी की हैसियत से एक व्यक्ति के लिए कुटुम्ब की रीतियाँ अनिवार्य हैं, और खिलाड़ी की हैसियत से खेल की रीतियाँ आदि। अतः मनुष्य के अन्य हितों की पूर्ति अन्य संघों द्वारा होती है। कोई भी एक ऐसी संस्था नहीं है जो इन सब हितों की पूर्ति कर सके।

ऐसी परिस्थिति में एक जटिल और गंभीर समस्या उत्पन्न हो जाती है। इन संघों में कभी-कभी पारस्परिक सहयोग होता है और कभी-कभी स्पर्धा तथा संघर्ष। इस स्पर्धा एवं संघर्ष का क्षेत्र केवल अन्य संघों तक ही सीमित नहीं रहता, प्रत्युत कभी-कभी राज्य और एक संघ या कुछ संघों में भी संघर्ष होता है। इस संघर्ष का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि प्रत्येक संस्था नागरिक को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है। कभी एक राजाज्ञा किसी संघ आदेश के विपरीत होती है। विद्यार्थी संघ शुल्क की कमी के लिए हड़ताल का आदेश देता है; शान्ति के हेतु राज्य हड़ताल बन्द करने की आज्ञा देता है। ऐसी परिस्थिति में एक आदर्श विद्यार्थी, जो स्वतः एक आदर्श नागरिक भी है, क्या करे? इधर शुल्क का प्रश्न है, उधर शान्ति का।

लॉस्की के मतानुसार एक आदर्श नागरिक का सर्वप्रथम कर्तव्य अपनी आत्म-सन्तुष्टि के प्रति है। उसे उसी संस्था के आदेश या आज्ञा का अनुसरण करना चाहिये जो उसको आत्म-सन्तुष्टि कर सके। ऐसी परिस्थिति में राज्य का क्या कर्त्तव्य होना चाहिये? राज्य को अपनी नीति तथा विधियों द्वारा नागरिक को आकर्षित करना चाहिये। तभी संघ-राज्य निरंतर स्पर्धा में राज्य सफल हो सकेगा।

आधुनिक समाज में व्यक्ति का केन्द्रीय तथा सर्वोच्च स्थान है। सभी संस्थाएँ व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने में तत्पर रहती हैं। राज्य इस प्रवृत्ति से पृथक नहीं हो सकता। इसलिए राज्य को व्यक्ति की आत्म-सन्तुष्टि के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये। उसको राष्ट्र-जीवन में सर्वोच्च स्थान तभी प्राप्त होगा जब उसके द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व की वृद्धि सम्भव हो सके। तभी नागरिक राज्य की ओर आकर्षित होंगे जब राज्य का ध्येय अन्य संघों के ध्येय से उत्कृष्ट हो। वस्तुतः राज्य की नीति तभी सत्ताधारी कही जा सकती है जब वह सत्ताधारी ध्येय (व्यक्ति की प्रगति) की पूर्ति कर सके। उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि एक विद्यार्थी तभी राज्य की आज्ञा का पालन करेगा जब उसे शान्ति का प्रश्न शुल्क के प्रश्न से अधिक नैतिक दृष्टिगोचर होगा। अतः लॉस्की के अनुसार व्यक्ति ही सत्ताधारी है, राज्य नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीय:—लॉस्की पूर्णतः बीसवीं सदी का दार्शनिक था। आज औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप विश्व एक राशि बन गया है। स्वभावतः नागरिक का दृष्टिकोण कुछ हद तक अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। अमेरिका या अफ्रीका की घटना का प्रभाव सारे विश्व पर पड़ता है। १९२९-३१ के आर्थिक संकट में दुनिया का अधिकांश भाग उलझ गया था। आज अणु-बम से सभी नागरिक चैतन्य हो गये हैं। कोरिया के युद्ध के फलस्वरूप अन्य देशों में वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है। द्वितीय महायुद्ध भारतवर्ष में नहीं हुआ था, परन्तु उसके फलस्वरूप बंगाल के भीषण अकाल में रणक्षेत्र से अधिक मनुष्य मृत्यु के शिकार हुए। ऐसे कई दृष्टान्त मिलते हैं। फलतः आज सभी आदर्श नागरिक विश्व-शान्ति के उपासक हैं। विश्व-बन्धुत्व की भावना इतनी प्रबल हो गई है कि युद्ध-पिपासु भी शान्ति की दुहाई देते हैं।

अद्वैतवादी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्र है। आस्टिन का "निश्चित जनश्रेष्ठ" किसी अन्य जनश्रेष्ठ की आज्ञा का स्वभावतः पालन नहीं करता। उग्र-आदर्शवादी हीगेल और बोसांके अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और सन्धियों को साररहित मानते थे। अद्वैतवादियों तथा उग्र-आदर्शवादियों के मतानुसार राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही है जैसा हाब्स की प्राकृतिक स्थिति के मनुष्यों का। अन्य विश्वशान्ति प्रेमियों की भाँति लॉस्की ने ऐसी निरपेक्षता की कटु आलोचना की।

लॉस्की के मतानुसार एक आदर्श नागरिक का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिये। विश्व-बन्धुत्व की भावना उसकी रग-रग में व्याप्त होनी चाहिये। एक आदर्श

राज्य के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का अग्रदूत होना आवश्यक है। शान्ति के वातावरण में वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रगति सम्भव होगी। लॉस्की के कथनानुसार ब्रिटेन का आदर्श दृष्टिकोण यह होना चाहिये कि वह विश्व के कल्याण में अपना कल्याण समझे, यह नहीं कि अपने कल्याण में विश्व का कल्याण। अतः राज्य का ध्येय विश्व-शान्ति एवं विश्वहित होना चाहिये।

यही नहीं, लॉस्की के अनुसार अद्वैतवादी "निश्चित जनश्रेष्ठ" अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से असम्भव है। कोई भी राष्ट्र या राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों और नैतिकता को सरलता से पैरों तले नहीं कुचल सकता। क्योंकि इस तरह कुचलने का अर्थ है मानवता का उल्लंघन। सारी जागृत तथा प्रगतिशील जनता ऐसे शान्ति-विरोधी राज्य के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनावेगी। (हिटलरशाही की स्थापना के पश्चात् यूरोप के कुछ देशों में संयुक्त जन-मोर्चों द्वारा फासीवाद का विरोध किया गया था)। अन्तर्राष्ट्रीय जन-विरोध से बचने के लिए आज कोरिया में अमेरिका की सेनाएँ संयुक्तराष्ट्र सेनाओं की हैसियत से लड़ रही हैं और चीन की सेनाएँ स्वयंसेवकों की हैसियत से। अतः आज कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से निरपेक्ष (अर्थात् अतद्वैवादी) नहीं है और न हो ही सकता है।

जनवाद :—लॉस्की जनवाद प्रेमी था। इस प्रेम ने उसे प्रचलित जनवाद का आलोचक बनाया। उसकी आलोचना का तथ्य परम्परागत जनवाद को सच्चा जनवादी बनाना था, उसका अन्त करना नहीं। अन्य वामपक्षी वेत्ताओं की भाँति लॉस्की भी उसी व्यवस्था को वास्तविक जनवादी मानता था, जिसमें नागरिक का सक्रिय भाग हो। दो, चार या पांच वर्षों में मतदान करने से जनवाद वास्तविक नहीं होता। कभी-कभी निर्वाचन के पश्चात् बहुमत दल की सरकार मनमाने शासन करती है। कभी-कभी उसकी नीति निर्वाचन-घोषणा के शत-प्रतिशत विपरीत होती है। इस सम्बन्ध में कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। (१९३५ के निर्वाचन में ब्रिटिश टोरी दल ने आश्वासन दिया था कि वह हिटलरशाही का विरोध संयुक्त-मोर्चे द्वारा करेगा। निर्वाचन के पश्चात् टोरी सरकार ने इस निर्वाचन-घोषणा के विपरीत हिटलरशाही को परोक्ष रूप से सहायता दी)। ऐसी परिस्थिति में जनवाद हास्यपूर्ण बन जाता है।

आदर्श जनवाद तभी सम्भव है जब नागरिक समय-समय पर भिन्न-भिन्न विषयों पर विचार प्रकट करें। यह केवल संघों की उपस्थिति में ही हो सकता है। संघों

द्वारा नागरिक अन्य समस्याओं पर विचार प्रकट कर सकता है। विचार परामर्श के फलस्वरूप एक विषय पर जनमत बनता है। जब सरकार को समय-समय पर जनमत का ज्ञान होगा तभी राज्य के नियम जनमत के प्रतीक होंगे। नागरिकों को यह समझ कर सन्तुष्टि होगी कि राज्य नियम उनके मत के प्रतिबिम्ब हैं। ऐसे नियम का पालन नागरिक स्वतः प्रसन्नता से करेगा। क्योंकि ऐसी बहुलवादी व्यवस्था में वह स्वभावतः समझेगा कि नियम-निर्माण में उसका भी हाथ है, उसकी भी अनुमति ली गई है। नियम उस पर लादा नहीं गया है।

इसलिए आदर्श जनवाद के हेतु संघों का स्वतंत्र अस्तित्व अनिवार्य है। अद्वैतवादी राज्य में संघों का कोई अस्तित्व नहीं होता। वे "निश्चित जनश्रेष्ठ" के आधीन हैं। लॉस्की ने कहा था कि अद्वैतवादी राज्य और जनवाद परस्पर विरोधात्मक हैं। वास्तविक जनवाद तो केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। तभी परम्परागत जनवाद आदर्श जनवादी बन सकता है।

वैधानिक :—अन्य बहुलवादियों की भाँति लॉस्की भी स्वीकार करता था कि वैधानिक दृष्टि से राज्य ही सर्वोच्च संस्था है। राज्य ही सर्वश्रेष्ठ नियम-निर्मात्री संस्था है। वही एक ऐसी संस्था है जिसकी सदस्यता अनिवार्य है। वही ऐसी संस्था है जो अपराधियों को दंड दे सकती है। राज्य नागरिकों की रक्षा करता है एवं उनके सामान्य हितों की पूर्ति भी। इस नाते राज्य की विधियों का पालन नागरिकों के लिए अनिवार्य है।

परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से राज्य का नियम-निर्माण का कार्य उसे निरपेक्ष नहीं बनाता। लॉस्की के मतानुसार राजसत्ता का वैधानिक दर्शन व्यर्थ है। वह सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों के अनुकूल नहीं है। यह तो सत्य है कि वैधानिक दृष्टि से राज्य की सभी आज्ञाएँ विधि तुल्य हैं। परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से केवल वे ही आज्ञाएँ विधि तुल्य हैं जो मानव प्रगति के लिए हितकर हों। प्रत्येक नियम का सामाजिक पहलू होता है। आधुनिक जनवादी युग में वही नियम न्याय-संगत है जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से हितकर हो। यदि राजाज्ञा सामाजिक प्रगति में सहायक नहीं होगी तो नागरिक और उनके संघ उस आज्ञा का विरोध करेंगे। आधुनिक इतिहास इसका साक्षी है।

राज्य के नियम-निर्माण का अधिकार निरंकुशता का द्योतक नहीं है। यदि राज्य

नागरिकों से नियमपरायणता की आशा करता है तो उसके नियमों का लक्ष्य व्यक्तियों की आत्म-सन्तुष्टि एवं नैतिक क्षमता होना चाहिये। राजाज्ञा को केवल आज्ञा के नाते ही स्वीकार नहीं किया जा सकता। जन-स्वीकृति ही एक राजाज्ञा को नियम का रूप दे सकती है। जन-स्वीकृति के हेतु राजाज्ञा को सामाजिक दृष्टि से न्याय-संगत होना आवश्यक है। अर्थात् राज्य की विधियों को व्यक्ति की प्रगति में सहायक होना अनिवार्य है। अतः वैधानिक राजसत्ता (अद्वैतवाद) का सिद्धान्त समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से असन्तोषजनक है!

अर्थक्रिया-कारित्ववाद :—ऊपर कहा गया है कि लॉस्की ने जेम्स के अर्थक्रिया-कारित्ववाद को राजनीतिशास्त्र पर लागू किया। इस दर्शन का तथ्य था कि सत्य वही है जो हितकर है, असत्य वह है जो अहितकर है। लॉस्की के दर्शन के उक्त संक्षिप्त वर्णन के हर स्तर पर अर्थक्रिया-कारित्ववाद की छाप अंकित है। उसके दर्शन का तथ्य है कि कोई भी संस्था निरपेक्ष नहीं है। वही संस्था सत्ताधारी है जो सत्ताधारी ध्येय (Sovereign Purpose) की पूर्ति करे। यह सत्ताधारी ध्येय है व्यक्ति की आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक तथा भौतिक प्रगति। यदि संघ-संघर्ष पूर्ण विश्व में राज्य सत्ताधारी स्थान ग्रहण करना चाहता है, तो उसे इस सत्ताधारी ध्येय की पूर्ति करनी चाहिये। तभी व्यक्ति राज्य की आज्ञा स्वभावतः पालन करेगा।

लॉस्की का कहना था कि सुव्यवस्था को केवल सुव्यवस्था के नाते न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। केवल वही सुव्यवस्था न्याय-संगत है जो व्यक्ति के लिए हितकर हो, अर्थात् जो उसकी नैतिक क्षमता में सहायक हो। लॉस्की यह तो अवश्य मानता था कि राज्य ही एक ऐसी संस्था है जो दमन यंत्र का प्रयोग कर सकती है। केवल वही एक ऐसी संस्था है जो नागरिक को नियम पालन के लिए बाध्य कर सकती है। परन्तु केवल प्रलोभन की पृष्ठभूमि में ही राज्य का दमन न्याय-संगत माना जा सकता है। इस प्रलोभन को विवेक पर आश्रित होना चाहिये, भाव पर नहीं। विवेकशील प्रलोभन के हेतु राज्य को नागरिकों की प्रगति अपना एकमात्र लक्ष्य बनाना चाहिये। अतः केवल एक सच्चे समाज-सेवक राज्य का दमन यंत्र ही न्याय-संगत है। १८वीं सदी में बर्क ने कहा था कि यदि 'मेरा देश मुझसे देश-प्रेमी होने का अनुरोध करना चाहता है तो उसे प्रेम योग्य होना चाहिये', लॉस्की के दर्शन का तथ्य है कि यदि राज्य नागरिक से राज्य-भक्ति की आशा करता है तो उसे भक्ति योग्य होना चाहिये।

सारांश :—लॉस्की की प्रसिद्ध पुस्तक (Authority in the Modern State, 1919) में दिये हुए निष्कर्ष से उसके दर्शन का सार स्पष्ट हो जाता है। उसने निम्न छः पहलुओं से आदर्शवादी-अद्वैतवादी परम्परा का खण्डन किया। (१) सदियों से यह पाठ पढ़ाया गया है कि राज्य एक सत्ताधारी संस्था है। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से राज्य की सत्ता कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में निहित है। ये व्यक्ति राष्ट्र के अर्थ के स्वामी हैं। ये ही वास्तव में राजसत्ताधारी हैं। राज्य का नाम तो इनकी सत्ता पर आवरण मात्र है। (२) इस बात पर जोर दिया जाता है कि राज्य का ध्येय नागरिकों के लिए सम्पन्न जीवन की सुव्यवस्था करना है। परन्तु सत्य तो यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था के कर्णधार इस ध्येय की पूर्ति के योग्य नहीं हैं। ये कर्णधार देश के अर्थ के स्वामी होते हैं, और बहुसंख्यक जनता का शोषण करते हैं। ये शोषक तथा शासक कभी भी शोषित तथा शासित जनता को सुखी नहीं बनाते। वे शोषित जनता की समस्याओं को नहीं समझ सकते; उनकी पूर्ति का प्रश्न तो दूर रहा। लॉस्की का कहना था, "जो जैसा रहता है, वैसा ही सोचता है।" इसलिए यह कहना कि राज्य नागरिक जीवन को सुखद बनाता है, ढोंग मात्र है। (३) यह बार-बार दुहराया जाता है कि राज्य की सत्ता केवल उसकी स्वेच्छा से ही सीमित है। परन्तु इतिहास बताता है कि अन्य संघों ने कई बार राज्य को अपनी नीति बदलने के लिए बाध्य किया है। कई अवसरों पर संघ आन्दोलनों के फलस्वरूप राज्य को अपनी स्वेच्छा के विरुद्ध नियम-निर्माण करना पड़ा। कई अवसरों पर इन संघों ने राज्य-नियम का सफलता से विरोध किया। (४) राज्य को एक अनुत्तरदायी संस्था माना जाता है। परन्तु वास्तव में राज्य अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। फ्रांस का शासन-नियम (Administrative Law) इस बात का साक्षी है। यदि एक पुलिस कर्मचारी अपने सरकारी कार्य के सिलसिले में भूल से एक नागरिक को हानि पहुंचाये और न्यायालय का निर्णय नागरिक के पक्ष में हो, तो नागरिक को राज्य द्वारा क्षतिपूर्ति मिलती है। (५) कहा जाता है कि राजसत्ता अविभाज्य है। परन्तु शासन व्यवस्था से विदित हो जाता है कि राजसत्ता राज्य के विभिन्न अंगों में विभक्त है। यही नहीं, राजसत्ता एक राशि नहीं है। यह कई प्रकार की होती है—वैधानिक, राजनीतिक, नाममात्रीय, वास्तविक और जनतंत्रीय। (६) राज्य को समाज का प्रतिनिधि बताया जाता है। यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि समाज बहुलवादी है और आधुनिक राज्य अद्वैतवादी।

लॉस्की की उक्त विचारधारा उसके जीवनकाल तक रही। मानवता ही उसके दर्शन का आधार था। उसके दर्शन का सार था व्यक्ति, उसकी स्वतंत्रता एवं उसके संघों का अस्तित्व। १९३७ में अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "ग्रामर ऑफ पॉलेटिक्स" (A Grammar of Politics) के चतुर्थ संस्करण में उसने एक भूमिका का अध्याय जोड़ा था। इस अध्याय में लॉस्की ने स्वीकार किया कि उसकी बहुलवादी विचारधारा मार्क्सवादी दृष्टिकोण की स्वीकृति की पृष्ठभूमि थी। वस्तुतः मानवतावाद उसके बहुलवाद तथा मार्क्सवाद का उद्गम था।

बहुलवादी लॉस्की मार्क्सवाद की ओर अग्रसर हुआ। १९२६ में उसने कार्ल मार्क्स (Karl Marx, An Essay) नाम की पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में उसने मार्क्सवादी विश्लेषण की कई त्रुटियाँ प्रस्तुत की। परन्तु धीरे-धीरे लॉस्की की कृतियों में ये त्रुटियाँ कम होती गयीं। १९३४ में उसके "मास्को भाषण" ने ब्रिटिश प्रतिक्रियावादियों को दहला दिया था और उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय के अधिकारियों को लॉस्की पर "जाँच समिति" की नियुक्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए बाध्य किया। १९३५ में उसने "स्टेट इन् थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस" (State In Theory & Practice) नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने 'लेनिन' के राज्य सम्बन्धी विश्लेषण को अपनाया। करीब दस वर्ष पश्चात् "फेथ, रीजन ऐंड सिविलाइजेशन्" (Faith, Reason & Civilisation, १९४४) नामक पुस्तक में उसने बताया कि जैसे रोमन साम्राज्य के अधःपतन पर इसाई धर्म ने यूरोप की सभ्यता को जागृत रखा, वैसे ही आज पतनोन्मुख पूँजीवादी प्रथा के वातावरण में सोवियत रूस ही यूरोप की सभ्यता को जीवित रख सकता है। अतः प्रौढ़ावस्था में लॉस्की ने राज्य, समाज तथा विधान के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाया।

परन्तु मार्क्सवादी विचारधारा को स्वीकार करते हुए भी लॉस्की ने व्यक्ति का परित्याग नहीं किया। सोवियत रूस का प्रशंसक होते हुए भी वह उसका पूर्णतः भक्त न बना। वह "मिल" की वैयक्तिक स्वतंत्रता की परम्परा को न ठुकरा सका। इसी नाते वह सोवियत रूस का आलोचक भी था। उसका सत्ताधारी सदा ही व्यक्ति था, राज्य नहीं। उसके व्यक्ति-प्रेम ने उसे बहुलवादी और फिर मार्क्सवादी बनाया। कहा जाता है कि उसका मार्क्सवाद का विश्लेषण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से होता था और व्यक्तिवाद का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टिकोण से। वह सदा ही

स्वतंत्रता, जनवाद और मानवतावाद का पुजारी रहा। वस्तुतः लॉस्की बीसवीं सदी का "मिल" था। लॉस्की और स्वतंत्रता जुड़वां जन्मे थे।

समीक्षा

अद्वैतवाद ने १६वीं और १७वीं सदियों की सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया था। यह अद्वैतवादी परम्परा २०वीं सदी तक चली आ रही है। बहुलवादी दर्शन ने २०वीं सदी की समस्याओं की पूर्ति का प्रयत्न किया। उसने आज की परिस्थिति में राज्य को समयानुकूल रूप देना चाहा। परम्परागत अद्वैतवाद ने राष्ट्रीय राज्यों की पुष्टि के हेतु अन्य मानवीय संस्थाओं को निकृष्ट स्थान दिया था। राज्य की एकछत्रता को कई दार्शनिकों द्वारा १६वीं सदी तक पुष्टि मिली थी। इस सम्बन्ध में आदर्शवादी दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु जन-जागृति तथा जनवाद की निरंतर प्रगति के फलस्वरूप अन्य मानवीय संस्थाओं ने भी २०वीं सदी के सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में उच्च स्थान ग्रहण किया। स्वभावतः राज्य की एक नई परिभाषा एवं एक नये दर्शन की आवश्यकता विदित हुई। बहुलवाद ने इस आवश्यकता की पूर्ति की चेष्टा की।

अद्वैतवादी राज्य में जनवाद का अर्थ है केन्द्रीय सरकार के निर्वाचनों (दो, तीन, या पांच वर्ष में) द्वारा जनता के प्रति उत्तरदायित्व। आज जन-जागृति के युग में जनता की राजनीतिक इच्छाओं की सन्तुष्टि केवल निर्वाचनों द्वारा सम्भव नहीं है। इस सन्तुष्टि के हेतु जन संघों का स्वतंत्र अस्तित्व अनिवार्य है। इन संघों द्वारा जागृत जनता भिन्न-भिन्न विषयों पर परामर्श कर सकती है, और जनमत सच्चा एवं सुदृढ़ बन सकता है। जब ऐसे जनमत के आधार पर राज्य विधियां बनेंगी, तभी राज्य का शासन जनवादी होगा। अतः केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही वास्तविक जनवाद सम्भव है। यह बहुलवाद की बहुत बड़ी देन है।

अद्वैतवादी परम्परा के अनुसार एकाधिकारी राज्य को आदर्श व्यवस्था बताया गया था। राज्य द्वारा ही स्वतंत्रता, नैतिकता, एवं प्रगति सम्भव है। इसलिए राज्य भौतिक जीवन का साध्य है। वस्तुतः इस परम्परा के अनुसार राज्य दासता आदर्श व्यवस्था है। इसके विपरीत बहुलवाद व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान देता है। व्यक्ति-हित

ही साध्य है, राज्य केवल साधन। मानव प्रगति के लिए व्यक्ति और उसके संघों की स्वतंत्रता अनिवार्य है। इस प्रकार बहुलवाद द्वारा मानवतापूर्ण प्रवृत्तियों (जैसे "मिल" की स्वतंत्रता) की पुनः व्याख्या हुई। यह भी इस दर्शन की महान् देन है।

बहुलवाद का जन्म प्रथम महायुद्ध के काल में हुआ था। युद्ध कालीन परिस्थिति भावुकतापूर्ण थी। राज्यों के कर्णधार जनता की राष्ट्रीयता को प्रेरित कर युद्ध में भाग लेने को अनुरोध करते थे। राष्ट्र-भक्ति एवं राज्य-भक्ति के नाते युद्ध कालीन अमानुषिक घटनाओं को न्याय-संगत बताने का प्रयत्न किया जाता था। इन भावनाओं की पृष्ठ-भूमि में अद्वैतवादी विचारधारा थी। मानवता के नाते बहुलवादी वेत्ताओं ने राज्य-रूपी "दीर्घकाय" की कटु आलोचना की। (कुछ वेत्ताओं ने राष्ट्रीयता के विपरीत अन्तर्राष्ट्रीयता को मानव जीवन का लक्ष्य बताया)। बहुलवादी दार्शनिक भी भावुकता से मुक्त न हो सके। यह स्वाभाविक भी था। प्रतिक्रियावादियों ने राज्य को मानव का साध्य बताया, और राजसत्ता की आड़ में राज्य की अमानुषिक नीतियों को न्याय-संगत। (जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण किया था जिसके फलस्वरूप महायुद्ध आरम्भ हुआ। यह आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अनैतिक था। परन्तु अद्वैतवादी परम्परा द्वारा जर्मन शासकों ने जनता के सम्मुख इस आक्रमण को न्याय-संगत बताने का प्रयत्न किया। राष्ट्र-भक्ति एवं राज्य-भक्ति की भावना इतनी प्रबल थी कि क्रान्तिकारी समाजवादी, मुख्यतः संघवादी, भी इसके शिकार बने)।

स्वभावतः ऐसे भावुकता-प्रभावित वातावरण में बहुलवादियों ने भावुक वाक्यों का प्रयोग किया। लिंडसे ने कहा कि "वस्तुतः राजसत्ताधारी राज्य का सिद्धान्त खंडित हो गया है"। बार्कर ने कहा कि "राजसत्ताधारी राज्य के सिद्धान्त से अधिक शुष्क एवं व्यर्थ विषय राजनीतिशास्त्र में कोई भी नहीं है"। क्रैब के मतानुसार "राजसत्ता के सिद्धान्त को राजनीतिशास्त्र से हटा देना चाहिये"। कोल का कहना था कि "सर्व-शक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी तथा सार्वभौम राज्य की कल्पना अब अतीत की बात हो गयी है"। लॉस्की ने कहा कि "यदि राजसत्ता के विचार का परित्याग कर दिया जाय तो राजनीतिशास्त्र को स्थायी लाभ होगा"। इन भावुक वाक्यों को बहुलवाद का प्रामाणिक दृष्टिकोण नहीं माना जा सकता। इन वाक्यों के आधार पर इस दर्शन की वैज्ञानिक आलोचना नहीं हो सकती।

वास्तव में सभी बहुलवादी दार्शनिकों ने राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार किया।

बार्कर ने राज्य को सर्वोच्च संस्था माना और उसका सर्वश्रेष्ठ कार्य सामाजिक समन्वय बताया। कोल ने राज्य को कम्यून का निकृष्ट स्थान दिया परन्तु उसकी अनिवार्यता स्वीकार की। आज लिंडसे, बार्कर और कोल राज्य को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। लॉस्की ने बार-बार कहा कि वैधानिक दृष्टि से राज्य ही सर्वश्रेष्ठ संस्था है। उसने भी राज्य की अनिवार्यता स्वीकार की। जब बहुलवाद भी राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार करता है तो वह अद्वैतवाद से कैसे भिन्न है? जहां अद्वैतवादी राज्य एक सैनिक कप्तान की भांति है, वहां बहुलवादी राज्य एक खेल के कप्तान की भांति है। सिपाहियों को अपने कप्तान की आज्ञा-पालन करनी पड़ती है। इस आज्ञा-पालन का कप्तान के व्यक्तित्व से सम्बन्ध नहीं है, वरन् उसके पद से। आस्टिनवादी राज्य नियम निर्माण करता है और नागरिक इन नियमों का स्वभावतः पालन करते हैं। नियम के ध्येय का प्रश्न गौण ही नहीं है, अपितु अनावश्यक भी। बस, इतना पर्याप्त है कि नियम राजसत्ताधारी की आज्ञा है। एक खेल का कप्तान आज्ञा अवश्य देता है और खिलाड़ी उस आज्ञा का पालन करते हैं। परन्तु आज्ञा-पालन कप्तान के व्यक्तित्व और आज्ञा के ध्येय से सम्बन्ध है, केवल पद से नहीं। बहुलवादी राज्य नियम-निर्माण अवश्य करता है, और नागरिक उसके नियमों का पालन अवश्य करते हैं। परन्तु इस राज्य के नियम समन्वय और समाज सेवा से सम्बन्ध हैं, केवल शक्ति-प्रदर्शन से ही नहीं। सैनिक कप्तान की आज्ञा में कप्तान के व्यक्तित्व और सैनिकों की स्वीकृति निहित हो सकती है और नहीं भी, यह आवश्यक नहीं है। खेल के कप्तान की आज्ञा की पृष्ठभूमि में उसका व्यक्तित्व और खेलाड़ियों की परोक्ष स्वीकृति एवं प्रगति है। यह विशेषता आवश्यक है। अद्वैतवादी राजसत्ताधारी की आज्ञा में व्यक्तित्व और समाज स्वीकृति एवं प्रगति का प्रश्न अनिवार्य रूप से निहित नहीं है। परन्तु बहुलवादी राजसत्ताधारी के लिए ये अनिवार्य हैं। अद्वैतवादी राज्य प्रधानतः शक्ति प्रदर्शक है और गौणरूपेण समाज सेवक; बहुलवादी राज्य प्रधानतः समाज सेवक है और गौणरूपेण शक्ति-प्रदर्शक। अद्वैतवाद एकात्मक व्यवस्था एवं "यद् भाव्यम् नीति" की परम्परा का प्रदर्शक है; बहुलवाद संघात्मक व्यवस्था एवं समष्टिवादी नीति के युग का।

अद्वैतवादी दर्शन ने सुव्यवस्था को प्रधानता अवश्य दी, परन्तु व्यक्ति को भुला दिया। बहुलवाद ने व्यक्ति को ही प्रधानता दी; सुव्यवस्था को नहीं। लॉस्की का कहना था कि वही राज्य सत्ताधारी है जो सत्ताधारी ध्येय (व्यक्ति की प्रगति) की पूर्ति करे। राज्य का ध्येय व्यक्तियों की भौतिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं नैतिक

प्रगति होना चाहिये। यह विषय विवाद से परे है। परन्तु स्वातंत्र्य-प्रेमी लास्की इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। उसने कहा कि व्यक्ति राज्य की उन्हीं आज्ञाओं का पालन करेगा जो उसकी आत्मसंतुष्टि कर सकें, अर्थात् जिनके द्वारा उसकी नैतिक क्षमता सम्भव हो। ऐसी परिस्थिति में सुव्यस्था सम्भव नहीं। राज्य व्यक्ति की स्वेच्छा का दास बन जायेगा। व्यक्ति की ऐसी सत्ता के वातावरण में राज्य पूर्णतया ऐच्छिक संस्था हो जावेगी। सुव्यवस्था के हेतु व्यक्ति को सत्ता पर कुछ प्रतिबन्ध आवश्यक हैं। लॉक और मिल की परम्परानुसार लॉस्की ने कोई भी ऐसा प्रतिबन्ध स्वीकार न किया। व्यक्ति की नैतिक क्षमता एवं प्रगति के हेतु लास्की ने अस्थाई अव्यवस्था को सुव्यवस्था से अधिक हितकर समझा। वह लॉक की जन-स्वीकृति और मिल की वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रशंसक था। यदि मिल के झक्कियों को लॉक की जन-स्वीकृति प्रदान की जाय तो अवश्य ही अराजकतावाद का बोलबाला होगा। कुछ ऐसी ही स्थिति उग्र बहुलवादी व्यवस्था में भी हो सकती है। अतः राज्य विधि का पालन व्यक्ति की स्वेच्छा पर छोड़ना अराजकता को आमंत्रित करना है।

यह तो विवाद से परे है कि राज्य का ध्येय अन्य संघों के ध्येयों से उत्कृष्ट होना चाहिये। परन्तु यह कहना कि व्यक्ति उसी संघ की आज्ञा या आदेश का पालन करेगा जो उसकी आत्म-संतुष्टि कर सके, संघों की अराजकता का सूचक है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी स्वेच्छानुसार भिन्न-भिन्न संघों के आदेशों का अस्थाई रूप से पालन करेंगे। वे अस्थाई रूप से इन संघों को सत्ताधारी मानेंगे। "अ" आज विद्यार्थी संघ और कल आर्य समाज को सत्ताधारी समझेगा। 'ब' आज कांग्रेस और कल किसान सभा को सत्ताधारी मानेगा। "स" आज श्रमिक संघ और कल अध्यापक संघ की सत्ता स्वीकार करेगा। ऐसी परिस्थिति में बेचारा राज्य मुंह ताकता रहेगा। संघ-स्पर्धा एवं संघ संघर्ष को असीमित स्वीकार कर राज्य बलहीन तथा व्यर्थ सा बन जायेगा। बहुलवादी लॉस्की राज्य को कल्पवृक्ष की भाँति बनाना चाहता है। यह कठिन ही नहीं असम्भव भी है। ऐसा राज्य न कभी हुआ है और न कदाचित् होगा ही। फलतः संघों की अराजकता व्यापक होगी।

यह सब होते हुए भी बहुलवाद ने अद्वैतवादी एकाधिकारी गढ़ का पतन किया एवं जनवाद की पुष्टि की। इसके फलस्वरुप सभी प्रगतिशील वेत्ताओं ने विकेन्द्रीकरण, संघों के अस्तित्व और वैक्तिक स्वतंत्रता को आदर्श व्यवस्था स्वीकार किया।

सारांश

अद्वैतवादी राज्य की स्वेच्छाचारिता एवं निरपेक्षता को न्यायसंगत बताते हुए इस व्यवस्था को आदर्शवादी व्यवस्था मानते थे। व्यक्ति उनके आदर्श राज्य में दासतुल्य थे। उन लोगों ने प्रथम महायुद्ध के अमानुषिक तथा अनैतिक कार्यों को भी न्यायसंगत बताया। मानवतावादी बहुलवाद ने इसका खुले आम विरोध किया, और क्रान्तिकारी आन्दोलन का रूप धारण किया।

वैसे तो अद्वैतवादी परम्परा का पहले भी विरोध होता था, (लॉक का सीमित राजतंत्र; मान्टेस्क्यू का शक्ति-विभाजन सिद्धान्त; गियर्क, मेटलैंड, और फिगिस का पुनरुत्थानवादी संघ-अस्तित्व; डूगी और क्रैबकी मीमांसा; अराजकतावाद; संघवाद और श्रेणी समाजवाद,) परन्तु इसका दार्शनिक विरोध बहुलवाद के क्रान्तिकारी आन्दोलन द्वारा ही हुआ। बहुलवाद ने समयानुकूल राज्य की एक नवीन परिभाषा एवं नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

जहाँ अद्वैतवाद ने शक्ति प्रदर्शन को प्रधान एवं समाजसेवा को गौण स्थान दिया था; बहुलवाद ने समाजसेवा को प्रधान एवं शक्ति प्रदर्शन को गौण स्थान दिया। अद्वैतवादी राजसत्ताधारी एक सैनिक कप्तान की भांति था; बहुलवादी राजसत्ताधारी एक खेल के कप्तान की भांति। (प्रथम की आज्ञा की पृष्ठभूमि में पद है, द्वितीय की पद और व्यक्तित्व भी)। अद्वैतवाद एकात्मक व्यवस्था एवं "यदभाव्यम् नीति" के युग का दर्शन था, बहुलवाद संघात्मक एवं समष्टिवादी युग का, अद्वैतवाद आज्ञापालन को प्रधानता देता है; बहुलवाद व्यक्ति, उसकी स्वतंत्रता एवं उसके संघों के अस्तित्व को।

यह दर्शन ब्रिटेन में पनपा था। ऐसा स्वाभाविक भी था। क्योंकि ब्रिटेन ही लॉक की जनस्वीकृति एवं मिल की स्वतंत्रता का जन्मस्थान था। प्रथम महायुद्ध के समय ग्रीन की उदारवादी परम्परा के अनुयायी लिंडसे और बार्कर ने अद्वैतवाद विरोधी विचार प्रकट किये। लिंडसे ने कहा कि समाजसेवा एवं समन्वय ही शक्ति प्रदर्शन नहीं; राज्य को नागरिकों की आज्ञापालन के लिये विश्वासपात्र बनाता है। राज्य संघों का संघ है। बार्कर ने कहा कि आज हम "नागरिक बनाम राज्य" की दृष्टि से नहीं, वरन् "संघ बनाम राज्य" की दृष्टि से सोचते हैं। राज्य का सर्वश्रेष्ठ कार्य संघों का समन्वय और वर्ग-संघर्ष की तीव्रता का शासन करना है। श्रेणी समाजवादी कोल का कहना था कि राज्य एक मानवीय संस्था है; उसका निर्माण

व्यक्ति द्वारा हुआ है ; व्यक्ति उसका अन्त कर सकता है ; और उसके स्थान पर एक नई संस्था (कोल का कम्यून) का निर्माण भी। ऐसी रचनात्मक आलोचना से प्रभावित हो वेव-दम्पति जैसे समष्टिवादी विकेन्द्रीकरण के समर्थक एवं प्रचारक वने। फ्रांस आदि देशों में भी केन्द्रीयकरण विरोधी योजनाएँ वनीं। सोवियत रूस के संगठन पर भी स्थानवादी तथा संघवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष में पुनरुत्थानवादी स्थानवाद की पुष्टि के हेतु पाल और देशवन्धु दास ने वहुलवादी साहित्य से सहायता ली।

कदाचित् लॉस्की ही प्रथम वेत्ता था जिसने "वहुलवाद" शब्द का प्रयोग किया। वह इस दर्शन का सर्वश्रेष्ठ प्रचारक एवं सम्राट था। लॉस्की ने अद्वैतवादी दर्शन का कई दृष्टिकोणों से खंडन किया। ऐतिहासिक दृष्टि से अद्वैतवाद का जन्म (१६वीं सदी) एकछत्रवादी वातावरण में हुआ था। संघात्मक युग में यह एकात्मक दर्शन असन्तोषजनक है। व्यक्ति की दृष्टि से भी अद्वैतवाद त्रुटिपूर्ण है। व्यक्ति एक संघ वनाने वाला प्राणी है। वह अनेक ध्येयों की पूर्ति के हेतु अनेक संघ वनाता है। राज्य द्वारा इस प्रवृत्ति का अन्त नहीं होता। कोई भी संस्था मेरे पूरे "मैं" के लिये नियम निर्माण नहीं कर सकती। या जैसे मैकाइवर (R. M. MacIver) का कहना है राज्य अर्थैक्य का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु सम्पूर्ण अर्थैक्य का नहीं। संघों की दृष्टि से सहयोग और संघर्ष विश्व में व्यापक हैं। सभी संघ व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। राज्य इस संघ-स्पर्धा एवं संघ-संघर्ष से परे नहीं है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है? लॉस्की के मतानुसार एक आदर्श नागरिक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य अपनी आत्मा की प्रगति है। वह उस संघ के आदेश या आज्ञा का अनुकरण करेगा जो उसकी आत्मसन्तुष्टि कर सके, अर्थात् जिसमें वह नैतिक-क्षमता पावे। अतः, राज्य सत्ताधारी पद के योग्य तभी हो सकता है जव वह सत्ताधारी ध्येय (व्यक्ति की प्रगति) की पूर्ति करे। यही नहीं, इतिहास इस वात का साक्षी है कि संघों ने कई वार राज्य की निरपेक्षता को सीमित वनाया है।

जनवाद की दृष्टि से भी अद्वैतवाद असंगत है। लॉस्की का कहना था कि जनवाद और अद्वैतवाद विरोधात्मक हैं। सच्चे जनवाद का अर्थ है नागरिक की सक्रियता, ऐसी सक्रियता केवल वहुलवादी या संघात्मक समाज में ही सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी आस्टिनवादी निरपेक्षता संभव नहीं है, कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का सरलता से उलंघन नहीं कर सकता। लॉस्की के मतानुसार

ब्रिटेन का आदर्श दृष्टिकोण यह होना चाहिये कि वह विश्व के कल्याण में अपना कल्याण समझे, न कि अपने कल्याण में विश्व का कल्याण। लॉस्की यह तो अवश्य स्वीकार करता था कि वैधानिक दृष्टि से राज्य ही सत्ताधारी संस्था है, परन्तु यह सत्ता निरपेक्ष नहीं है। नियम या सुव्यवस्था को तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह नैतिक क्षमता की पूर्ति करे, अन्यथा नहीं। सत्ता सदा ही सप्रतिबन्ध होती है। लास्की ने कहा कि यदि अव्यवस्था का लक्ष्य मानव प्रगति हो तो वह अन्याय से कई गुना अच्छी है। उसके दर्शन की पृष्ठभूमि में जेम्स का अर्थक्रियाकरित्ववाद था।

लॉस्की के दर्शन का स्तम्भ व्यक्ति स्वातंत्र्य, व्यक्ति प्रगति एवं व्यक्ति संघों का अस्तित्व था। उसका दर्शन मिल की स्वतंत्रता का नया संस्करण था। वह और स्वतंत्रता जुड़वाँ जन्मे थे। बर्क ने कहा था कि यदि मेरा देश मुझसे देशभक्ति का अनुरोध करे तो उसे भक्ति-योग्य होना चाहिये। लास्की के दर्शन का सार है कि यदि राज्य सत्ताधारी होना चाहता है तो उसे सत्ताधारी ध्येय की पूर्ति करनी चाहिये। उसके अनुसार आधुनिक पूँजीवादी राज्य न तो सामान्य हित का प्रतिबिम्ब है और न उसकी सत्ता निरपेक्ष एवं अविभाज्य है। मानवतावादी लॉस्की धीरे-धीरे मार्क्सवाद की ओर अग्रसर हुआ। उसका बहुलवाद इस पथ पर एक सीढ़ी की भाँति था। सोवियत रूस का प्रशंसक होते हुए भी वह व्यक्ति-स्वातंत्र्य को न भूला।

वैसे तो प्रथम महायुद्धकालिक बहुलवादियों ने भावुक वाक्यों का प्रयोग किया। "राजसत्ताधारी राज्य का सिद्धान्त खंडित हो गया है" (लिंडसे); इस सिद्धान्त से "अधिक शुष्क एवं फलरहित विषय राजनीतिशास्त्र में कोई भी नहीं है" (बार्कर); "इस सिद्धान्त को राजनीतिशास्त्र से हटा देना चाहिये" (क्रैब); अद्वैतवादी राज्य की कल्पना अब "अतीत की बात हो गई है" (कोल); और इस सिद्धान्त के परित्याग से "राजनीतिशास्त्र को स्थायी लाभ होगा" (लॉस्की)। परन्तु वास्तव में सभी बहुलवादी राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। जहाँ अद्वैतवाद नागरिक स्वातंत्र्य को भूल गया था वहाँ बहुलवाद सुव्यवस्था को भुला-सा गया। लॉस्की का "व्यक्तिसत्ता सिद्धान्त" कुछ परिस्थितियों में अराजकता का जन्मदाता बन सकता है और वैसे ही "संघ सत्ता का दर्शन" संघों की अराजकता का। यह होते हुए भी इस दर्शन ने जनवाद एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता की दृष्टि से नये राज्य की कल्पना की।

हुआ। ब्रिटेन में मौज़ले (Sir Edward Mosley) के नेतृत्व में फासीवादियों ने फासीवादी ब्रिटिश संघ (The British Union of Fascists) को जन्म दिया। फासीवाद से सम्बन्ध रखने वाली अन्य संस्थाएँ भी अंकुरित हुईं। जैसे ब्रिटेन में The Anglo-German Fellowship, the Link, the Friends of Italy, the United Christian Front आदि। फ्रांस में भी अन्य फासीवादी संस्थाओं की स्थापना हुई, जैसे The Action Francaise, the Jeunesse Patriote, the Croix de Feu, the Cagoulard आदि।

कुछ वर्षों (करीब १९३६ से १९४२) तक फासीवाद का विश्व में भयानक रूप रहा। फासीवाद की विजयें उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थीं। इटली ने अबीसीनिया पर आधिपत्य स्थापित किया और अलबेनिया को अपने राज्य में मिलाया। जर्मनी ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को उदरस्थ किया। फ्रैंको का अधिनायकवाद स्पेन में स्थापित हुआ। सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ। जून १९४० तक हिटलर ने पश्चिमी यूरोप के सभी देशों को पराजित कर अपने राज्य में मिला लिया। १९४१ की ग्रीष्म ऋतु तक वह रूस को छोड़ शेष समस्त यूरोप का स्वामी बन बैठा। २२ जून १९४१ को उसने रूस पर आक्रमण किया और १९४२ की गर्मियों तक हिटलर की सेनायें स्टालिन-ग्राड तक पहुँची। रूस को छोड़ कर अन्य सभी देशों में हिटलरशाही के समर्थकों का जाल फैला हुआ था। ये पंचगामी (पाँचवाँ दस्ता—Fifth Column) के नाम से प्रख्यात थे। इन्हें क्विस्लिंग भी कहा जाता था। (क्विस्लिंग Quisling नार्वे का एक राजनीतिज्ञ था जिसने अपने देश को हिटलरशाही के अधीन करने में सहयोग दिया)। यह कहना अनुचित न होगा कि ऐसे देश-द्रोही प्रायः ऊँचे वर्ग के सदस्य हुआ करते थे। कहा जाता है कि फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश के पूँजीपतियों ने निजी वर्ग-स्वार्थ के हेतु अपना देश हिटलर को सौंपा। इस से स्पष्ट हो जाता है कि फासीवाद पूँजीपतियों तथा अन्य प्रतिक्रियावादियों का दर्शन है। इन फासीवादी दलों में निम्न मध्यम वर्गीय व्यक्तियों की प्रधानता थी। कुछ आलोचकों का कहना है कि यह दर्शन पतनोन्मुख पूँजीवाद के लिए तिनके के समान है।

१९४२ के बाद फासीवादी देशों की पराजय आरम्भ हुई। पहले १९४३ में मुसोलिनी की सत्ता, १९४५ में हिटलरशाही, और १९४६ में हिटलरशाही के मित्र तथा सैन्यवादी फासीवाद के गढ़, जापान, के साम्राज्य का अन्त हुआ। इस प्रकार स्वतंत्रता प्रेमियों को त्रास देनेवाली फासीवादी सत्ता का पतन हुआ। आज केवल स्पेन में ही

फासीवादी तानाशाही का प्रभुत्व अवशिष्ट है। यह तो हुआ उसका आद्यन्त इतिहास; परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से अब भी फासीवादी विचारधारा का राजनीतिक दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी भी विचारधारा का अन्त सैनिक पराजय से नहीं हो जाता। एक दर्शन का जन्म विशेष परिस्थितियों में हुआ करता है; उसका अन्त तभी सम्भव है जब इन परिस्थितियों का अन्त हो जाय। फासीवाद के भी जन्म का श्रेय कुछ विशेष परिस्थितियों को ही है। वह वातावरण फिर से उत्पन्न हो सकता है। यूरोप में भूतपूर्व फासीवादी अभी जीवित हैं। यही नहीं, वे रूढ़िवादी सरकारों या दलों के मुख्य सदस्य भी हैं। ब्रिटेन की उक्त फासीवादी संस्थाओं के निर्माता तथा सदस्य अनुदार दल के सदस्य थे और अब भी हैं। अन्य देशों में भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति है।

फासीवादी दर्शन यूरोप की महत्त्वपूर्ण परम्पराओं का विरोधी है। वह उदारवाद या व्यक्तिवाद विरोधी, स्वतंत्रता विरोधी, जनवाद विरोधी, समाजवाद विरोधी तथा शान्ति विरोधी है। घरेलू नीति में वह अधिनायकवादी तथा सर्वाधिकारी है और बाह्य नीति में युद्ध-प्रेमी है। कुछ आलोचकों का कहना है कि फासीवाद दर्शन नहीं वरन् पूर्ण अवसरवादिता है। (इस अध्याय में इटली के फासीवाद का और दूसरे अध्याय में जर्मनी के नात्सीवाद का विवेचन किया जायेगा)।

मुसोलिनी की जीवनी

मुसोलिनी का जन्म २९ जुलाई १८८३ को इटली के एक मध्यम वर्गीय घराने में हुआ था। उसका पिता एक लोहार था और माता अध्यापिका। प्रारम्भ में वह मजदूरी करता रहा। मामूली शिक्षा प्राप्त कर उसने जीवन क्षेत्र में प्रवेश किया। १९०९ में वह शिक्षक बना। पूरे जीवन में उसको ११ बार जेल जाना पड़ा था। क्रान्तिकारी समाजवादी आन्दोलन से सम्पर्क हो जाने से १९०९ में अध्यापन कार्य का परित्याग कर उसने क्रान्तिकारी जीवन अपनाया। वह स्वीट्जरलैण्ड और आस्ट्रिया में भी कुछ समय तक रहा। उस समय वह आस्ट्रिया के एक नगर की समाजवादी पार्टी का मन्त्री बना। कुछ महीने बाद वह आस्ट्रिया से निकाल दिया गया। १९१० में वह फोर्ली नामक शहर के समाजवादी दल का वैतनिक मंत्री नियुक्त हुआ। १९१२ में उसने इटली में राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। ९ दिसम्बर को वह सुप्रसिद्ध अवन्ती (The Avanti) नामक उग्र क्रान्तिकारी समाजवादी पत्र का सम्पादक नियुक्त हुआ। १९१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ

होने पर मुसोलिनी ने क्रान्तिकारी तथा युद्ध-विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व किया। १३ अक्टूबर को वह युद्ध का पक्षपाती बन गया। यहीं पर उसके राजनीतिक जीवन की गतिविधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है।

अब मुसोलिनी ने समाजवाद से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। समाजवादियों ने उसे दगाबाज घोषित किया और अपने दल से निकाल दिया। मुसोलिनी ने एक नये पत्र पोपोलो डी इतालिया (The Popolo d'Italia) का सम्पादन किया। इस कार्य के लिए उसे फ्रांस से पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली। समाजवादियों का यह आरोप उचित था कि उसने अपने को फ्रांसीसी पूँजी के हाथ बेच दिया। एक ही वर्ष में (१९१४) वह मुसोलिनी, जो इटली का लेनिन कहा जाने लगा था, फ्रांसीसी पूँजीवाद का वेतनिक समर्थक बन गया। उसने खुलेआम समाचार-पत्र द्वारा इटली से महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों (The Allies —ब्रिटेन, फ्रांस और रूस) का पक्ष लेने के लिए अनुरोध किया। थोड़े समय तक (१९१५-१७) वह युद्ध में सैनिक बन कर लड़ा भी। इस काल में उसने कुछ समय अस्पतालों में व्यतीत किया। फिर उसने अपने समाचार-पत्र का कार्य आरम्भ किया। १९१७ में उसने एक नये दल (Fasci di Resistenza) की स्थापना की। उसका यही दल भविष्य में फासी दल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नवम्बर १९१८ में महायुद्ध समाप्त हुआ। १९१९ में वरसाई की सन्धि (The Treaty of Versailles) हुई। इस सन्धि से इटली को कोई विशेष लाभ न हो सका। उसकी साम्राज्यवादी माँगों की पूर्ति न हो सकी। ब्रिटेन और फ्रांस अपने पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी ध्येयों की पूर्ति में ही लीन रहे। पराजित देशों के साम्राज्यों को इन्होंने स्वयम् हड़प लिया। अमेरिका भी इस बँटवारे से असन्तुष्ट था। इटली का तो कहना ही क्या। उसने महायुद्ध में कोई विशेष तथा महत्त्वपूर्ण सैनिक सहायता भी नहीं पहुँचायी थी। सत्य तो यह है कि इटली की सेना सुयोग्य न थी। सारांश यह है कि वरसाई के बँटवारे से इटली की साम्राज्यवादी इच्छा की पूर्ति बिलकुल न हो सकी। इस असन्तुष्टि का प्रमाण इस उदाहरण से प्रकट है कि सन्धि वार्तालाप के समय एक बार इटली का प्रतिनिधि क्रुद्ध हो कर बैठक से बाहर निकल आया। इटली ने बँटवारे की असफलता को सदा ही राष्ट्रीय अपमान समझा।

युद्धोपरान्त इटली की आर्थिक परिस्थिति उत्तरोत्तर बिगड़ती गयी। श्रमिकों ने वेतन वृद्धि के लिए हड़तालें कीं, अन्य वर्गों की दशा भी असन्तोषजनक थी। मूल्यों की वृद्धि तथा बेकारी की समस्या व्यापक थी। कुछ समाजवादी क्रान्ति का नारा बुलन्द

कर रहे थे। मुसोलिनी इस समय पीछे न रहा। उसने घोषित किया कि वह जनवाद के पक्ष में है और तानाशाही के विरुद्ध। १९२० की अप्रैल में उसके फासिस्ट दल के कार्यक्रम का उद्देश्य पूँजीवादी सम्पत्ति तथा जमीन्दारी प्रथा का अन्त करना था। इस दल ने मजदूरों की हड़ताल में सक्रिय योग दिया। नवम्बर १९१९ के राष्ट्रीय निर्वाचन में मुसोलिनी के दल का एक भी सदस्य निर्वाचित न हो सका। अवसरवादी मुसोलिनी क्रान्तिकारी मार्ग का परित्याग कर प्रतिक्रियावादी मार्ग की ओर अग्रसर हुआ।

अब उसने खुलेआम समाजवादियों का विरोध आरम्भ किया। उसके फासीवाद अनुगामियों ने साम्यवादी तथा समाजवादी बैठकों को भंग किया, उनके समाचार-पत्रों के कार्यालयों तथा मशीनों को जलाया, और उनके नेताओं के साथ दुर्व्यवहार किया। अब फासीवाद क्रान्तिकारी न रहा; वह शान्ति, सुव्यवस्था तथा अनुशासन का प्रमुख स्तम्भ बना। उसका प्रमुख नारा था—"समाजवादी खतरे का अन्त करो" (Down with the Red Menace)। अब फासी दल ने समाजवादियों के विरुद्ध आतंकवादी मार्ग अपनाया। हड़तालें भंग की गयी और वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा का नारा बुलन्द किया गया। मुसोलिनी की नयी नीति ने उसे पूँजीपतियों तथा निम्न मध्यमवर्ग का अग्रदूत बना दिया। फासी दल के सदस्यों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी। सहायतार्थ धन भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होने लगा। यह सब सैद्धान्तिक कायाकल्प का फल था। जहाँ उसका १९१९ का कार्यक्रम सुप्रसिद्ध १८४८ के साम्यवादी घोषणा-पत्र (The Communist Manifesto) से मिलता-जुलता था, वहाँ उसका १९२० का कार्य-क्रम किसी भी रूढ़िवादी दल का प्रतीक बन सकता था।

पूँजीपतियों ने भूतपूर्व क्रान्तिकारी मुसोलिनी के दल को स्वार्थ-रहित दृष्टि से सहायता नहीं दी थी। एक ओर क्रान्तिकारी श्रमिक आन्दोलन, रूस, आस्ट्रिया, हंगरी आदि के उदाहरणों से प्रोत्साहित हो, पूँजीवाद के लिए सरदर्द का विषय बन गया था। दूसरी ओर कोई भी ऐसा दल न था जिसका संसद में बहुमत हो और जो स्थायी सरकार बना सके। समाजवाद विरोधी दलों में एकता न थी। ऐसी स्थिति में पूँजीपतियों के लिए मुसोलिनी का फासी दल अत्यन्त हितकर सिद्ध हुआ। उसका दल समाजवादी भाषा का प्रयोग करता था। उस दल ने कुछ श्रमिक संघ भी संगठित किये। मुसोलिनी ने कहा कि ऐसे समाजवाद की स्थापना होनी चाहिये जो राष्ट्र की दृष्टि से हितकर हो। यही नहीं, श्रमिकों को विदेशी राष्ट्रों के विपरीत भी भड़काया गया। यह कहा गया कि उन राष्ट्रों ने इटली को वरसाई की सन्धि में धोखा दिया था। श्रमिक आन्दोलन में

फूट डाली गयी। पूँजीपतियों ने मुसोलिनी को अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी समझा। ठीक ही कहा है कि लोहे को लोहा ही काट सकता है; या चोर को चोर ही सुगमता से पकड़ सकता है।

मुसोलिनी के फासीवादी दल के सदस्य निम्न मध्यमवर्ग के थे। इस वर्ग को ही उसकी सफलता का श्रेय है। जन्म से वह स्वयं इस वर्ग का सदस्य था। बूचड़, लोहार, छोटे दूकानदार तथा डबल रोटी बनाने वाले आदि फासीवादी दल के कृत्रिम सदस्य थे। मुसोलिनी का कार्य-क्रम इनकी मनोवृत्ति की संतुष्टि करता था। यह वर्ग साम्यवाद तथा समाजवाद से डरता है। वह सोचता है कि कहीं समाजवाद से उसकी छोटी-सी पूँजी का अन्त न हो जाय। जब देश में आर्थिक संकट उपस्थित होता है और बेरोजगारी तथा बेकारी बढ़ती है, तो इस वर्ग के सदस्यों को डर होता है कि कहीं उनकी भी स्थिति श्रमिकों की तरह न हो जाय। वे अपने को श्रमिकों से ऊँचा मानते हैं और संकटकालीन परिस्थिति से निराश हो जाते हैं। निम्न मध्यमवर्ग पूँजीपतियों के प्रति भी घृणा तथा वैमनस्य की भावना रखता है। वह पूँजीपति की सम्पत्ति और वैभव से ईर्षा करता है। मुसोलिनी का कार्य-क्रम इस वर्ग के अनुकूल था। वह न तो इतना रूढ़िवादी था कि उससे पूँजीपति का एकाधिकार स्थापित हो सके और न इतना क्रान्तिकारी था कि समाजवाद की नींव पड़ सके। इसीलिए इस वर्ग के हृदय ने मुसोलिनी का साथ दिया।

१९२२ में प्रतिक्रियावादी नेताओं ने श्रमिक आन्दोलन से भयभीत होकर एक गुप्त बैठक में निर्णय किया कि सेना द्वारा राज्य पर एकाधिकार स्थापित किया जाय। ऐसे सैनिक कार्यक्रम के लिए नेता चुने गये। मुसोलिनी का स्थान तीसरा था। १९२१ के निर्वाचन में उसके दल के ३५ सदस्य संसद में पहुँचे। अब उसने संसद में स्थान प्राप्त किया और साथ ही साथ प्रतिक्रियावादियों का नेतृत्व भी। ३० अक्तूबर १९२२ को सम्राट् के निमंत्रण पर उसने रोम (Rome) पर अपना अधिकार स्थापित किया। वह प्रधान मंत्री बना और फासीवादी सरकार की स्थापना हुई।

इस प्रकार मुसोलिनी इटली का अधिनायक बन बैठा। उसके जीवन का लक्ष्य केवल निजी स्वार्थ-पूर्ति था। इस लक्ष्य के हेतु उसकी विचारधारा कई बार परिवर्तित हुई। अधिनायकवाद की स्थापना के पश्चात् उसने फासीवादी दर्शन का निर्माण किया। इस निर्माण कार्य में कई वर्ष लगे। समय के अनुकूल उसको अपनी नीति में भी परिवर्तन करना पड़ा। अपनी इस नीति को उसने दार्शनिक दृष्टि से न्याय-संगत बताया। इस कार्य के लिए मुसोलिनी ऐसा अपूर्व बुद्धि का व्यक्ति ही उपयुक्त हो सकता था।

आधुनिक युग के शासकों में मुसोलिनी जैसे विद्वान् कम ही हुए हैं। विद्वता द्वारा ही उसने एक दर्शन-रहित व्यवस्था को दार्शनिक रूप दिया। यहाँ यह बताना उपयुक्त होगा कि फासीवादी दर्शन अन्य आधुनिक दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों (मार्क्सवाद, समष्टिवाद आदि) की पहले व्याख्या होती है और तब कई वर्षों बाद उनके अनुसार राज्य का निर्माण। परन्तु फासीवादी राज्य पहले स्थापित हुआ और तब उसके दर्शन की व्याख्या की गयी। यह अवसरवादिता का सूचक है।

दर्शन

अर्थक्रिया-कारित्ववाद तथा अवसरवाद:—मुसोलिनी ने स्वयम् घोषित किया था कि उसके फासीवादी दर्शन का एक मूल आधार अर्थक्रिया-कारित्ववाद है। बहुलवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि यह वाद लॉस्की जैसे मानवता-प्रेमी तथा स्वतंत्रता-प्रेमी के विचारों का मूल आधार था। लॉस्की का कहना था कि वही राज्य या संस्था सत्ता-धारी मानी जा सकती है जो सत्ताधारी ध्येय (आत्मसन्तुष्टि, नैतिक क्षमता तथा मानव प्रगति) की पूर्ति करे। उसने मानवता के अस्तित्व को उच्च स्थान दिया था। आश्चर्य की बात है कि इसी सिद्धान्त द्वारा मुसोलिनी ने मानवता-रहित दर्शन, राज्य तथा कार्य-पद्धति को न्यायसंगत बताया। लॉस्की की भाँति वह भी एक अपूर्व व्यक्ति था—अन्तर केवल मानवता-प्रेम और स्वार्थ-पूर्ति का था।

१९२२ में सत्ताधारी बनने के एक माह पूर्व मुसोलिनी ने कहा था कि लोग मुझ से मेरे कार्यक्रम के विषय में पूछते हैं। मेरा कार्यक्रम बहुत साधारण है। हम इटली पर शासन करना चाहते हैं। इस ध्येय की पूर्ति के लिए मुसोलिनी ने निस्संकोच सभी साधनों का प्रयोग किया। उसने साम, दाम, भेद, दंड, सभी नीतियों को अपनाया। उसका कहना था कि कोई सिद्धान्त या नियम अटूट तथा अपरिवर्तनशील नहीं माना जा सकता। प्रत्येक पीढ़ी के अपने सिद्धान्त तथा नियम होते हैं। वही सिद्धान्त एवं नियम सच्चे माने जा सकते हैं जो उस युग के ध्येय की पूर्ति कर सकें। नैतिक नियम भी इसी प्रकार उपयोगिता की दृष्टि से परिवर्तनशील हैं। मुसोलिनी ने घोषित किया कि फासीवाद अपरिवर्तनशील और सर्वव्यापक नियमों का विरोधी है।

जहाँ लॉस्की ने जेम्स के अर्थक्रिया-कारित्ववाद द्वारा राज्य को व्यक्ति-हित के अधीन बनाया था, मुसोलिनी ने इसी सिद्धान्त के अनुकरण से तानाशाही को न्यायसंगत

सिद्ध किया। उसने स्वार्थ-पूर्ति तथा अधिनायकत्वाद के हेतु समय-समय पर अपनी नीति बदली। इसीलिए सुप्रसिद्ध मत्यौती (Matteotti) ने, जो एक समय मुसोलिनी का समाजवादी सहयोगी था और जिसे उसने अधिनायक बनने के पश्चात् मरवा डाला था, फासीवाद की तुलना एक वेश्या से की थी। मुसोलिनी के फासीवाद ने कुछ महीनों तक साम्यवादियों को, कुछ समय तक जनवादियों को, और एक लम्बी अवधि तक संघवादियों को सहयोग दिया। एक समय यह फासीवाद उदारवाद का समर्थक था; बाद में वह उदारवाद का कट्टर विरोधी बन गया। युवावस्था में मुसोलिनी कट्टर नास्तिक था और उसका दल सत्ता प्राप्ति के पूर्व कैथोलिक धर्म का विरोधी था। सत्ता पाने पर मुसोलिनी ने ईश्वर की दुहाई देना आरम्भ किया और धीरे-धीरे पोप की धार्मिक प्रधानता को भी स्वीकार किया। एक समय मुसोलिनी क्रान्तिकारी संघवादी विचारक एवं नेता था; सत्ता पाने पर वह श्रमिक आन्दोलन के स्वतंत्र अस्तित्व का परम शत्रु बन गया। सत्ता प्राप्ति के पूर्व उसने जनवाद के पक्ष में कुछ घोषणाएँ की थीं। १९२८ में उसने संसदीय जनवाद का अन्त किया। युवावस्था में वह शान्ति-प्रेमी था। १९११ में उसने त्रिपोली युद्ध के विपरीत भीषण आन्दोलन किया था। इस सिलसिले में ५ महीने के लिये उसे बन्दीगृह का अतिथि होना पड़ा। सत्ता प्राप्ति के पश्चात् वह युद्ध-पिपासु बना। अपनी युवावस्था में वह पत्रकार था। इस नाते वह समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का प्रचारक तथा भक्त था। सत्ता प्राप्ति पर उसका सर्वप्रमुख कार्य समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का अन्त करना था। युवावस्था का जनवाद-प्रेमी मुसोलिनी अधिनायक बनने पर जनवाद का हत्यारा बना। अधिनायक बनने के एक वर्ष पूर्व उसने घोषणा की थी कि हम किसी भी प्रकार के अधिनायकत्व को स्वीकार नहीं करेंगे। अधिनायक बनने पर मुसोलिनी ने अपने पुराने समाजवादी साथियों को मरवाया, उन्हें जेलों में ठूँसा, देश निकाला किया तथा देश छोड़ने के लिए बाध्य किया। यही नहीं, उसने उदारवादी तथा धार्मिक दलों के नेताओं को भी अन्य प्रकार से चुप रहने के लिए विवश किया। उसने रचनात्मक आलोचना तक को सहन नहीं किया।

इस प्रकार मुसोलिनी ने स्व-सत्ता की स्थापना के लिए अर्थक्रिया-कारित्ववाद से पाठ पढ़ा। अपने ध्येय की पूर्ति के लिए उसने सभी नीतियों का प्रयोग किया। यह कहना गलत न होगा कि उसके जीवन का लक्ष्य तथा उसके दर्शन का आधार सफलता के लिये सभी हथकण्डों का प्रयोग करना था। स्वार्थ-पूर्ति ही मुसोलिनी की दृष्टि में सर्वोच्च स्थान रखती थी। वही सत्य है, वही नैतिक है, वही न्याय है जो इस सत्ताधारी

ध्येय-(-स्वार्थ-पूर्ति) की पूर्ति करे। यही उसके फासीवाद का सार था।

अविवेकवाद :—मुसोलिनी ने कई बार कहा कि वह अविवेकवादी दार्शनिकों द्वारा प्रोत्साहित हुआ था। ये दार्शनिक जेम्स (William James) वर्गसों (Henri Bergson), निटसे (Nietzsche), सोरेल (Georges Sorel) और पेरीटो (Pareto) थे। युवावस्था में मुसोलिनी संघवादी था। इस नाते उसका परिचय सोरेल के दर्शन से हुआ। संघवाद के अध्याय में बताया गया है कि सोरेल ने मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष को वर्गसों के प्रेरणावाद की पुट दी। वर्गसों की भाँति वह भी मानव-जीवन में प्रेरणा को प्रमुख स्थान देता है—प्रेरणा निर्धारित करती है कि हमें क्या करना चाहिये, विवेक बताता है कि हमें कैसे अपने निर्णय को कार्यान्वित करना चाहिये। मार्क्स की भाँति उसका कहना था कि समाज का आधार वर्ग-संघर्ष है। इसलिए प्रेरणा द्वारा श्रमिकों की वर्ग-संघर्ष की भावना को सदा जागरित रखना चाहिये। यह एक सामाजिक कल्पना, जो संघवादी आम हड़ताल थी, द्वारा संभव हो सकता है।

मुसोलिनी ने सोरेल के क्रान्तिकारी दर्शन का निजी अधिनायकवाद की पुष्टि के लिए प्रयोग किया। उसका कहना था कि मेरा कार्यक्रम कार्य है, विचार नहीं। संघवादियों की भाँति वह भी परामर्श तथा सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता था। परन्तु जहाँ संघवादी कल्पना के दर्शन को पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति के लिए प्रयोग में लाते थे, मुसोलिनी उसे अपने अधिनायकवाद की पुष्टि के हेतु प्रयोग में लाता था। उसका कहना था कि मनुष्य विश्वास द्वारा असाध्य कार्यों को भी सुगमता से कर सकता है, विवेक द्वारा नहीं। आज मानव-जीवन में विश्वास का असीमित स्थान है। राजनीतिक सफलता के लिए कलाकार होना आवश्यक है। तब जन साधारण को प्रोत्साहित किया जा सकता है, तथा उनमें काल्पनिक विश्वास पैदा किया जा सकता है। मुसोलिनी मानव को पशुतुल्य समझता था। उसका कहना था कि समुदाय एक स्त्री की भाँति है जो एक बलवान पुरुष की ओर आकर्षित होता है। एक अधिनायक को जनसाधारण तभी प्रेम की दृष्टि से देखेंगे जब वे उस से डरेंगे।

सामाजिक डार्विनवाद :—मुसोलिनी ने अन्य प्रतिक्रियावादी दार्शनिक देनों का भी प्रयोग किया। जैसा ऊपर कहा गया है वह स्वयम् काफी शिक्षित था और चतुर भी। निजी सफलता के हेतु उसने अन्य विचारधाराओं का चतुरतापूर्वक प्रयोग किया। वह स्वयं स्वीकार करता था कि—स्वार्थपूर्ति के लिए हम (फासीवादी) प्रत्येक साधन का उपयोग करते हैं—चाहे वह हत्या हो या धर्म, चाहे कला हो अथवा राजनीति।

अधिनायकवाद, राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद की पुष्टि के लिए मुसोलिनी ने सामाजिक डार्विनवादी विचारधारा को अपनाया। कदाचित् उसका इस दर्शन से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था, परन्तु उसने इस विचारधारा का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया। सामाजिक डार्विनवाद का तथ्य है कि जीवित रहने के लिए निरन्तर संघर्ष होता है। अयोग्य प्राणी मृत्यु के शिकार बनते हैं और योग्य सफल होते हैं।

मुसोलिनी ने इस विचारधारा को खुलेआम अपनाया। उसके मतानुसार संघर्ष ही विश्व की सभी वस्तुओं का जन्मदाता है। वह नैसर्गिक है, वह मानव जीवन का आधार है। जिस दिन संघर्ष का अन्त होगा, उसी दिन मानव जाति तथा विश्व का अन्त हो जायेगा। ऐसी परिस्थिति में विश्वबन्धुत्व तथा विश्वशान्ति की भावना पूर्णतः सारहीन है। सभी ओर स्पर्धा एवं संघर्ष दृष्टिगोचर हैं। अर्थशास्त्र, दर्शन आदि इसके प्रतीक हैं। मनुष्य न तो कभी भी भाइयों की भाँति रहे हैं और न रहेंगे। वे तो भेड़ियों की भाँति हैं और इस नाते वे भूमि, रोटी, स्त्री और क्षणिक लाभ के लिए लड़ते रहेंगे। ऐसे वातावरण में शान्ति कैसे सम्भव हो सकती है।

साम्राज्यवाद :—मुसोलिनी की धारणा थी कि यह निरन्तर स्पर्धा एवं संघर्ष केवल व्यक्तियों में ही नहीं है, वरन् संघों में भी है। नीटसे (Nietzsche) की भाँति उसका मत था कि यह संघर्ष केवल जीवित रहने के लिए ही नहीं है वरन् आधिपत्य स्थापित करने के लिए भी है। प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्र पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। एक व्यक्ति या राष्ट्र न केवल जीवन के हेतु ही संघर्ष करता है वरन् कीर्ति वृद्धि के लिए भी। फासीवादी राज्य इस नैसर्गिक प्रवृत्ति का तीव्र प्रतीक है। वह केवल समानता से ही सन्तुष्ट नहीं रहता, वरन् निजी कीर्ति-वैभव का भी प्रतीक है।

ऐसी विचारधारा के परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी विचारधारा स्वाभाविक-सी हो जाती है। कीर्ति-स्थापना का अर्थ है साम्राज्य-वृद्धि। मुसोलिनी ने स्वयम् घोषित किया कि साम्राज्यवाद जीवन का नैसर्गिक तथा अपरिवर्तनशील नियम है। वह एक तेजस्वी राष्ट्र की प्रगति की भावना को पुष्ट करता है। फ़ासीवाद के दृष्टिकोण से साम्राज्य-वृद्धि की भावना एक जाति के विकास का द्योतक है। जिस राष्ट्र में ऐसी भावना नहीं होती वह राष्ट्र शक्तिहीन है, वह मरणोन्मुख है। साम्राज्यवादी विचारधारा का परित्याग राष्ट्रीय अवनति का निर्देशक है।

ऐसे वातावरण में विश्वबन्धुत्व तथा विश्वशान्ति भावात्मक हैं। मुसोलिनी ने इन दोनों को कपोल कल्पना बताया था। तत्कालीन राष्ट्रीय वैमनस्यों का उदाहरण देते हुए

उसने बताया कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय बैठकों में यह वैमनस्य स्पष्ट है। ऐसी बैठकों में भिन्न-भिन्न राज्य अपने स्वार्थ के लिए झगड़ते रहते हैं। उसने स्पष्टतः बतलाया कि फासीवाद के अनुसार स्थायी शान्ति न तो सम्भव है और न हितकर ही। शान्ति तो जीवन-संघर्ष के अन्त का निर्देशक है। शान्ति का अर्थ है जीवन का अन्त। केवल युद्ध द्वारा ही एक राष्ट्र प्रगति कर सकता है। युद्ध द्वारा ही उसके वैभव की वृद्धि सम्भव है। इसलिए एक फासीवादी जीवन को सफल बनाना चाहता है। वह जीवन को संघर्ष मानता है। स्वभावतः ऐसी विचारधारा का शान्ति से कोई सम्बन्ध नहीं।

परम्परावाद :—शासक बनने के पूर्व मुसोलिनी परम्परा का विरोधी था। वह पूर्णतया नवीन समाज के निर्माण का पक्षपाती था। परन्तु शासक बनने पर उसने अपनी सत्ता को स्थायी बनाने के लिए इटली की परम्पराओं का पूर्णरूप से उपयोग किया। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की पुष्टि के हेतु वह सदा ही प्राचीन रोमन साम्राज्य का उदाहरण देता था। एक अविवेकवादी होने के नाते उसने सभी प्रकार के भावनाओं को उत्तेजित किया। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से प्रचार किया गया कि इटली एक महान् देश है और उसकी अपनी एक उत्कृष्ट परम्परा है। इस परम्परा की पूर्ति का अग्रदूत वह अपने आप को समझता था। इटली निवासियों को यह कह कर धोखा दिया गया कि मुसोलिनी तथा फासीवाद का ध्येय रोमन साम्राज्य एवं इटली के वैभव का पुनरुत्थान है।

इस प्रचार की पृष्ठभूमि में यह विचार था कि एक राष्ट्र की विशेषता उसके इतिहास पर आश्रित है। बिना इतिहास के न तो राष्ट्र और न राष्ट्रीयता ही सम्भव है। ऐसी विचारधारा का यदि अर्थक्रिया-कारित्ववाद से संयोजन किया जाय तो स्पष्टतया प्रत्येक राष्ट्र परम्परा को स्वीकार करते हुए समयानुकूल संगठन तथा नीति निर्धारित करेगा। इटली की परम्परा महान् बतायी जाती थी। इस परम्परा की पूर्ति २० वीं सदी में उसी सदी की विचारधारा द्वारा हो सकती है। यह विचारधारा थी फासीवाद। मुसोलिनी का कहना था कि १९वीं सदी उदारवाद की सदी थी, २०वीं सदी फासीवादी। इसलिए यदि इटली जैसे उत्कृष्ट परम्परा वाले देश को जीवित रहना है तथा पुनः महान् बनना है तो उसे २० वीं सदी के फासीवाद को अपनाना चाहिए। अतः परम्परा की आड़ में उग्र राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद तथा फासीवाद को न्याय-संगत बताया गया।

उदारवाद-विरोधी तथा आदर्शवाद :—आदर्शवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि उस दर्शन ने उदारवादी परम्परा का खंडन किया। इस कार्य में हीगेल का सर्वोच्च स्थान है। हीगेलवादी परम्परा का प्रभाव इटली के दर्शन पर भी पड़ा था। कुछ

दार्शनिक नवीन हीगेलवादी थे। इनमें जेन्टिल (Gentile) सुप्रसिद्ध दार्शनिक था। उसने फासीवादी विचारधारा को ग्रहण किया और उसे हीगेलवादी पुट दी। मुसोलिनी को भी हीगेलवादी विचारधारा तथा वाक्य उपयुक्त लगे। फासीवाद ने इनको स्वीकार किया और इनका खुलेआम प्रचार किया।

आदर्शवाद के सम्बन्ध में बताया गया था कि उस दर्शन द्वारा राजनीति-शास्त्र का आचार-शास्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुआ। हीगेल की भाँति कॉन्ट, फिक्टे, कार्लाइल तथा मैजिनी सभी आदर्शवादी इस बात पर जोर देते थे कि मनुष्य के कार्य स्वेच्छात्मक नहीं होने चाहिये, वरन् नैतिकतापूर्ण। उनके विचारों का तथ्य था कि वही कार्य न्याय-संगत है जो करने योग्य है। अर्थात् वही कार्य नैतिक माना जा सकता है जो व्यक्ति, समाज तथा मानवता की नैतिक संवृद्धि में सहायक हो।

यह विचारधारा बेन्थम ऐसे उपयोगितावादी तथा व्यक्तिवादी वेत्ताओं के विचारों से विपरीत थी। बेन्थम आदि व्यक्ति की भौतिक प्रगति को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे। बेन्थम का कहना था कि व्यक्ति के कार्य उपयोगिता से निर्धारित होते हैं; व्यक्ति उपयोगिता की कठपुतली है। समाजवादी भी व्यक्ति की भौतिक प्रगति को सर्वोच्च स्थान देते हैं। मुसोलिनी तथा अन्य फासीवादी नेता आदर्शवादी परम्परा के अनुगामी थे। उनका कहना था कि उपयोगितावादियों तथा समाजवादियों की धारणा निम्न कोटि की एवं भौतिकवादी है। व्यक्ति के जीवन का सार उपयोगितावादी तथा भौतिकवादी सन्तुष्टि नहीं है। मनुष्य कर्त्तव्यशील प्राणी है। उसके जीवन में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों का उच्च स्थान है। यह विचार भी उदारवादी तथा समाजवादी प्रवृत्तियों के विपरीत है। फासीवादियों के अनुसार आदर्श व्यक्ति समाज-सेवा तथा राष्ट्र-सेवा को जीवन का लक्ष्य बनाता है। कर्त्तव्यपरायणता ही सच्ची नागरिकता का निर्देशक है। देश के लिए निजी स्वतंत्रता, वैभव तथा जीवन के परित्याग से ही आदर्श नागरिकता सम्भव हो सकती है।

ऐसी विचारधारा अविवेकवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद के अनुकूल थी। फासीवादियों का ध्येय सामाजिक कपोल कल्पनाओं द्वारा उग्र राष्ट्रवाद का प्रचार करना था। कर्त्तव्य-परायणता इस ध्येय की पूर्ति में अत्यन्त हितकर थी। फासीवादियों ने जीवन की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की। वे भौतिक सन्तुष्टि को जीवन का सार नहीं मानते थे। उनके मतानुकूल ऐसा जीवन पशुता का निर्देशक है। केवल पशु ही ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं। मानवता के लिए संघर्षपूर्ण, धार्मिक, गम्भीर तथा संयमी जीवन उपयुक्त है।

ऐसी विचारधारा नागरिकों को दासतुल्य बनाती है और समाज तथा राष्ट्र को सर्वेसर्वा। इटली निवासियों को भौतिक जीवन की सन्तुष्टि पर विशेष ध्यान न देने के लिए अनुरोध किया गया। उनसे कहा गया कि आदर्श तथा सच्चे जीवन का अर्थ है समाज-सेवा एवं राष्ट्र-सेवा। भौतिक लाभों का परित्याग कर उन्हें राष्ट्र-सेवा के लिए जीवन बलिदान करना चाहिये। यही नैतिकता तथा आध्यात्मिकता का निर्देशक है। भौतिक सन्तुष्टि तो पशु-प्रवृत्ति है; वह निम्नकोटि का आदर्श है; वह मध्य १८वीं सदी के अर्थशास्त्र वेत्ताओं की देन है।

यह विचित्र सी बात थी कि जहाँ अपने ध्येय की पूर्ति के लिए फासीवादियों ने नैतिकता को मानव जीवन में उच्च स्थान दिया, वहाँ उन्होंने संघ, राष्ट्र तथा राज्य को नैतिकता से परे माना। वे अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वबन्धुत्व तथा विश्वशान्ति को सारहीन मानते थे। उनके अनुसार राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध वैसा ही था जैसा हाब्स के प्राकृतिक मनुष्यों का। वे एक साँस में व्यक्ति से नैतिकता के नाते कर्त्तव्यपरायण होने के लिए आग्रह करते थे और दूसरी साँस में राज्य को कर्त्तव्यपरायणता से च्युत करते थे।

आदर्शवाद से फासीवाद ने दूसरा पाठ स्वतंत्रता का सीखा। आदर्शवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि वह दर्शन व्यक्तिवादी तथा उदारवादी स्वतंत्रता के विपरीत था। आदर्शवादियों ने स्वतंत्रता को अपने दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। परन्तु उनकी स्वतंत्रता परम्परागत स्वतंत्रता से भिन्न थी। उदारवादी स्वतंत्रता का अर्थ था—स्वेच्छानुसार कार्य। आदर्शवादियों ने कहा कि स्वतंत्रता का अर्थ है—न्याययुक्त कार्य करना। कॉन्ट ने कहा कि विश्व-नैतिक-नियम के अनुसार कार्य करने में ही वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव है। ग्रीन के मतानुसार स्वतंत्रता का अर्थ है ऐसा कार्य करना जिससे व्यक्ति, समाज तथा मानव की नैतिकता की वृद्धि सम्भभव हो। उग्र आदर्शवादी हीगेल तथा बोसाँके ने उच्च-कोटि के तर्कों द्वारा सिद्ध किया कि राज्य-नियम के पालन करने में ही वास्तविक स्वतंत्रता निहित है। हीगेल ने इस विचार की पुष्टि के लिए राज्य को "विश्वात्मा" तथा "सर्वव्यापक—विचार-तत्त्व" का प्रतीक बताया था। बोसाँके ने कहा कि राज्य "सामान्य इच्छा" का प्रतीक है।

मुसोलिनी ने इस विचारधारा को अपनाया और इटली निवासियों से कहा कि राज्य-नियमों के अनुसार जीवन-यापन करने में ही वास्तविक स्वतंत्रता है। आदर्शवादियों की भाँति मुसोलिनी भी स्वतंत्रता जैसी बहुमूल्य वस्तु का परित्याग न कर सका। आधुनिक युग में स्वतंत्रता का मानव-जीवन में उच्च स्थान है। ऐसे सिद्धान्त को कोई

भी वेत्ता या नेता ठुकरा नहीं सकता। मुसोलिनी भी इस प्रवृत्ति से परे न था और न हो ही सकता था। परन्तु उसने आदर्शवादियों के अनुकूल स्वतंत्रता की एक नयी परिभाषा प्रस्तुत की। यह परिभाषा परम्परागत उदारवादी परिभाषा से भिन्न थी। सत्य तो यह है कि उसने इस परिभाषा द्वारा वैयक्तिक स्वतंत्रता का अपहरण किया।

सत्ता प्राप्ति के पश्चात् मुसोलिनी का सर्व प्रथम कार्य समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता का हनन करना था। इस सम्बन्ध में उसने घोषित किया कि उचित परिस्थितियों में वह इस स्वतंत्रता की पुनः स्थापना करेगा। परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब समाचार-पत्र स्वतंत्रता के योग्य बनें। उसने कहा कि स्वतंत्रता केवल अधिकार ही नहीं है, कर्त्तव्य भी है। उदारवादी भी इसे स्वीकार करते थे। परन्तु जहाँ वे अधिकारों को प्रधानता देते थे, वहाँ मुसोलिनी ने कर्त्तव्यों को दी। वैसे तो अन्तर केवल शब्दों का ही लगता है, परन्तु वास्तव में इस अन्तर से स्वतंत्रता का अन्त हो जाता है।

कर्त्तव्य पर जोर देते हुए मुसोलिनी ने कहा कि कर्त्तव्यपरायणता में ही स्वतंत्रता निहित है। प्रश्न यह है कि कर्त्तव्य किसके प्रति हो? मुसोलिनी के अनुसार कर्त्तव्य, व्यक्तित्व तथा मानवता के प्रति नहीं प्रत्युत राज्य के प्रति होना चाहिये। उसने घोषित किया कि राज्य के अधिकार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रदर्शन करते हैं। यह राज्य का अधिकार है कि वह व्यक्तियों की स्वतंत्रता निर्धारित करे। मुसोलिनी ने यह भी कहा कि हम (फासीवादी) व्यक्ति को राज्य से उच्च स्थान नहीं देते, हम व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए स्वतंत्रता नहीं देते, तथा मौलिक अधिकारों की घोषणा नहीं करते। क्योंकि ये अधिकार व्यक्ति को स्वामी बना देते हैं और राज्य को दास। हम यह स्वीकार अवश्य करते हैं कि स्वतंत्रता मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। परन्तु हमारे अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता वही है जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व की वृद्धि राज्य के लिए हो। अतः व्यक्ति स्वातंत्र्य राज्य-इच्छा पर आश्रित है।

फासीवाद राज्य को सर्व प्रमुख और सर्व शक्तिमान् मानता है, व्यक्तियों तथा वर्गों को गौण। इसकी दृष्टि में राज्य से अलग व्यक्तियों अथवा वर्गों का कोई अस्तित्व नहीं है। मुसोलिनी के मतानुकूल फासिस्ट राज्य एक चेतन शक्ति है। उसका अपना व्यक्तित्व एवं अपनी इच्छा-शक्ति है।

फासीवादियों ने हीगेलवादियों से एक तीसरा विचार ग्रहण किया—वह था आत्मा तथा आध्यात्मवाद सम्बन्धी। हीगेल के परम्परानुसार उन्होंने बताया कि जहाँ उदारवाद भौतिकता को उच्च स्थान देता है, फासीवाद आध्यात्मिकता को। ऊपर बताया

गया है कि फासीवादी आध्यात्मिक दृष्टि को ही जीवन का लक्ष्य मानते थे। वे राज्य को नागरिकों की आत्मा का प्रतीक समझते थे। उनके अनुसार आत्मा तथा विचार-तत्व ही सत्य है और राज्य इन दोनों का प्रतिबिम्ब स्वरूप है। राज्य के नियमों का पालन करने से ही वास्तविक आध्यात्मिक सन्तुष्टि, जो जीवन का लक्ष्य है, सम्भव हो सकती है।

सर्वाधिकारी संगठन

फासीवादी राज्य दार्शनिक दृष्टि से सर्वेसर्वा था। मुसोलिनी तथा उसके अनुगामियों ने सभी पूर्ववर्ती दर्शनों का उपयोग अपने सर्वाधिकारी दर्शन की पुष्टि के हतु किया। जैसा ऊपर कहा गया है अर्थक्रिया-कारित्ववाद इस दर्शन का मूल आधार था। तानाशाही की दृष्टि से सभी लाभदायक विचार कार्यान्वित किये गये। साथ ही साथ तानाशाही की पुष्टि के लिए सभी उपयोगी कार्य-पद्धतियों का प्रयोग किया गया।

फासीवादियों का ध्येय राज्य में निजी एकाधिकार की स्थापना था। इसके हेतु उन्होंने धीरे-धीरे जनतंत्रीय विरोध का अन्त किया तथा नये प्रकार से राज्य का संगठन। वे अपनी सत्ता को स्थायी बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने राष्ट्र की दृष्टि साम्राज्य-विस्तार की ओर लगायी। उन्होंने कहा कि इटैलियन जाति एक महान् जाति है। उसका नैसर्गिक अधिकार तथा कर्त्तव्य है कि पिछड़ी जातियों पर वह अपना आधिपत्य स्थापित करे। इन ध्येयों की पूर्ति के लिए फासीवादियों ने देश के अर्थ एवं समाज को राज्य के अधीन बनाया। उदारवादी परम्परा को ठुकरा कर सर्वाधिकारी व्यवस्था का निर्माण किया गया। आवश्यकतानुसार सभी राष्ट्रीय विषयों को राज्य के अधीन बनाया। इस सम्बन्ध में भी उसे अर्थक्रिया-कारित्ववाद से प्रेरणा मिली।

आर्थिक क्षेत्र :—दो तीन वर्षों तक फासीवादी राज्य ने परम्परागत व्यक्तिवादी आर्थिक नीति को अपनाया। इसका श्रेय डी. स्टिफानी (De Stefani) अर्थमंत्री को था। कुछ परिस्थितियों के कारण १९२५ में उसने पद त्यागा। उसके पद-त्याग के साथ-साथ व्यक्तिवादी अर्थनीति का भी लोप हुआ। १९२९ में विश्वव्यापी अर्थसंकट हुआ। उसका प्रभाव इटली के अर्थ पर भी पड़ा। जनता की आर्थिक दशा निरन्तर बिगड़ती गयी। फलतः राज्य का आर्थिक जीवन पर नियंत्रण बढ़ा। इस नियंत्रण की वृद्धि निरन्तर होती गयी।

व्यक्तिवादी परम्परा के अनुसार राज्य को आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। "यद्भाव्यम् नीति" के अनुकूल व्यक्तियों को आर्थिक जीवन में पूर्ण स्वतंत्रता

होनी चाहिये। मूल्य, वेतन, कार्यकाल आदि विषयों में राज्य का हस्तक्षेप अनुचित माना जाता था। इस परम्परा के विपरीत फासीवादियों ने धीरे-धीरे मूल्य, वेतन, आयात, निर्यात आदि पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया। फासीवादी राज्य यह निर्धारित करता था कि कारखानों में किन-किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाना चाहिये। काश्तकारों की उपज भी राज्य-क्षेत्र से बाहर न थी। राज्य यह भी निर्धारित करता था कि कौन सी वस्तुयें देश से बाहर भेजी जायँ तथा कौन सी वस्तुएँ बाहर से देश में मँगायी जायँ। राज्य द्वारा व्यवसाय को गुटों में सम्मिलित होने के लिए बाध्य किया जाता था। वह श्रमिकों तथा पूँजीपतियों के झगड़ों का भी निपटारा करता था।

उदारवादी व्यवस्था में व्यक्ति के कुछ मौलिक अधिकार माने जाते हैं। लॉक की परम्परानुसार वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार नैसर्गिक है। यह समझा जाता है कि यह अधिकार राज्य के पूर्व से चला आ रहा है। फासीवादियों ने इस परम्परा का विरोध किया और कहा कि नैसर्गिक अधिकार सारहीन हैं। आदर्शवादियों की भाँति उनकी धारणा थी कि अधिकार केवल राज्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं। अर्थक्रिया-कारित्ववाद के आधार पर कहा जाता था कि राज्य वही अधिकार प्रदान करेगा जो सामाजिक दृष्टि से हितकर हो। इस दृष्टि से पूँजीपतियों तथा सामन्तों की व्यक्तिगत सम्पत्ति को फासीवादियों ने न्याययुक्त बताया। राष्ट्रीय तथा सामाजिक दृष्टि से ऐसी सम्पत्ति हितकर समझी गयी। मुसोलिनी तथा उसके अनुगामी राष्ट्रीकरण की प्रथा को समाज-हित की दृष्टि से लाभदायक नहीं मानते थे।

फासीवादियों के अनुसार कार्य एक सामाजिक कर्त्तव्य है। इसलिए राज्य का कर्त्तव्य था कि वह नागरिक-जीवन के सभी पहलुओं पर राष्ट्र के हेतु नियंत्रण रखे। नागरिक-जीवन पर राज्य का पूर्ण एकाधिकार था।

सामाजिक जीवन :—रोको (Rocco) ने उदारवाद और फासीवाद का अन्तर इस प्रकार किया है। उदारवाद के अनुसार व्यक्ति साध्य है, समाज साधन। फ़ासीवाद के अनुसार समाज साध्य है, व्यक्ति साधन। सामाजिक दृष्टि से भी इन दोनों विचारधाराओं में आकाश पाताल का अन्तर है।

उदारवाद के अनुसार राज्य को व्यक्ति के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इस परम्परा का उद्गम-स्रोत जॉन लॉक का दर्शन था। लॉक ने कहा था कि व्यक्ति राज्य के पूर्व से ही नैतिक है। नैतिकता और अनैतिकता का ज्ञान राज्य की देन नहीं है, वह नैसर्गिक है। इसलिए राज्य

का कर्त्तव्य व्यक्तियों को नैतिक तथा शिक्षित बनाना नहीं है। इस विचारधारा के आधार पर आधुनिक उदारवाद व्यक्ति को सामाजिक विषयों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है। राज्य केवल पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों की स्थापना करता है। पाठ्यक्रम तथा शिक्षकों की विचारधारा आदि से सम्बन्धित विषयों में राज्य हस्तक्षेप नहीं करता। उदारवादी राज्य पुस्तकालय आदि की स्थापना में सहायता अवश्य देता है, परन्तु वह यह निर्धारित नहीं करता कि नागरिक कौन सी पुस्तकें तथा समाचार-पत्र पढ़ें। राज्य व्यक्तित्व की वृद्धि में सहायता अवश्य देता है परन्तु इस वृद्धि का श्रेय व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर है।

इस परम्परा के विपरीत फासीवादी राज्य व्यक्ति के सांस्कृतिक एवं शारीरिक पुष्टि सम्बन्धी कार्यों पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। नागरिक के सैनिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक तथा मनोवैज्ञानिक जीवन का संचालन फासीवादी राज्य द्वारा होता है। राष्ट्रीय शिक्षा विभाग शिक्षा सम्बन्धी सभी विषयों पर नियंत्रण रखता है। फासीवादी इटली में पाठ्यपुस्तकें राज्य द्वारा निर्णित होती थीं। इन पुस्तकों में राज्य-भक्ति तथा नेता-भक्ति सम्बन्धी पाठों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे ही व्यक्ति शिक्षक हो सकते थे जो फासीवादी विश्वास रखते थे। विद्यार्थियों की आयु के अनुसार बालसंघ (Club Scouts और Boy Scouts) होते थे। बचपन से ही देश-भक्ति का पाठ पढ़ाया जाता था। नेता (मुसोलिनी) के प्रति सद्भावना रखने की शिक्षा दी जाती थी। बचपन से ही यह पाठ पढ़ाया जाता था कि मुसोलिनी कभी गलती नहीं कर सकता।

दो संस्थाओं (Italian Royal Academy और The National Fascist Institute of Culture) की स्थापना की गयी थी। इन संस्थाओं द्वारा राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन को फासीवादी रूप दिया गया। पहली संस्था वैज्ञानिकों तथा कलाकारों की विचारधारा एवं कृतियों पर फासीवादी छाप डालने में सहायक होती थी। फासीवादियों के अनुसार कला और विज्ञान लक्ष्य-रहित नहीं हो सकते; इनका ध्येय राष्ट्र-वृद्धि एवं फासीवाद की पुष्टि है। वैज्ञानिक तथा कलाकार स्वतंत्र नहीं हैं। उनका राष्ट्र-जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए उनकी कृतियों पर राष्ट्र तथा फासीवाद का नियंत्रण हितकर ही नहीं वरन् आवश्यक भी है। विज्ञान की पुष्टि केवल विज्ञान के हेतु नहीं की जा सकती, कला को प्रोत्साहन केवल कला के नाम पर नहीं दिया जा सकता। अतः राज्य की ओर से उन वैज्ञानिकों तथा कलाकारों को पारितोषिक प्रदान किये जाते थे जो फासीवाद की पुष्टि करें। दूसरी संस्था का कार्य था कि वह जनता में फासीवादी

दृष्टिकोण तथा संस्कृति का प्रचार करे। भाषणों, पुस्तकों, समाचार-पत्रों आदि द्वारा मुसोलिनी तथा अन्य फासीवादियों के विचारों का प्रचार इटली के कोने-कोने में सर्वत्र पहुँचाया गया था।

समाचार-पत्र आदि :—मुसोलिनी सम्पादक रह चुका था। इस नाते वह उस समय पत्रकारों की स्वतंत्रता का पक्षपाती था। परन्तु सत्ता प्राप्ति पर उसने समाचार-पत्रों को स्वतंत्रता का अन्त किया। उसकी फासीवादी व्यवस्था में समाचार-पत्रों पर केवल नकारात्मक ही नहीं वरन् सकारात्मक नियंत्रण भी था। नकारात्मक नियंत्रण का अर्थ है कि समाचार-पत्र किसी विशेष लेख या सूचना को प्रकाशित नहीं कर सकते। सकारात्मक नियंत्रण द्वारा राज्य यह निर्धारित करता है कि कौन सी सूचना अथवा किस प्रकार का लेख प्रकाशित किया जाना चाहिये। मुसोलिनी के राज्य में दोनों प्रकार के नियंत्रण व्यापक थे।

फासिस्ट इटली में एक केन्द्रीय संस्था थी जिसके द्वारा अखबारों को सूचनाएँ तथा समाचार प्रकाशन के लिए दिये जाते थे। इस संस्था का नाम Stefani News Agency था। इस संस्था पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। यह समाचार-पत्रों की नीति तथा दृष्टिकोण नियंत्रित करता था। एक समय इटली के समाचार-पत्रों में स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टैगोर के विषय में यह प्रकाशित हुआ था कि उन्होंने अपने वक्तव्यों में फासीवादी इटली की प्रशंसा की। जब गुरुदेव टैगोर को यह सूचना मिली तो उन्होंने इस समाचार का पूर्णतः खण्डन किया। उन्होंने कहा कि यह विचार सारहीन है कि मैं कभी भी ऐसी अत्याचारी तथा हिंसात्मक व्यवस्था का समर्थक बन सकता हूँ जिसमें व्यक्तित्व और स्वतंत्रता का अपहरण किया जाता है। यह वाक्य फासीवाद की निन्दित प्रवृत्तियों का निर्देशक है। इस प्रकार समाचार-पत्र फासीवादी विचारधारा एवं नीति के प्रचार यंत्र बनाये गये।

पुस्तकों, रेडियो तथा सिनेमा द्वारा भी नागरिकों के विचारों को फासीवादी सांचे में ढाला जाता था। नागरिकों को केवल वही सूचना प्राप्त हो सकती थी, वही पुस्तक पढ़ने को मिलती थी या वही सिनेमा देखने को मिल सकता था जिसमें फासीवाद के प्रति उनकी सद्भावना दृढ़ बने। वे उन्हीं विचारों की दुनियाँ में रखे जाते थे जिनके द्वारा वे मुसोलिनी और उसके राज्य के प्रति श्रद्धा रखें। इटली और उसके नेता मुसोलिनी की प्रशंसा अनेक प्रकार से होती थी। साथ ही साथ अन्य देश तथा अन्य शासन प्रणालियाँ निम्न कोटि की सिद्ध की जाती थीं। इस प्रकार बेचारे नागरिकों

को कूपमण्डूक बना दिया जाता था।

यही नहीं, नागरिकों तथा उनकी संस्थाओं का स्वतंत्र संगठन निषिद्ध था। सांस्कृतिक संस्था तक स्थापित नहीं कर सकते थे। उनको अनिवार्य रूप से राज्य निर्मि संस्थाओं की सदस्यता ग्रहण करनी पड़ती थी। एक National Leisure Tim Organisation नामक संस्था थी। इस संस्था का ध्येय था कि आराम के सम नागरिकों को मनोरंजक कार्यों में व्यस्त रखा जाय। इस राष्ट्रीय संस्था की शाख इटली भर में व्याप्त थीं। मजदूर, किसान, युवक तथा प्रौढ़ अपनी दिनचर्या के पश्च इन संस्थाओं में मनोरंजन करते थे। मनोरंजन भी परोक्ष रूप से फासीवाद का समर्थ करता था। नागरिकों को इतना व्यस्त रखा जाता था कि वे न तो स्वतंत्र सांस्कृतिक संस्थाएँ स्थापित कर सकते थे और न उनके पास इतना समय रहता था कि परम्परागत संस्थाओं की सदस्यता जारी रख सकें।

यह सब यूरोप की उदारवादी परम्परा के विपरीत था। यह सत्य है कि उदारवादी राज्य का रेडियो, सिनेमा, समाचार-पत्रों आदि पर नियंत्रण होता है परन्तु यह नियंत्रण नकारात्मक है, सकारात्मक नहीं। भारत में समाचार-पत्र किसी राज्य विरोधी सूचना या विचार का प्रचार नहीं कर सकते। बस राज्य-नियंत्रण यहीं तक सीमित है। राज्य यह निर्धारित नहीं करता कि समाचार-पत्रों को कौन से लेख या कौन सी सूचनाएँ प्रकाशित करनी चाहिये। समाचार-पत्रों को पूर्ण स्वतंत्रता है कि किसी भी लेख या नीति को अपनायें जो कि राज्य विरोधी न हों। फासीवादी व्यवस्था में जनवाणी, जनता, ब्लिज, क्रॉस रोड्स, राष्ट्र धर्म तथा भिजिल जैसे समाचार-पत्रों का कोई स्थान नहीं है। आज एक भारतीय नागरिक किसी भी समाचार-पत्र को पढ़ सकता है। फासीवादी व्यवस्था में नागरिक केवल उसी समाचार-पत्र को पढ़ सकेगा जो राज्य द्वारा स्वीकृत हो, अर्थात् फासीवाद की पुष्टि करता हो।

उदारवादी राज्य रेडियो, सिनेमा, समाचार-पत्र एवं मनोरंजक संघों की स्थापना को प्रोत्साहन देता है। सरकारी समाचार-पत्र, व्यायामशाला तथा पुस्तकालय आदि का प्रबन्ध राज्य द्वारा होता है। परन्तु साथ ही साथ नागरिकों द्वारा भी सांस्कृतिक संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं। उन्हें इस सम्बन्ध में पूर्ण स्वतंत्रता है। वे किसी भी सांस्कृतिक संस्था की स्थापना कर सकते हैं तथा उसकी सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं। रेडियो और सिनेमा पर सरकारी नियंत्रण अवश्य होता है, परन्तु यह नियंत्रण केवल शान्ति और सुव्यवस्था के हेतु है। भिन्न-भिन्न विचारधाराओं वाले व्यक्ति रेडियो पर बोल सकते हैं।

यह सब फासीवादी प्रथा में नहीं पाया जाता।

नैतिक जीवन :—यूरोप की उदारवादी परम्परा के अनुसार राज्य को व्यक्ति के नैतिक जीवन सम्बन्धी विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह परम्परा भी जॉन लॉक की देन है। जैसा ऊपर बताया गया है—लॉक का कहना था कि व्यक्ति प्रकृति से ही नैतिक है। राज्य की स्थापना के पूर्व से ही व्यक्ति का जीवन नैतिकतापूर्ण था। इसलिए राज्य को नैतिकता सम्बन्धी कोई कार्य नहीं अपनाना चाहिये। इसी परम्परा के अनुकूल मिल ने व्यक्ति को राज्य-नियंत्रण से मुक्त करने के पक्ष में ऐतिहासिक विचार प्रकट किये थे। अतः उदारवादी परम्परा में नैतिकता और नैतिक जीवन व्यक्तिगत क्षेत्र माने जाते हैं।

फासीवाद ने उदारवादी परम्परा के विरुद्ध आदर्शवादी परम्परा को अपनाया। आदर्शवाद के अनुसार नैतिकता केवल राज्य में ही सम्भव है। आदर्शवादी दार्शनिकों ने इस धारणा द्वारा नागरिकों से राज्य-भक्त होने के लिए अनुरोध किया था। फासीवादियों ने इस विचारधारा को कार्यान्वित किया और घोषित किया कि राज्य का क्षेत्र नागरिक के वाह्य जीवन तक ही सीमित नहीं है वरन् आन्तरिक जीवन से भी सम्बन्धित है। राज्य द्वारा ही सत्य—असत्य तथा नैतिक-अनैतिक का भेद निर्धारित होता है। राज्य नागरिकों की नैतिकता का संचालक है। साथ ही साथ वह नैतिकता की परिभाषा भी निश्चित करता है। वस्तुतः फासीवादी लक्ष्यों के अनुकूल जीवन यापन करना ही नैतिकता का दूसरा नाम है। वही जीवन नैतिक था जो मुसोलिनी की घोषणाओं के अनुकूल संचालित होता था। राष्ट्र-प्रेम, साम्राज्यवादी-भावना, राज्य-भक्ति, नेतृ-भक्ति सम्बन्धी विचार नैतिकता के सूचक माने जाते थे। नागरिक को नैतिक बनने के लिए, अर्थात् फासीवादी होने के लिए, वाध्य किया जाता था। वास्तव में फासीवाद और नैतिकता पर्यायवाची माने जाते थे। क्योंकि मुसोलिनी ने स्वयं कहा था कि फासिज्म की दृष्टि में राज्य की निश्चित, नैतिक एवं आध्यात्मिक वास्तविकता है।

राज्य का रूप एवं ढाँचा

अब फासिस्ट राज्य के संगठन का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है। इस संगठन में पूँजीवाद की बुराइयों तथा साम्यवादी रूस की बुराइयों का समावेश था। साथ ही साथ यह मुसोलिनी की अवसरवादी नीति का भी प्रतीक था। इस व्यवस्था के पक्ष में और

उदारवाद तथा समाजवाद के विपक्ष में फासीवादियों ने दार्शनिक तर्क प्रस्तुत किये।

पूँजीवाद और फासीवाद :—पूँजीवाद की सर्वोपरि बुराई शोषण है। मुट्ठीभर पूँजीपति एवं सामन्त असंख्य श्रमिकों तथा किसानों का शोषण करते हैं। जब कि देश के लाखों निवासी नंगे तथा भूखे रहते हैं, शोषक ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं। फासीवाद में ऐसी व्यवस्था को सुरक्षित रखा गया। पूँजीपति और सामन्त चैन से जीवन बिताते थे। गरीब श्रमिकों और किसानों की दशा सदा ही असन्तोषजनक रही। मुसोलिनी ने कई भाषणों द्वारा यह बताने का प्रयत्न किया कि उसके नेतृत्व में जन-साधारण की आर्थिक दशा में पर्याप्त सुधार हुआ। वस्तुतः यह भ्रमपूर्ण धारणा थी। १९२८ में उसने स्वयं स्वीकार किया कि इटली निवासियों की खाद्य व्यवस्था यूरोप के अन्य देशों के अपेक्षा बिगड़ी हुई है। १९२९—३१ के आर्थिक संकट से बेरोजगारी बढ़ी और खाद्य व्यवस्था अधिक जटिल हो गयी। साम्राज्य विस्तार से भी गरीबों की आर्थिक दशा में कोई विशेष परिवर्त्तन न हुआ। दूसरी ओर पूँजीपतियों के लाभ में निरन्तर वृद्धि होती गयी। १९२२ में इटली का पूँजीवाद गम्भीर संकट में था। मुसोलिनी के फासीवाद ने उसकी रक्षा की।

ब्रिटेन, अमेरिका आदि पूँजीवादी देशों की प्रशंसनीय विशेषता जनवादी प्रणाली है। व्यक्तिवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि वह दर्शन (अर्थात् उदारवाद) पूँजीवाद की देन है। भले ही इस विचारधारा के जन्म तथा इसकी पुष्टि का श्रेय पूँजीपतियों को ही है; किन्तु आज इस विचारधारा को जन-साधारण ने अपना लिया है। उदारवाद ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर जोर दिया था। परिणामतः आज पाश्चात्य पूँजीवादी देशों में भाषण, लेख, संगठन आदि की स्वतंत्रता प्राप्त है। राज्य का संचालन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। हाँ, इस जनवाद में कई त्रुटियाँ अवश्य हैं। परन्तु तब भी मानव के लिए पूँजीवादी सभ्यता की यह एक बड़ी देन है।

फासीवाद ने पूँजीवाद के शोषण रूपी कलंक को अपनाया और उसे सुदृढ़ बनाया; किन्तु पूँजीवाद की जनवादी देन को ठुकराया। फासीवादी व्यवस्था में न तो कोई वैयक्तिक स्वतंत्रता ही थी, और न जनवादी प्रणाली। मुसोलिनी और उसके समर्थकों ने उदारवादी जनवाद तथा स्वतंत्रता की आलोचना की (स्वतंत्रता के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है)। फासीवादियों का कहना था कि पाश्चात्य देशों में वास्तविक जनवाद नहीं है। वे जनवाद की उस आलोचना का प्रचार करते थे जो आधुनिक युग में होती आयी है। (इस आलोचना के सम्बन्ध में जनवाद वाला अध्याय देखिये)। परन्तु जहाँ

जनवाद-प्रेमी आलोचक त्रुटियों को प्रकट करते हुए इस बात पर जोर देते थे कि सच्चे जनवाद के हेतु इनका अन्त होना चाहिये, फासीवादी इन त्रुटियों के नाते जनवाद को ढोंग बताते थे। सच्चे जनवादी कहते हैं कि विशुद्ध प्रजातंत्र के लिए नागरिक का राजनीति में सक्रिय भाग आवश्यक है। दलबन्दियों तथा पूँजीवाद के फलस्वरूप आज जनवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक सत्ता जनता में निहित नहीं है वरन् थोड़े से नेताओं के हाथ में। जनवाद-प्रेमी के दृष्टिकोण से इन त्रुटियों को दूर करने के लिए आर्थिक निश्चिन्तता संघीय व्यवस्था तथा नागरिक की शिक्षा आवश्यक है। परन्तु फासीवादी इन त्रुटियों का प्रचार कर मुक्त कंठ से घोषित करता है कि जनवाद एक भ्रम तथा आडम्बर है।

साम्यवाद और फासीवाद :—रूस की साम्यवादी व्यवस्था की एक महान् त्रुटि यह है कि वहाँ एक दलीय सरकार है तथा उदारवादी स्वतंत्रता का अभाव है। फासीवाद ने इस बुराई को ग्रहण किया। फासीवादी व्यवस्था में भी केवल एक ही दल राज्य तथा समाज का संचालन करता है। फासिस्ट पार्टी का संगठन भी रूस की साम्यवादी पार्टी की भाँति था। इटली में भी न तो परम्परागत संसदीय जनवाद रहा और न वैयक्तिक स्वतंत्रता का अस्तित्व। समाज, संस्कृति, नैतिकता आदि पर राज्य का नियंत्रण था। सारांश में रूस के साम्यवादी राज्य की भाँति फासीवादी राज्य भी सर्वाधिकारी था।

परन्तु साम्यवादी रूस और उसके दर्शन में कुछ अच्छी विशेपताएँ भी मिलती हैं। रूस में शोषण-रहित समाज है। फासीवादी व्यवस्था इसके बिलकुल प्रतिकूल थी। साम्यवाद अविवेकवाद का विरोधी है, फासीवाद का मूलाधार अविवेकवाद है। साम्यवादी भी कुछ हद तक अर्थक्रिया-कारित्ववादी कहे जा सकते हैं; वैसे तो वे इसका दार्शनिक विरोध करते हैं। परन्तु जहाँ साम्यवादियों के अर्थक्रिया-कारित्ववाद का लक्ष्य श्रमिकों का हित है, वहाँ फासीवादियों के अर्थक्रिया-कारित्ववाद का ध्येय राज्य, राष्ट्र और वास्तव में फासीवाद तथा उसके नेता का हित है।

साम्यवाद, जातियों की समानता का समर्थक है। उसके अनुसार किसी एक जाति का किसी अन्य जाति पर अधिकार न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। सोवियत रूस में धार्मिक, जातीय तथा राष्ट्रीय समानता है। इसके विपरीत फासिस्ट व्यवस्था में ऐसी समानता का पूर्णतया अभाव था। यही नहीं, फासीवादियों के अनुसार जातियों और राष्ट्रों में वैसा ही संघर्ष व्याप्त है जैसा व्यक्तियों में। शक्तिशाली जाति तथा राष्ट्र

का अन्य राष्ट्रों पर आधिपत्य स्वाभाविक है। अतः साम्यवाद और साम्राज्यवाद परस्पर विरोधी हैं; फासीवाद और उग्र साम्राज्यवाद पर्यायवाची।

रूस में कई राष्ट्र, उपराष्ट्र तथा जातियाँ हैं। साम्यवादी व्यवस्था में इन सब को सांस्कृतिक स्वतंत्रता प्राप्त है। इस स्वतंत्रता का सर्वोच्च उदाहरण यह है कि जिन राष्ट्रों तथा उपराष्ट्रों की पहले कोई लिपि निश्चित न थी, आज उनके पास अपनी निजी लिपियाँ हैं। यह अवश्य है कि कोई भी राष्ट्रीय संस्कृति साम्यवाद विरोधी नहीं हो सकती। फासीवादी साम्राज्य में केवल शासक-राष्ट्र की फासीवादी संस्कृति का बोलबाला होता है; अन्य राष्ट्रों की संस्कृतियों का दमन किया जाता है।

साम्यवाद का आधार वर्ग संघर्ष है। साम्यवादियों के अनुसार इस संघर्ष का अन्त श्रमिक क्रान्ति द्वारा होगा। सर्वहारा के अधिनायकत्व में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समानता की स्थापना होगी। सोवियत रूस में उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार होता है, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं। इसके विपरीत फासीवाद का वर्ग-सहयोग में अटूट विश्वास था। उसके अन्तर्गत पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था सामाजिक दृष्टि से हितकर तथा आवश्यक थी।

साम्यवाद राज्य को वर्गीय संस्था तथा दमनकारी यंत्र मानता है। सर्वहारा के अधिनायकत्व के पश्चात् एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी जिसमें राज्य का स्वतः लोप हो जायगा। इसके विपरीत फासीवाद राज्य को आदर्श एवं अनिवार्य संस्था मानता है।

साम्यवाद के अनुसार आर्थिक व्यवस्था का इतिहास, संस्कृति तथा राजनीति में सर्वोच्च तथा नियामक स्थान है। व्यक्ति के जीवन में अर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक फासीवादी इस विचारधारा को निम्नकोटि की समझता है। उसके अनुसार आत्मगौरव का आर्थिक सुव्यवस्था से अधिक ऊँचा स्थान है।

साम्यवाद के अनुयायी गरीब श्रमिकों तथा किसानों को अपने दर्शन तथा राज्य में सर्वोच्च स्थान देते हैं। वे इन वर्गों को भविष्य के शासक और भावी सभ्यता के अग्रदूत मानते हैं। फासीवादियों के मतानुसार श्रमिकों को ऐसा कोई भी ऊँचा स्थान प्रदान नहीं किया जा सकता। मुसोलिनी का कहना था कि प्राचीनकाल में कुछ लोग नरेशों की चापलूसी करते थे। आज श्रमिकों के चापलूस सभी ओर दिखायी पड़ते हैं। ये चापलूस कहते हैं कि श्रमिक ही भावी व्यवस्था के सत्ताधारी होंगे। यह भ्रमपूर्ण बात है। मुसोलिनी के अनुसार श्रमिक अपने घर का शासन तक भली भाँति नहीं कर सकते तब वे समाज के कर्णधार कैसे हो सकते हैं। अतः साम्यवाद शोषक के लिए विषतुल्य है

तथा श्रमिकों के लिए अमृत सदृश ; फासीवाद शोषक के लिए अमृत तुल्य है तथा श्रमिकों के लिए विषतुल्य।

हाँ, फासीवादी दल और साम्यवादी दल में सैनिक अनुशासन है, परन्तु इन दलों का संगठन एक सा नहीं। साम्यवादी दलों में जनवादी केन्द्री-करण की प्रथा व्याप्त है। दल के सभी निर्णय जनवादी प्रणाली द्वारा होते हैं। प्रत्येक सदस्य को अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करने के लिए पर्याप्त अवकाश और साधन हैं। इसके विपरीत फासीवादी दल का निर्णय नेता द्वारा होता था। यह कहा जाता था कि आज्ञा नेता की होनी चाहिये और उत्तरदायित्व अनुयायियों का।

अतः अधिनायकवादी होते हुए भी, ये दोनों दर्शन एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। अधिनायकवादी होने के नाते ये दोनों उदारवाद के विरोधी हैं। साम्यवादियों के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है—आवश्यकता का ज्ञान। अर्थात् स्वतंत्रता तभी संभव हो सकती है जब उसके कार्यान्वित किये जाने के लिए राज्य द्वारा पर्याप्त साधन उपलब्ध हों। फासीवादी स्वतंत्रता का अर्थ है राज्य की आज्ञा के अनुसार जीवन-यापन करना।

नैसर्गिक अधिकारों के विपरीत ये दोनों दर्शन अधिकारों को सुव्यवस्था के अधीन मानते हैं। इनके अनुसार अधिकार राज्य के बाहर सम्भव नहीं हो सकते। ये दोनों दर्शन किसी भी ऐसे अधिकार को न्याय-संगत नहीं समझते जिसके द्वारा सामाजिक हित सम्भव न हो। परन्तु इन दोनों की सामाजिक हित की परिभाषा भिन्न है। साम्यवाद के अनुसार समाज-हित का अर्थ है बहुसंख्यक श्रमिकों का हित, जिसका निर्णय एक मार्क्सवादी दल करता है। फासीवाद के अनुसार वही अधिकार सामाजिक दृष्टि से हितकर है जो शोषण, उग्र राष्ट्रवाद तथा उग्र साम्राज्यवाद की पुष्टि करे।

साम्राज्यवाद विरोधी होने के नाते मार्क्सवाद शान्ति-प्रेमी है। उग्र साम्राज्यवादी होने के नाते फासीवाद विश्व-शान्ति, विश्व-बन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को सारहीन मानता है।

पोप से सम्बन्ध :—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि मुसोलिनी का राजनैतिक तथा दार्शनिक जीवन कायाकल्पपूर्ण था। सत्ता प्राप्ति के समय उसके पास कोई विशिष्ट कार्यक्रम न था। उसने स्वयं ही स्वीकार किया था कि वह कार्यक्रम में नहीं बल्कि कार्य में विश्वास करता है। आलोचकों का कहना था कि अवसरवाद ही उसका कार्यक्रम था। निजी नेतृत्व को सुदृढ़ बनाने के लिए उसने रचनात्मक विरोध तक का दमन किया और सभी प्रतिक्रियावादी संस्थाओं की शरण ली। शरण-ग्रहण के

साथ-साथ उसने उनकी पुष्टि भी की ।

पुराने नास्तिक मुसोलिनी ने पोप से, जो रोमन कैथोलिक धर्म का सर्वोच्च नेता है, समझौता किया। १९२९ में पोप के साथ सन्धि की गयी। ईसाई धर्म (रोमन कैथोलिक) ने फासीवादी व्यवस्था का समर्थन किया, तथा उसकी धार्मिक पुष्टि की। धर्म द्वारा नागरिकों को कर्त्तव्यपरायणता की ओर आकर्षित किया गया। इस सम्बन्ध में कुछ दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। जब इटली ने अबीसीनियाँ (Abyssinia) पर (१९३५-३६) आक्रमण किया तो धार्मिक नेताओं ने उसे धर्मयुद्ध का रूप दिया। नागरिकों को धर्म-युद्ध के सेनानी बनने के लिए आग्रह किया गया। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि अबीसीनियाँ के निवासी, जो मुसोलिनी के आक्रमण के शिकार हुए, ईसाई थे। १९४० में जब इटली ने ग्रीस पर धावा किया तो पोप ने स्वयं आक्रमणकारी सेना को आशीर्वाद दिया। इस प्रकार मुसोलिनी ने धर्म द्वारा अपनी दानवी-नीति की आध्यात्मिक पुष्टि करायी।

राजतंत्र तथा सिनेट :—पुराने राजतंत्र तथा सिनेट (Senate) को फासीवादी व्यवस्था में जीवित रखा गया। बादशाह ही राज्य का प्रधान रहा। उसका स्थान ब्रिटिश सम्राट् की भाँति था। वह मुसोलिनी के हाथों की कठपुतली था। मुसोलिनी स्वयं प्रधान मंत्री था। परन्तु उसका स्थान भारतीय प्रधान मंत्री तथा ब्रिटिश प्रधान मंत्री से भिन्न था। वास्तव में वह अधिनायक था। वह किसी जनवादी धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी न था। नीति तथा निर्णय मुसोलिनी के ही होते थे। सम्राट् का कार्य केवल हस्ताक्षर मात्र था।

छोटी धारासभा :—मुसोलिनी की सत्ता के पूर्व छोटी धारा-सभा सत्ताधारी मानी जाती थी। मंत्रिमंडल इसी के प्रति उत्तरदायी होता था। इसमें कई दलों के प्रतिनिधि होते थे। सत्ता प्राप्ति पर मुसोलिनी ने इन दलों को अवैध घोषित किया। इस कार्य से संसदीय विरोध का अन्त हो गया। हाँ, छोटी धारा-सभा (The Chamber of Deputies) को भंग नहीं किया गया। परन्तु दलबन्दियों के अन्त हो जाने से वह निष्प्राण हो गयी। संसदीय निर्वाचन भी हुआ करते थे, परन्तु दलबन्दी की अनुपस्थिति में ये निर्वाचन नाममात्र थे। निर्वाचन में मताधिकारियों के सम्मुख केवल वही उम्मीदवार आ सकते थे जो फासी-दल द्वारा स्वीकृत हों। निर्वाचक के सम्मुख केवल दो ही प्रश्न थे—फासीवाद द्वारा स्वीकृत उम्मीदवार को मतदान करें अथवा तटस्थ रहें। इस विधि से निर्वाचित धारा-सभा जनवादी नहीं कही जा सकती (रूस के संसदीय निर्वाचन में भी साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य कोई दल भाग नहीं ले सकता। अर्थात् वहाँ भी

दलबन्दी प्रथा अवैध मानी जाती है। परन्तु कई स्वतंत्र उम्मीदवार निर्वाचन में भाग लेते हैं और निर्वाचित संस्थाओं में पर्याप्त संख्या में पहुँच जाते हैं)। वास्तव में छोटी धारा-सभा तो मुसोलिनी की घोषणा सभा थी, उसमें फासीवादियों के अतिरिक्त कोई अन्य सदस्य नहीं होता था। १९३९ में ऐसी सभा का भी अन्त किया गया और उसका स्थान एक नयी संस्था (The Chamber of Fasci and Corporations) को दिया गया। इस नयी संस्था में विशेषज्ञ हुआ करते थे जिन्हें मुसोलिनी स्वयं नियुक्त तथा पदच्युत किया करता था।

निर्णायक मंडल :—अतएव व्यवस्थापिका एक सत्ताधारी संस्था नहीं रही प्रत्युत केवल परामर्शदातृ। उसको व्यवस्थापिका कहना ही अनुचित होगा। वह फासीवादी दल का एक अंग मात्र थी। कार्यपालिका का राज्य में बोलबाला था। निर्णायक मंडल भी पूर्णतया उसके अधीन था। न्यायाधीशों की नियुक्ति भी मुसोलिनी तथा उसके फासीवादी दल द्वारा होती थी। कोई भी फासीवाद-विरोधी व्यक्ति न्यायाधीश नहीं बन सकता था। इस प्रकार नागरिकों की स्वतंत्रता तथा अधिकारों की सुरक्षा सम्भव न थी। उदारवादी परम्परा के अनुसार निर्णायक मंडल की स्वतंत्रता व्यक्ति स्वातंत्र्य का मूल स्तम्भ मानी जाती है। मान्टेस्क्यू का शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त इस विचारधारा से प्रेरित हुआ था। उसने ठीक ही कहा था कि जब राज्य के तीनों अंग (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका) एक ही व्यक्ति-विशेष तथा व्यक्ति-समुदाय के अधीन होते हैं तब स्वतंत्रता का हनन होता है और अत्याचार का बोलबाला। आज शक्ति-विभाजन का सिद्धान्त भले ही दार्शनिक दृष्टि से असत्य और वास्तविक दृष्टि से असम्भव लगे, परन्तु मान्टेस्क्यू तथा उदारवाद की एकत्रीकरण विरोधी विचारधारा मानव जाति के लिए अमूल्य देन है। इस अमूल्य देन का हनन फासीवादी व्यवस्था में मिलता है। मुसोलिनी की फासीवादी कार्यपालिका एक साधारण तथा परम्परागत कार्य-पालिका न थी; वह व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका की स्वामी ही नहीं वरन् धात्री भी थी। वस्तुतः व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा फासीवाद विरोधात्मक थे।

स्थानीय सरकार :—आधुनिक जनवाद में स्थानीय स्वशासन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्थानीय संस्थाओं में जनवादी शासन व्यापक होता है। ऐसी व्यवस्था द्वारा नागरिकों को राजनीति की शिक्षा मिलती है। वे स्थानीय संस्थाओं की पूर्ति में सक्रिय भाग लेते हैं। इसीलिए स्थानीय स्वशासन को जनवाद की पाठशाला तुल्य माना जाता है।

फासीवादी व्यवस्था में ऐसे स्वशासन का कोई स्थान न था। पुरानी स्थानीय

संस्थाएं अवश्य जीवित रखी गयीं, लेकिन उन्हें केन्द्रीय सरकार के अधीन बना दिया गया। उनका संगठन फासिस्ट दल द्वारा होता था। जनता की स्थानीय प्रतिनिधि संस्थाओं का अन्त किया गया। जन साधारण स्थानीय विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे।

फासिस्ट दल :—यह कहना अनुचित न होगा कि फासिस्ट दल इटली का शासक वर्ग था। धारासभा और न्यायपालिका पर कार्यपालिका का पूर्ण नियंत्रण था। स्थानीय सरकार भी केन्द्रीय सरकार और उसकी कार्यपालिका के अधीन थी। अतः, केन्द्रीय कार्यपालिका ही वास्तविक सत्ताधारी संस्था थी। यह कार्यपालिका फासिस्ट दल और उसके नेता मुसोलिनी के अधीन थी।

इस सत्ताधारी दल का संगठन राज्य की भाँति था। केन्द्रीकरण और एकत्रीकरण उसकी विशेषताएं थीं। इस दल की स्थानीय संस्थाएं होती थीं। इन्हें फैसियो (Fascio) कहते थे। प्रत्येक प्रान्त में फैसी (Fasci) नामक संस्था होती थी। राष्ट्रीय संस्था को बड़ी फासिस्ट सभा (Grand Fascist Council) कहते थे। पहले तो स्थानीय और प्रान्तीय संस्थाएं पर्याप्त मात्रा में स्वतंत्र होती थीं। दल की नीति निर्धारण में उनका भी स्थान था।

१९३२ के सुधारों से स्थानीय और प्रान्तीय संस्थाओं की सीमित स्वतंत्रता का अन्त हो गया। केन्द्रीय संस्था पर भी उसके नेता मुसोलिनी का आधिपत्य पूर्णतः स्थापित हुआ। नेता को ड्यूसे (Il Duce) कहा जाता था। वह दल की नीति निर्धारित करता था। केन्द्रीय संस्था से परामर्श लेना उसकी स्वेच्छा पर आश्रित था। पहले केन्द्रीय संस्था के सदस्य प्रान्तीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित होते थे। १९३२ के पश्चात् केन्द्रीय मंत्री तथा प्रान्तीय संस्थाओं के मंत्री तथा सदस्य भी मुसोलिनी द्वारा नियुक्त होने लगे। स्थानीय संस्थाओं के मंत्री प्रान्तीय मंत्री द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इस प्रकार फासिस्ट पार्टी में जनतंत्र का पूर्ण अभाव था। विभिन्न सदस्य तथा कर्मचारी मुसोलिनी द्वारा नियुक्त होते थे और पदच्युत भी। वह दल की नीति को निर्धारित करता था। यथार्थतः वही इस दल का स्वामी था।

पहले प्रान्तीय और राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ करते थे। ये अधिवेशन दल के अर्द्ध-जनवादी संगठन के निर्देशक थे। १९३२ के पश्चात् धीरे-धीरे इनका अन्त हुआ और इनके स्थान पर अर्द्ध सैनिक प्रदर्शनियाँ होने लगीं। पहले दल की नीति परामर्श द्वारा निर्धारित होती थी। अब मुसोलिनी के वाक्य ही दल की नीति के प्रतीक बने। नेता आज्ञा देता था सदस्य उसका वास्तवीकरण करते थे। उत्तरदायित्व सदस्यों का होता

था, नेता का नहीं। नीति नेता की होती थी, सदस्यों की नहीं। यह तो सत्य है कि आधुनिक राजनीतिक दलों का अनुशासन सैनिक अनुशासन की भाँति है। परन्तु सैनिक अनुशासन के साथ-साथ नीति निर्धारण में जनवादी पुट होता है। रूस का साम्यवादी दल, भले ही पाश्चात्य राजनीतिक दलों की भाँति न हो, किन्तु उसके निर्णय जनवादी होते हैं। फासिस्ट दल इन सबसे भिन्न था। वह शत-प्रतिशत जनवाद रहित था।

संघ राज्य :—मुसोलिनी की इटली को संघराज्य (Corporate State) भी कहते हैं। आधुनिक युग में कुछ ऐसे दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों द्वारा संघों के अस्तित्व को मानव-जीवन में उच्च स्थान प्रदान किया है। मुसोलिनी ने भी इस विचारधारा को अपनाया। परन्तु जहाँ बहुलवादी तथा जनवादी दार्शनिक मनुष्य और उसके संघों को महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे, मुसोलिनी ने उन्हें राज्य के अधीन किया। वह हीगेल, मेजिनी (Mazzini) डुरखेम (Durkheim) और गुम्प्लोविज (Gumplowicz) की परम्परा का अनुयायी था। संघों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उसने राज्य को सर्व-शक्तिमान बनाया।

फासिस्ट राज्य के संगठन में संघों (Syndicate) का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इन संघों द्वारा आर्थिक जीवन का संचालन होता था। इनकी स्थापना १९२६ में हुई थी। मुसोलिनी अपने जीवन में संघवादी रह चुका था। संघवादी आदर्श भविष्य-समाज का संचालन संघों द्वारा करना चाहते थे। मुसोलिनी ने इस विचारधारा को ग्रहण किया। परन्तु उसको मूलाधार से वंचित कर दिया। संघवादियों के अनुसार आदर्श भावी संघ में श्रमिकों का बोलबाला होगा। मुसोलिनी ने फासिस्ट राज्य के आर्थिक संचालन में संघ को उच्च स्थान दिया। परन्तु इस संघ में श्रमिकों की स्वतंत्रता का अभाव था। इस संघ द्वारा फासिस्ट आर्थिक व्यवस्था को, जो समाजवाद-विरोधी थी, बल मिला।

हर एक जिले में प्रत्येक व्यवसाय सम्बन्धी एक श्रमिक संघ (Syndicate) और एक पूँजीपतियों का संघ होता था। इन स्थानीय संघों के ऊपर प्रत्येक बड़े व्यवसाय में एक राष्ट्रीय श्रमिक संघ (Federation) और एक पूँजीपतियों का संघ होता था। इन राष्ट्रीय संघों के ऊपर ९ और राष्ट्रीय संघ (Confederation) होते थे। इस प्रकार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था संघीय थी। इन संघों द्वारा वेतनक्रम निर्धारित तथा श्रमिकों का कार्यकाल निश्चित होता था। ये संघ श्रमिकों की शिक्षा का प्रबन्ध करते थे। इनके द्वारा फासीवाद का परोक्ष रूप से प्रचार होता था। यदि एक कारखाने के श्रमिक

अपना वेतन बढ़वाना या कार्यकाल घटाना चाहते, तो वे अपने संघ द्वारा पूँजीपतियों के संघ से परामर्श करते थे। संघ की सदस्यता अनिवार्य नहीं थी परन्तु बिना संघ के कोई भी श्रमिक अपनी व्यक्तिगत माँग नहीं रख सकता था। वस्तुतः संघ की सदस्यता श्रमिकों के लिए अनिवार्य थी।

फासिस्ट व्यवस्था में श्रमिकों की हड़ताल अवैध मानी जाती थी। उक्त श्रमिक संघों ने जनवादी श्रमिक संघ का स्थान ग्रहण कर लिया था। जनवादी श्रमिक संघ, श्रमिकों के संघर्ष की संस्थाएँ हैं। इनके द्वारा अन्य जनवादी देशों में श्रमिक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हैं। इनके द्वारा वे हड़तालें करते हैं और पूँजीवाद का विरोध भी। फासिस्ट श्रमिक संघ द्वारा श्रमिकों की दासता को पुष्टि मिलती थी। वे हड़ताल नहीं कर सकते थे और न स्वतंत्र परामर्श ही। मुसोलिनी ने संघवादी क्रान्तिकारी संघों का रूप परिवर्तित कर पूँजीवाद की पुष्टि के हेतु उनका दुरुपयोग किया।

फासिस्ट इटली में एक और प्रकार के संघ भी होते थे। इन्हें कारपोरेशन (Corporations) कहा जाता था। कुल २२ कारपोरेशन थे। इनमें श्रमिकों तथा पूँजीपतियों के प्रतिनिधियों के साथ-साथ राज्य के कर्मचारी भी होते थे। इनके द्वारा राष्ट्रीय आर्थिक नीति निर्धारित होती थी। इन संस्थाओं के लिए एक राज्य मंत्री नियुक्त होता था। वह इन सब की बैठकों का सभापतित्व करता था। इन्हीं संस्थाओं द्वारा वेतन, कार्यकाल, आयात-निर्यात, श्रमिक-पूँजीपति समझौते, उत्पादन, वस्तुओं का मूल्य आदि का निर्धारण किया जाता था। राष्ट्रीय आर्थिक जीवन का कोई भी भाग ऐसा न था जो इन २२ संस्थाओं के क्षेत्र से परे रहा हो। इन संस्थाओं में राज-कर्मचारी, श्रमिक प्रतिनिधि तथा पूँजीपतियों के प्रतिनिधि की हैसियत से फासिस्ट पार्टी के सदस्यों का बोलबाला होता था। इन संस्थाओं का उक्त अन्य संघों से ऊँचा स्थान था। उनकी नीति इन २२ संस्थाओं के इशारे पर निर्भर थी। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी केन्द्रीकरण पूर्णतः व्यापक था। साथ ही साथ फासिस्ट दल का भी बोलबाला था। ऐसी व्यवस्था को मुसोलिनी उदारवादी-पूँजीवाद-विरोधी एवं साम्यवाद-विरोधी गौरव के साथ घोषित करता था। उसका कहना था कि यह राज्य उदारवादी पूँजीवाद के अन्त का निर्देशक है।

फासीवाद का सूत्र था सुव्यवस्था, अनुशासन और प्रभुत्व। इसी सूत्र के आधार

पर राज्य का संचालन किया गया था। सुव्यवस्था के नाम पर स्वतंत्रता का हनन कर दिया गया। भाषण, लेख, हड़ताल, प्रदर्शन आदि की स्वतंत्रता अवैध घोषित हुई। अनुशासन के हेतु आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन को राज्य या फासिस्ट दल के अधीन बना दिया गया था। ऐसे अनुशासन द्वारा आशा की जाती थी कि एक नये प्रकार के नागरिक का जन्म होगा। प्रभुत्व का अर्थ है नेता की आज्ञा का राष्ट्रीय जीवन में सर्वोच्च स्थान। फासिस्ट पार्टी या राज्य की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि उसमें नेतागण आज्ञा देते थे और सदस्य उसका अनुकरण करते। आज्ञा नेता की होती थी और उत्तरदायित्व सदस्यों का।

त्रयोदश अध्याय

नात्सीवाद

(NAZISM)

यह आधुनिक जर्मनी की देन है। इसमें और फासीवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वास्तव में नात्सीवाद को भी साधारणतः फासीवाद ही कहा जाता है। जैसे इटली के फासीदल के सिद्धान्त को फासीवाद कहते हैं, वैसे ही जर्मनी के नात्सीदल के सिद्धान्त को नात्सीवाद कहते हैं। प्रायः सभी मूल सिद्धान्तों पर इन दोनों दलों और दर्शनों में मतैक्य है। जर्मनी का अधिनायक हिटलर और इटली का अधिनायक मुसोलिनी—ये दोनों अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मिलकर काम करते थे। इन दोनों दलों तथा देशों का कई वर्षों तक संयुक्त मोर्चा रहा।

फासीवाद की भाँति नात्सीवाद भी उदारवाद तथा समाजवाद का विरोधी था। ये दोनों पूँजीवाद के समर्थक थे और इन्होंने पूँजीवाद को अपने देशों में पतन से बचाया। ये दोनों शान्ति-विरोधी और उग्र-राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद के समर्थक थे। ये दोनों अविवेकवाद, सामाजिक डार्विनवाद, उग्र-जातिवाद और अधिनायकवाद के प्रतिबिम्ब स्वरूप थे। इन दोनों ने स्वतंत्रता, नैतिकता, सत्य आदि की नये सिरे से परिभाषा की। आधुनिक सभ्यता तथा मानव जाति की देनों का इन्होंने निर्दयता पूर्वक दमन किया। जनवादी तथा मानवतावादी इन्हें दानवी तथा राक्षसी संस्था कहने में नहीं हिचकते थे। ये दोनों अवसरवादी थे और स्वार्थपूर्ति के हेतु निम्नतम हथकंडों को अपनाने से भी नहीं हिचकते थे।

इन दोनों दर्शनों में अन्तर केवल नाममात्र का है। उग्र जातिवाद का प्रचार

नात्सी दल द्वारा हुआ था। यहूदियों के खिलाफ आतंक तथा अत्याचार नात्सीवादी जर्मनी में ही आरम्भ हुआ था। इटली के फासीवाद ने यह सब हिटलरशाही से सीखा। फासीवाद विचारधारा का प्रचार तथा विश्लेषण फासीवादी राज्य की स्थापना के पश्चात् (१९२२ में) हुआ था। सत्ता प्राप्ति के पूर्व मुसोलिनी ने फासीवाद की रूपरेखा के विषय में कोई भी विशेष विचार प्रकट नहीं किया था। १९२२ के पूर्व दुनिया में कदाचित् ही कोई व्यक्ति फासीवादी राज्य तथा दर्शन के विषय में ज्ञान रखता था। परन्तु जर्मनी में ऐसा न हुआ। हिटलर ने १९३३ में सत्ता प्राप्त की। इसके पूर्व से ही उसने अपने कार्यक्रम तथा दर्शन की रूपरेखा विश्व के समक्ष प्रस्तुत कर दी थी। अतः फासीवादी दर्शन का जन्म सत्ता प्राप्ति के पश्चात् हुआ था, जब कि नात्सीवादी विचारधारा का सत्ता प्राप्ति के पूर्व ही हो चुका था। इन भेदों के अतिरिक्त दोनों देशों की परिस्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न थीं। इसलिए भी फासीवाद और नात्सीवाद के दर्शनों तथा कार्यक्रमों में कुछ भेद अवश्य था। ऐसे साधारण भेदों के रहते हुए भी इन दोनों दर्शनों तथा दलों में समानता थी। इन दोनों दलों के नेता कई वर्षों तक विश्व में संयुक्त रूप से आतंक फैलाते रहे। समानता की परख के सम्बन्ध में "अधिनायक" (The Dictator) नामक फिल्म का उदाहरण दिया जा सकता है। यह फिल्म सुप्रसिद्ध हास्यरस के अभिनेता चार्ली चैपलिन द्वारा तैयार की गयी थी। आधुनिक साहित्य में ये दोनों अधिनायक सहयोगी के रूप में चित्रित होते हैं।

आधुनिक सभ्यता के प्रसार में इटली का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। आधुनिक युग के जन्म का श्रेय १५वीं सदी के पुनर्जागरण को है। इस पुनर्जागरण में इटली का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इटली निवासी प्रायः शान्ति-प्रेमी तथा कोमल हृदय के लिए प्रसिद्ध थे। ऐसा देश और ऐसे लोग मुसोलिनी के मानवतारहित अधिनायक-वाद के शिकार बने। यह इटली निवासियों के लिए अभूतपूर्व व्यवस्था थी। उन्हें मुसोलिनी के दर्शन तथा कार्यक्रम का पहले कोई विशेष ज्ञान नहीं था। सत्ता प्राप्ति के पूर्व संसदीय निर्वाचन में फासीवादी दल को जिस प्रकार की सफलता मिली, उसके विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुसोलिनी के दल का राष्ट्रीय जीवन में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान न था।

जर्मनी में परिस्थिति इसके कुछ विपरीत थी। जर्मनी की आधुनिक सभ्यता के

विकास में किसी भी दूसरे देश से कम स्थान नहीं है। आधुनिक युग को जर्मनी ने कई बड़े साहित्यिक, कलाकार, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक दिये हैं। इनमें कुछ नाम उल्लेखनीय हैं, जैसे—गेटे, हाइन, लिस्ट, कान्ट, फिक्टे, हीगेल, नीट्से शौपेनहावर, मार्क्स, लसाले, वर्नस्टाइन, कौट्सकी, मैक्समूलर आदि। यह कहना उचित होगा कि आधुनिक जर्मनी किसी अन्य देश से किसी भी क्षेत्र में पिछड़ा हुआ नहीं है। जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है शायद ही किसी अन्य आधुनिक देश ने ऐसा गम्भीर दर्शन प्रस्तुत किया हो। यह कहना अनुचित न होगा कि ब्रिटेन और अमेरिका भी दार्शनिक दृष्टि से यूरोप (मुख्यतः जर्मनी) से काफी पिछड़े हुए हैं। जहाँ तक मानवतावाद का प्रश्न है मार्क्स जैसा मानवता-प्रेमी जर्मनी में ही जन्मा था। जर्मनी का श्रमिक आन्दोलन आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उस आन्दोलन पर मार्क्सवाद की छाप थी। रूस की क्रान्ति के पूर्व किसी अन्य देश में (रूस सहित) इतने प्रभावशाली समाजवादी दार्शनिक नहीं हुए हैं जितने जर्मनी में। मार्क्स, लसाले, वर्नस्टाइन, कौट्स्की, रोजा लक्सेम्बर्ग, कार्ल लिबनैख्त आदि का नाम समाजवादी दर्शन में चिरस्थायी रहेगा। इस प्रकार मानवतावाद, जनवाद, साहित्य, कला इत्यादि में जर्मनी काफी हद तक पथप्रदर्शक रहा।

कई मानवतावादी वेत्ताओं को आश्चर्य होता है कि ऐसी परम्परा वाला देश कसे हिटलर जैसे तानाशाह, मानवता-विरोधी तथा जनवाद-विरोधी के चंगुल में फँसा? वास्तव में यह आश्चर्यजनक परिस्थिति है। जर्मनी की जनता में राजनातिक जागृति पर्याप्त मात्रा में थी। वहाँ के श्रमिकों की वर्ग-चेतना किसी अन्य देश से पिछड़ी हुई न थी। यह होते हुए भी वहाँ की जनता ने हिटलरशाही को पनपने दिया। हिटलर का कार्यक्रम सब को ही मालूम था। उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक "मेरा संघर्ष" (Mein Kampf या My Struggle) १९२४ में प्रकाशित हो चुकी थी। उसके दल ने निर्वाचनों में भाग लिया और कभी-कभी महत्वपूर्ण स्थान भी ग्रहण किया। यह कैसे सम्भव हुआ? जर्मनी की विशेष परिस्थिति उसका एकमात्र कारण थी।

जर्मनी की परिस्थिति

हिटलर :— (Adolf Hitler, १८८९—१९४५) एक आस्ट्रिया निवासी जर्मन था। उसका जन्म एक गरीब घराने में हुआ था। उसको पर्याप्त शिक्षा नहीं मिल सकी थी। उसने रंगसाज का पेशा अपनाया। प्रथम महायुद्ध (१९१४—१९१८) के समय वह सेना में भर्ती हुआ। युद्धान्त तक वह कार्पोरल ही बन पाया। युद्धोपरान्त अन्य सिपाहियों की भाँति उसे भी सैनिक जीवन त्यागना पड़ा। वह म्यूनिख नगर में रहने लगा। यहाँ रहते हुए वह 'जर्मन श्रमिक दल' नामक संस्था की बैठकों में भाग लेने लगा। यह संस्था ५ जनवरी, १९१९ को स्थापित हुई थी और इसकी सदस्यता ६ या ७ व्यक्तियों तक ही सीमित थी। नाम से तो यह श्रमिक दल था, परन्तु वास्तव में उसका श्रमिक उद्धार से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। पहले तो हिटलर इस दल की बैठकों में एक सैनिक गुप्तचर की हैसियत से भाग लेता था। थोड़े ही समय बाद उसने इस संस्था की सदस्यता स्वीकार की और गुप्तचर-कार्य का परित्याग किया। हिटलर ने इस दल की प्रगति में पर्याप्त सहायता की तथा इसका प्रचार किया। वह स्वयं बैठकों का आयोजन करता था। उसके प्रोत्साहन के फलस्वरूप इस दल के सदस्यों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। कुछ ही महीनों में उसकी बैठकों के सदस्यों की संख्या ६-७ से ४००० तक पहुँच गयी। अप्रैल १९२० में हिटलर के प्रस्तावानुसार इस संस्था का नाम बदलकर 'राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक दल' (National Socialist German Workers Party या N. S. D. A. P.) कर दिया गया। यही दल आगे चल कर नात्सी दल (Nazi Party) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हिटलर एक निपुण वक्ता था। उसकी सफलता का एक प्रमुख कारण यह था कि वह जनता को अपने भाषणों द्वारा आकर्षित करने में कुशल था। आम बैठकों में वह जनता की प्रेरणा को विस्फुरित कर सकता था। भाषणों में कभी-कभी वह नाटकीय अभिनय भी किया करता था। वैसे तो नात्सी दल में कई अन्य नेता तथा शिक्षित व्यक्ति भी सम्मिलित थे, परन्तु वास्तविक नेता हिटलर ही था। क्योंकि वही ऐसा व्यक्ति था जो राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जनता को उत्तेजित कर सकता तथा उनके हृदय की बातें कह सकता था। हिटलर के दल की धीरे-धीरे प्रगति होने लगी। कई भूतपूर्व सैनिक तथा मध्यम-वर्गीय सदस्य नात्सी पार्टी के अनुयायी बने।

हिटलर के प्रमुख सहायक गोरिंग (Hermann Goering), हेस (Rudolf Hess) और रोयम (Ernst Roehm) पहले सैनिक रह चुके थे।

१९२२ में हिटलर को १ माह का कारावास दिया गया। १९२४ में उसने म्यूनिख में एक षड्यंत्र द्वारा शासन पर एकाधिकार स्थापित करने की असफल चेष्टा की। इस कार्य में लूडनडार्फ (Ludendorff) नामक सुप्रसिद्ध जनरल उसका सहायक था। स्थानीय सेना का सहयोग भी उसे प्राप्त हुआ। पर षड्यंत्र असफल हुआ। उसका दमन कर दिया गया। हिटलर ५ वर्ष के लिए बन्दी घोषित हुआ। उसके अन्य सहायकों को भी उचित दंड मिला। परन्तु हिटलर को ८ माह के बाद ही कारावास से मुक्त कर दिया गया। बन्दी जीवन में ही उसने अपनी जीवनी लिखी। इस पुस्तक द्वारा उसने अपने दल की नीति तथा कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उक्त षड्यंत्र के पश्चात् हिटलर ने हिंसात्मक मार्ग का परित्याग कर वैधानिक मार्ग अपनाया।

हिटलर के दल ने केन्द्रीय धारा-सभा के निर्वाचनों में भाग लिया। मई १९२४ के निर्वाचन में नात्सी दल के ३२ सदस्य, दिसम्बर १९२४ में १४ सदस्य, मई १९२८ में १२ सदस्य, सितम्बर १९३० में १०७, जुलाई १९३२ में २३० और नवम्बर १९३२ में १९६ सदस्य निर्वाचित हुए। ३१ जनवरी १९३३ में एक षड्-यंत्र द्वारा हिटलर चान्सलर नियुक्त हुआ। यह षड्यंत्र कुछ प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञों द्वारा किया गया था। वास्तव में हिटलर का स्वयं इसमें कुछ भाग न था। इस षड्यंत्र का श्रेय पेपन (Herr von Papen) को था। अपने निजी विरोधियों को पदच्युत करने के लिए उसने राष्ट्राध्यक्ष हिन्डनबर्ग (Hindenburg) से हिटलर को चान्सलर बनाने का अनुरोध किया। जर्मनी में चान्सलर का वही स्थान था जो ब्रिटेन या भारत में प्रधान मंत्री का होता है। हिटलर ने अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण किया; परन्तु उसमें १२ में से केवल ३ ही सदस्य नात्सीदल के थे। चान्सलर बनने पर हिटलर ने छोटी धारा-सभा का आम निर्वाचन करवाया। निर्वाचन तिथि के पूर्व ऐतिहासिक राइखस्टैग अग्निकांड हुआ। (राइखस्टैग (Reichstag) जर्मनी की छोटी धारा-सभा को कहते थे)। इस अग्निकांड के बहाने चान्सलर हिटलर ने कई साम्यवादी तथा समाजवादी नेताओं को जेलों में ठूंस दिया। उसने रेडियो पर घोषित किया कि ऐसे पुनीत राष्ट्रीय भवन में साम्यवादियों

तथा समाजवादियों ने आग लगाकर लज्जाजनक दुष्कृत्य किया है। कुछ लोगों का कहना है कि यह अग्निकांड हिटलर ने स्वयं ही करवाया था। इस बहाने वामपक्षी दलों तथा नेताओं को निर्वाचन की स्वतंत्रता से वंचित किया गया। इसी निर्वाचन में हिटलर के दल के सदस्यों की संख्या १९६ से २८८ हुई। अब उसने छोटी धारा-सभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया। पुनः पूर्णतः नात्सीदल का मंत्रि-मंडल संगठित किया। १९३५ में हिंडनवर्ग की मृत्यु के पश्चात् वह स्वयम् राष्ट्राध्यक्ष बना। सत्ता प्राप्ति के पश्चात् हिटलर ने धीरे-धीरे फासीवादी व्यवस्था का निर्माण किया।

सैनिक का दृष्टिकोण :—जैसा ऊपर कहा गया है, हिटलरशाही की सफलता का कारण जर्मनी की विशेष परिस्थिति थी। आधुनिक जर्मनी कई दृष्टिकोणों से महान् देश माना जाता है। साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन के अतिरिक्त सैनिक दृष्टि से भी जर्मनी का उच्च स्थान है। जर्मनी की सेना संगठन, बल आदि की दृष्टि से आधुनिक युग में विख्यात रही है। जर्मनी में प्रशा (Prussia) एक उप-राज्य था। प्रशा के सैनिक यूरोप में वैसे ही सुप्रसिद्ध हैं जैसे भारतवर्ष में नेपाल तथा पंजाब के। वहाँ बड़े-बड़े सामन्त हुआ करते थे। ये सामन्त अभी तक चले आते हैं। सामन्त, उनके बेटे तथा उनके किसान, सैनिक वातावरण में बचपन से ही रहते थे। इस उप-राज्य की परम्परा सैनिक परम्परा मानी जाती थी (जैसे भारतीय सिक्खों तथा गुरखों की परम्परा है)। इस परम्परा का प्रभाव जर्मनी के अन्य भागों पर भी पड़ा।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी की सेना की संख्या कम कर दी गई थी। उसको केवल इतनी ही सेना रखने की आज्ञा मिली थी जितनी कि देश में शांति स्थापना के लिए आवश्यक समझी गयी। विजयी मित्र राष्ट्रों की इस नीति के फलस्वरूप हजारों सैनिक बेकार हो गये। ४ वर्ष (१९१४—१८) के सैनिक जीवन के पश्चात् उन्हें अचानक साधारण नागरिक जीवन व्यतीत करना पड़ा। हिटलर भी ऐसे सैनिकों में से एक था। निरन्तर प्रशा की सैनिक परम्परा से पोषित सैनिकों को इस प्रकार का साधारण नागरिक जीवन व्यतीत करना रुचिकर न था। उनके मस्तिष्क में सदा ही बेचैनी बनी रहती थी।

यही नहीं, महायुद्ध में जर्मनी की सैनिक पराजय नहीं हुई थी। जर्मनी की

सेना अन्तिम समय तक बड़ी वीरता से युद्ध करती रहीं। जर्मनी की पराजय का कारण राष्ट्र की असन्तोषजनक आर्थिक दशा थी। देश में श्रमिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। १९१७ की रूस की क्रान्ति से प्रेरित होकर जर्मनी के श्रमिकों ने भी क्रान्ति द्वारा युद्ध तथा पूँजीवाद का अन्त करना चाहा। बाध्य होकर सम्राट् ने पद त्याग कर दिया और शासक वर्ग ने सुधारवादी श्रमिक नेताओं की सहायता से जनतंत्र की स्थापना घोषित की। साथ ही साथ सेनाओं को युद्ध क्षेत्र से वापिस बुला लिया गया। ऐसी पराजय का सैनिकों पर क्या प्रभाव पड़ा? उनके स्वाभिमान को चोट पहुँची। इस चोट पर हिटलर ने मरहम-पट्टी की। वह स्वयं सैनिक था और इस प्रकार की बौद्धिक बेचैनी का तीव्र अनुभव कर रहा था। उसने अपने भाषणों द्वारा घोषित किया कि जर्मनी की राष्ट्रीय पराजय का कारण यहूदी और उनका मार्क्सवाद था। यह तो सभी जानते थे कि श्रमिक आन्दोलन से भयभीत होकर शासक वर्ग ने पराजय स्वीकार की थी। परन्तु हिटलर ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने इस आन्दोलन का श्रेय यहूदियों को दिया। उसको यहूदियों के प्रति बचपन से घृणा थी। यह तो सत्य है कि श्रमिक आन्दोलन में यहूदी भी नेता थे और कार्ल मार्क्स भी एक यहूदी था। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि श्रमिक आन्दोलन यहूदियों का आन्दोलन था जैसे कि भारतीय कांग्रेस को ब्राह्मणों की संस्था तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल को महाराष्ट्रियों की ही संस्था नहीं कहा जा सकता (१९वीं सदी में सर सैयद अहमद खाँ अखिल भारतीय कांग्रेस को परोक्ष रूप से बंगाली बाबुओं की संस्था बताते थे। यह धारणा स्पष्टतया निराधार है)। हिटलर स्वयं समाजशास्त्रीय दृष्टि से विवेकहीन था। सैनिक परम्परा वाले सिपाही ऐसे ही हुआ करते हैं। उसकी निजी मनोवृत्ति भी सैनिकों की मनोवृत्ति के ही समान थी।

राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ एक सैनिक जन आन्दोलन को, मुख्यतः श्रमिक आन्दोलन को, घृणा की दृष्टि से देखता है। अनुशासन उसकी रग-रग में भरा रहता है। वह सामाजिक दृष्टि से अपरिवर्तनशील होता है। जन आन्दोलन तथा श्रमिक आन्दोलन इस मनोवृत्ति के विपरीत है। एक सैनिक ऐसे आन्दोलनों का विरोधी होता है। हिटलर ने श्रमिक आन्दोलन को जर्मनी की पराजय का कारण बतला कर सैनिकों की इस विरोधी भावना की पुष्टि की। उसने उनके हृदय की बात

इस निम्न मध्यम वर्ग की एक और विशेषता है। वह उग्र राष्ट्रवाद का प्राण है। वह सदा सोचता है कि उसके देश की साम्राज्य वृद्धि के फलस्वरूप उसकी भौतिक परिस्थिति का सुधार अवश्यम्भावी है। साम्राज्य वृद्धि से औपनिवेशिक देशों में यह वर्ग शासक पद प्राप्त करता है।

हिटलर ने, जो स्वयं जन्म से ही निम्न मध्यम वर्गीय व्यक्ति था, मध्यम वर्गीय मनोवृत्ति की अपनी योजनाओं द्वारा सन्तुष्टि की। उसके श्रमिक आन्दोलन विरोधी तथा उग्र राष्ट्रवादी कार्यक्रम ने मध्यम वर्गीय युवकों को नात्सी पार्टी की ओर आकर्षित किया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में अन्य राजनैतिक दल भी थे। परन्तु कोई भी नात्सी पार्टी से अधिक उग्र राष्ट्रवादी न था। सैकड़ों मध्यम वर्गीय नवयुवक हिटलर के दल के सदस्य बने। वे इस दल की कर्मठ अर्ध-सैनिक संस्थाओं (S. A. और S. S.) के सदस्य थे। उन्होंने खुलेआम श्रमिकों की बैठकों तथा प्रदर्शनों को भंग किया। कहा जाता है कि स्कूलों तथा कालेजों की कक्षाओं में नात्सीवादी युवक समाजवादी तथा साम्यवादी विद्यार्थियों के विरुद्ध खुलेआम आतंक मचाये रहते थे।

यहाँ मध्यम वर्ग और हिटलरशाही की एक और सामान्य विशेषता का उल्लेख अनुचित न होगा। म्यूनिख षडयंत्र (१९२४) की असफलता के पश्चात् हिटलर ने यह निर्णय कर लिया था कि वह सत्ता प्राप्ति के लिए बाहुबल का प्रयोग नहीं करेगा वरन् वैधानिक कार्यक्रम को अपनायेगा। कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण, (जिनका उल्लेख अभी किया जायगा), जर्मनी की नौकरशाही, पुलिस तथा सेना ने परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से हिटलरवादी आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। जब कभी भी हिटलर के कर्मठ एस० ए० (S. A.) तथा एस० एस० (S. S.) सदस्यों की नगरों की गलियों में साम्यवादी तथा समाजवादी सदस्यों से मुठभेड़ होती थी तो सरकारी पुलिस या तो तमाशा देखती थी या मौका देख श्रमिकों पर लाठी तथा गोलियों की बौछार करती थी। यह परिस्थिति ब्रिटिश साम्राज्यवादी पुलिस के साम्प्रदायिक कलहों के सम्बन्ध की याद दिलाती है। अतः सरकार नात्सीवाद आन्दोलन तथा आतंक के सम्बन्ध में या तो तटस्थ या अनुकूल नीति ग्रहण करती थी। ऐसी परिस्थिति मध्यम वर्गीय मनोवृत्ति के अनुकूल थी। ये सदस्य प्रायः तभी राजनीतिक दृष्टि से कर्मठ होते हैं जब राज्य-नीति तटस्थ हो

ा उनके अनुकूल। साधारणतः राज्य के विरुद्ध स्थायी विरोध इनकी वर्गीय मनोवृत्ति ्वं साहस के विपरीत है। आधुनिक युग में यह विशेषता तो केवल सर्वहारा की ही ोती है। आधुनिक जर्मनी का एक दृष्टान्त इसका साक्षी है। जब तक पुलिस ादि का प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग एस० ए० और एस० एस० सदस्यों को प्राप्त था, ब तक वे क्रान्तिकारी सर्वहारा आन्दोलन को अस्त्र-शस्त्र द्वारा दबाने का प्रयत्न करते हे। बर्लिन जैसे शहरों में वे निरन्तर आतंक मचाये हुए रहते थे।

१९३४ में सत्ता प्राप्ति के एक वर्ष पश्चात् हिटलर ने रोयम (Roehm) ौर अन्य एस० ए० तथा एस० एस० के नेताओं की हत्या करा दी। अब ातंकवादी एस० ए० तथा एस० एस० सदस्यों ने अपने नेताओं की निन्दनीय हत्या े विरुद्ध एक शब्द भी न कहा और न आंसू ही बहाया। क्योंकि अब हेटलरवादी राज्य इस विषय में न तो तटस्थ था और न उनके अनुकूल ही। वे श्रमिक के विरुद्ध अपने को सिंह सदृश समझते थे, अब राज्य के विरुद्ध गीदड़ ादृश हो गये। (भारतीय राजनीतिक दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है। ख़ाकसार जैसी मध्यम वर्गीय संस्थाएँ अपने अर्ध-सैनिक संगठन तथा अनुशासन से नागरिकों को आकर्षित किये रहती थीं। परन्तु जहाँ साम्राज्यशाही के विरोध का प्रश्न था, ये अर्द्ध-सैनिक दर्शक मात्र थे)।

नौकरशाही की सहानुभूति :—यहाँ राज्य की तटस्थता पर प्रकाश डालना आवश्यक है। जहाँ तक मंत्रिमंडल और राजकीय नीति का प्रश्न था, जर्मनी में सरकारें प्रायः वामपक्ष-विरोधी थीं। वे प्रतिक्रियावादी दलों की सरकारें थीं। ये नात्सी दल को उतना स्व-हित विरोधी नहीं समझती थीं जितना कि वामपक्षीय (समाजवादी तथा साम्यवादी) दलों को। इसलिए वामपक्षीय दलों की वृद्धि के वातावरण में जर्मनी की प्रतिक्रियावादी सरकारें सदा परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से नात्सी दल को प्रोत्साहन दिया करती थीं। सरकारी कमचारी नात्सी पार्टी को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखते आये थे। वे भी प्रायः मध्यम वर्गीय होते थे और नात्सीदल उनकी भी मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि करता था। उनकी उग्र राष्ट्रवादी मनोवृत्ति का प्रदर्शन नात्सी दल करता था। जिस समय म्यूनिख षड्यंत्र के सम्बन्ध में हिटलर न्यायालय में प्रतिवादी (मुद्दालेह) के रूप में पैरवी कर रहा था, न्यायाधीश ने उसे पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। इस स्वतंत्रता के फलस्वरूप

हिटलर ने ऐसा भाषण दिया कि विदित होता था कि हिटलर वादी (मुद्दई) है और सरकार प्रतिवादी (मुद्दालेह)। उसको ५ वर्ष के लिए कारावास हुआ परन्तु ८ महीने के बाद ही उसे मुक्त किया गया। कहा जाता है कि इन आठ महीनों में ही जेल का प्रबन्धक नात्सी पार्टी का समर्थक हो गया था। कई सैनिक अधिकारी हिटलर के सहयोगी थे। इस सम्बन्ध में भी कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। सरकारी कर्मचारियों का दृष्टिकोण भी उग्र राष्ट्रवादी होता है। भले ही वे राष्ट्र की स्वतंत्रता के संघर्ष में कोई सक्रिय भाग न ले सकें, परन्तु हृदय से वे राष्ट्र की साम्राज्यवादी प्रगति के समर्थक होते हैं। उनका पेशा उन्हें रूढ़िवादी बनाता है। वे प्रायः प्रतिक्रियावादी दलों के अनुयायी होते हैं। वे हृदय से नात्सी पार्टी के ध्येयों के समर्थक थे।

आर्थिक दुर्व्यवस्था और मध्यम वर्ग :— प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी से उसका साम्राज्य छीन लिया गया था। उसका बाजार सीमित हो गया था। उसके कुछ प्रादेशिक भाग भी उससे छीन लिए गये। व्यावसायिक दृष्टि से ये भाग अत्यन्त उपयोगी थे। ऐसे साम्राज्यहीन तथा दीन देश पर अपरिमित युद्ध ऋण लाद दिया गया था। मित्र राष्ट्र, मुख्यतः फ्रांस, सदा इस ऋण की वसूली में तत्पर रहते थे। सारांश में जर्मनी की आर्थिक स्थिति संतोषजनक न थी। उत्तरोत्तर यह बिगड़ती गयी। मार्क (Mark) का मूल्य घटता गया। कहा जाता है कि मोटर पर एक फर्लांग चलने का किराया एक गठरी भर मार्क हो गया था। एक स्त्री जब घर से प्रतिदिन भोजन की सामग्री खरीदने जाती थी तो उसे सदैव यह शंका रहती थी कि दूकान पर पहुँचते-पहुँचते मार्क का मूल्य कितना घट जायेगा। कहा जाता है कि मार्क के नोट को बोतल पर लेबिल की तरह चिपकाना साधारण कागज के चिपकाने से अधिक सस्ता था। वास्तविक वेतन भी स्वतः घट गये थे। बेरोजगारों की संख्या बढ़ती ही जाती थी। ऐसी परिस्थिति में समाजवादी तथा क्रान्तिकारी वातावरण सुदृढ़ होता जाता था। जर्मनी की दशा ऐसी चिन्ताजनक हो गयी थी कि अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस को हस्तक्षेप करना पड़ा। १९२४ में डावस् प्लान (Dawes Plan) द्वारा जर्मनी की आर्थिक सुव्यवस्था सम्बन्धी योजना बनायी गयी। यह योजना १९२८ तक चलती रही। इसके पश्चात् यंग योजना

करेगा। मध्यम वर्ग ने इस आश्वासन के आधार पर हिटलरवाद को अपनाया और बहुसंख्या ने नात्सी दल की सदस्यता स्वीकार की।

यही नहीं, हिटलर ने इस वर्ग की मनोवृत्ति की संतुष्टि का पथ-प्रदर्शन किया। हिटलरवादी उग्र राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद में मध्यम वर्ग ने अपनी आर्थिक संतुष्टि की झलक पाई। वे सोचने लगे कि हिटलरशाही में वे औपनिवेशिक देशों के पदाधिकारी बनाये जायगे। हिटलर का यहूदी-विरोधी आन्दोलन भी मध्यम वर्ग के लिए संतोषप्रद सिद्ध हुआ। हिटलर आजन्म यहूदियों की निन्दा करता रहा। वह कहा करता था कि जर्मनी की पराजय तथा आर्थिक दुर्व्यवस्था के मुख्य कारण केवल यहूदी ही हैं। जो राष्ट्र (ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, रूस) जर्मनी का विरोध कर रहे हैं वे सब यहूदियों के पिछलगा (पृष्ठपोषक) हैं। उसने आश्वासन दिया था कि सत्ता प्राप्त कर लेने पर यहूदियों को निर्वासित किया जायगा क्योंकि वे देश-द्रोही हैं और देश की आर्थिक दुर्व्यवस्था के मूल कारण भी। जहाँ तक देश-द्रोह के आरोप का प्रश्न है, किसी भी जाति या संस्था को जर्मनी की पराजय का श्रेय नहीं दिया जा सकता। जहाँ तक अर्थ व्यवस्था के स्वामित्व का प्रश्न है यह पूर्ण असत्य है कि जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था की बागडोर यहूदियों के हाथों में थी। वास्तव में यहूदी प्रायः उदार व्यवसायों (चिकित्सक, वकील, अध्यापक आदि) में संलग्न रहते थे। वे छोटे-छोटे दुकानदार भी थे। अपने परिश्रम द्वारा उनके पास छोटी-मोटी निजी सम्पत्ति भी रहती थी। सारांश में वे प्रायः सम्पन्न मध्यम वर्गीय नागरिक थे। हिटलर का यहूदी-विरोधी आन्दोलन बेरोजगार मध्यम वर्गीय जर्मनों को हितकर सा प्रतीत हुआ। एक मध्यम वर्गीय सदस्य अपनी आर्थिक दुर्व्यवस्था का कारण पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था को नहीं समझता, वरन् गली के दुकानदार को। वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने पर वह दुकानदार, धोबी, नाई, दर्जी आदि को गाली देता है। जर्मनी के आर्थिक संकट के वातावरण में वहाँ के मध्यम वर्ग ने यहूदी बनियों आदि को अपनी दुर्व्यवस्था का कारण समझा। हिटलर के व्यापक यहूदी-विरोधी प्रचार ने उनकी इस मनोवृत्ति की दृढ़ पुष्टि की। वे सोचने लगे कि सत्ता प्राप्ति के पश्चात् जब हिटलर यहूदियों को निर्वासित करेगा तब यहूदी चिकित्सकों, वकीलों, अध्यापकों आदि का स्थान वे ही प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार हिटलर का कार्यक्रम मध्यम वर्गीय सदस्यों के लिए आर्थिक तथा

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सन्तोषप्रद था। यह वर्ग हिटलर तथा मुसोलिनी के आन्दोलनों का आधार स्तम्भ था। विशेष सामाजिक परिस्थितियों में इस वर्ग ने "मिल" (John Stuart Mill) की स्वतंत्रता को अपनाया था। अभी भी कभी-कभी वह इस स्वतंत्रता को हृदय से आदर्श व्यवस्था मानता है। उसकी सामाजिक परिस्थिति उसे पूँजीवाद-विरोधी और समाजवाद-विरोधी बनाती है। अन्य वर्गों की भाँति वह किसी का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करता। जब निजी एकाधिकार स्थापित नहीं कर सकता तो वह वर्ग-एकाधिकार का सैद्धान्तिक विरोध करने लगता है। वह "मिल" की स्वतंत्रता का पुजारी और प्रचारक बनता है। परन्तु हृदय से वह अधिनायकवाद-विरोधी नहीं है। अन्य वर्गों की भाँति वह भी अपना वर्गीय अधिनायकवाद स्थापित करना चाहता है। हिटलर और मुसोलिनी के कार्यक्रम में इस वर्ग ने अपने एकाधिकार का प्रतिविम्ब देखा। बाद में भले ही यह मृग-मरीचिका सिद्ध हुई हो।

हिटलरवाद और अन्य वर्ग :—जर्मनी और निम्न मध्यम वर्ग की परिस्थिति एक-सी थी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी को साम्राज्य विहीन और गरीब बना दिया गया। उसकी गति अधमरे साँप जैसी बन गई। जर्मनी की सेना सीमित कर दी गई थी। एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन द्वारा उसके अस्त्र-शस्त्र को सीमित करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु युद्धोपरान्त कुछ अर्ध-सैनिक संस्थाएँ पनपीं। इन संस्थाओं में पुराने सैनिक हुआ करते थे। अस्त्र-शस्त्रों को भी गुप्त तौर से प्रयोग में लाया जाता था। अतः जर्मनी केवल बाहरी तौर से ही बलहीन था। ये अर्ध-सैनिक संस्थाएँ सर्वदा ही साम्राज्यवाद के पुनःस्थापन का स्वप्न देखती थीं। ये हिटलरशाही के सहायक बने। जर्मनी के व्यवसायों तथा पूँजीपतियों की भी कुछ ऐसी ही दशा थी। वे पूँजीपति भी साम्राज्यवाद का स्वप्न सदा ही देखते रहे। हिटलर के उग्र राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद से वे भी आकर्षित हुए। मध्यम वर्ग की आर्थिक दशा तो अवश्य बिगड़ गई थी परन्तु इतनी न बिगड़ी थी कि वह सर न उठा सके। वह भी सोचता था कि पुनः संगठन द्वारा देश तथा उसकी दशा सुधर सकेगी। ऐसी मनोवृत्ति की संतुष्टि भी हिटलरवादी योजनाओं द्वारा सम्भव समझी गयी।

हिटलर को एक दूसरे वर्ग से भी अधिक सहायता मिली। इस वर्ग को पाश्चात्य

देशों में Lumpen proletariat कहा जाता है। इस वर्ग के सदस्यों में दरवान और ऐसे ही कर्मचारी एवं बड़े पदाधिकारियों के व्यक्तिगत तथा सरकारी चपरासी आदि हुआ करते हैं। शहर के गुंडे भी इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। इन सब की मनोवृत्ति की संतुष्टि भी हिटलर ने की। ये नागरिक वास्तव में सर्वहारा हैं। जन्म, शिक्षा तथा आय से ये श्रमिकों की भाँति हैं। परन्तु धनिकों के मुंहलगे होने के कारण ये अपने को श्रमिकों की भाँति नहीं समझते। अपने को मजदूर बताने में इन्हें आत्म-अपमान मालूम होता है। ये सोचते हैं कि इनके पुत्र कदाचित् इनके स्वामियों की भाँति धनी हो सकेंगे। बढ़ते हुए श्रमिक आन्दोलन के वातावरण में इन्होंने हिटलरशाही का साथ दिया।

धनिक वर्ग ने भी हिटलर की सहायता की। हिटलर जर्मनी के पुनर्जागरण का अग्रदूत था। पूँजीपति भी हृदय से ऐसा पुनर्जागरण चाहते थे। वे साम्राज्य के पुनः संगठन द्वारा अपने मुनाफों की वृद्धि देखते थे। साथ ही साथ हिटलर सदा ही डंके की चोट से घोषित करता आया था कि वह मार्क्सवाद का अन्त कर देगा। १९२९-३१ की आर्थिक संकट के फलस्वरूप श्रमिक आन्दोलन ने भीषण रूप धारण किया। पूँजीपतियों ने ठीक ही सोचा कि हिटलरवादी व्यवस्था में मार्क्सवादी श्रमिक आन्दोलन का अन्त होगा। जर्मनी के रूढ़िवादी दलों में एकता का अभाव था। कोई भी स्थायी रूढ़िवादी सरकार स्थापित नहीं हो सकती थी। ऐसे वातावरण में पूँजीपतियों ने हिटलर को पर्याप्त धन दिया। इसी सहायता से वह निर्वाचन लड़ सका और अपनी अर्ध-सैनिक संस्था को सुसंगठित तथा शक्तिशाली बना सका। कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि पश्चिमी यूरोप (ब्रिटेन, फ्रांस आदि) के पूँजीवादियों ने भी हिटलर को सत्ता प्राप्ति के पूर्व से ही आर्थिक सहायता दी थी। यह धारणा भले ही अतिशयोक्तिपूर्ण हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि सत्ता प्राप्ति के पश्चात् कुछ वर्षों तक ब्रिटेन के कुछ शासकों तथा पूँजीपतियों ने हिटलर को सभी प्रकार की सहायता पहुँचायी। यह भी अब विश्व को ज्ञात है कि हिटलर को राजनीतिक जीवन के आरम्भ से ही जर्मनी के पूँजीपतियों द्वारा सहायता मिली थी।

गरीब तथा राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए किसानों ने भी हिटलर को निर्वाचनों में सहायता दी। विश्व आर्थिक संकट के बुरे प्रभाव से किसान भी मुक्त न थे।

मनोवृत्ति से रूढ़िवादी होने के कारण वे हिटलर के चंगुल में फँस गये। हिटलर का कार्यक्रम एक मदारी की पिटारी की भाँति था। हिटलर मदारी ने मध्यम वर्ग को नौकरी दिलाने का, पूँजीपतियों को उनकी सम्पत्ति-सुरक्षा का, गरीब किसानों को ऋण की मुक्ति तथा अनाज के मूल्य की वृद्धि का, और जर्मन राष्ट्र को पुनर्जागरण का आश्वासन दिया। कहा जाता है कि सत्ता प्राप्ति के निकट-पूर्व के निर्वाचन-भाषणों में हिटलर ने शहरों में कहा था कि मैं जीवन व्यय कम कर दूँगा और गांवों में कहा कि मैं खाद्य पदार्थ के दाम बढ़ा दूँगा। गम्भीरता से सोचने पर यह दोनों बेमेल योजनायें हैं। जीवन व्यय की कमी, खाद्य पदार्थ के मूल्य में कमी से ही सम्भव हो सकती है। ऐसे बेमेल आश्वासन और भी थे। उसने पूँजीपतियों से कहा कि वह मार्क्सवाद का अन्त कर देगा और तब उनके लाभ की वृद्धि सम्भव होगी। श्रमिकों से कहा गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद का अन्त करेगा। इस प्रकार उदासीनता तथा निराशापूर्ण वातावरण में जनता हिटलर के भ्रमपूर्ण आश्वासनों का शिकार बनी। यहाँ यह बताना उचित होगा कि कुछ पिछड़े हुए श्रमिक भी हिटलर के उग्र राष्ट्रवाद के शिकार बने। उन्होंने भी उसके दल को बल दिया।

अन्य दलों की स्थिति :—अब प्रश्न यह है कि जर्मनी के अन्य राजनैतिक दल क्या करते रहे ? वे हिटलरशाही को पनपने से क्यों न रोक सके ? प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में वेमार जनतंत्र (Weimer Constitution) की स्थापना हुई थी। इस जनतंत्र में कई दल थे। ये दल प्रायः दो प्रकार के थे—रूढ़िवादी तथा वामपक्षी। एक तीसरे प्रकार के राजनैतिक दल थे जो न रूढ़िवादी थे और न वामपक्षी। उनका मध्यम स्थान था। अधिक दलों के वातावरण में कोई एक दलीय स्थायी सरकार सम्भव न थी। १९१९-३२ तक ८ आम चुनाव हुए थे। यह अस्थायी राजनैतिक वातावरण का निर्देशक है। सरकारें प्रायः रूढ़िवादी दल की ही हुआ करती थीं। १९२९-३१ के आर्थिक संकट के समय रूढ़िवादी दल जनता को अपनी ओर आकर्षित न कर सके। वामपक्षी दलों की शक्ति बढ़ने लगी। वामपक्षी आन्दोलन को रोकने के लिए रूढ़िवादियों ने अपने को असमर्थ पाया। फलतः उन्होंने हिटलर को परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से सहायता दी। क्योंकि हिटलर ही एक ऐसा नेता था जो समाजवादी भाषा की आड़ में वस्तुतः रूढ़िवाद का समर्थक था।

वामपक्षी दलों में समाजवादी (जनतंत्रीय समाजवादी या समष्टिवादी) तथा साम्यवादी (कम्यूनिस्ट या मार्क्सवादी) दल सुप्रसिद्ध थे। इन दोनों में पर्याप्त मतभेद था। ये दोनों दल श्रमिकों का नेतृत्व करना चाहते थे। यह कहना अनुचित न होगा कि इस नेतृत्व संघर्ष के फलस्वरूप इनके पारस्परिक वैमनस्य ने गम्भीर रूप धारण किया। कदाचित् ये एक दूसरे को, बनिस्बत पूँजीवाद के, अधिक शत्रु मानते थे। फलतः ये संयुक्त मोर्चा न बना सके। अप्रैल १९३२ से मार्च १९३३ तक साम्यवादियों ने ऐसे मोर्चे की चार योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। समाजवादियों ने इनको अस्वीकार किया। ये दोनों दल दो बिल्लियों की भाँति थे जो श्रमिक-नेतृत्व रूपी रोटी के लिए निरन्तर संघर्ष करते आये थे। हिटलर बन्दर ने इस संघर्ष का निबटारा किया। उसने इन दोनों को अवैध घोषित किया और इनके नेताओं को कारागार में बन्द कर दिया। पारस्परिक वैमनस्य के फलस्वरूप एक महान् परम्परा तथा सुदृढ़ श्रमिक आन्दोलन का अन्त हुआ। सोवियत रूस को छोड़कर किसी भी दूसरे देश का समाजवादी आन्दोलन इतना सुदृढ़ न था। रूढ़िवादियों ने इस जन-जागर्ति का हिटलर द्वारा अन्त किया।

अतः कुछ विशेष परिस्थितियों के वातावरण में हिटलरशाही की स्थापना हुई। एक शक्तिशाली तथा उन्नत देश को वर्साई की संधि द्वारा अपमानित किया गया था। पूँजीपतियों, सैनिकों तथा मध्यम वर्गीय राष्ट्र-प्रेमियों की राष्ट्रीयता को महान् ठेस लगी। साम्राज्यच्युत नया जर्मनी आर्थिक दृष्टि से कमर सीधी न कर सका। नैराश्य तथा उदासीनता व्यापक बनी। श्रमिक आन्दोलन को बल मिला। हिटलरवाद का ऐसे वातावरण में जन्म हुआ था। उसके कार्यक्रम में पूँजीपतियों ने अपने एकाधिकार की सुरक्षा समझी; मध्यम वर्ग, किसानों तथा सैनिकों ने इसमें मृगमरीचिका देखी। समाजवादी आन्दोलन की प्रगति से भयभीत होकर पूँजीपतियों तथा रूढ़िवादियों ने हिटलर को अपनी "सभ्यता" का रक्षक स्वीकार किया। सैनिकों तथा मध्यम वर्ग ने हिटलरवाद को अपनी मृगतृष्णा का पूरक समझा। सरकार तथा उसके कर्मचारियों ने हिटलर-आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। श्रमिक दलों के पारस्परिक वैमनस्य ने हिटलर का रास्ता साफ किया। षड्यंत्र, आतंक, धोखाधड़ी, आदि द्वारा हिटलर १९३३ में जर्मनी का शासक बनाया गया। वस्तुतः स्वतंत्र जनतंत्रीय निर्वाचनों में हिटलर कभी भी बहुमत प्राप्त न कर सका।

दर्शन

फासीवाद और नात्सीवाद :—जैसा पहले बताया गया है, फासीवाद तथा नात्सीवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। फासीवाद की भाँति यह भी अर्थक्रिया-कारित्ववाद, अविवेकवाद तथा सामाजिक डार्विनवाद को आधारभूत मानता है। परम्परावाद और आदर्शवाद के कुछ पहलुओं को नात्सीवाद भी स्वीकार करता है। ये दोनों दर्शन उदारवादी एवं जनवादी परम्परा के विरुद्ध थे। इन दोनों के द्वारा साम्यवाद तथा समाजवाद का दार्शनिक तथा संगठनात्मक विरोध सम्भव हुआ। इटली के फासिस्ट राज्य और जर्मनी के नात्सी राज्य का संगठन एकाधिकारवादी था। इन दोनों में पूँजीवादी विश्व तथा समाजवादी विश्व की बुराइयों का समावेश था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी इन दोनों की नीति एक-सी ही थी।

अन्तर का आधार यह था कि जहाँ इटली एक पिछड़ा हुआ देश था, जर्मनी समृद्ध रह चुका था। इस भेद के फलस्वरूप नात्सी जर्मनी में कुशलता, निपुणता, सुसंगठन तथा शक्तिवृद्धि का आधिक्य था। यह अग्रलिखित वर्णन से स्पष्ट हो जायगा। यहाँ इतना कहना आवश्यक होगा कि जहाँ फासीवाद ने परम्परावाद तथा आदर्शवाद को उच्च स्थान दिया था, नात्सीवाद ने अविवेकवाद तथा सामाजिक डार्विनवाद को ऐसा स्थान दिया।

परम्परावाद :—इटली में दो संस्थाओं का परम्परागत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा था। राजतंत्र परम्परा से ही चला आ रहा था। रोमन कैथोलिक धर्म का इटली निवासियों के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। सत्ता प्राप्ति के पूर्व मुसोलिनी जनतंत्र-प्रेमी तथा नास्तिक था। सत्ता प्राप्ति पर उसे परम्परागत राजतंत्र तथा रोमन कैथालिक धर्म की शरण लेनी पड़ी। इसके विपरीत जर्मनी में राजतंत्र (कैसरशाही) का अन्त प्रथम महायुद्ध में हो गया था। वहाँ पहले से ही कई धार्मिक सम्प्रदाय थे। अतः हिटलर को किसी ऐसी सुदृढ़ परम्परागत संस्था के सम्मुख सर न झुकाना पड़ा।

आदर्शवाद :—फासीवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि मुसोलिनी ने आदर्शवादी परम्परा को अपनाया था। इस दर्शन द्वारा फासीवादी व्यवस्था को न्याययुक्त बताया गया। जर्मनी में हिटलर ने आदर्शवादी कुछ देनों को स्वीकार किया, परन्तु इनको आधारभूत न बनाया। आदर्शवादियों (हीगेल, फिक्टे,

कान्ट, ग्रीन, कार्लायल और मेजिनी) की भाँति नात्सीवाद ने भी मानव-जीवन में सम्मान, कर्त्तव्यपरायणता तथा राज्य-भक्ति को उच्च स्थान दिया। हिटलर के अनुसार आदर्शवाद और देश-प्रेम पर्यायवाची हैं। नात्सीवाद अपने आदर्शवाद को पुराने आदर्शवाद से भिन्न मानता था। ईसाई-धर्म पुराने आदर्शवाद का प्रतीक कहा जाता था। नात्सियों के अनुसार ईसाई-धर्म विश्व-बन्धुत्व का प्रचार करता है। वे ऐसे विचारों को सारहीन मानते थे। उनके मतानुकूल जाति-बन्धुत्व का विश्व-बन्धुत्व से उच्च स्थान है। वे विश्व-बन्धुत्व को यहूदी विचारधारा घोषित कर अपवित्र बताते थे।

यूरोप की उदारवादी परम्परा के अनुसार व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था। व्यक्ति-हित ही समाज तथा राज्य का एकमात्र आधार तथा ध्येय माना जाता था। फासीवाद तथा नात्सीवाद राष्ट्र तथा जाति को व्यक्ति से उच्च स्थान देते थे। वे व्यक्ति-हित को राष्ट्र तथा जाति-हित के अधीन मानते थे। नात्सीवादी व्यवस्था में जाति साध्य है, व्यक्ति साधन। ईसाई-धर्म, उदारवाद और फासीवाद का अन्तर यह है—जहाँ ईसाई-धर्म "सब" को महत्व देता है और उदारवाद "मैं" को वहाँ नात्सीवाद "हम" को सर्वश्रेष्ठ मानता है। "हम" का अर्थ है एक जाति के सदस्य।

अविवेकवाद :—फासीवाद के सम्बन्ध में बताया गया कि अविवेकवाद उसका मूल आधार था। नात्सीवाद ने भी उसे अपनाया और उग्र रूप दिया। हिटलर भी जन साधारण को मूर्ख मानता था। वह तथा उसके अनुयायी व्यक्ति को प्रेरणा से प्रभावित प्राणी मानते थे। व्यक्ति के जीवन में विवेक का कोई स्थान नहीं है। उसे जिस तरफ चाहे, ढुलकाया जा सकता है। नात्सियों का कहना था कि प्रचार द्वारा व्यक्तियों की रुचि में भी परिवर्तन किया जा सकता है। आम जनता को अविवेकशील बनाये रखना ही उचित है। राष्ट्रीय नेताओं तथा शासक वर्ग को भी अधिक विवेकशील नहीं होना चाहिये। एक नेता को अध्ययन में व्यस्त नहीं रहना चाहिये। उसके लिए केवल उतना ही ज्ञान पर्याप्त है जिससे वह जनता को प्रेरित कर सके तथा जनता की अविवेकशीलता की परख कर सके। अधिक ज्ञान और विवेकशीलता से नेतृत्व की कुशलता सम्भव नहीं है। नेतृत्व के लिए तो उत्तेजना, उत्साह और अन्धविश्वास आवश्यक हैं, विवेकशीलता नहीं।

इस आधार पर नात्सीवाद में अन्ध-श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान था। फासीवादियों की भाँति नात्सी भी अन्ध-श्रद्धा को संगठन के हेतु अत्यन्त लाभदायक समझते थे। उदारवादी परम्परा वाले देशों में कहा जाता है कि विवेक की अनुपस्थिति में जनता का सर्वनाश होता है। नात्सीवादियों का कहना था कि अन्ध-श्रद्धा की अनुपस्थिति में राष्ट्र का सर्वनाश अवश्यम्भावी है। हिटलर ने स्वयं कहा था कि प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन की सफलता तथा जर्मनी की पराजय का कारण यह था कि जहाँ ब्रिटेन ने 'स्वतंत्रता' रूपी अन्ध-श्रद्धा का खुलेआम प्रचार किया था, जर्मनी ने ऐसा न किया। इसलिए नाजियों की धारणा थी कि राष्ट्रोन्नति के लिये अन्ध-श्रद्धा नितान्त आवश्यक है। ऐसी अन्ध-श्रद्धाओं की नात्सी जर्मनी में कमी न थी। कहा जाता है कि १९२९-३१ के आर्थिक संकट के समय समाजवादियों तथा साम्यवादियों ने पूँजीवादी प्रथा को दुर्व्यवस्था का कारण बताया था। उन्होंने श्रमिकों तथा किसानों से इस प्रथा का अन्त करने का आग्रह किया था। हिटलर इस कार्य में पीछे न रहा। उसने तुरन्त घोषित किया कि हाँ जर्मनी की दुर्व्यवस्था का कारण "प्रथा" है—उसकी इस "प्रथा" के अन्तर्गत वर्साई की सन्धि, यहूदी अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी तथा यहूदी साम्यवाद था। यह "प्रथा" अन्ध-विश्वास नहीं तो क्या? फिर राष्ट्रीय अन्ध-श्रद्धा (जर्मन राष्ट्र सर्वोच्च है), आर्य अन्ध-श्रद्धा (आर्यजाति सर्वश्रेष्ठ है), और नेतृ अन्ध-श्रद्धा (हिटलर कभी भी गलती नहीं कर सकता) आदि कई अन्ध-श्रद्धायें जनता के गले मढ़ी गईं। इनके द्वारा जनता को नात्सी व्यवस्था की ओर आकर्षित किया गया, उसे दास-तुल्य बनाया गया।

नात्सीवाद के अनुसार कोई भी विचार अटल सत्य नहीं है। सत्य वस्तुगत नहीं है, वह व्यक्तिगत है। वही विचार सत्य माना जा सकता है जो जातीय दृष्टि से हितकर हो। सत्य का सम्बन्ध अनुभव से है, विवेक से नहीं। अनुभव की भिन्नता का आधार जातीय भिन्नता है; क्योंकि प्रत्येक जाति का अनुभव भिन्न होता है। वह व्यक्तिगत है। जर्मन जाति का अनुभव अन्य जातियों के अनुभव से भिन्न है। उसकी दृष्टि से सत्य और असत्य का भेद वह नहीं है जो यहूदी जाति का है। इस आधार पर घोषित किया गया कि विश्व विरूप वैज्ञानिक अन्सटाइन का सिद्धान्त (Einstein's Theory of Relativity) सत्य का प्रदर्शन नहीं करता क्योंकि अन्सटाइन यहूदी है। इसी आधार पर अंकगणित और विज्ञानशास्त्र को

भी जातीय दृष्टिकोण दिया गया। समाजशास्त्र, जीवशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की भी नात्सीवादी दृष्टिकोण से पुनः व्याख्या की गई। सत्य-असत्य की परख जातीय उपयोगिता द्वारा ही सम्भव बतलाई गई। विज्ञान को भी जातीय दृष्टि से उपयोगी होना चाहिये। नैतिकता और अनैतिकता का भेद भी जाति की उपयोगिता पर आश्रित है। कहा जाता था कि यहूदियों का अपना ही नैतिक दृष्टिकोण होता है, यह जर्मनी के दृष्टिकोण से भिन्न है। इसी आधार पर मार्क्सवाद को अनुचित बताया गया। समाजवाद का विरोध इस नाते किया जाता था कि उसके दो प्रमुख नेता मार्क्स और लसाले (Lasalle) यहूदी थे। दुर्भाग्यवश समाजवादी दल का तत्कालीन संसदीय नेता (Rudolf Hilferding) भी यहूदी था। उग्र जातिवादी नात्सियों को समाजवादी साहित्य के जलाने का इससे अधिक क्या उपयुक्त बहाना मिल सकता था। सत्ता प्राप्ति के पश्चात् अन्य नगरों में यहूदी लेखकों की पुस्तकों की होली मनायी गई। इनमें फ्रायड (Sigmund Freud) वेल्स (H. G. Wells) और इलिस (Havelock Ellis) आदि यहूदी लेखकों की कृतियों को जला दिया गया। यह अविवेकशीलता की चरमसीमा है और उग्र-जातिवाद की भी।

सामाजिक डार्विनवाद :— फासीवाद के सम्बन्ध में कहा गया है कि उस दर्शन ने आधुनिक युग के सामाजिक डार्विनवाद को अपनाया। यह सिद्धान्त नात्सीवाद में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता था। फासीवाद की अपेक्षा नात्सियों ने इस दृष्टिकोण को अधिक उग्र रूप दिया। इसी के आधार पर जर्मनी तथा यूरोप में जातीय आतंक एवं शोषण किया गया।

सामाजिक डार्विनवाद का अर्थ है कि मानव प्रगति में संघर्ष का सर्वोच्च स्थान है। इस आधार पर स्पेन्सर ने कहा था कि वही व्यक्ति सफल हो सकता है जो व्यापक जीवन-संघर्ष में सुयोग्य हो। उत्कृष्ट सफल होता है, निकृष्ट असफल। वेजहाट (Walter Bagehot) का कहना था कि उत्कृष्ट जाति या समुदाय का निकृष्ट पर आधिपत्य स्वाभाविक है। सहयोग, संयोग तथा घनिष्ठता उत्कृष्ट जाति की विशेषतायें हैं। नात्सीवाद ने वेजहाट के सामाजिक डार्विनवाद को ग्रहण कर जर्मन जाति को सुसंगठित किया। हिटलर का कहना था कि अब तक जर्मन जाति की सब से बड़ी कमजोरी यह रही है कि उसमें संयोग, घनिष्ठता तथा झुण्ड प्रेरणा का अभाव था!

जातीय सुसंगठन के हेतु अन्य जातियों के विपरीत प्रचार किया गया। जर्मनी में यहूदियों का दमन किया गया। कहा जाता था कि यहूदियों के साथ रक्त-मिश्रण से जर्मन जाति बलहीन हो गई है। अतः जातीय रक्त पवित्रता का नात्सी जर्मनी में सर्वोच्च स्थान था।

हिटलर का कहना था कि जिस वस्तु तथा विचार में जातीयता की भावना न हो वह सारहीन हैं। नात्सियों के दो अटूट विश्वास थे। पहला यह था कि एक जाति दूसरी जाति से उच्चतम है। दूसरा यह कि प्रत्येक जाति की अपनी बौद्धिक, आध्यात्मिक और प्रेरणा सम्बन्धी विशेषताएँ होती हैं। इन दोनों धारणा सम्बन्धी विचारों का प्रचार किया गया। इस आधार पर जर्मन जाति को पुनर्संगठित कर उसे विश्व-विजय की ओर अग्रसर किया गया।

उग्र जातिवाद :—नात्सियों का कहना था कि एक जाति दूसरी जाति से उच्चतर है। उन्होंने विश्व की जातियों को तीन भागों में विभक्त किया। पहले भाग में काले वर्ण की जातियाँ हैं। ये जातियाँ असभ्य तथा अर्धसभ्य हैं। इनका बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्तर इतना पिछड़ा हुआ है कि वे सभ्य नहीं बनायी जा सकती। इस आधार पर उन साम्राज्यवादियों की आलोचना की जाती थी जो काली जातियों को शिक्षित बनाने का प्रयत्न करते थे। नात्सियों के दृष्टिकोण से ये जातियाँ सदा ही शासित रहेंगीं। विधाता ने इन्हें इसी योग्य बनाया है ; ये कभी भी शासक एवं सभ्य नहीं बन पायेंगी। कहा जाता है कि हिटलर आदि नात्सि नेता हब्शियों से हाथ मिलाने में अपमान समझते थे।

दूसरी कोटि की जातियाँ पीले वर्ण की थीं। इन जातियों को सभ्यता का निर्माता नहीं माना जाता था। ये नेतृत्व योग्य नहीं समझी जाती थीं। ये केवल इतनी ही योग्य समझी जाती थीं कि ये सभ्यता की देनों को ग्रहण कर सकती थीं, उनका प्रादुर्भाव नहीं। इन जातियों के अन्तर्गत एशिया की जातियाँ थीं।

सर्वोच्च जातियाँ श्वेत वर्ण की कही जाती थीं। ये जातियाँ ही सभ्यता की निर्मात्री मानी जाती थीं। श्वेत जातियों में भी जर्मन जाति का सर्वोच्च स्थान था। इसका एकमात्र कारण रक्त की पवित्रता मानी जाती थी। रूसियों में मंगोल रक्त का मिश्रण है। फ्रांसीसियों में अन्य जातियों का रक्त मिश्रण है। केन्द्रीय यूरोप की अन्य जातियों की भी यही दशा है। अमेरिका का तो कहना ही क्या। अतः

केवल जर्मन जाति ही सर्वोच्च है, उसमें पूर्णतया नार्डिक (Nordic) रक्त है। इस नाते सर्वश्रेष्ठ जर्मन जाति का प्रकृतदत्त अधिकार है कि वह विश्व की अन्य पिछड़ी हुई जातियों पर राज्य करे।

यह भी कहा जाता था कि सभ्यता की प्रगति आर्य जाति द्वारा हुई है। आर्य जाति को ही विश्व संस्कृति के प्रादुर्भाव का श्रेय है। जर्मन जाति ही स्वच्छन्द आर्य जाति है, केवल वही उसका प्रतिनिधित्व करती है। इस सम्बन्ध में भारतवासियों को आर्य नहीं समझा जाता था। हां, जब जर्मनी का जापान ऐसी पीली जाति से संधि हुई तो जापानियों को अस्थायी आर्य घोषित किया गया।

इस सम्बन्ध में पुराने साम्राज्यवादियों, मुख्यत: ब्रिटिश की विचारधारा का वर्णन मनोरंजक है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी भी जातीय सिद्धान्त को अपनाते थे। जॉन लॉक ने कहा था कि पिता का सन्तान के प्रति यह कर्त्तव्य है कि वह उसका बचपन में पालन-पोषण करे। विधाता ने उसे सन्तान प्रदान किया है और उसे संरक्षक बनाया है। जब तक सन्तान प्रौढ़ तथा विवेकशील नहीं हो पातीं तब तक पिता का संरक्षण का कार्य अनिवार्य है। इसी आधार पर १७वीं सदी के पश्चात् ब्रिटेन के निवासी तथा साम्राज्यवादी अपने साम्राज्य की जातियों को पिछड़ी हुई जातियाँ मानते थे। उनकी दृष्टि में ब्रिटेन एक संरक्षक पिता तुल्य था और उपनिवेश सन्तान तुल्य। कहा जाता था कि विधाता ने ब्रिटिश जाति को संरक्षक नियुक्त किया है। संरक्षण कार्य का ध्येय था कि पिछड़ी हुई जातियों को जनवाद सम्बन्धी शिक्षा दी जाय। कहा जाता था और अभी तक कहा जाता है कि जब ये जातियाँ जनवाद की शिक्षा पूर्णतया ग्रहण कर लेंगी तो संरक्षण कार्य का वैसे ही अन्त हो जायगा जैसे कि सन्तान के प्रौढ़ तथा विवेकशील होने पर पिता के संरक्षण कार्य का। ऐसी ही विचारधारा आधुनिक युग के अन्तर्राष्ट्रीय Mandate System तथा Trusteeship System की पृष्ठभूमि में भी है। इस विचारधारा का आधार यह है कि आंग्ल जाति अन्य जातियों से श्रेष्ठ है, भले ही इस धारणा का ढिंढोरा पीटा नहीं गया हो। वैसे तो किपलिंग (Rudyard Kipling) ऐसे साम्राज्यवादी लेखक खुलेआम जातीयता का, मुख्यतः ब्रिटिश जाति को उच्चतम बताने का प्रचार करते थे। नात्सीवाद के जातीय सिद्धान्त और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उक्त विचार में अन्तर यह है कि जहाँ नात्सियों ने चिल्ला-चिल्ला कर इसका प्रचार किया था वहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवादी चुपके-चुपके इसको

कार्यान्वित करते रहे। इस अन्तर का कारण शायद यह था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विकास अनुकूल परिस्थियों में हुआ था। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि फासीवादियों तथा नात्सीवादियों ने जातीयता का पाठ पुराने ब्रिटिश साम्राज्य-वादियों से ही सीखा था। आधुनिक भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है। अतः जातीयता और साम्राज्यवाद पर्यायवाची हैं।

जातीयता के आधार पर यहूदियों को निर्वासित किया गया था। यहूदियों से रक्त-मिश्रण अवैध घोषित किया गया। यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसे लोगों को भी जर्मन नहीं समझा जाता था जिनके पूर्वजों में यहूदियों का रक्त रहा हो। जब जर्मन-साम्राज्य की वृद्धि हुई तो परतंत्र जातियों से रक्त-मिश्रण अवैध घोषित किया गया। इन जातियों की संस्कृति का जर्मन संस्कृति से मिश्रण अनुचित माना जाता था। क्योंकि जातीय सिद्धान्त के आधार पर इन देशों की संस्कृति निम्न कोटि की समझी गई। इसलिए इन जातियों पर जर्मन नात्सीवादी "उच्च" संस्कृति को लाद दिया गया। उनकी निजी संस्कृति का दमन हुआ।

मानव-उन्नति विषयक शास्त्र (Eugenics) के अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही असमान हैं। यह असमानता पैतृक है। उत्कृष्ट जाति आगे बढ़ती रहती है और निकृष्ट अवनति करती रहती है। आजकल की परिस्थियों में उत्कृष्टों की संख्या घट रही है और निकृष्टों की बढ़ रही है। नात्सियों ने इस दकियानूसी विचारधारा को ग्रहण किया। उनका कहना था कि राज्य का कर्त्तव्य है कि उत्कृष्टों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करे और निकृष्टों की घटाने का। तभी राष्ट्र तथा जाति प्रगति कर सकेगी, तभी जर्मन जाति विश्व-विजेता होगी। राज्य का कर्त्तव्य उत्कृष्टों को निकृष्टों के रक्त-मिश्रण से बचाना है। नात्सी जर्मनी में यहूदियों के साथ विवाह अवैध था। यही नहीं, विवाह के पूर्व स्त्री-पुरुष का शारीरिक निरीक्षण अनिवार्य था। सरकारी डाक्टर इस कार्य के लिए नियुक्त थे। कहा जाता है कि अयोग्य स्त्रियाँ ऑपरेशन द्वारा बाँझ कर दी गईं। उनका बाँझ बनाया जाना गुप्त नहीं रखा जाता था। अभिप्राय यह था कि अन्य स्त्रियां उन्हें बाँझ समझकर उनकी बात न सुनें। कहा जाता है कि इस रीति से प्रगतिशील स्त्रियों को चुप किया जाता था।

नात्सियों ने उत्कृष्ट की परिभाषा नये प्रकार से की। पुराने कुलीन-तंत्र के सदस्य प्रकृति से उत्कृष्ट नहीं माने जाते थे। इसके फलस्वरूप एक नये कुलीन-तंत्र का

प्रादुर्भाव हुआ। यह कुलीन-तंत्र था उन मध्यम वर्गीय नवयुवकों का जो नात्सीवाद के अग्रदूत थे। उक्त मानव-उन्नति विषयक शास्त्र के आधार पर इस नये कुलीन तंत्र को अन्य नागरिकों से श्रेष्ठतर माना जाता था। यही जाति के नेता, निर्माता और शासक थे। इनका जर्मनी में बोलवाला था। एक सुयोग्य नवीन युवक को इस कुलीन-तंत्र की सदस्यता के लिए तैयार किया जाता था।

अतः जातीयता के नाते कितने ही अमानुषिक कार्यों (यहूदियों का दमन, परतंत्र राष्ट्रों तथा उनकी संस्कृति का दमन, स्त्रियों का बाँझ बनाना तथा वृद्धों और अपांगों को मरवाना) को न्याय-संगत बताया गया। शायद ही किसी भी युग में ऐसी अमानुषिक विचारधारा का प्रचार इस भाँति किया गया हो। शायद ही कभी जातीय सिद्धान्त ने ऐसा बर्बरतापूर्ण रूप धारण किया हो।

राष्ट्रीयता :—फासीवाद की भाँति नात्सीवाद भी उग्र राष्ट्रवादी था। परन्तु जहाँ फासीवाद जाति को राष्ट्र से उच्च स्थान देता है, नात्सीवाद राष्ट्र को राज्य से। मुसोलिनी ने कहा था कि राष्ट्र द्वारा राज्य की उत्पत्ति नहीं होती वरन् राज्य द्वारा राष्ट्र की। हिटलर राज्य को साध्य मानता था, राज्य को साधन। उसकी दृष्टि में राष्ट्र का राज्य से उच्च स्थान था। देश-गद्दारी राज्य-विरोध से बड़ा पाप था। हाँ, फासीवादियों की भाँति नात्सीवाद भी राज्य को मानव जीवन में सर्वोच्च स्थान देता है। वह राज्य को पूर्णतया अधिनायकवादी संस्था मानता है। परन्तु नात्सी-वाद का राज्य एक राष्ट्रीय राज्य था।

राष्ट्र को राज्य से उच्च स्थान देने से एक नई परिस्थिति उत्पन्न होती है। आदर्शवाद के अध्याय में बताया गया है कि फिक्टे (Fichte) ही एक ऐसा चेत्ता था जिसने भाषा की एकता को राष्ट्रीयता का आधार बताया। फिक्टे का अनुकरण करते हुए नात्सियों ने जाति की एकता को राष्ट्र का आधार बनाया। इस धारणा के फलस्वरूप जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय नीति ने एक नया रूप धारण किया। कहा जाता था कि जर्मन भाषा-भाषी, चाहे वे किसी भी देश में हो, जर्मन जाति तथा राष्ट्र के सदस्य हैं। उनका नेता हिटलर है, उनकी पितृ-भूमि जर्मनी है। १९३३ से १९३९ तक नात्सियों ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का ध्येय जर्मन भाषा-भाषियों को जर्मन जाति में मिलाना घोषित किया। कहा जाता था कि अन्य देशों में उन जर्मन भाइयों पर अत्याचार हो रहे हैं। वास्तव में ये अत्याचार बर्लिन रेडियो में ही होते

वास्तविक स्वतंत्रता है, स्वेच्छात्मक कार्य करने में नहीं। नैतिकता, सत्य आदि की परिभाषा भी राष्ट्रीय राज्य द्वारा होती थी। वास्तव में स्वतंत्रता, अधिकार, नैतिकता, सत्य, नियम, सौन्दर्य आदि नात्सी दल और उनके नेताओं द्वारा निर्धारित होते थे। वही अधिकार, वही सत्य, वही नियम, वही स्वतंत्रता आदि न्याययुक्त मानी जाती थीं जो नात्सीवाद की पुष्टि करें, जो राष्ट्रीय राज्य के लिए हितकर हों और जो हिटलरशाही को रुचिकर लगें। इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में अर्थक्रिया-कारित्ववाद था।

संगठन

फासीवाद की भाँति नात्सीवाद भी यूरोप की उदारवादी परम्परा का परम शत्रु था। इस परम्परा का अन्त केवल दार्शनिक रूप से ही नहीं वरन् संगठन की दृष्टि से भी किया गया। "यद्भाव्यम् नीति" के विपरीत नात्सी राज्य ने राष्ट्र के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का पुनर्संगठन किया। इस संगठन तथा नियंत्रण का एकमात्र ध्येय था उग्र राष्ट्रवाद और साम्राज्य स्थापन तथा वृद्धि। सभी प्रकार की स्वतंत्रताओं का हनन किया गया और व्यक्ति को राष्ट्रीय राज्य का दास बना दिया गया। (नात्सीवाद का उदारवाद विरोधी रूप वैसा ही था जैसा फासीवाद का। इस सम्बन्ध में फासीवाद वाला अध्याय देखिये)।

फासीवाद की भाँति नात्सीवादने भी पतनोन्मुख पूँजीवाद को जीवित रखने के लिए साम्यवादी एकाधिकारी प्रणाली को अपनाया। उसने भी पूँजीवाद तथा रूसी समाजवाद की बुराइयों का समन्वय किया। यह कह देना अनुचित न होगा की फासीवाद और नात्सीवाद इन दोनों प्रथाओं (पूँजीवाद तथा रूसी समाजवाद) की गंदगी की गटरी मात्र थे। रूसी अधिनायकवाद को अपनाते हुए नात्सीवाद ने, फासीवाद की भाँति, सोवियत प्रणाली के देनों का खुलेआम विरोध किया। सोवियत राज्य में श्रमिकों का बोलबाला और समानता (व्यक्ति, लिंग, धार्मिक तथा जातीय) का व्याप्त रूप था। वहां शोषकों तथा साम्राज्यवाद की अनुपस्थिति थी। नात्सीवाद में श्रमिक दास-तुल्य थे और शोषकों का बोलबाला था। वहां राष्ट्रीय और जातीय दमन तथा उग्र-साम्राज्यवाद व्यापक था।

नात्सीराज्य जर्मन जाति के सभी कार्यों, विचारों, मनोवृत्तियों तथा दृष्टिकोणों पर

पूर्ण नियंत्रण करता था। इस सम्बन्ध में गोयबेल्स (Goebbels) ने, जो नात्सी जर्मनी का प्रचार मंत्री था, कहा—जर्मनी का एक लक्ष्य, एक दल तथा एक विश्वास होना चाहिये और साथ ही साथ राज्य को राष्ट्र का पर्य्यावाची। इस ध्येय की पूर्ति के हेतु जर्मनी का संगठन एक नये दृष्टिकोण से हुआ। यह संगठन तीन सिद्धान्तों—नेतृत्व सिद्धान्त, अनुशासन सिद्धान्त तथा सर्वाधिकारी सिद्धान्त—पर आधृत था। जर्मन जाति के जीवन के सभी पहलुओं पर राज्य का नियंत्रण होता था। नात्सीवाद का ध्येय एक नये व्यक्ति का निर्माण करना था। समाजवादी भी अपना ध्येय यही बताते हैं। परन्तु समाजवादी "व्यक्ति" और नात्सीवाद "व्यक्ति" भिन्न थे। समाजवादी "व्यक्ति" समानता, भ्रातृत्व, शान्ति, विश्व-बन्धुत्व और स्वतंत्रता का प्रतिबिम्ब है। नात्सीवाद "व्यक्ति" असमानता, अभ्रातृत्व, युद्ध, जातीय द्वेष, विश्व-साम्राज्य और दासता का प्रतीक है।

ब्रैडी (R. Brady) के मतानुसार देश का संगठन इस प्रकार होता था। पूँजीपति ध्येय प्रदान करते, जुँकर (कुलीन सामन्त) ढांचा निर्माण करते और सेना पद्धति बनाती। नात्सी राज्य का ध्येय वही था जो जर्मन पूँजीपतियों का—बाजारों की वृद्धि तथा साम्राज्य वृद्धि। नात्सी जर्मनी का संगठन पुराने प्रशा के जुँकर सामन्तशाही संगठन की भाँति था—सामन्त (नेता) आज्ञा देता था, सेवक (जन-साधारण) उसका अनुकरण करते थे। नात्सी जर्मनी का कार्यक्रम सेना की भाँति था—सैनिक अनुशासन तथा कुशलता उसमें व्याप्त थी।

एकात्मक राज्य :—राजनीतिक संगठन की दृष्टि से परम्परागत् जर्मनी एक संघ की भाँति था। सुप्रसिद्ध विस्मार्क (Bismark) ने १६ वीं सदी के अन्त में जर्मनी का केन्द्रीकरण करने का प्रयास किया था। उसके पूर्व जर्मनी के छोटे-छोटे राज्य अर्द्धस्वतंत्र से हुआ करते थे। विस्मार्क ने केन्द्रीय सरकार को अधिक दृढ़ बनाया। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी के २२ उप राज्यों का एक संघ बना। ये उप राज्य घरेलू मामलों में प्रायः स्वतंत्र होते थे। हिटलर ने सत्ता प्राप्ति पर जर्मनी को पूर्णतया एकात्मक राज्य में परिणत किया। ३१ मार्च १६३३ में सभी उप राज्यों में एक सी शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी। उसी वर्ष अप्रैल में एक दूसरे कानून द्वारा हिटलर ने उप राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त किया। ३० जनवरी १६३४ में सभी उप राज्यों की संसदों का अन्त किया गया और अधिकारों

का पूर्णतया केन्द्रीकरण हुआ। अन्य नियमों द्वारा समस्त जर्मनी में नात्सीदल का एकाधिकार स्थापित हुआ। नात्सी जर्मनी एक एकात्मक राज्य ही नहीं अपितु एकात्मक राष्ट्र भी बना। एकात्मक राज्य के नाते केंद्रीय सरकार सर्वाधिकारिणी बनी। जहाँ तक एकात्मक राष्ट्र का सम्बन्ध है राष्ट्र में केवल एक ही दल व्यापक बना। अतएव इससे यह स्पष्ट है कि उप राज्यों की स्वायत्त शासन प्रणाली और स्थानीय संस्थाओं की स्वतंत्रता का पूर्णतया हनन हुआ। संसद केवल नाममात्रीय रूप में जारी रही, वह प्राणहीन बन गई। राजनीतिक दलों को अवैध घोषित किया गया। निर्वाचन सारहीन बने और संसद हिटलर की घोषणाओं को वैधानिक रूप देने की संस्था। राज्य के सभी कर्मचारी नात्सीदल द्वारा मनोनीत होने लगे।

अर्थनीति :—एकात्मक राज्य तथा एकात्मक राष्ट्र की स्थापना के साथ-साथ अर्थ व्यवस्था का भी राष्ट्रीकरण किया गया। यह राष्ट्रीकरण समाजवादी राष्ट्रीकरण से भिन्न था। समाजवादी राष्ट्रीकरण में शोषक पदच्युत कर दिये जाते हैं, अर्थ व्यवस्था पर समाज तथा श्रमिकों का आधिपत्य स्थापित होता है। नात्सीवादी राष्ट्रीकरण द्वारा शोषकों का अर्थ-व्यवस्था पर नियंत्रण तो अवश्य कम हुआ; किन्तु उसके लाभ की वृद्धि हुई, कमी नहीं। हिटलर के दल का नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल था। सत्ता प्राप्ति के पूर्व वह कहा करता था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का भी अन्त करेगा। उसके शब्द-कोष में 'अन्तर्राष्ट्रीय' का अर्थ था यहूदी। सत्ता प्राप्ति के पूर्व उसके दल में कुछ ऐसे नेता थे जो राष्ट्रीय पूँजीवाद के विरोधी थे। हिटलर ने दल की एकता के हेतु इस विवादास्पद विषय को दल की बैठकों में स्थगित सा रखा। सत्ता प्राप्ति के पश्चात् दल के ऐसे वामपक्षी नेताओं को हिटलरने स्वर्ग का मार्ग प्रदर्शित किया।

नात्सीवादी जर्मनी में पूँजीपतियों तथा सामन्तों का बोलबाला था। यह कहना अनुचित न होगा कि ऐसी व्यवस्था उनके लिए स्वर्ग-तुल्य थी। नात्सीदल अर्थ का संचालन करता था, नात्सीराज्य उस पर पूर्ण नियंत्रण रखता था। स्वतंत्र श्रमिक तथा किसान आन्दोलन का चिन्ह तक न रह गया था। व्यक्तिगत सम्पत्ति की पूर्णतया सुरक्षा की जाती थी। पूँजीपति तथा सामन्त उच्च पदों पर नियुक्त होते थे। उनके लाभ को सुरक्षित रखा गया। कोई भी श्रमिक तथा किसान संस्था उस पर किसी प्रकार का आघात नहीं कर सकती थी। राज्य के संचालन में नेतृत्व सिद्धान्त को

कार्यान्वित किया जाता था। इसका अर्थ था कि अनुयायियों तथा नागरिकों को नेता की आज्ञा पालन करना अनिवार्य था। नेतृ-भक्ति का सर्वोच्च स्थान था। इसी सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक जीवन भी संचालित होता था। एक कारखाने का पूँजीपति या एक भूमि का सामन्त नेता माना जाता था। उसकी आज्ञा का पालन करना श्रमिकों तथा किसानों के लिए आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी था। हड़तालों का नात्सी शब्दकोष में कोई स्थान न था। ऐसे वातावरण में पूँजी-पति तथा सामन्त खूब फूले फले।

इटली की फासिस्ट व्यवस्था ने आर्थिक जीवन के संचालन में जनवादी प्रथा सिद्धान्त: स्वीकृत की, परन्तु व्यवहार में नहीं। अर्थ का संचालन कुछ संघों द्वारा होता था जिनमें बाहरी तौर से जनवाद की झलक थी, वास्तव में फासिस्ट दल का बोलबाला था। नात्सी जर्मनी में जनवाद को सैद्धान्तिक स्वीकृति भी न मिली। वहाँ आर्थिक जीवन में पूर्णतया नात्सी दल तथा नात्सी राज्य का एकाधिकार था। अर्थ व्यवस्था का पूर्णतया केन्द्रीकरण किया गया, किसी भी प्रकार का स्वतंत्र संघ नहीं हुआ करता था। फासिस्ट इटली में कम से कम सिद्धान्ततः वर्गों का अस्तित्व स्वीकार किया गया था। वहाँ श्रमिकों तथा पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व आर्थिक संघों में होता था। वस्तुतः वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व एकाधिकारी वातावरण में नहीं रहा। नात्सी जर्मनी ने वर्गों का अस्तित्व सिद्धान्ततः भी स्वीकार नहीं किया।

जसा अभी कहा गया है कि नात्सी जर्मनी में व्यक्तिगत सम्पत्ति को पवित्र माना जाता था। (यहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्थ है उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति-गत अधिकार अर्थात् पूँजीपतियों तथा सामन्तों की व्यक्तिगत सम्पत्ति)। इस सम्पत्ति का संचालन राज्य द्वारा होता था। राज्य ही यह निर्धारित करता था कि भूमि तथा कारखानों में किस वस्तु का उत्पादन हो। इस विषय में उत्पादन-शक्ति के स्वामियों को अधिकारच्युत कर दिया गया था। यह उदारवादी पूँजीवाद के विपरीत था। यदि कोई पूँजीपति नात्सी राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करता तो कभी-कभी उसे अपनी सम्पत्ति के स्वामित्व का परित्याग करना पड़ता था। अर्थ-व्यवस्था के संचालन का एकमात्र ध्येय जर्मन राष्ट्र की सैनिक शक्ति की अभिवृद्धि था। तभी जर्मन जाति अपनी "प्रकृतिदत्त विशेषता" (विश्व-विजय) को फलीभूत कर सकती थी।

नात्सी जर्मनी में आयात-निर्यात पर भी राज्य का पूर्णतया नियंत्रण रहता था।

वस्तुओं का मूल्य भी राज्य नियंत्रण से बाहर न था। नात्सियों ने उदारवादी अर्थशास्त्रीय ढांचे का विरोध किया और साथ ही साथ सिद्धान्त का भी। परम्परागत अर्थशास्त्र के अनुसार पूर्ति और मांग के नियम द्वारा मूल्य, वेतन आदि निर्धारित होते हैं। नात्सियों ने कहा कि यह सब झूठा है। क्योंकि उदारवादी वेत्ताओं के विपरीत वे व्यक्ति को प्रेरणा-प्रभावित प्राणी मानते थे, विवेकशील नहीं। विवेकशील होने के नाते पूर्ति और मांग के नियम का व्यक्ति के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु यदि प्रेरणा का जीवन में सर्वोच्च स्थान माना जाय, तो, जैसा नात्सी कहते थे, प्रचार द्वारा व्यक्ति की रुचियों को परिवर्तित किया जा सकता है। तब व्यक्ति उन्हीं वस्तुओं को खरीदेगा जिन्हें राज्य का प्रचार उत्तम बतायेगा। श्रमिक उसी कारखाने में काम करेगा जिसे राज्य का प्रचार सर्वोत्तम घोषित करेगा। राष्ट्रीय तथा जातीय प्रेरणा से उत्तेजित होकर श्रमिक अपने वेतन के प्रश्न को गौण समझेगा। नात्सी जर्मनी में ऐसी प्रेरणा को सर्व प्रमुख स्थान दिया जाता था और साथ ही साथ आध्यात्मिकता को भी। इसका तात्पर्य था कि नागरिक भौतिकता को भूल जाय।

श्रमिकों के जीवन पर राज्य का पूर्णतया नियंत्रण होता था। राज्य का एक विभाग श्रमिक समस्याओं तथा उनके जीवन पर नियंत्रण रखता था। यह विभाग (Labour Front) के नाम से सुप्रसिद्ध है। श्रमिक कोई स्वतंत्र संस्था नहीं बना सकते थे। उन्हें राज्य द्वारा निर्मित संघों का सदस्य होना पड़ता था। जहां हिटलर-शाही के पूर्व स्वतंत्र श्रमिक संघों के सदस्यों की संख्या केवल ५० लाख थी, हिटलरशाही श्रमिक संघों के सदस्यों की संख्या २ करोड़ बनी। अतः सभी श्रमिकों को नात्सीवादी संघों की सदस्यता स्वीकार करनी पड़ती थी। इन संघों तथा अन्य प्रचार-यंत्रों द्वारा श्रमिकों को राष्ट्र-भक्ति, नेतृ-भक्ति, आध्यात्मिकता तथा रचनात्मक श्रम का आदर्श पाठ पढ़ाया जाता था।

"प्रसन्नता के द्वारा शक्ति" नामक एक संस्था हुआ करती थी। इसका ध्येय श्रमिकों की भौतिक प्रवृत्ति को हटाना एवं आध्यात्मिक शब्दजालों से वशीभूत करना था। १९३६ में इटली के फासिस्ट पत्र, "लावोरो फासिस्ट", ने जर्मन लेबर कोड की आलोचना करते हुये कहा था :—

"जर्मन राष्ट्रीय समाजवाद ने जर्मन मजदूरों के हाथ-पैर बांधकर उन्हें पूंजीपतियों

के सुपुर्द कर दिया है।.........इससे मध्य-युग की याद आती है।........मजदूरों ने पिछले सौ वर्षों में संघर्ष करके जितने अधिकार प्राप्त किये थे, वे सब उनसे छीन लिये गये हैं।" ("फासिज्म क्या है" लेखक रजनी पाम दत्त से उद्धृत)

सांस्कृतिक जीवनः—फासीवाद की भाँति नात्सीवाद ने भी सांस्कृतिक जीवन पर राज्य का एकाधिकार स्थापित किया। राज्य के तीन विभागों—धर्म, शिक्षा और प्रचार तथा जन जागृति—द्वारा सभी जर्मनों के बौद्धिक, भावात्मक तथा सांस्कृतिक जीवन का संचालन होता था। क्रमशः इनके प्रधान कर्ल (Kerl) रस्ट (Rust) और गोयेबल्स (Goebbels) थे। सांस्कृतिक जीवन के संचालन के ध्येय थे जातीय सिद्धान्त, रक्त-पवित्रता, नेतृ-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति एवं विश्व-विजय। व्यक्ति के विचारों को नात्सीवादी ढाँचे में ढाला जाता था।

धर्म :—जर्मनी में २८ प्रोटेस्टेन्ट (*Protestant*) समुदाय थे। १९३५ में इन सबको एक राज्य विभाग के आधीन बना दिया गया। इस विभाग का ध्येय जर्मन जाति के आध्यात्मिक जीवन का संचालन था। इस नयी धार्मिक संस्था द्वारा यूरोप की पुरानी परम्पराओं का विरोध किया गया और जर्मन जाति को विश्व-विजय का पाठ पढ़ाया गया। इस संस्था के प्रचार का उद्देश्य श्रमिक संघों, वर्ग संघों, उदार-वाद तथा प्रतिनिधि सरकार के अस्तित्व को प्रचार द्वारा समाप्त करना था। गिर्जाघरों में नात्सीवादी ध्येयों को आध्यात्मिक शब्दजालों द्वारा न्याय-संगत बताया गया। कहा जाता था कि एक सच्चे ईसाई का धर्म है कि वह जाति की प्रगति या उत्थान के हेतु युद्ध में भाग ले, हिटलर की आज्ञा का पालन करे और राज-विद्रोह को पाप तुल्य माने। इस प्रकार जर्मनों का चरित्र-गठन नात्सीवादी विचारधारा के अनुसार किया जाता था।

शिक्षा :—हिटलर के पूर्व जर्मनी में शिक्षा उदारवादी परम्परा के अनुसार दी जाती थी। राज्य का नियंत्रण सीमित होता था। अध्यापकों या विद्यार्थियों को विचारों की स्वतंत्रता प्राप्त थी। पाठ्यक्रम राज्य द्वारा निर्धारित नहीं होता था। कुछ ऐसे शिक्षागृह भी थे जो नागरिकों द्वारा संचालित होते थे। विश्वविद्यालयों के अधिकारी शिक्षक वर्ग द्वारा निर्वाचित होते थे। शिक्षकों की नियुक्ति विश्वविद्यालयों की स्वतंत्र समितियों द्वारा होती थी। अनुसंधान सम्बन्धी स्वतंत्रता प्राप्त थी।

हिटलरशाही ने इस परम्परा का खंडन किया और शिक्षा को नात्सीवाद के प्रचार

का यंत्र बनाया। शिक्षा राज्य तथा नात्सी दल के आधीन बना दी गयी। शिक्षा का ध्येय था कि ऐसे नागरिक बनाये जायँ जो नात्सीवादी विचारधारा को कार्यान्वित करने में तत्पर हों। शिक्षा की स्वतंत्रता सारहीन मानी जाती थी। नात्सीवाद के अनुसार कोई भी शिक्षा राजनीति से वंचित नहीं हो सकती।

एक शिक्षक को अनिवार्य रूप से नात्सीवाद का समर्थक ही नहीं वरन् प्रचारक भी होना पड़ता था। कई शिक्षक जो नात्सीवादी विचारधारा को न अपना सके, उन्हें पद-त्याग के साथ-साथ जीवन-त्याग भी करना पड़ा। शिक्षा का क्षेत्र गुप्तचरों के क्षेत्र से बाहर न था। शिक्षकों की नियुक्ति राज्य द्वारा होती थी। रिसर्च स्कालरों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता उपलब्ध न थी। समाज-विज्ञान सम्बन्धी केवल वही खोजें आवश्यक तथा उचित समझी जाती थीं जो नात्सीवादी दर्शन की पुष्टि करें। वही इतिहास सम्बन्धी खोज उचित तथा सत्य थी जो बतावे कि जर्मन जाति सर्वोच्च है और उसका प्रकृतिदत्त अधिकार विश्वविजय है आदि-आदि। रक्त-पवित्रता, जातीय सिद्धान्त, नेतृ-भक्ति, जाति-भक्ति तथा विश्व-विजय सम्बन्धी समाजशास्त्रीय खोजों को प्रोत्साहन मिलता था। जहाँ तक यथार्थ-विज्ञान का सम्बन्ध था केवल उन्हीं विषयों की खोजों को महत्त्व दिया जाता था जो राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि में सहायक हों। इस सम्बन्ध में पूँजीपतियों के निर्णय का महत्त्वपूर्ण स्थान था। रसायनशास्त्र को अन्य यथार्थ विज्ञानों से अधिक महत्त्व दिया जाता था। यह स्वाभाविक भी था। नात्सी जर्मनी का ध्येय विश्व-विजय था और रसायनशास्त्र युद्ध सम्बन्धी यंत्रों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ यह दोहराना उचित होगा कि नात्सीवाद के अनुसार विज्ञान का रक्त से घनिष्ट सम्बन्ध है। वही वैज्ञानिक सिद्धान्त सत्य माना जाता था जो जर्मन जाति की प्रगति में सहायक हो और जिसका निर्माण एक जर्मन द्वारा हुआ हो, यहूदी द्वारा नहीं।

पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकें भी नात्सीवाद की पुष्टि की दृष्टि से निर्धारित होती थीं। बचपन से ही बच्चों को हिटलर-भक्ति, विश्व-विजय, जातीय-गौरव, रक्त-पवित्रता का पाठ पढ़ाया जाता था। उनकी शिक्षा सैनिक दृष्टिकोण से होती थी जिससे वे भविष्य में उच्चकोटि के सैनिक बनें। अन्य जातियों के प्रति, मुख्यतः यहूदियों के, वैमनस्य तथा घृणा की भावना कूट-कूट कर भरी जाती थी। बचपन से ही उदाहरणों द्वारा सैनिक मनोवृत्ति को प्रबल बनाया जाता था। सैनिक शिक्षा प्रारम्भ से ही अनि-

वार्य थी। दस वर्ष के विद्यार्थियों का एक बाल संघ (Young Folk) होता था। १४ वर्ष के विद्यार्थियों का दूसरा बालसंघ (Hitler Youth) था। ये संस्थाएँ उदारवादी बालचर-संघों का सैनिक संस्करण थीं। प्रत्येक बालक की दिनचर्या नियमित होती थी। उसे किसी स्वतंत्र संघ बनाने का अवकाश प्राप्त नहीं था। विद्यार्थी जीवन और सैनिक जीवन में नियंत्रण की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न था। चतुर विद्यार्थियों को नात्सी दल की सदस्यता के लिए तैयार किया जाता था। ये युवक भावी नेता थे। इनकी शिक्षा विशेष रीति से होती थी। उन्हें नेतृत्व का पाठ पढ़ाया जाता था। वे ही छात्रवृत्ति के अधिकारी होते थे। विश्वविद्यालयों की शिक्षा साधारण विद्यार्थियों के लिए सुलभ न थी।

प्रचार तथा जन-जागृति :—इस विभाग का अध्यक्ष या मंत्री हिटलर का घनिष्ठ अनुयायी गोयेबल्स् था। इस विभाग का ध्येय सब जर्मनों के दृष्टिकोण का एकीकरण था। एकीकरण का तथ्य एक राष्ट्र, एक नेता तथा एक दल था। केवल उन्हीं विचारों का प्रचार किया जाता था जो नात्सीवाद की पुष्टि करते थे। कहा जाता है कि गोयेबल्स् के अनुसार सत्य वही है जिसका निरन्तर प्रचार किया जाय। नात्सियों के अनुसार जनसाधारण के जीवन में प्रेरणा का प्रमुख स्थान होता है। एक व्यक्ति के कार्य भावात्मक होते हैं, विवेकयुक्त नहीं। इसलिए प्रचार को कला का रूप दिया जाना चाहिये, विज्ञान का नहीं। तब जनसाधारण को किसी तरफ भी ढुलकाया जा सकता है।

आलोचकों का कहना है कि फासीवाद तथा नात्सीवाद विज्ञान, संस्कृति और विवेक का शत्रु है। मैकगोवर्न (W. M. McGovern) के मतानुसार हिटलर का तथा नात्सीवाद का संस्कृति एवं साहित्य सम्बन्धी विचारधारा निम्न मध्यम वर्गीय दृष्टिकोण की साक्षी है। निम्न मध्यम वर्ग कलापूर्ण महान् चित्रों की अपेक्षा फिल्मी सितारों के चित्रों को अधिक पसन्द करता है। वह महाकाव्यों और काव्यों की अपेक्षा जासूसी कहानियों और काम एवं प्रेम सम्बन्धी साहित्य को रुचिकर मानता है। यही दृष्टिकोण नात्सीवादी प्रचार यंत्रों का भी था। उनमें विज्ञान का अभाव होता था।

संस्कृति के एक राष्ट्रीय भवन (The National Chamber of Culture) की स्थापना की गयी। इस राष्ट्रीय भवन के अन्तर्गत सात उप-भवन थे। ये उप-भवन साहित्य, प्रेस, रेडियो, सिनेमा, थियेटर, संगीत और कला से सम्बद्ध थे। ये सभी प्रचार विभाग के अधीन थे। गोयेबल्स इनकी नीति निर्धारित करता था। कोई भी

लेखक, पत्रकार, कलाकार इत्यादि नात्सीवाद के विरुद्ध प्रचार नहीं कर सकता था। ऐसे प्रचारक का स्थान जेलों में था।

महिलायें :—नात्सीवाद के अनुसार महिलाओं का स्थान घर तक ही सीमित था। उनकी स्थिति मध्यकालीन सभ्यता की याद दिलाती है। कहा जाता था कि स्त्रियों को गिरजाघर, बच्चों और चूल्हे तक ही सीमित रहना चाहिये। उन्हें कारखानों तथा सरकारी विभागों में नौकरी नहीं मिलनी चाहिये। उनका एकमात्र कर्तव्य आदर्श जर्मन नागरिकों की माताओं का स्थान ग्रहण करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय नीति

फासीवाद तथा नात्सीवाद का वर्णन तब तक पूरा नहीं समझा जा सकता जब तक इटली और जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का संक्षिप्त वर्णन न किया जाय। मुसोलिनी ने १६२२ में सत्ता प्राप्त की थी। उसने कुछ अन्य देशों में, मुख्यतः आस्ट्रिया में फासीवादी संस्थाओं को सहायता पहुँचायी थी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में केवल हिटलर शाही की स्थापना के पश्चात् ही इटली और जर्मनी ने आतंक आरम्भ किया। हिटलर ने स्वयं को यूरोप की सभ्यता का रक्षक घोषित किया और कहा कि उसका ध्येय इस सभ्यता को बोलशिविज्म (Bolshevism) या साम्यवाद या रूसी समाजवाद के आक्रमण से बचाना है। ऐसी घोषणाओं एवं नात्सी जर्मनी के समाजवाद विरोधी कार्यक्रमों ने पश्चिमी देशों के पूँजीपतियों और उनके रूढ़िवादी नेताओं तथा सरकारों को मोहित किया।

वास्तव में जर्मनी की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय बन गई थी। १६१७ की रूसी क्रान्ति के पश्चात् विश्व के प्रतिक्रियावादियों को सदा यह भय रहता था कि कहीं समाजवादी "प्लेग" जर्मनी में भी न प्रवेश करे। व्यावसायिक दृष्टि से जर्मनी समृद्ध था और सैनिक दृष्टि से सुप्रसिद्ध। इस नाते उसका केन्द्रीय यूरोप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। यदि वह समाजवादी देश बन जाता तो समाजवादी शक्तियों को यूरोप में अत्याधिक प्रोत्साहन मिलता। कदाचित् एक रूसी क्रान्तिकारी का कथन था कि यदि रूस के बजाय जर्मनी में श्रमिक क्रान्ति होती तो विश्व-साम्यवाद अधिक सरल हो जाता। ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः पश्चिमी प्रतिक्रियावादियों ने हिटलरशाही को

अस्वाभाविक नहीं। ऐसी परिस्थिति में ब्रिटेन की टोरी सरकारों ने हिटलरशाही को पनपने दिया।

फ्रांस के पूँजीपतियों की भी कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति थी। फासीवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि फ्रांस में भी कई फासीवादी तथा अर्द्ध-फासीवादी संस्थाएँ पनपीं। पूँजीपतियों तथा रूढ़िवादियों ने उनकी सहायता की। कुछ मंत्रिगण, कुछ संसदीय सदस्य, सैनिक नेता तथा नौकरशाही के सदस्य भी इन संस्थाओं को परोक्ष रूप से सहायता पहुँचाते रहे। वैसे तो फ्रांस के राष्ट्रीय हित की दृष्टि से जर्मनी का संवृद्ध होना हानिकारक था। परन्तु जब ब्रिटेन के प्रोत्साहन के फलस्वरूप नात्सी जर्मनी सुदृढ़ हुआ तो प्रायः सभी फ्रांसीसी प्रतिक्रियावादियों ने हिटलर की साम्राज्यवादी नीति को कार्यान्वित होने से न रोका। वे भी हिटलर की साम्यवाद-विरोधी घोषणाओं के शिकार बने। वे यह सोचकर कि जर्मनी, इटली और जापान सोवियत रूस का विध्वंस करेंगे, मनमोदक खाते रहे।

प्रतिक्रियावादियों की ऐसी नीति का एक प्रमुख कारण फ्रांस का इतिहास और सुसंगठित श्रमिक दल था। हिटलर की सफलता के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि समाजवादी और साम्यवादी दलों के पारस्परिक वैमनस्य के फलस्वरूप हिटलर सत्ता स्थापित कर सका था। कहा जाता है कि सब कुछ होते हुए भी यदि जर्मन श्रमिक दलों ने संयुक्त मोर्चा स्थापित किया होता तो कदाचित् हिटलर तानाशाह न बनने पाता। इस अनुमान से प्रोत्साहित हो फ्रांस के प्रमुख श्रमिक दलों (समाजवाद और साम्यवाद) ने १२ फरवरी १९३४ को एक संयुक्त मोर्चा स्थापित किया। इस मोर्चे की स्थापना का कारण यह था कि ६ दिन पूर्व पेरिस में फासिस्टों ने राजनीतिक दंगे किये थे। १९३६ में इन श्रमिक दलों के साथ मध्यम वर्गीय जनतंत्र प्रेमियों (Radical Socialists) ने फासिस्ट-विरोधी मोर्चे में सहयोग दिया। जून १९३६ से १९३७ तक ब्लूम (Leon Blum) के नेतृत्व में संयुक्त जन-मोर्चे की सरकार राज्य करती रही। मार्च-अप्रैल १९३८ में ब्लूम की दूसरी सरकार बनी। ऐसे संयुक्त जन-मोर्चे को फ्रांस के शासक वर्ग हिटलरशाही से अधिक हानिकारक तथा शत्रु मानने लगे।

फ्रांस तथा ब्रिटेन के शासक यह भली भाँति जानते थे कि आधुनिक युद्ध केवल विरोधी देशों के दो सेनाओं के मध्य ही नहीं वरन् इन देशों के पूर्ण निवासियों के बीच होता है। वही राज्य आधुनिक युद्ध लड़ सकता है जिसमें पूरी जनता युद्ध में स्वेच्छा

से भाग ले या जिसमें जनता को सैनिक नियंत्रण द्वारा भाग लेने के लिए बाध्य किया जाय। अतः आधुनिक युद्ध के लिए समाजवादी व्यवस्था या फासीवादी व्यवस्था नितान्त आवश्यक है—समाजवाद में जनहित और राष्ट्रहित का ऐक्य होता है; फासीवाद में प्रचार द्वारा कृत्रिम रूप से ऐसा शाब्दिक ऐक्य स्थापित किया जाता है। हाँ, राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर भी जनता संघर्ष कर सकती है (उदाहरणार्थ, चीन और भारतवर्ष)। फ्रांस तथा ब्रिटेन के शासक समाजवादी व्यवस्था के शत्रु थे। संबुद्ध श्रमिक आन्दोलन के वातावरण में वे फासीवादी व्यवस्था को स्थापित नहीं कर सकते थे। फ्रांस के शासक १८७१ के पेरिस कम्यून (Paris Commune) को न भूले थे और न भूल ही सकते थे। (बिस्मार्क की सेनायें पेरिस तक पहुँच गई थीं। थियर्स की राष्ट्रीय सरकार पेरिस छोड़ कर वर्साइ चली गई। पेरिस के मजदूरों ने दो महीनों तक जर्मन सेनाओं का मुकाबला किया। इस श्रमिक संस्था का अन्त थियर्स और बिस्मार्क की सेनाओं ने मिल कर किया)। फलतः उन्होंने गुप्तरूप से हिटलर को प्रोत्साहन दिया। १६३६ में हिटलर ने अस्थायी रूप से निश्चय कर लिया कि वह सोवियट रूस पर धावा नहीं करेगा वरन् पश्चिमी देशों के विरुद्ध अपनी सैनिक शक्ति, जिसकी वृद्धि में ब्रिटेन और फ्रांस के शासकों का काफी हाथ था, प्रयोग करेगा। बाध्य होकर फ्रांस और ब्रिटेन को (३ सितम्बर १६३६) जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा करनी पड़ी।

परन्तु फ्रांस युद्ध के लिए तैयार न था। उसका शासक वर्ग सदा ही हिटलर, मुसोलिनी और फ्रैंको का मित्र था। सैनिक नेताओं में भी हिटलर प्रेमियों की कमी न थी (जैसे पेताँ Marshal Petain और वेगाँ General Weygand आदि)। युद्ध घोषणा के पश्चात् भी सैनिक तथा शासक नेता हिटलर को अपनी साम्यवाद-विरोधी भावना का प्रमाण देते रहे। युद्ध घोषणा के साथ-साथ श्रमिक दल के विरुद्ध भी युद्ध घोषित किया गया। कई श्रमिक नेता वैध तथा अवैध रूप से कारागार में बन्द किये गये। कहा जाता है कि १६४० की गर्मियों में जब हिटलर की सेनायें फ्रांस में घुसीं तो फ्रांस की सरकार ने पेरिस से हटते समय इन श्रमिक बन्दियों को सबसे पहले हटाया। क्योंकि फ्रांस का शासक वर्ग हिटलरशाही के जिन्दे-जागते भूत की अपेक्षा पेरिस कम्यून के भूत से अधिक भयभीत था। कहा जाता है कि सैनिकों तथा फासीवादियों ने हिटलर की सेना को सब प्रकार की सहायता पहुँचायी। वस्तुतः फ्रांस के प्रतिक्रियावादी स्ववर्ग के हित हेतु हिटलरशाही के सहायक बने।

हिटलर ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काफी चतुरता दिखाई। वास्तव में उसकी चतुरता जर्मनी के पूँजीवाद की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का द्योतक है। नात्सी जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय नीति की चार प्रमुख रीतियाँ थीं। सर्वप्रमुख रीति यूरोप के अन्य प्रमुख देशों के मध्य पारस्परिक वैमनस्य पैदा करना था। पश्चिमी देशों (ब्रिटेन और फ्रांस) का सोवियत रूस से सैद्धान्तिक विरोध था। जर्मनी ने इस विरोध का लाभ उठाया और ब्रिटेन तथा फ्रांस को समाजवाद-विरोधी घोषणाओं द्वारा वशीभूत किया। इन देशों के शासक १९३९ तक भी रूस से हिटलर के विरुद्ध समझौता करने के लिए इच्छुक न थे। इस आड़ में जर्मनी ने संवृद्ध होने के लिए ब्रिटेन तथा फ्रांस से पर्याप्त सहायता प्राप्त की। हिटलर ने यह घोषित किया था कि उसके जीवन का लक्ष्य समाजवाद का अन्त करना है। फिर जर्मनी ने ब्रिटेन और फ्रांस के पारस्परिक वैमनस्य से भी उचित लाभ उठाया और ब्रिटेन की सहायता प्राप्त की।

दूसरी रीति वर्गों के मध्य फूट डालना था। फ्रांस और ब्रिटेन में फासिस्ट-प्रेमी शासकों ने गुप्तरूप से हिटलर को सहायता पहुँचाई। यूरोप के सभी देशों में हिटलर के पाँचवें दस्ते थे। ये प्रायः शासक वर्गों के सदस्य हुआ करते थे। इनकी सहायता से जर्मन सेनाओं ने प्रायः निर्विरोध सफलता प्राप्त की। सोवियत रूस में भी ऐसे पाँचवें दस्ते का जन्म हुआ था। परन्तु वहाँ युद्ध के पूर्व ही १९३६ और १९३७ के प्रसिद्ध मास्को ट्रायल्स (Moscow Trials) द्वारा ऐसे देशद्रोहियों का अन्त कर दिया गया। अतः सोवियत रूस को छोड़ सभी देशों में हिटलर की सेनाओं के स्वागत-कर्त्ता थे।

तीसरी रीति सहायक नात्सी आन्दोलनों द्वारा पड़ोसी देशों में आतंक मचाना था। करीब-करीब यूरोप के सभी देशों में फासिस्ट दल थे। ये दल राजनीतिक हत्याओं को भी करने से न चूकते थे। इनको जर्मनी से सभी प्रकार की सहायता मिलती थी। जब जर्मनी की सेनाओं ने अन्य देशों में प्रवेश किया तो इन दलों ने इन सेनाओं को सभी प्रकार से सहायता दी और सैनिक पराजय के पश्चात् देश के शासन को फासिस्ट रूप देने में अगुआ बने।

चौथी रीति युद्ध की तैयारी थी। वैसे तो हिटलर का ध्येय क्रम परिश्रम द्वारा बड़ी से बड़ी विजय प्राप्त करना था। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उक्त रीतियाँ अपनाई गईं। साथ ही साथ जर्मनी को सुसंगठित तथा सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया गया। १९३३ में सैन्यबल का पुनर्संगठन आरम्भ किया गया। १९३४ में जर्मनी राष्ट्रसंघ

(The League of Nations) से हटा। १९३५ में आंग्ल-जर्मन नाविक सन्धि हुई जिससे जर्मनी ने इंगलैंड के ३५ प्रतिशत नाविक का अधिकार प्राप्त किया। १९३६ में राइन प्रदेश (Rhineland) में पुनर्सैन्य की स्थापना हुई। इस प्रकार जर्मनी को सुसंगठित बनाने का प्रयत्न किया गया। देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन का संचालन इसी दृष्टि से किया जाता था।

जर्मनी ने सभी अन्तर्राष्टीय संघों तथा सन्धियों का उल्लंघन किया। अन्य राष्ट्रों से समयानुकूल सन्धियाँ की और क्षण भर में ही झूठे-सच्चे आरोप लगाकर इन सन्धियों को भंग किया। यही नहीं, जिन पड़ोसी राष्ट्रों से मैत्री की सन्धियाँ की गई थीं उनमें पाँचवें दस्ते का आतंक स्थायी रखा गया और अन्त में उन्हें हड़प कर लिया गया। कभी-कभी पड़ोसी देशों के शासकों से धमकी द्वारा नात्सीवादी योजनाओं को स्वीकृति कराई जाती थी। आस्ट्रिया के चांसलर डाल्फस (Dollfuss) को १९३४ में मरवा दिया गया। १९३८ में चांसलर शुसनिग (Schuschnigg) को बर्लिन बुलवाया और भयानक वातावरण प्रस्तुत कर उसे नात्सी शर्तों को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस दृष्टान्त के पश्चात् किसी भी छोटे पड़ोसी देश का स्वतंत्र मनोवृत्ति का शासक बर्लिन जाने से घबड़ाता था।

मार्च १९३८ में आस्ट्रिया को हड़प लिया गया। सितम्बर १९३८ में चेकोस्लोवाकिया का प्रमुख भाग जर्मनी में मिला लिया गया। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध म्यूनिक समझौता (Munich Pact) हुआ था। चेकोस्लोवाकिया से फ्रांस और रूस की पारस्परिक सहायता सन्धियाँ थी। चेकोस्लोवाकिया हिटलरशाही का मुकाबला करने के पक्ष में था। रूस ने सहायता देने का वायदा किया। परन्तु फ्रांस और उसका मित्र ब्रिटेन चेकोस्लोवाकिया को हिटलर के विरुद्ध और रूस से हाथ मिला कर सहायता नहीं देना चाहता था। अन्य आडम्बरों के पश्चात् चेम्बरलेन, (Neville Chamberlain) ब्रिटिश प्रधान मंत्री, और दलादिये (Edouard Daladier), फ्रांस के प्रधान मंत्री, ने बिना चेकोस्लोवाकिया की अनुमति के उस देश को हिटलर के हाथों सौंपा। म्यूनिक समझौता पाश्चात्य रूढ़िवादी शासकों की उस मनोवृत्ति का स्पष्ट निर्देशक बना जिसके फलस्वरूप हिटलरशाही पनपायी गयी।

अगस्त १९३९ में जर्मनी और रूस में सन्धि हुई और जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया। सितम्बर ३ को ब्रिटेन और फ्रांस ने युद्ध घोषणा की। पोलैंड की पराजय

के पश्चात् १६४० की ग्रीष्म ऋतु तक पश्चिमी यूरोप में गेस्टापो (Gestapo) शासन स्थापित हुआ (गेस्टापो को हिटलरशाही जर्मन पुलिस कहते थे। इसका अर्थ है पुलिस राज्य)। १६४१ की ग्रीष्म तक पूरा यूरोप हिटलर का साम्राज्य बना। अब उसने अपने मित्र हेस (Rudolf Hess) को ब्रिटेन गुप्तरूप से सन्धि के लिए भेजा। ब्रिटेन के शासकों ने जर्मनी की शर्तें स्वीकार न की। हेस बन्दी बना लिया गया। हिटलर की इस असफलता का एक कारण यह था कि मई १६४० में चेम्बरलेन ने, जो म्यूनिक-वादी एवं समझौतावादी नीति का प्रतिबिम्ब था, पद त्यागा। चर्चिल (Churchill) के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सरकार बनी जिसमें लेबर पार्टी और उदार दल के नेता भी सम्मिलित थे। यह सरकार हिटलरशाही से सहानुभूति नहीं रखती थी। तभी ब्रिटिश साम्राज्य टिक सकता था। २२ जून १६४१ में हिटलर ने सोवियत रूस पर आक्रमण किया। ब्रिटेन और फिर अमेरिका ने रूस को सहायता देने का आश्वा-सन दिया। हिटलर, ब्रिटेन और अमेरिका को रूस के विरुद्ध और अपने पक्ष में न कर सका। उसकी हेस-योजना असफल हुई। १६४१ की शरद् ऋतु तक उसकी सेनायें मास्को और लेनिनग्रेड तक पहुँचीं। शरद ऋतु के कारण उन्हें पीछे हटना पड़ा। १६४२ की ग्रीष्म में उसकी सेनाओं ने स्टालिनग्राड पर धावा बोला। यह धावा उसकी शक्ति की चरमसीमा थी। हिटलर की सेनायें मध्ययुगीन नादिरशाही की याद दिलाती हैं। जहाँ-जहाँ उन्होंने प्रवेश किया, उन्होंने जातीय सिद्धान्त के नाते नागरिकों, स्त्रियों और बच्चों पर अमानुषिक कार्य किये। लूटना, मारना और क्षति पहुँचाना उनके [illegible]न का लक्ष्य बना।

१६४२ की शरद ऋतु के पश्चात् रूसी लाल सेना ने हिटलर की सेनाओं को पीछे हटाना प्रारम्भ किया। इस निरन्तर संघर्ष के फलस्वरूप हिटलर के काफिलों का अन्त किया गया। बाद में ब्रिटेन और अमेरिका ने भी पश्चिमी यूरोप पर धावा किया। १६४५ में हिटलर और हिटलरशाही इतिहास के विषय बने। यह सब केवल रूस की समाजवादी व्यवस्था द्वारा ही सम्भव हो सका। सोवियत सर्वाधिकारी शासन में जन-प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ था। वहाँ समानता (व्यक्तिगत, जातीय तथा राष्ट्रीय) है। जनता ने अपने देश के लिए ऐसा त्याग किया जो कभी तक इतिहास-वर्णन से परे था। क्योंकि वे देश को अपना समझते थे, पूँजीपतियों तथा सामन्तों का नहीं। वस्तुतः समाजवादी सर्वाधिकार ही फासीवादी सर्वाधिकार का मुकाबला कर सकता था।

नात्सीवादी एवं फासीवादी विचारधारायें किसी देश विशेष से सम्बन्धित नहीं हैं। ये कुछ विशेष परिस्थितियों की देन हैं। ये परिस्थितियाँ व्यावसायिक समाज से सम्बद्ध हैं। ये दर्शन इस व्यावसायिक समाज के उत्कृष्ट वर्गों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के अनुकूल हैं एवं उसके प्रतिफल हैं। जब इन उत्कृष्ट वर्गों (पूँजीपति तथा मध्यम वर्ग) को सामन्तों के एकाधिकार का विरोध करना पड़ा तो इन्होंने लॉक की जनस्वीकृति, मान्टेस्क्यू का शक्ति-विभाजन, अर्थशास्त्रियों की "यदृभाव्यम् नीति", बेन्थम का उपयोगितावाद और मिल की स्वतंत्रता आदि का प्रचार किया और अपनाया। अब २०वीं सदी में इन वर्गों को शोषितों की बढ़ती हुई शक्ति का विरोध करना पड़ा, तो इन्होंने आदर्शवाद, अद्वैतवाद, सामाजिक डार्विनवाद, अविवेकवाद और फासीवाद आदि को अपनाया। अतः मिल की स्वतंत्रता प्रेमियों की सन्तान हिटलरशाही की पूजक बनी। उदासीन जर्मन जनता ने हिटलर को कल्पवृक्ष समझा, अनुगामियों ने उसे अवतार घोषित किया। प्रतिक्रियावादियों ने उसे सभ्यता (पूँजीवादी) और समाजवाद के मध्य "दीर्घकाय" माना, किन्तु वह सबके लिए भस्मासुर बना।

सारांश

वैसे तो आलोचक इस दर्शन को दर्शनरहित मानते हैं। परन्तु इसके मूलाधार पूर्व वेत्ताओं की कृतियों में मिलते हैं। मुसोलिनी ने (१६२२ के पश्चात्) अपने शासन की दार्शनिक पुष्टि की। यही पुष्टि फासीवादी दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। जर्मनी में सत्ता प्राप्ति के पूर्व से ही हिटलर ने फासीवादी विचारधारा का प्रचार किया। यह दर्शन शत-प्रतिशत अधिनायकवादी एवं सर्वाधिकारवादी है।

इटली के फासीवाद और जर्मनी के नात्सीवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। वे दोनों एक ही मार्ग के पथिक हैं। मुसोलिनी ने राज्य को राष्ट्र से उच्च स्थान दिया था, जब कि नात्सीवाद राष्ट्र को राज्य से उच्च स्थान देता था। इटली में वर्ग-संघर्ष प्रतिनिधित्व एवं संघात्मक व्यवस्था को केवल दार्शनिक रूप से स्वीकार किया गया था। किन्तु नात्सीवाद में इनको दार्शनिक स्वीकृति भी न मिली। जर्मनी में रक्त पवित्रता को इटली से अधिक मान्यता दी गई थी। विज्ञान, दर्शन, कला आदि पर भी जातीयता की छाप थी।

अर्थक्रिया-कारित्ववाद इस दर्शन का प्राण है। जेम्स के इस वाद को लॉस्की ने मानवता तथा जनवाद की पुष्टि के लिए प्रयोग किया था, मुसोलिनी और हिटलर ने इसका प्रयोग अपनी सत्ता को स्थाई बनाने के लिए किया। सत्य, नैतिकता, नियम आदि की परख राष्ट्रोन्नति की दृष्टि से ही हो सकती है। राष्ट्रोन्नति का वास्तविक अर्थ था फासीवाद और उसके नेता की सत्ता की पुष्टि। सत्य एवं नैतिकता की परख फासीवाद की उन्नति की दृष्टि से की जाती थी।

सामाजिक डार्विनवाद से भी यह दर्शन प्रेरित हुआ था। मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की भाँति जातियों के जीवन में भी निरंतर संघर्ष होता रहता है। उत्कृष्ट जाति का यह प्रकृतिदत्त अधिकार है कि वह निकृष्ट पर अपना आधिपत्य स्थापित करे। परम्परावाद की आड़ में इटली जाति को उत्कृष्ठ बताया गया। जाति सिद्धान्त द्वारा जर्मन जाति को सर्वोच्च घोषित किया गया।

स्वभावतः विश्व-बन्धुत्व एवं शान्ति सारहीन है। मुसोलिनी ने मनुष्य की तुलना भेड़िये से की थी। उसके एवं हिटलर के मतानुसार मानव-प्रगति युद्ध द्वारा ही सम्भव है। मानव इतिहास एक युद्ध की कहानी है। उसमें शान्ति क्षणिक एवं अस्थायी स्थिति है। अतः इटली और जर्मनी की जनता में सदा युद्ध, साम्राज्य-विकास एवं विश्व-विजय की भावना प्रेरित की जाती थी।

फासीवाद का एक मूलाधार अविवेकवाद भी था। बर्गशों तथा सोरेल की भाँति मुसोलिनी और हिटलर व्यक्ति को भावुक प्राणी मानते थे। उनका कहना था कि जन-समूह स्त्री की भाँति बलवान एवं नाटकीय की तरफ आकर्षित होता है। फलतः फासिस्ट राज्यों में प्रचार को कलात्मक रूप दिया जाता था। राष्ट्र-भक्ति राज्य-भक्ति एवं नेतृ-भक्ति को प्रचार द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था।

जर्मनी में मानव–उन्नति-विषयक-शास्त्र के आधार पर रक्त पवित्रता को उच्च स्थान दिया जाता था। यहूदियों का अमानुषिक दमन किया गया। इटली ने भी इसी नीति को अपनाया। जर्मनी में आर्य तथा नार्डिक जाति को सर्वश्रेष्ठ बताया जाता था।

फासीवाद ने उग्र आदर्शवाद की कुछ देनों को ग्रहण किया। भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता (गौरव, मान, चरित्र आदि) को मानव जीवन का लक्ष्य बताया गया। आदर्शवाद की भाँति राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन घोषित किया

गया। यह भी कहा जाता था कि वास्तविक स्वतंत्रता एवं मानव प्रगति राजाज्ञा पालन से ही सम्भव है।

फासीवाद उदारवादी परम्परा के प्रतिकूल था। राज्य-हित द्वारा ही व्यक्ति-हित सम्भव है। सर्वाधिकारी राज्य की संरक्षता में ही मनुष्य एवं जाति उक्त साम्राज्यवादी अधिकारों की पूर्ति कर सकते हैं। अतः जीवन का कोई भी पहलू राज्य क्षेत्र से परे नहीं है। राज्य ही सर्वेसर्वा है, व्यक्ति नहीं। मुसोलिनी का कहना था कि उदारवाद १९वीं और फासीवाद २०वीं सदी का दर्शन है।

जनवाद-विरोधी होने के नाते फासीवादी व्यवस्था में वैयक्तिक स्वतंत्रता का पूर्ण अभाव था। दलबन्दी प्रथा की अनुपस्थिति में धारा-सभा एवं निर्वाचन अस्तित्वहीन बने। विकेन्द्रीकरण तथा शक्ति-विभाजन का भी पूर्ण अभाव था। केन्द्रीय कार्यपालिका, जो अधिनायक की परामर्श-समिति थी, का राज्य में बोलबाला था। जनसत्ता के स्थान पर नेतृ सत्ता ही फासीवाद की प्रमुख विशेषता थी।

फासीवाद और समाजवाद विरोधात्मक हैं। वैसे तो रूसी समाजवाद एवं फासीवाद सर्वाधिकारवादी एवं अधिनायकवादी है; परन्तु दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। शोषण तथा साम्राज्यवाद हीनता एवं शान्ति तथा विश्व-बन्धुत्व सोवियत शासन की प्रमुख विशेषताएँ हैं। फासीवाद ठीक इसके विपरीत है। यह मरणासन्न पूँजीवाद का दर्शन था, जहाँ साम्यवाद श्रमिक दल का।

फासीवादी दर्शन मरणासन्न पूँजीवाद एवं मध्यम वर्ग के लिए मृगमरीचिका सिद्ध हुआ। फासीवादी दर्शन की सारी रूढ़ि विशेषताएँ पुराने साम्राज्यवाद में उपलब्ध हैं। अन्तर केवल यही है कि जहाँ पुराने साम्राज्यवादियों ने अपने एकाधिकार को अमृत रूपी इन्द्रजाल द्वारा न्याययुक्त बताया, वहाँ फासीवादियों को विष रूपी नग्न पुलिस राज्य की स्थापना करनी पड़ी।

चतुर्दश अध्याय

जनवाद

(DEMOCRACY)

जनवाद और स्वतंत्रता सदा ही विवादास्पद विषय रहे हैं। भिन्न-भिन्न युगों में विभिन्न व्यक्तियों ने इनकी अलग-अलग परिभाषाएं की हैं। आधुनिक युग में विरोधी राजनीतिक दल एक दूसरे पर जनवाद तथा स्वतंत्रता के हनन का आरोप लगाते हैं। रूढ़िवादी एवं वामपक्षी दल सतत ही एक दूसरे को इनके विरोधी एवं स्वयं को कट्टर अनुयायी बताते हैं। अतः ऐसे वातावरण में एक प्रामाणिक एवं सर्वमान्य दृष्टिकोण उपस्थित करना दुस्साहस ही नहीं अपितु असम्भव भी है।

जनवाद एवं स्वतंत्रता ने सदा ही मानव को प्रेरित किया है। यों तो मानव इतिहास में धर्म के नाम भी असंख्य बाल, वृद्ध, नवयुवकों ने हँसते-हँसते प्राण न्योछावर किये हैं। किन्तु सम्भवतः स्वतंत्रता तथा जनवाद की पवित्र बलिवेदी पर बलिदान होने वालों की संख्या उनसे अधिक ही होगी। उदाहरणतः ब्रिटेन का गृह-युद्ध (१६४२ से ४६) स्वतंत्रता के हेतु छिड़ा था। (संसदीय नेताओं ने निजी सम्पत्ति की सुरक्षा हेतु एवं स्टुअर्ट नरेशों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध आवाज उठाई) फ्रांस की ऐतिहासिक राज्य-क्रान्ति (१७८९) का नारा स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व था। इसी से प्रेरित हो फ्रांस की सेनाओं ने नेपोलियन के नेतृत्व में कई युद्ध लड़े। अमेरिका का स्वातंत्र्य-युद्ध भी जनवादी भावनाओं से प्रेरित हुआ था। १९वीं सदी और उसके पूर्व जितने भी औपनिवेशिक युद्ध हुए उनकी पृष्ठभूमि में भी स्वतंत्रता की भावना थी। (भारतवर्ष में आंग्ल सेनाओं का विरोध स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए किया

गया था। अफ्रिका इत्यादि देशों में यूरोप के सेनानी "जनवाद के प्रसार" के हेतु पिछड़ी हुई जातियों का दमन करते थे। कहा ही जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपने कर्मचारियों को भिन्न-भिन्न देशों में "सभ्यता" एवं जनवाद के प्रसार के लिए भेजते थे। प्रथम महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों (ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका) ने खुलेआम घोषित किया था कि उनका युद्ध-लक्ष्य दुनिया को जनवाद के लिए सुरक्षित बनाना है। द्वितीय महायुद्ध में भी मित्र-राष्ट्रों (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और चीन) ने जनवाद की सुरक्षा को अपना युद्ध-लक्ष्य बताया था। भारतवर्ष भी किसी से पीछे न रहा। उसने जनवाद तथा स्वतंत्रता के हेतु युद्ध लड़ा। चीन, हिन्द एशिया, मलाया, बर्मा, श्याम, हिन्दचीन, ईरान और मिश्र आदि देशों में भी जनवाद के लिए संघर्ष हुए एवं हो रहे हैं। जैसे पहले भी कहा गया है कि आधुनिक युग में जनवाद का प्रामाणिक दृष्टिकोण बताना कठिन है। प्रथम महायुद्ध में लायड जार्ज (Lloyd George), चर्चिल (Churchill) तथा विल्सन (Wilson) का जनवादी दृष्टिकोण तिलक, गोखले एवं गान्धी के जनवादी दृष्टिकोण से भिन्न था। द्वितीय महायुद्ध में भी चर्चिल एवं उसके रूढ़िवादी मित्रों का जनवादी दृष्टिकोण गान्धी, नेहरू आदि से भिन्न था। आज भारतवर्ष में भी नेहरू (कांग्रेस), जयप्रकाश नारायण (समाजवाद) एवं अजय घोष (साम्यवाद) के जनवादी दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न हैं। ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

जहाँ तक जनवाद के परिभाषा का प्रश्न है अब्राहम लिन्कन (Abraham Lincoln) की परिभाषा—प्रजातंत्र जनता का, जनता के लिए एवं जनता द्वारा शासन है—प्रामाणिक मानी जाती है। जनवाद में जनता ही सत्ताधारी होती है, उसकी अनुमति से ही शासन होता है, उसकी प्रगति ही शासन का एकमात्र लक्ष्य माना जाता है। किन्तु जनवादी व्यवस्था के विषय में लोगों का आपसी मतभेद है।

प्राचीन भारतवर्ष की शासन व्यवस्था को जनवादी कहा जाता है। उस युग में आर्य जाति छोटे-छोटे समूहों में रहती थी। इन समूहों का साम्यवादी तथा जनवादी ढाँचा था। समाजशास्त्रियों का कहना है कि अति प्राचीन मनुष्य सभी देशों में इसी प्रकार रहते थे। कुछ आधुनिक विद्वानों (मुख्यतः स्व० जायसवाल एवं उनके अनुयायियों) का कहना है कि बौद्धकाल में कुछ गणतंत्र थे। इनमें से कुछ ऐसे शक्तिशाली थे जिनकी सत्ता गुप्तकाल तक चली आयी थी। इसके विपरीत स्व० डा०

वेनी प्रसाद ऐसे विद्वानों का कहना है कि वे गणतंत्र वास्तव में कुलीनतंत्र थे। निष्पक्ष दृष्टिकोण से दूसरी विचारधारा अधिक उपयुक्त विदित होती है। क्योंकि वर्ण-व्यवस्था में कुलीनतंत्र ही अधिक सम्भव है।

प्राचीन ग्रीक नगर राज्यों का संगठन भी जनवादी बताया जाता है। किन्तु यह भी मान्य नहीं है क्योंकि दास राज्य ग्रीक प्रथा की एक मुख्य विशेपता थी और दासता में सच्चा जनवाद वैसे ही असंभव है जैसे वर्ण-व्यवस्था में। वस्तुतः ग्रीक जनवाद तथा साम्यवाद दासों के स्वामियों का था, बहुसंख्यक दासों का नहीं। यही दशा रोमन जनवाद की भी थी।

जनवाद दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष जनवाद में जनता स्वयं ही धारा-सभा का कार्य करती है, वह स्वयं नियम-निर्माण करती है। यही सच्चा तथा आदर्श जनवाद है। परन्तु यह छोटे-छोटे राज्यों में ही सम्भव है। रूसो ने ऐसे जनवाद को ही आदर्श व्यवस्था बताया था। उसने राज्य की प्रादेशिक सीमा तथा जनसंख्या का सीमित होना आदर्श जनवाद के लिए नितान्त आवश्यक बताया। प्राचीन ग्रीक नगर राज्यों में दासों के स्वामी समाज का संचालन ऐसी प्रत्यक्ष प्रणाली के अनुसार करते थे। भारतवर्ष के प्राचीन कुलीनतंत्रों का संगठन भी प्रत्यक्ष जनवादी प्रणाली के सदृश था। ऐसी आदर्श व्यवस्था विशाल राज्यों में सम्भव नहीं। इसीलिए परोक्ष जनवादी प्रणाली को अपनाया जाता है। इस प्रणाली द्वारा देश के शासन की वागडोर जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में होती है। लार्ड (A. R. Lord) ने ठीक ही कहा है कि परोक्ष जनवाद का आधार है—जन शासन की अनुपस्थिति में भी जनसत्ता सम्भव हो सकती है।

परन्तु आधुनिक वड़े-वड़े राज्यों में भी इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि मुख्य विपयों सम्बन्धी नियम-निर्माण जनता की प्रत्यक्ष अनुमति द्वारा हो। अर्थात् संवैधानिक जैसे महत्त्वपूर्ण विपयों में प्रत्यक्ष जनवादी प्रणाली को ही आदर्श माना जाय। प्रायः सभी जनवादी देशों में संवैधानिक परिवर्तन जनता की प्रत्यक्ष अनुमति से होता है। भारत के नये संविधान में भी इस प्रत्यक्ष जनवादी प्रणाली को अपनाया गया है। आधुनिक परोक्ष जनतंत्रों में जनमत-संग्रह (Referendum) उपक्रम (Initiative) पुनरावर्तन (Recall) और प्लेबीसाइट (Plebiscite) ऐसी प्रत्यक्ष जनवादी प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है। यहाँ तक कि अलिखित तथा परिवर्तनशील ब्रिटिश संविधान में

भी परोक्ष रूप से ऐसे यंत्रों का प्रयोग होता है। वहाँ संसद सत्ताधारी संस्था है। परन्तु मुख्य संवैधानिक परिवर्तनों में (जैसे १९११ का कानून) जनता की अनुमति ली जाती है। कभी-कभी ब्रिटेन की सत्ताधारी संसद को जन आन्दोलन के अनुसार नियम-निर्माण करना पड़ता है। अतः परोक्ष जनवादों का लक्ष्य जनता की अनुमति द्वारा शासन है।

परोक्ष जनवादी प्रथा का जन्म कैसे हुआ? यह एक दिन या एक वर्ष की देन नहीं है। इसका मूल सामन्तशाही युग में मिलता है। सामन्तशाही युग में राजा के कुछ मंत्री हुआ करते थे। समय-समय पर राजा मुख्य सामन्तों की अनुमति प्राप्त करने के लिए बड़ी बैठकें बुलाया करता था। मध्यकालीन भारतवर्ष में दीवाने-आम और दीवाने-खास ऐसी संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं का संगठन तथा संचालन राजा की स्वेच्छा पर आश्रित था। ब्रिटेन तथा यूरोप में भी मध्यकालीन युग में राजाओं की ऐसी संस्थाएँ होती थीं।

यूरोप में राजा तथा सामन्तों, पादड़ियों और व्यापारियों के मध्य निरन्तर संघर्ष होता था। राजा केन्द्रीकरण का प्रतीक था और सामन्त इत्यादि स्थानवाद के। इस संघर्ष में कभी एक और कभी दूसरे पक्ष का पलरा भारी होता था। जब राजा (केन्द्रीय सरकार) कमजोर होता था तो सामन्त आदि अपने अधिकारों की सीमा-वृद्धि किया करते थे। इस सिलसिले में १३वीं शताब्दी में ब्रिटिश सामन्तों आदि ने बादशाह जॉन (King John) से सुप्रसिद्ध मैगनाकार्टा (Magna Charta १२१५) स्वीकार करवाया। उसी सदी में इन्हीं शक्तियाँ तथा इसी निरन्तर संघर्ष के फलस्वरूप संसद का जन्म हुआ। धीरे-धीरे संसद के दो भवन हुये और समयानुकूल उसके निर्माण का ढाँचा भी बदला। ब्रिटेन में १६वीं और १७वीं सदियों में संसद में व्यापारियों की प्रधानता थी। क्योंकि इसके पूर्व सामन्तों और १६वीं सदी में चर्च की शक्तियों का ह्रास हो चुका था।

१७वीं सदी के ब्रिटेन में गृह-युद्ध (१६४२-४९) और रक्तहीन क्रान्ति (१६८८) हुए। इनके फलस्वरूप राजा एवं कार्यपालिका की निरपेक्षता तथा स्वेच्छाचारिता का अन्त हुआ। अब यह निश्चित रूपसे स्वीकार कर लिया गया कि कार्यपालिका बिना जनस्वीकृति के शासन नहीं कर सकती। यही नहीं, यह भी स्वीकार कर लिया गया कि संसद भी जनस्वीकृति द्वारा ही नियम-निर्माण कर सकती है। यह जन-

स्वीकृति का सिद्धान्त आधुनिक जनवाद का प्राण है। इस प्रथा का दार्शनिक जन्मदाता जान लॉक था। आज भी सभी जनतंत्रीय देशों का ध्येय जनस्वीकृति द्वारा शासन है। लॉस्की ने ठीक ही कहा था कि लॉक की समस्या आज हमारी समस्या है।

१८वीं सदी में फ्रांस में क्रान्ति का वातावरण पैदा हुआ। ऐतिहासिक क्रान्ति (१७८९) के पूर्व से ही बुद्धिजीवी सामन्तशाही, निरपेक्षता तथा स्वेच्छाचारिता का विरोध कर रहे थे। ब्रिटेन की राजनीतिक व्यवस्था को आदर्श माना जाता था। मान्टेस्क्यू (Montesquieu) ने ब्रिटिश संविधान का अध्ययन किया और कहा कि शक्ति-विभाजन की अनुपस्थिति में नागरिक स्वतंत्रता सम्भव नहीं है। अर्थात् नागरिक स्वतंत्रता के लिए शक्ति-विभाजन नितान्त आवश्यक है। यह सिद्धान्त आधुनिक जनवाद का दूसरा स्तम्भ है। इसी से प्रेरित होकर अमेरिका के संविधान निर्माताओं ने शक्ति-विभाजन को संविधान की एक मुख्य विशेषता बनाई। आज यह सिद्धान्त भले ही असम्भव प्रतीत होता हो परन्तु यह सभी जनवादी स्वीकार करते हैं कि सच्चे जनतंत्र के लिए निर्णायक मण्डल की स्वतंत्रता आवश्यक है।

फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात् यूरोप की जनता में राजनीतिक जागृति का विस्तार हुआ। तब तक जनवाद का अर्थ वास्तव में यह था कि अर्थ स्वामियों द्वारा राज्य का संचालन होना चाहिये। इस क्रान्ति के फलस्वरूप सभी देशों की जनता ने वयस्क मताधिकार की मांग की। उनके दार्शनिकों ने कहा कि सच्चा जनवाद वही है जिसका संचालन वयस्क मताधिकारियों के प्रतिनिधियों द्वारा हो। १९वीं और २०वीं सदियों में विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में धीरे-धीरे मताधिकारियों की संख्या बढ़ी। इस सम्बन्ध में अनेकों छोटे-बड़े संघर्ष हुए। यही अधिकार प्राप्ति भारतीय स्वातंत्र्य आन्दोलन का एक लक्ष्य था। वयस्क मताधिकार जनतंत्र का तीसरा स्तम्भ है।

१९वीं सदी में परम्परागत अद्वैतवादी-आदर्शवादी व्यवस्था चली आरही थी। राजनीतिक शक्ति का केन्द्रीकरण था। समाजवादी तथा वामपक्षी दार्शनिकों में कुछ ऐसे थे जिन्होंने केन्द्रीकरण का विरोध किया। इस सम्बन्ध में अराजकतावादी, संघवादी, श्रेणी-समाजवादी तथा बहुलवादी वेत्ता प्रसिद्ध हैं। इन सब का मतैक्य है कि सच्चे जनवाद की स्थापना के लिए विकेन्द्रीकरण नितान्त आवश्यक है। इस आन्दोलन के फलस्वरूप आज सभी जनवाद प्रेमी विकेन्द्रीकरण तथा संघ-अस्तित्व को जनवाद का आधार मानते हैं।

समाजवादी दलों ने श्रमिकोद्धार के लिए निरन्तर आन्दोलन किया। इन्हें अनुभव द्वारा विदित हुआ कि एक नागरिक अपने मताधिकार का स्वतंत्र सदुपयोग तब तक नहीं कर सकता जब तक उसे आर्थिक एवं सामाजिक निश्चिन्तता प्राप्त न हो। अन्य जनवादी संस्थायें इनकी अनुपस्थिति में सफलीभूत नहीं हो सकतीं। अतः आधुनिक वामपक्षी जनवादी राजनीतिक जनवाद की सफलता के लिए सामाजिक एवं व्यावसायिक जनवाद को नितान्त आवश्यक बताते हैं।

आधार

जनवादी शासन को उत्तरदायी तथा प्रतिनिधि शासन भी कहते हैं। उत्तरदायी शासन का अर्थ है कि राज्य की कार्यपालिका प्रतिनिधि धारा-सभा के प्रति एवं धारा-सभा नागरिकों के प्रति उत्तरदायी हो। इस प्रकार राज्य का शासक मण्डल परोक्ष रूप से शासितों के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रतिनिधि शासन का अर्थ है कि जनता की सत्ता का वास्तवीकरण जनता के प्रतिनिधियों द्वारा हो। अर्थात धारा-सभा या संसद का ही शासन में विशेषाधिकार हो।

इस विचारधारा की पृष्ठभूमि में यह धारणा है कि राष्ट्र तथा राज्य का एक "सामान्य हित" (common good) होता है। १८वीं तथा १९वीं सदी के व्यक्तिवादी दार्शनिक व्यक्ति को विवेकशील प्राणी मानते थे। उनकी धारणा थी कि प्रत्येक व्यक्ति इस "सामान्य हित" को जानता है। व्यक्तिवादी अर्थ-शास्त्र वेत्ता तथा उपयोगितावादी व्यक्ति को स्वार्थी मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित और अहित स्वयं ही जान सकता है एवं उसके कार्य सुख-दुख के सूत्र से निर्धारित होते हैं। इस विचारधारा की पुष्टि के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिवादी मिल ने कहा कि व्यक्ति-हित और सामाजिक-हित विरोधात्मक नहीं हैं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसे विश्लेषण द्वारा यह मान लिया गया कि प्रत्येक व्यक्ति "सामान्य हित" को जानता है; और वह उसी के अनुसार जीवन यापन करता है। राज्य का ध्येय इस "सामान्य हित" का प्रतिनिधित्व एवं सुरक्षा करना है।

अब एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है। इस "सामान्य हित" को राज्य द्वारा कैसे कार्यान्वित किया जाय? क्या सभी नागरिक राज्य का संचालन करें? क्योंकि

सभी वयस्क इस "सामान्य हित" के ज्ञाता हैं। १९वीं सदी के व्यक्तिवादी तथा उदारवादी वेत्ताओं ने इस समस्या को दार्शनिक दृष्टि से ऐसे हल किया था। समाज में कार्य विभाजन होता है। अर्थ में भी कार्य विभाजन व्यापक है। सभ्यता की प्रगति से यह कार्य विभाजन बढ़ता ही जाता है। जो पुरुष जिस कार्य के योग्य है वह स्वतः उस कार्य को करता है। यह कार्य-विभाजन सभी व्यक्तिवादियों के विचारों की पृष्ठभूमि में था। उन्होंने इस सिद्धान्त को राजनीतिक क्षेत्र पर लागू किया। उनका कथन था कि प्रत्येक व्यक्ति "सामान्य हित" को जान सकता है, इसलिए कुशलता तथा सरलता के हेतु यह आवश्यक है कि थोड़े से योग्य व्यक्ति इस "सामान्य हित" को कार्यान्वित करने के लिए नियुक्त किये जाएँ। जैसे एक अध्यापक शिक्षा का कार्य करता है, और एक डाक्टर समाज के स्वास्थ्य की सुरक्षा अपना जीवन लक्ष्य बनाता है, वैसे ही देश के कुछ योग्य व्यक्ति "सामान्य हित" को कार्यान्वित करने में तत्पर रह सकते हैं।

१९वीं सदी के उदारवादी वेत्ताओं ने परम्परागत प्रतिनिधि व्यवस्था को दार्शनिक पुट दिया। प्रतिनिधि व्यवस्था सामन्तशाही युग से चली आ रही थी। पहले नरेश कुछ सामन्तों को उनके प्रतिनिधित्व के लिए अपनी सभा में नियुक्त करता था। जब सामन्तों, पादड़ियों तथा व्यापारियों के संयुक्त मोर्चे द्वारा १३वीं, १४वीं और १५वीं सदियों में संसद का जन्म हुआ तब सामन्त आदि संसदीय सदस्यों को स्वयं निर्वाचित करने लगे। ये सदस्य इनके हितों के प्रतिनिधि बने। १८वीं सदी तक मताधिकार सीमित हुआ करता था। जब अन्य देशों में जनता के राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष हुआ तो धीरे-धीरे संवैधानिक नियमों द्वारा मताधिकारियों की संख्या बढ़ने लगी। अब उक्त "सामान्य हित" तथा श्रम-विभाजन के सिद्धान्तों का विश्लेषण आवश्यक हुआ। जन साधारण को संतोष दिलाया गया, या एक आलोचक की दृष्टि से बहकाया गया। उनसे कहा गया कि देश के "सामान्य हित" को सभी लोग जानते हैं, इसलिए उचित होगा कि वे मतदान द्वारा थोड़े से योग्य व्यक्तियों को अपना प्रतिनिधि बनावें। ये योग्य व्यक्ति जन साधारण तथा देश के "सामान्य हित" को कार्यान्वित कर सकते हैं।

इस प्रकार प्रतिनिधि प्रथा को न्याय-संगत बताया गया और कार्यपालिका प्रथा को भी। संसद के सदस्यों की संख्या काफी होती है। इतनी बड़ी संख्या राज्य क

संचालन सुचारु रूप से नहीं कर सकती। अतः कुशलता के हेतु कार्यपालिका ऐसी छोटी संख्या नितान्त आवश्यक है। कार्यपालिका प्रतिनिधि संसद की एक प्रतिनिधि समिति है। इस समिति के सदस्य भी स्वतः स्पष्ट "सामान्य इच्छा" का ज्ञान रखते हैं। इस प्रकार प्रतिनिधि सरकार को न्याययुक्त बनाया गया।

सुप्रसिद्ध जॉन स्टुअर्ट मिल के जनतंत्र सम्बन्धी विचारों की पृष्ठभूमि में भी यही सिद्धान्त था। उसने अपनी पुस्तक "प्रतिनिधि सरकार" (Representative Government) में इस विचारधारा को व्यक्त किया है। व्यक्तिवाद के अध्याय में बताया गया है कि मिल तत्कालीन मध्यम वर्ग का सच्चा प्रतिनिधि था। उसकी स्वतंत्रता मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों के हृदयानुकूल थी। बढ़ती हुई जनशक्ति के अनुशासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मिल की आदर्श वैयक्तिक स्वतंत्रता तत्कालीन बुद्धिजीवियों के लिए यथेष्ट सहायक सिद्ध हुई। मिल ने मताधिकारियों की संख्या में वृद्धि होते देखी (१८३२ का सुधार कानून बन गया था और १८६७ का बनने वाला था)। उसकी अपूर्व बुद्धि ने उस परिस्थिति का अनुमान किया जब मताधिकार वृद्धि के फलस्वरूप मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवियों का संसद में महत्त्वपूर्ण स्थान न हो सकेगा। उसने आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation System) द्वारा अल्प संख्यक मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवियो के प्रतिनिधित्व की सुरक्षा करनी चाही। यह सच है कि मिल की स्वतंत्रता मानवतावादियों के लिए एक बहुमूल्य वस्तु है और उसकी आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली जनवादियों के लिए लाभप्रद है, परन्तु यह भी सत्य है कि इन दोनों विचारधाराओं की पृष्ठभूमि में मिल के मध्यमवर्गी अनुयायियों की समस्या थी।

मिल ने यह भी कहा था कि देश के शासन की बागडोर केवल बुद्धिमान, विद्वान एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ही हाथ में होनी चाहिये। इसलिए मतों की संख्या मतदाताओं की विद्वत्तानुसार होनी चाहिये। (उदाहरणार्थ एक शिक्षित व्यक्ति को एक निर्वाचन में चार, उससे कम शिक्षित को तीन, तथा उससे कम को क्रमशः दो और एक मत प्रदान करने का अधिकार होना चाहिये)। बेन्थम ने कहा था कि मतदान का अधिकार केवल उसी व्यक्ति को मिलना चाहिये जो पढ़ सके। मिल ने कहा कि मतदान का अधिकारी वही हो सकता है जो पढ़ सके तथा लिख और गिन भी सके।

अतः मिल का जनवाद मध्यम वर्गीय जनवाद था। उसके अनुसार राज्य का

शासन तथा मतदाताओं के हितों की रक्षा केवल उच्च विचार एवं उत्तम चरित्र वाले व्यक्तियों द्वारा ही हो सकती थी। वास्तव में यह महान् व्यक्ति मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवी था। मिल का ऐसा अटूट विश्वास था कि "सामान्य हित" स्वतः स्पष्ट है और इसका सबसे अच्छा ज्ञान शिक्षित, योग्य एवं चरित्रवान मध्यम वर्गीय सदस्य को ही हो सकता है। मिल भी अपने युग के शासकों की भाँति जनसाधारण को अयोग्य समझता था।

१९वीं सदी तक शासक वर्ग, चाहे यूरोप का हो चाहे अमेरिका का, जनसाधारण को राजनीतिक दृष्टिकोण से योग्य नहीं समझता था। जन आन्दोलन के फलस्वरूप जनता को धीरे-धीरे मतदान का अधिकार मिला, परन्तु इनके प्रति शासकों की भावना में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। शासक वर्ग सोचने लगा कि मूर्खों (जन साधारण) पर शासन मूर्खों की अनुमति द्वारा होना चाहिये। तीन या पाँच वर्षों में एक निर्वाचन द्वारा मूर्खों (जन साधारण) के मत की जानकारी पर्याप्त होगी। इस मत प्राप्ति के पश्चात् शासक वर्ग जिस प्रकार चाहे शासन करें। जनता का शासन में सक्रिय भाग न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही।

अमेरिका में संघीय राज्य की स्थापना हुई। शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया गया। कार्यपालिका, धारा सभा तथा निर्णायक मण्डल को एक दूसरे से स्वतंत्र बनाया गया। कार्यपालिका धारा-सभा की एक समिति न थी। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व था और है भी। जनसाधारण को मत का अधिकार प्राप्त था। परन्तु सर्व-साधारण के प्रति अमेरिका के शासक वर्ग की भी उच्च भावना न थी। प्रसिद्ध जेफरसन (Jefferson) की धारणा थी कि जनसाधारण मूर्ख है, परन्तु वह योग्य व्यक्तियों को निर्वाचित कर सकता है। संभवतः यह १९वीं सदी के अमेरिका के शासकों की विचारधारा का स्पष्टीकरण करता है।

जैसा ऊपर कहा गया है, प्रतिनिधि जनवाद का अर्थ है कि बिना जनशासन के भी जनसत्ता सम्भव हो सकती है। वास्तव में इसका अर्थ था कि निर्वाचन द्वारा जनता की स्वीकृति प्राप्त कर ली जाय और जनसत्ता की आड़ में प्रतिनिधि मनमाना शासन करें। ये प्रतिनिधि वास्तविक सत्ताधारी थे, जन स्वीकृति तथा जनसत्ता ढोंग मात्र थी। अभी तक यह परम्परा चली आ रही है।

परम्परागत जनवादी प्रथा पर कई दृष्टिकोणों से दार्शनिक आक्रमण किये गये हैं। कुछ आक्रमणों का ध्येय जनवाद को असम्भव बताना है। आधुनिक युग में कई वेत्ताओं

ने जनवाद को दार्शनिक दृष्टि से अनुचित व्यवस्था बताया है। वे जनवादी व्यवस्था को सिद्धान्ततः असम्भव एवं अप्राकृतिक मानते हैं। इनमें उन वेत्ताओं की प्रधानता है जिनकी मानव के प्रति तुच्छ भावना है। वे जनसाधारण को मूर्ख एवं अविवेकशील मानते हैं। उनके अनुसार भ्रातृभावना, सहयोग, प्रेम आदि मानव की विशेषताएँ नहीं हैं। ऐसी विचारधाराओं का उल्लेख फासीवाद एवं नात्सीवाद के अध्यायों में किया गया है। यह कहना अनुचित न होगा कि सामाजिक डार्विनवाद, अविवेकवाद एवं जातिवाद पूर्णतया जनतंत्र विरोधी हैं।

सामाजिक डार्विनवाद के अनुसार मनुष्यों और जातियों के जीवन में सफलता के लिए निरन्तर संघर्ष था। यह संघर्ष ही जीवन एवं इतिहास का लक्ष्य है। ऐसे वातावरण में जनवाद कल्पनामात्र है। अविवेकवादी वेत्ता मनुष्य के जीवन में प्रेरणा को प्रधान स्थान देते हैं। मनुष्य के कार्य विवेक से निर्धारित नहीं होते। जब व्यक्ति ऐसा अविवेकशील प्राणी है तो वह अच्छा मतदाता नहीं हो सकता। वह राष्ट्रीय समस्याओं पर कैसे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष विचार प्रगट कर सकता है? अतः जनवाद अस्वाभाविक है, वह व्यक्ति के स्वभाव पर आधारित नहीं है। जातिवादी सिद्धान्त के अनुसार कुछ जातियाँ उत्कृष्ट और कुछ निकृष्ट होती हैं। उत्कृष्टता का सम्बन्ध रक्त से है। व्यक्ति भी उत्कृष्ट और निकृष्ट होते हैं। मानव-उन्नति-विषयक-शास्त्र के अनुसार रक्त-पवित्रता का व्यक्तियों की विशेषता पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी विचार-धारा के वातावरण में जनवाद सैद्धान्तिक रूप से असम्भव है। जनवाद का आधारभूत विचार व्यक्तियों की समानता है। जाति-सिद्धान्त और मानव-उन्नति-विषयक-शास्त्र इस विचारधारा को खंडित करते हैं। १९वीं सदी के अन्तिम भाग का जर्मन दार्शनिक नीट्से (F. W. Nietzsche) इस जनवाद-विरोधी विचारधारा का प्रमुख वेत्ता था।

इन जनवाद-विरोधी एवं मानवता-विरोधी विचारों का समावेश फासीवादी दर्शन में मिलता है। फासीवाद के अनुसार जनवाद एक पाखंड है। व्यक्ति-समानता, विवेकशीलता एवं सहयोग जनवाद की विशेषताएँ हैं। फासीवाद के अनुसार मानव-जीवन में इन प्रवृत्तियों का स्वभावतः अभाव है। जो व्यक्ति या नेता जनता को उच्च स्थान देकर जनसत्ता का प्रचार करता है वह पाखंडी है। फासीवादियों का कहना था कि वास्तव में पश्चिमी जनवादों में जनसत्ता नहीं है वरन् पूँजीपतियों की सत्ता है। इस आधार पर वे जनवाद के कट्टर विरोधी थे।

यह सत्य है कि जनवाद अथवा प्रतिनिधि जनवाद में आज कई त्रुटियाँ विद्यमान हैं। परन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी इस प्रथा के अतिरिक्त दूसरी कोई उत्तम प्रथा आज तक प्रत्यक्ष नहीं है। आज विश्व के सम्मुख केवल दो ही प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ हैं—जनवाद तथा अधिनायकवाद। अधिनायकवाद का चित्रण पिछले दो अध्यायों में किया जा चुका है। उससे एक मानवता-प्रेमी को यह विदित हो जाता है कि अधिनायकवादी व्यवस्था नरकतुल्य है। जनवाद की अनुपस्थिति में अधिनायकवाद के अतिरिक्त कोई दूसरी व्यवस्था सम्भव नहीं है। स्मिथ (T. V. Smith) ने ठीक ही कहा था, यदि हम लोग आदर्श जनवाद रूपी स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकते तो कम से कम त्रुटिपूर्ण आधुनिक जनवाद में रह कर अधिनायकवादी नरक से तो बच तो सकते हैं।

आवश्यकताएँ एवं त्रुटियाँ

जनवाद एक आदर्श व्यवस्था है। इसका लक्ष्य सर्वसाधारण की स्वीकृति से शासन करना है। यह एक दुरूह व्यवस्था है। स्वभावतः इसकी प्राप्ति के लिए पर्याप्त साधनों की आवश्यकता होती है। इन साधनों की पूर्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् आदर्श जनवाद कैसे स्थापित हो सकता है। यह प्रश्न आधुनिक जनवाद-प्रेमियों के लिए अत्यन्त गहन है। कुछ परिस्थितियों के फलस्वरूप आज जनवाद त्रुटिपूर्ण विदित होता है। इसका एकमात्र कारण जनवाद के उपयुक्त साधनों का अभाव है। जनवाद की समस्या का ज्ञान इन साधनों तथा उनके अभाव के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा।

जनशिक्षा तथा जनमत :—जन शासन के लिए जनता का सुशिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। सुशिक्षा के वातावरण में ही उपयुक्त जनमत सम्भव हो सकता है। शिक्षा का अभिप्राय केवल पढ़ना-लिखना ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर मनन करना भी है। जब नागरिकों को ऐसी शिक्षा एवं ऐसी योग्यता प्राप्त होगी तभी वे उपयुक्त प्रतिनिधि निर्वाचित करेंगे। सुशिक्षा, सुदृढ़ जनमत की और सुदृढ़ जनमत, सुशासन की धात्री है।

राजनीतिक दृष्टिकोण से उसी व्यक्ति को शिक्षित कहा जा सकता है जो आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों को समझ सके और उन पर विचार विमर्श कर सके। ऐसा नागरिक ही विवेक द्वारा निजी जीवन-यापन एवं निर्वाचन में उपयुक्त मतदान कर

सकेगा। विवेकशीलता जनवाद के लिए प्राणतुल्य है। प्रेरणा प्रभावित जीवन जनवाद का शत्रु है। इसलिए फासीवादी, जो शत-प्रतिशत जनवाद विरोधी हैं, नागरिकों को प्रेरणा प्रभावित प्राणी घोषित कर उनकी भावनाओं को उत्तेजित करते हैं। अतः जनवाद की पुष्टि के लिए समाज के शिक्षा-यंत्रों को विवेकशीलता की वृद्धि अपना एकमात्र लक्ष्य बनाना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब ये यंत्र नागरिकों के सम्मुख निष्पक्ष एवं स्वतंत्र विचार प्रस्तुत करें।

आधुनिक युग में जन-शिक्षा सम्बन्धी कई यंत्र हैं। सड़कों पर समाचार पत्रों तथा चित्रपटों में विज्ञप्तियाँ भी परोक्षरूप से शिक्षा-यंत्र मानी जा सकती हैं। परन्तु मूल यंत्र समाचार-पत्र, साहित्य, रेडियो, सिनेमा, प्लेटफार्म, शिक्षाभवन तथा राजनीतिक दलों के साहित्य आदि हैं। क्या ये शिक्षा-यंत्र सुशिक्षा एवं सुदृढ़ जनमत का निर्माण करते हैं? देखने में आता है कि ये यंत्र इस कार्य में सफल नहीं हैं।

समाचार-पत्रों को ही लीजिये। एक समाचार-पत्र का स्वामी कौन होता है? क्या जनसाधारण में से कोई व्यक्ति एक समाचार-पत्र प्रकाशित कर सकता है? नहीं। प्रकाशन कार्य के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। आधुनिक समाज में इतनी पूँजी केवल कुछ इने-गिने व्यक्तियों के पास होती है। फलतः देश के समाचार-पत्र प्रायः धनियों की सम्पत्ति हैं। पाश्चात्य देशों में प्रायः सभी दैनिक तथा साप्ताहिक पत्र कुछ धनिकों के हाथों में होते हैं। ब्रिटेन में कुछ व्यक्ति प्रेस-लार्डस (Press Lords) नाम से सुप्रसिद्ध हैं। अमेरिका का सुप्रसिद्ध हर्स्ट गुट है। भारतवर्ष में भी ऐसी प्रगति दृष्टिगोचर है। इन गुटों की अपनी-अपनी नीति होती है। यह नीति इनके आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक ध्येयों के अनुकूल होती है। इन समाचार-पत्रों में गुटों के अनुकूल लेख, विज्ञप्तियाँ एवं समाचार आदि प्रकाशित होते हैं। यह तो सत्य है कि गुटों के स्वामी हर समय प्रकाशन में हस्तक्षेप नहीं करते। परन्तु यह स्वयं सिद्ध है कि समाचार-पत्रों से सम्बद्ध बुद्धिजीवि अपनी जीविका के लिए अन्नदाता का अलाप भरेंगे। कहा भी जाता है—जिसका खावे उसका गावे। ये समाचार-पत्र चतुरता से नागरिकों के विचारों को गुट स्वामियों के विचारों के अनुकूल बनाते हैं। फासिस्ट खुले आम घोषित करते थे कि प्रचार-यंत्र कलात्मक हैं, वैज्ञानिक नहीं। आधुनिक समाज में प्रचार-यंत्रों ने कलात्मक रूप धारण कर लिया है। अन्तर यही है कि फासिस्ट खुले आम घोषित करते थे, आधुनिक समाज के निर्माता घोषित नहीं

करते। बेचारे नागरिक को समाचार-पत्रों का यह रूप अज्ञात रहता है। वे अपने दैनिक समाचार-पत्र के विचारों को शत-प्रतिशत सत्य मानते हैं। कभी-कभी एक समाचार-पत्र एक परिवार में पीढ़ी दर-पीढ़ी अपना आसन जमा लेता है। ऐसे वातावरण में सुशिक्षा और सुदृढ़ जनमत कैसे सम्भव है ?

राजनीतिक दल :—अन्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी प्रचार-यंत्रों की दशा प्रशंसनीय नहीं है। रेडियो और सिनेमाके गानों तथा विषयों का ज्ञान तो सभी को है। उनके गाने प्रायः सभी को जबान से दोहराए जाते हैं। इन्हे सुन कर तो एक विदेशी यही समझ सकता है कि ये ही भारतवर्ष के लोक गीत हैं।

राजनीतिक दलों का जनशिक्षा तथा जनमत के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्वाचनों में मत प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दल जनता के समक्ष अपने विचार, दृष्टिकोण एवं योजनाओं को प्रस्तुत करते हैं। वे समय-समय पर भाषणों, प्रदर्शनियों एवं अन्य प्रचार-यंत्रों द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा देते हैं। वास्तव में जैसा कि अगली पंक्तियों में बताया जायगा ये दल कुशिक्षा देते हैं, सुशिक्षा नहीं।

आधुनिक युग में दलबंदी प्रथा जनवाद के लिए अनिवार्य है। यद्यपि यह प्रथा संवैधानिक नहीं तथापि प्रतिनिधि जनतंत्रों में यह व्याप्त है। किसी भी देश के संविधान ने इनकी व्याख्या नहीं की है। १९वीं सदी के मध्य में मिल ने "प्रतिनिधि सरकार" नामक पुस्तक (१८६१) लिखी थी। इस पुस्तक में उसने राजनीतिक दलों के विषय में एक शब्द भी न लिखा। यह इस बात का साक्षी है कि राजनीतिक दलों का उत्थान मध्य १९वीं सदी के पश्चात् ही हुआ। मतदाताओं की संख्या बढ़ी। राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि निर्वाचन सफलता के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न की अपेक्षा संयुक्त प्रयत्न अधिक हितकर होगा। समान विचारवाले राजनीतिज्ञों ने अपने अलग राष्ट्रीय संघ बनाए। संघों द्वारा उन्हें निर्वाचन लड़ने में पर्याप्त सहायता मिली। इस प्रथा ने स्थाई रूप धारण किया।

प्रतिनिधि जनवाद में राज्य की बागडोर प्रतिनिधिओं के हाथों में होती है। जनता धारा-सभा के सदस्यों को निर्वाचित करती है। धारा-सभा का बहुमत दल कार्यपालिका बनाता है। यह कार्यपालिका धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। इसका राष्ट्रीय शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। धारा-सभा के प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतएव कार्यपालिका जनता के प्रति परोक्ष रूप से

उत्तरदायी होती है। अमेरिका के संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है। वहाँ राष्ट्रपति जो कार्यपालिका का सर्वेसर्वा है जनता द्वारा परोक्ष रूप से निर्वाचित होता है।

ऐसी व्यवस्था में दलबन्दी प्रथा अत्यन्त आवश्यक एवं उपयुक्त है। दलों की उपस्थिति में जनता सरलता से मतदान कर सकती है। कहा जाता है कि ब्रिटेन में आम निर्वाचन प्रतिनिधियों तथा दलों का नहीं होता अपितु प्रधान मंत्री का। आज वहाँ चार्चिल (रूढ़िवादी दल का नेता) और एटली (श्रमिक दल का नेता) में से कोई एक प्रधान मंत्री बन सकता है। आम निर्वाचन में जो मतदाता चार्चिल के हाथों में राष्ट्र की बागडोर रखना चाहते हैं वे स्थानीय रूढ़िवादी उम्मीदवार को मतदान करते हैं। जो निर्वाचक एटली को प्रधान मंत्री बनाने के पक्ष में होते हैं वे स्थानीय श्रमिकदल के उम्मीदवार को मतदान करते हैं। उन देशों में जहाँ कई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल होते हैं वहाँ निर्वाचन इस दृष्टि से नहीं होता। (जैसे हिटलर के पूर्व जर्मनी में और द्वितीय महायुद्ध के पूर्व फ्रांस में)। राजनीतिक दलों द्वारा मतदान सरलता से निर्णय कर सकता है; वह उसी दल को मत प्रदान करेगा जिसका कार्यक्रम निर्वाचक की दृष्टि से राष्ट्रोन्नति के लिए हितकर हो। बेजहाट (Walter Bagehot) ने ठीक ही कहा है कि दलबन्दी प्रथा प्रतिनिधि प्रणाली की आत्मा है।

आज राजनीतिक दल सच्चे जनवाद के लिए घातक बन गये हैं। इन्होंने हाब्स के "दीर्घकाय" का रूप धारण कर लिया है। पाश्चात् जनवादों के अनुभव से विदित होता है कि बिना पार्टी-टिकट के कोई भी उम्मीदवार निर्वाचन में सफल नहीं हो सकता। निर्वाचक स्वयं जानने लगे हैं कि राज्य की बागडोर किसी न किसी दल के हाथों में होगी। तो फिर स्वतंत्र उम्मीदवार को मत देने से क्या लाभ! राजनीतिक दल पूरे देश में व्यापक होते हैं। इनका अनुशासन सेना की भाँति होता है। ऐसे सैन्य नियंत्रित दलों में सदस्यों की स्वतंत्रता का अभाव होता है। नेतागण ही दल की नीति निर्धारित करते हैं। देखने में आता है कि यदि कोई सदस्य दल के नेता का विरोध करता है तो राजनीतिक जीवन में उसकी सफलता की आशा बहुत कम रहती है। परिणामस्वरूप कई स्वतंत्र मनोवृत्ति के व्यक्तियों को राजनीतिक सन्यास लेना पड़ता है।

केवल चर्चिल ऐसा महान् व्यक्ति ही भाग्यवश दलों के नेताओं की इच्छा के विपरीत राजनीतिक जीवन में सफल हो सकता है। १९२४—२८ की सरकार में चर्चिल एक ऊँचे पद पर था। १९३५ में जब फिर से टोरी सरकार बनी तो चर्चिल

का मंत्रिमण्डल में कोई स्थान न था। भाग्यवश १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ। ख्यातिपूर्ण चर्चिल को टोरी मंत्रिमण्डल में एक उच्च पद मिला। भारतवर्ष में ऐसे कई दृष्टान्त पाये जाते हैं। कांग्रेस से बाहर निकल कर केवल मुट्ठी भर नेताओं को ही गत निर्वाचन में (१९५२) सफलता मिल सकी। बेचारे साधारण सदस्यों की तो वही दशा हो जाती है जैसे बिना पानी के मछली। एक ओर तो निर्वाचन में स्वतंत्र उम्मीदवार की सफलता की कोई आशा नहीं रहती और दूसरी ओर राजनीतिक दल में कोई स्वतंत्रता का स्थान नहीं है। ऐसी परिस्थिति में विशुद्ध जनवाद कैसे सम्भव हो सकता है? वस्तुतः राजनीतिक दल नहीं वरन् उनके नेता राज्य के कर्णधार हैं। उनका दल में शत-प्रतिशत बोलवाला होता है और इस नाते शासन पर भी।

राजनीतिक दल जनशिक्षा और जनमत के लिए उपयोगी माने जाते हैं। वे भाषणों, लेखों, समाचार-पत्रों, पुस्तकों, प्रदर्शनियों, वाद-विवाद समितियाँ आदि द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा देते हैं। हाँ, यह तो सत्य है कि दलों के प्रचार-यंत्रों द्वारा नागरिक को राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विषयों का ज्ञान सम्भव होता है। परन्तु साथ ही साथ इन दलों के प्रचार में कभी-कभी सत्य का अभाव भी होता है। राजनीतिक दल का ध्येय निर्वाचन में सफलता प्राप्त कर निजी सरकार की स्थापना करना है। इस ध्येय की सफलता हेतु वे जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कभी-कभी वे निःसंकोच अपने झूठे प्रचारों द्वारा अशिक्षित जनता की भावनाओं को उभारते हैं। कभी-कभी 'साम, दाम, भेद दण्ड,' द्वारा निर्वाचन में सफलता के लिए प्रयास करते हैं। झूठे आँकड़ों तथा वक्तव्यों का भी प्रयोग करने में वे संकोच नहीं करते। अतः यह दल शिक्षा के बजाय कुशिक्षा के यंत्र बन जाते हैं।

आधुनिक युग में राजनीतिक दलों के कार्यों से कभी-कभी जनता में उदासीनता व्यापक हो जाती है। निर्वाचन में सफलता प्राप्ति के लिए राजनीतिक दल कभी-कभी झूठे आश्वासन भी देते हैं। जनता को वर्गलाकर तथा उत्तेजित कर वे निर्वाचन में सफलता प्राप्त करते हैं। निर्वाचन के पश्चात् जब वे अपनी सरकार बनाते हैं तो इन निर्वाचन वायदों का पूर्णतया हनन करते हैं। (१९३५ में ब्रिटेन के रूढ़िवादी दल ने निर्वाचन में यह आश्वासन देकर सफलता प्राप्त की थी कि उस दल की सरकार यूरोप में फासीवाद के प्रसार को रोकने के लिए संयुक्त मोर्चा स्थापित करेगी। परन्तु निर्वाचन

के पश्चात् इस सरकार ने स्पष्टतया इस आश्वासन का उलंघन किया। अन्य देशों में भी ऐसे दृष्टान्तों का अभाव नहीं है)। ऐसी परिस्थिति में जनसाधारण में राजनीति तथा राजनीतिक दलों के प्रति नैराश्य छा जाता है ; वे सोचते हैं कि सभी राजनीतिज्ञ झूठे होते हैं। अतः मतदान का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। यही नहीं, कभी-कभी राजनीतिक दल विवेकशीलता, जो जनवाद का प्राण है, के स्थान पर प्रेरणा का उपयोग करते हैं। हिटलर के नात्सी दल ने खुलेआम ऐसा किया था। अन्य दल भी इस कार्य में पीछे नहीं होते। सभी दल मत प्राप्ति के लिए सभी प्रकार के हथकंडे निःसंकोच अपनाते हैं। अन्तर यही है कि फासीवादी खुलेआम इस बात का ढिंढोरा पीटते हैं, अन्य दल बिना ढिंढोरा पीटे अपना स्वार्थ पूरा करते हैं।

पाश्चात् देशों में राजनीतिक दल के स्थायी तथा वैतनिक कर्मचारी होते हैं। ये कर्मचारी देश के कोने-कोने में पाये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक स्थान पर वर्ष में कम से कम एक निर्वाचन अवश्य होता है। ऐसी परिस्थिति में राजनीतिक दलों को प्रत्येक स्थान पर अपने स्थायी कर्मचारियों को रखना आवश्यक है। राज्य की नौकरशाही की भाँति राजनीतिक दल में भी नौकरशाही होती है। राजनीतिक दल के स्थायी सदस्यों का प्रतिदिन कार्य अपने दल के निर्वाचन अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करना है। इसके फलस्वरूप राष्ट्र की जनता का कृत्रिम रूप से भागों में विभाजित होना आश्चर्यजनक नहीं है। कहा जाता है कि अमुक मुहल्ला अमुक दलीय है और अमुक गांव अमुक दलीय। राष्ट्र के कृत्रिम विभाजन के अतिरिक्त इस "दीर्घकाय" रूपी दलबंदी ने सभी हितों तथा दृष्टिकोणों को निगल लिया। अमेरिका की धारा-सभा (Senate) में प्रत्येक उपराज्य के दो प्रतिनिधि होते हैं। संविधान निर्माताओं ने ऐसी संगठन योजना उपराज्यों की समानता की सुरक्षा के लिए प्रस्तावित की थी। आशा की जाती थी कि यह सभा उपराज्यों के हितों का प्रतिनिधित्व करेगी। आज सिनेट के सदस्य उपराज्यों के प्रतिनिधित्व की हैसियत से नहीं, वरन् राजनीतिक दलों की हैसियत से कार्य करते हैं।

राजनीतिक दलों को स्थायी प्रचार तथा वैतनिक सदस्यों के लिए रुपया कहाँ से आता है ? वामपक्षी दलों के कोषों का मुख्य स्रोत उनके गरीब सदस्यों का चन्दा है। प्रत्येक श्रमिक या किसान या बुद्धिजीवी अपनी आय का कुछ भाग दल के व्यय के लिए अर्पित करता है। परन्तु अन्य प्रतिक्रियावादी दलों का कोष-स्रोत गुप्त-सा रहता है।

वास्तव में धनीगण इन दलों को आर्थिक सहायता पहुँचाते हैं। इनकी यह सहायता स्वार्थरहित नहीं है। कहा जाता है कि पाश्चात् देशों में कभी-कभी धनीवर्ग सहायता देते समय ही दल के नेताओं तथा कर्णधारों से निजी धनोपार्जन के हेतु आश्वासन ले लेते हैं। निर्वाचन सफलता के पश्चात् दल के सहायक धनियों के आर्थिक लाभ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। प्रत्येक दल को सरकार अपने धनी सहायकोंको ठेके आदि देती है। कभी-कभी राष्ट्रीय अर्थनीति इसी दृष्टिकोण से संचालित होती है। पूँजीपतियों तथा राजनीतिक दलों के घनिष्ठ सम्बन्ध के कुपरिणामों का चित्रण कुछ आधुनिक लब्धप्रतिष्ठ लेखकों द्वारा किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर भी इन धनियों के ध्येयों की छाप होती है। सुप्रसिद्ध अमेरिकन उपन्यासकार सिन्कलेयर (Upton Sinclair) के कुछ उपन्यास (तेल Oil और जंगल Jungle आदि) इस सम्बन्ध में विख्यात हैं। कहा जाता है कि अमेरिका के रिपब्लिकन दल तथा डेमोक्रेटिक दल के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उन दलों के धनी सहायकों के आर्थिक हितों से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित होते हैं। दलों के प्रचार-यंत्रों पर भी धनिकों के हितों की छाप होती है। ऐसी परिस्थिति में स्वच्छ जनवाद, जनशिक्षा एवं जनमत कैसे सम्भव हो सकता है ?

यही नहीं सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति भी कभी-कभी निर्वाचन आश्वासनों पर आश्रित रहती है। प्रत्येक सरकार अपने दल के सहायकों को नियुक्तियों द्वारा भी सहायता पहुँचाती है। शायद कभी-कभी निर्वाचन के पूर्व ही सहायकों को आश्वासन दिया जाता है। अमेरिका में काफी सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति अभी तक स्पाइल सिस्टम (Spoils System) द्वारा होती है। स्थानीय, प्रान्तीय (उपराज्य) या केन्द्रीय सरकार में जिस दल का बोलबाला होता है प्रायः उसी दल के सहायक पद पर नियुक्त होते हैं। सरकार के परिवर्तन पर इन नियुक्तियों में भी परिवर्तन होता है। अन्य देशों में ऐसी प्रथा को खुलेआम नहीं अपनाया जाता परन्तु परोक्षरूप से अवश्य। यह प्रथा सुशासन के लिए हानिकारक है।

राजनीतिक दलों द्वारा जनशिक्षा तो अवश्य मिलती है, परन्तु यह शिक्षा कभी-कभी कुशिक्षा का रूप धारण कर लेती है। राजनीतिक दलों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का ज्ञान तो जनता को अवश्य होता है, परन्तु कदाचित निष्पक्ष दृष्टिकोण का नहीं। राजनीतिक दलों द्वारा प्रतिनिधियों के निर्वाचन में सुगमता तो अवश्य होती है, परन्तु बहुत से योग्य व्यक्ति राज्य-सेवा से वंचित हो जाते हैं। क्योंकि ऐसे व्यक्ति राजनीतिक

दलों के वातावरण से दूर ही रहना पसन्द करते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा प्रतिनिधि सरकार का संगठन सरल हो जाता है, परन्तु इनके अर्द्ध-सैनिक अनुशासन से स्वतंत्र विचारों का अभाव होता है और कभी-कभी पूँजीपतियों का राष्ट्रीय नीति पर परोक्ष एकाधिकार स्थापित हो जाता है। आलोचक इस आधार पर अमेरिका के जनवाद की परिभाषा ऐसे करते हैं—जनवाद वह शासन प्रणाली है जिसमें जनता का राज्य हो, दलों के नेता (bosses) शासनकर्ता हों और शासन पूँजीपतियों के हित के लिए हो।

सक्रिय भाग एवं सतर्कता :— नागरिकों का सक्रिय भाग प्रजातंत्र के लिए आवश्यक है। जब नागरिक का शासन में सक्रिय भाग होगा तब उसकी राजनीतिक शिक्षा दृढ़ होगी। इस हेतु नागरिक-संघों तथा स्थानीय संस्थाओं का स्वतंत्र अस्तित्व नितान्त आवश्यक समझा जाता है। ये नागरिक की राजनीतिक पाठशालायें हैं।

स्थानीय संस्थाओं के संचालन में नागरिकों को शासन सम्बन्धी विषयों पर विचार प्रगट करने का अवसर मिलता है। वे अपनी स्थानीय समस्याओं को भली भाँति जानते हैं। इसलिए वे इनके शासन के सम्बन्ध में सुगमता से विचार प्रकट कर सकते हैं। कुछ योग्य व्यक्तियों को शासन में स्थान मिलता है। जो प्रतिनिधि स्थानीय जनवादी संस्थाओं में अनुभव प्राप्त करेगा एवं अपनी योग्यता का प्रदर्शन करेगा वह प्रान्तीय तथा केन्द्रीय संस्थाओं के लिए स्थानीय मतदाताओं द्वारा निर्वाचित होगा। अतः जनसाधारण की राजनीतिक शिक्षा के अतिरिक्त प्रतिनिधियों की शिक्षा भी ऐसी स्थानीय संस्थाओं द्वारा सम्भव होती है। इसीलिए स्थानीय औपनिवेशिक स्वराज्य राष्ट्रीय जनवाद की प्रथम पाठशाला मानी जाती है। इसीलिए सभी जनवाद प्रेमी विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं।

संघों का अस्तित्व भी जनवादी शिक्षा के लिए अत्यन्त हितकर है। संघों द्वारा जनशिक्षा और जनमत सम्भव होते हैं। नागरिक भिन्न-भिन्न संघों द्वारा भिन्न-भिन्न समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करते हैं। ये संघ प्रचार-यंत्र का भी काम करते हैं। संघों का स्वतंत्र वाद-विवाद जनशिक्षा के लिए अत्यन्त हितकर है। ऐसे ही वाद-विवाद से सच्चा जनमत सम्भव है। इस जनमत का व्यवस्थापिका सभा पर प्रभाव स्वाभाविक है। इस प्रभाव के फलस्वरूप नियम-निर्माण होता है। जब इस विस्तृत प्रणाली द्वारा नियम-निर्माण होगा तब, जैसा लॉस्की का कहना था,

जनसाधारण उस नियम का हृदय से स्वागत करेगा। क्योंकि प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से ही नियम जनता की राय का प्रतिबिम्ब होगा। ऐसे वातावरण में जनवाद सच्चा और सुदृढ़ होगा। इसी आधार पर लॉस्की ने यह भी कहा था कि अद्वैतवाद में संघों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, और ऐसा स्वतंत्र अस्तित्व ही जनवाद को सच्चा एवं सुदृढ़ बना सकता है।

राजनीतिक दल भी एक संघ है। परन्तु यह संघ अन्य नागरिक-संघों से भिन्न है। राजनीतिक दलों का प्रादुर्भाव जनसाधारण द्वारा नहीं हुआ था, वरन् शासक वर्ग एवं बुद्धिजीवियों द्वारा। मतदान सम्बन्धी सुधारों के फलस्वरूप मतदाताओं की संख्या में वृद्धि हुई। निर्वाचनों में सफलता प्राप्त करने के लिए उच्चवर्ग के राजनीतिज्ञों ने राजनीतिक दलों की शनैः शनैः स्थापना की। संसदीय समाजवादी दलों के जन्म का श्रेय प्रायः प्रगतिशील बुद्धिजीवियों को था। अतः राजनीतिक दलों का जन्मदाता जनसाधारण नहीं है। राजनीतिक दल भले ही जनसाधारण की समस्याओं को अपने कार्यों में सम्मिलित करते हों, किन्तु वे उनके हितों का प्रतिनिधित्व उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकते जितना जनता द्वारा निर्मित संघ। यह स्वाभाविक भी है। जनता अपनी समस्याओं की पूर्ति के लिए अन्य संस्थायें बनाती है—धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, आर्थिक इत्यादि। ऐसे संघ जनता के हितों का प्रतिनिधित्व एवं जनशिक्षा तथा जनमत के लिए हितकर होंगे। परन्तु आज देखने में आता है कि "दीर्घकाय" राजनीतिक दलों ने इन जन-संघों को भी अपने अधीन बना लिया है। दलों के सदस्य, श्रमिक, किसान, विद्यार्थी आदि संघों में—चाहे उनका ध्येय आर्थिक या मनोवैज्ञानिक ही क्यों न हो—प्रवेश करते हैं और उन्हें निर्वाचन सफलता का साधन बनाते हैं। यह संघों के स्वतंत्र अस्तित्व के लिए अत्यन्त घातक है। ऐसे वातावरण में सच्ची जनशिक्षा एवं निष्पक्ष जनमत सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रवृत्ति का अन्त जनवाद के लिए एक बड़ी देन होगी।

स्थानीय संस्थाओं एवं संघों द्वारा नागरिक राजनीति में सक्रिय भाग ले सकता है; उसकी राजनीतिक शिक्षा भी सम्भव हो सकती है। जनसाधारण के सक्रिय भाग का अर्थ है कि प्रत्येक नागरिक राजनीतिक समस्याओं तथा आर्थिक, सामाजिक और शासन सम्बन्धी विषयों पर अपने विचार प्रकट कर सके। सक्रिय भाग का यह

अभिप्राय नहीं कि जनसाधारण स्वयं शासन करे। यह केवल उक्त संस्थाओं एवं संघों की उपस्थिति में ही सम्भव है। अतः सक्रियता और जनवाद अन्योन्याश्रित हैं।

ऐसी विकेन्द्रीय एवं बहुलवादी व्यवस्था में सतर्कता की भी आशा की जा सकती है। सतर्कता, स्वतंत्रता की भगनी है। सतर्कता द्वारा ही नागरिक अपनी स्वतंत्रता का सदुपयोग और सुरक्षा कर सकेंगे। अधिकारों के सदुपयोग द्वारा ही स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। वही व्यक्ति वास्तव में स्वतंत्र है जिसे अपने अधिकारों का सच्चा ज्ञान हो और उन्हें ठीक से कार्यान्वित कर सके। नागरिक अधिकारों के परित्याग से स्वतंत्रता का हनन होता है। वही नागरिक अपने अधिकारों की सुरक्षा एवं वास्तविक स्वतंत्र जीवन-यापन कर सकते हैं जो सतर्क हैं तथा अपने अधिकारों का हनन नहीं होने देते।

ऐसे स्वतंत्र व्यक्ति की सत्ता केवल जनवाद में ही सम्भव है। क्योंकि जनवाद ही एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति को अपने अधिकारों की सुरक्षा के साधन पर्याप्त मिलते हैं। परन्तु साथ ही साथ केवल स्वतंत्र नागरिक ही सच्चे जनवाद का निर्माण कर सकते हैं। यदि नागरिक स्वतंत्रता-प्रेमी नहीं हैं अर्थात् अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए सतर्क नहीं हैं, तो वे कभी न कभी, आज नहीं तो कल, हिटलर या मुसोलिनी ऐसे तानाशाह को परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से शासक बनायेंगे। केवल वे ही नागरिक ऐसे स्वतंत्रता-विरोधी एवं जनवाद-विरोधी व्यक्तियों के हाथ राष्ट्र की बागडोर सौंपेंगे जिन्हें अपने अधिकारों का पूर्णज्ञान नहीं। अतः सतर्कता की अनुपस्थिति में न अधिकार न स्वतंत्रता और न जनवाद ही सम्भव है। अतः सतर्कता और जनवाद अन्योन्याश्रित हैं।

निर्वाचन :—प्रतिनिधि जनतंत्र में निर्वाचन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्वाचनों द्वारा ही जनसत्ता का वास्तवीकरण होता है। निर्वाचन सम्बन्धी कई समस्यायें हैं—योग्य उम्मीदवारों की उपस्थिति, स्वतंत्र मतदान, निर्वाचकों की योग्यता एवं विवेकशलिता, निर्वाचन पद्धति और निर्वाचन व्यय।

१ योग्य उम्मीदवार :—प्रतिनिधि सरकार में निर्वाचित प्रतिनिधि ही शासक होते हैं। स्वभावतः ऐसी सरकार को केवल योग्य प्रतिनिधि ही आदर्श एवं उत्तम बना सकते हैं। क्या आधुनिक जनवादों में यह सम्भव है? दलबंदी प्रथा के सम्बन्ध में बताया जा चुका है कि आधुनिक निर्वाचनों में एक स्वतंत्र उम्मीदवार का

निर्वाचित होना बहुत कठिन है। केवल दलों के उम्मीदवार ही साधारणतया सफल होते हैं। ऐसी परिस्थिति में योग्य विद्वान् निर्वाचन में भाग लेने में संकोच करते हैं। वे सोचते हैं कि कौन निर्वाचन के झंझट में पड़े, निर्वाचन रूपी जुआ खेले, व्यर्थ समय और धन नष्ट करे। इसलिए वे स्वभावतः ज्ञानवृद्धि को निर्वाचन रूपी झंझट से अधिक उपयोगी समझते हैं। कहा जा सकता है कि वे दलों के उम्मीदवार होकर क्यों निर्वाचन में भाग नहीं लेते? दलों के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि इनमें अर्द्ध-सैनिक नियंत्रण होता है। उनमें नेताओं का बोलबाला एवं स्वतंत्रता का अभाव है। योग्य तथा विद्वान् व्यक्ति ऐसी संस्था में प्रवेश करने में संकोच करते हैं। वे राजनीतिक दलों के तू-तू, मैं-मैं तथा गुटबन्दी से अलग ही रहना पसंद करते हैं। इसलिए कहा भी है कि राजनीति दुष्टों का अन्तिम अस्त्र है। इससे राष्ट्रोन्नति की प्रगति में काफी बाधा होती है। राष्ट्र योग्य व्यक्तियों की सेवा से वंचित हो जाता है। इसीलिए फूगे (Fuguet) ने जनवाद को अयोग्य व्यक्तियों का सम्प्रदाय बताया है और टिलुरॉ (Tillerand) ने दुराचारियों का कुलीनतंत्र।

(२) स्वतंत्र मतदान एवं निर्वाचक की योग्यता :—स्वतंत्र मतदान ही निर्वाचन प्रथा का अस्तित्व है। क्या आधुनिक जनवादों में ऐसा मतदान होता है? जनशिक्षा, जनमत और दलों के सम्बन्ध में बताया गया है कि मतदाताओं का निष्पक्ष दृष्टिकोण सम्भव नहीं है। दलों तथा अन्य प्रचार-यंत्रों द्वारा नागरिक को कभी-कभी कुशिक्षा मिलती है। ऐसे प्रचार-यंत्र जनवाद के लिए घातक होते हैं। नात्सीवादियों के कथन में कुछ सत्य अवश्य है। उनका कहना था कि प्रचार-यंत्रों द्वारा व्यक्तियों की रुचि मोम के पुतले की भाँति ढाली जा सकती है। विज्ञप्तियों द्वारा नागरिक को किसी भी वस्तु की ओर आकर्षित किया जा सकता है। नात्सीवादी एवं फासीवादी ऐसी अविवेकशीलता के लिए आलोचकों की आलोचना के शिकार बने। पर वास्तव में इन जनवादी आलोचकों के जनवादी राष्ट्रों में व्यक्ति की राष्ट्रीय विचारधारा रांगे की भाँति ढाली जाती है। नित्य के प्रचारों से मतदाताओं का निजी दृष्टिकोण चतुरता एवं परोक्ष रूप से अपने अनुकूल बना लिया जाता है। यदि विज्ञप्ति द्वारा यह निरन्तर प्रचार किया जाय कि अमुक दन्तमञ्जन, तेल, घी आदि स्वास्थ्य वृद्धि के लिए हितकर हैं तो शायद कुछ नागरिक उन्हें खरीदेंगे। परन्तु उपयोग द्वारा उन्हें शीघ्र ही विदित हो जायगा कि ये वस्तुएँ शारीरिक पुष्टि के लिए हितकर नहीं हैं। वे शीघ्र ही विज्ञप्ति

वाले घी का प्रयोग बन्द कर देंगे। ऐसी परिस्थिति में उन्हें ज्यादा क्षति न पहुँचेगी।

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में ऐसा नहीं होता। यदि निरन्तर प्रचार द्वारा कोई दल मतदाताओं को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो तो अवश्य ही वह अपनी सरकार बना सकेगा। यह नई सरकार निर्वाचन वायदों का उल्लंघन कर ऐसा शासन करे जो राष्ट्र के लिए घातक हो। ऐसी परिस्थिति में नागरिकों के पास कोई उपाय नहीं है। घी या तेल का उपयोग तो बन्द किया जा सकता है, परन्तु सरकार को सरलता से नहीं बदला जा सकता और न उसकी नीति ही परिवर्तित की जा सकती है। ब्रिटेन में १६३५ में कुछ ऐसा ही हुआ था। टोरी दल ने निर्वाचकों को यह कहकर बर्गलाया था कि वह दल हिटलरशाही को संयुक्त मोर्चे द्वारा रोकेगा। निर्वाचन के पश्चात् इस दल की रूढ़िवादी सरकार ने इस प्रचार "विज्ञप्ति" एवं वायदे का शत-प्रतिशत उल्लंघन किया। हिटलरशाही के पनपने में सहायता दी और फलतः ब्रिटेन को युद्ध की महामारी का शिकार बनाया। नात्सीवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि हिटलर ने स्वर्ण-युग का आश्वासन देकर निराश जर्मन जनता को बर्गलाया था। सत्ता प्राप्ति के पश्चात् उसने ऐसे स्वर्ण-युग की स्थापना की कि जर्मनी ही नहीं, वरन् विश्व उसे नहीं भूलेगा। अतः राजनीतिक प्रचार या "विज्ञप्तियों" का दुष्प्रभाव आर्थिक विज्ञप्तियों के दुष्प्रभाव से कई गुना अधिक घातक होता है।

ऐसे वातावरण में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मतदान की आशा करना व्यर्थ है। राजनीतिक दलों एवं उनके प्रचार-यंत्रों ने आज नागरिकों के जीवन में वही स्थान ग्रहण कर लिया है जो मध्यकालीन युग में धर्म का था। अन्ध-विश्वास की मात्रा बढ़ती ही जाती है। 'जैसे-जैसे नागरिक की शिक्षा की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे इन प्रचार-यंत्रों की छल-कपट एवं चातुर्य की भी वृद्धि होती है। यदि नागरिक के ज्ञान में एक आना वृद्धि हो जाती है तो कदाचित प्रचार-यंत्रों के चातुर्य में सवा आना या डेढ़ आना की वृद्धि हो जाती है। कभी-कभी अधिक राजनीतिक दलों के वातावरण में मतदाता के लिए राजनीति भूल-भूलैया का रूप धारण करती है। सभी राजनीतिक दल स्वर्ण-युग का आश्वासन देते हैं। परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सभी दल जनता को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करते हैं। बेचारे नागरिक के लिए ऐसे इन्द्रजाल में सत्य की परख करना असम्भव-सा हो जाता है। (भारतवर्ष के गत आम निर्वाचन में कुछ ऐसी ही परिस्थिति थी। निष्पक्ष मतदान कठिन ही नहीं असम्भव-सा हो जाता है)।

कभी-कभी निर्वाचक उदासीन हो जाता है। क्योंकि वह एक दल के त्याग एवं शोषण-विरोधी संघर्ष से मोहित हो उस दल को निर्वाचन में मतदान करता है। वह सोचता है कि ऐसी महान परम्परा वाला दल उसके दुख और दरिद्रता का अन्त करेगा। यह दल "स्वर्ण-युग" का आश्वासन देता है। किन्तु निर्वाचन सफलता के पश्चात् वह दल अपने परम्परागत आदर्शों को भूल जाता है। निर्वाचक निराश हो जाता है। वह राजनीति से घृणा करने लगता है; उसका राजनीति एवं जनतंत्र से विश्वास हट जाता है। वह सोचता है जब एक आदर्श राजनीतिक दल आधुनिक व्यवसायिक सभ्यता का शिकार बन जाता है तो अन्य दलों का फिर कहना ही क्या। जन साधारण की दृष्टि में राजनीति ढोंग-सा विदित होता है, राजनीतिज्ञ दगाबाज़ और राजनीतिक दल अवसरवादी। ऐसे वातावरण में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मतदान का अभाव ही नहीं, अपितु नागरिकों को राजनीतिक उदासीनता भी होगी।

स्वतंत्र एवं निष्पक्ष मतदान के लिए आर्थिक निश्चिन्तता परम आवश्यक मानी जाती है। १९वीं सदी के उपयोगितावादी वातावरण में यह धारणा प्रबल थी कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार प्राप्त हो तो वह निर्वाचन में उचित व्यक्ति को मतदान देगा और तब सच्चा जनवाद स्वतः सम्भव होगा। ऐसी धारणा की पृष्ठभूमि में यह विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित और अहित स्वयं ही जान सकता है। वह विवेकशील एवं उपयोगितावादी है। प्रत्येक मनुष्य एक राशि स्वरूप है। यह विचार उदारवादी जनवाद का सूत्र—एक व्यक्ति एक वोट (One man, one vote)—का आधारभूत था। कहा जाता था कि यदि व्यक्ति को मतदान का अधिकार प्राप्त हो तो वह उसका सदुपयोग कर सकेगा। आदर्श एवं योग्य प्रतिनिधि निर्वाचित होंगे। आदर्श जनवादी स्वर्ण-युग देश में व्याप्त होगा। किन्तु भविष्य में यह सब काल्पनिक सिद्ध हुआ। उपयोगितावादी मिल के व्यक्ति स्वातंत्र्य के पृष्ठभूमि में भी व्यक्ति के प्रति यही धारणा थी। परन्तु ऐसा व्यक्ति आज कहीं भी नहीं मिलता। मिल की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसकी स्वतंत्रता का सिद्धान्त वैसा ही था जैसा बिना राम के रामायण। उदारवादी जनवाद भी ऐसा ही है जैसे बिना कृष्ण के महाभारत। क्योंकि उस जनवाद का आदर्श निर्वाचक ढूँढे भी नहीं मिलेगा।

मिल ने व्यक्ति तथा स्वतंत्रता को एक राशि समझा था। उदारवादी जनवादियों ने भी व्यक्ति को एक स्वतंत्र राशि माना था। वास्तव में वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं

जनवाद समाज से सम्बद्ध है। शोषणपूर्ण समाज में स्वतंत्रता एवं जनवाद सम्भव नहीं है। एक व्यक्ति, जिसे अपनी जीविका के लिए किसी अन्य व्यक्ति पर आश्रित होना पड़ता है, वह साधारणतया स्वतंत्र मतदान नहीं कर सकता है। हाँ, कोई भले ही एक झक्की का दृष्टान्त देकर कह सकता है कि आजीविका का स्वतंत्रता से सम्बन्ध नहीं है। एक झक्की कभी-कभी आजीविका को ठुकरा कर अपनी झकरूपी स्वतंत्रता की सन्तुष्टि करता है। परन्तु ऐसे झक्कियों की संख्या कम है और उनका जीवन भी अनुकरणीय नहीं। साधारणतया एक पराधीन व्यक्ति स्वतंत्र मतदान नहीं कर सकता। हाँ, यह सत्य है कि उसका स्वामी उसके मतदान के विषय में हस्तक्षेप न करे। यह उसकी स्वेच्छा पर आश्रित है। यदि वह चाहे तो साधारणतया पराधीन व्यक्तियों के मतदान में सफलतापूर्वक हस्तक्षेप कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में स्वतंत्र मतदान केवल कल्पना मात्र है।

यह कहा जाता है कि आधुनिक व्यवसाय में एक श्रमिक किसी व्यक्ति विशेष के अधीन नहीं होता, वह तो एक कम्पनी का नौकर है। उस पर किसी व्यक्ति विशेष का आधिपत्य नहीं। यदि वह चाहे तो एक कम्पनी को छोड़ दूसरी कम्पनी में नौकरी कर सकता है और अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रख सकता है। किन्तु यह सब काल्पनिक है। आज राष्ट्रीय व्यवसायों का संचालन ऐसा है कि कम्पनियों के नाम अलग-अलग भले ही हों परन्तु उन सब के स्वामी कुछ थोड़े से ही व्यक्ति होते हैं। कहा जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्य के अर्थ के स्वामी केवल १०० परिवार हैं और फ्रांस के २००। यही दशा अमेरिका और अन्य देशों की भी है। इन्हीं अर्थ-स्वामियों के हाथों में राष्ट्रीय प्रचार-यंत्र होते हैं। कुछ आलोचकों का तो यह भी मत है कि ये अर्थ-स्वामी ही राज्य, समाज एवं संस्कृति के स्वामी हैं, इन्हीं का शोषण रूपी धर्म ही युग-धर्म है। वेतनिक व्यक्ति इन मुट्ठी पर अर्थ-स्वामियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अधीन होते हैं। इन अर्थ-स्वामियों का एक गुट-सा बन गया है। एक स्वतंत्र मनोवृत्ति के नागरिक को इस गुट का मुकाबला करना पड़ता है। यह विरोध साधारण नहीं है। फलतः स्वतंत्र मनोवृत्ति तथा स्वतंत्र मतदान पूर्णतया सम्भव नहीं होता। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अर्थ-स्वामी निर्वाचकों के मतदान में हस्तक्षेप कर सकते हैं और कभी-कभी करते हैं।

इसी आधार पर आज समाजवादियों का कहना है कि राजनीतिक जनवाद केवल

आर्थिक एवं सामाजिक जनवाद के वातावरण में सम्भव हो सकता है। आर्थिक एवं सामाजिक जनवाद का ध्येय नागरिकों को जीविका सम्बन्धी निश्चिन्तता की स्थापना करना है। राष्ट्रीय व्यवसायों का समाजीकरण एवं केन्द्रीकरण आवश्यक है। देश के अर्थ पर व्यक्तिगत अधिकार एवं स्वामित्व नहीं होना चाहिये। व्यवसायों के संचालन में श्रमिकों का सक्रिय हाथ होना आवश्यक है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में जिसके अन्तर्गत समाचार-पत्र आदि हैं, नागरिकों का सक्रिय भाग होना चाहिये। ऐसे जनवादी वातावरण में नागरिक स्वतंत्र मतदान कर सकेंगे और राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में उन्हें स्वतंत्र विचार प्रकट करने का अवकाश मिलेगा। तभी सच्चा राजनीतिक जनवाद सम्भव होगा।

(३) निर्वाचन पद्धति और व्यय :—निर्वाचन पद्धति भी त्रुटि-रहित नहीं है। पुरानी निर्वाचन पद्धति के अनुसार देश को निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त किया जाता है। एक क्षेत्र से एक प्रतिनिधि निर्वाचित होता है। देखने में आता है कि एक राष्ट्रीय निर्वाचन में प्रत्येक दल को उसके मतदाताओं के अनुसार सफलता प्राप्त नहीं होती। कभी-कभी एक दल के मतदाताओं की संख्या राष्ट्रीय मतदाताओं की संख्या के आधे से कम होती है, परन्तु संसद में उस दल का बहुमत होता है। अतः दलों के मतदाताओं की संख्या और उनके संसदीय सदस्यों की संख्या बेमेल लगती है। उदाहरणार्थ 'अ" दल ने ४० प्रतिशत मत प्राप्त किये। सम्भव है कि संसद में उसके ५० या ३० प्रतिशत सदस्य हों। ऐसी दशा अन्य दलों की भी हो सकती है। १९४५ के ब्रिटेन के आम निर्वाचन में लेबर पार्टी ने करीब १·१ करोड़ मत प्राप्त किये और अन्य दलों ने १·२ करोड़, परन्तु संसद में लेबर पार्टी के सदस्यों की संख्या पर्याप्त बहुमत में थी। ऐसे बेमेल दृष्टान्त कई हैं। (रामजे म्योर Ramsay Muir की पुस्तक —How Britain is Governed का पाँचवाँ अध्याय देखिये)।

ब्रिटेन आदि देशों में इस त्रुटि को दूर करने के लिए योजनाएँ बनीं। इनमें मुख्य योजना आनुपातिक प्रतिनिधित्व की है। परन्तु कहा जाता है कि इस प्रस्तावित प्रणाली के फलस्वरूप संसद में राजनीतिक दलों की संख्या बढ़ जायगी, जैसे हिटलर के पूर्व के जर्मनी में हो गया था, एवं अस्थायी सरकारें बनेंगी। कुछ आलोचकों के मतानुसार यह प्रथा शासन कुशलता के लिए अनुपयुक्त होगी। इसलिए ब्रिटेन ऐसे देशों में अभी तक परम्परागत प्रणाली चली आ रही है। भारतवर्ष में भी इसी का

अनुकरण किया गया है। जहाँ आनुपातिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया है वहाँ दलों की बहुसंख्या होने के कारण अस्थायी सरकारें होती हैं और राजनीतिक भ्रष्टाचार एवं षड्यंत्रों की संभावना भी।

अमेरिका में एक अनोखी प्रथा व्याप्त है। यह जेरीमैन्डरिंग (Jerrymandering) के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ प्रत्येक उपराज्य को निर्वाचन क्षेत्र बनाने का अधिकार है। मान लीजिये कि एक उपराज्य में रिपब्लिकन पार्टी की सरकार है। कभी-कभी उपराज्य के निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार बनते हैं कि रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार अधिकाधिक सफलता प्राप्त कर सकें। उसी उपराज्य में जब डेमोक्रेटिक पार्टी का सरकार में बोलबाला होगा तो वह निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार के बनायेगी जिससे उसके दल के सदस्य अधिकाधिक सफल हो सकें। जब इस पक्षपाती ध्येय से निर्वाचन क्षेत्र निर्धारित होते हैं तो स्वभावतः निर्वाचन वास्तविकता-रहित होगा। अमेरिका में कुछ निर्वाचन क्षेत्र जूते के फीते की भाँति वक्र या एक बालू के बोरे की भाँति होते हैं। ऐसी परिस्थिति में निर्वाचन ही नहीं वरन् जनवाद भी हास्यपूर्ण हो जाता है।

आधुनिक जनवादों में रूढ़िवादी दल निर्वाचन में कभी कभी रुपया पानी की तरह बहाते हैं। राजनीतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जनता को कई प्रकार के प्रलोभन दिये जाते हैं। स्वभावतः यह प्रथा स्वतंत्र निर्वाचन एवं जनवाद के लिए घातक है। कुछ देशों में सरकार द्वारा निर्वाचन व्यय तथा प्रचार पर नियंत्रण रखा जाता है। यह नियंत्रण विशेष सफल प्रतीत नहीं होता।

सुधार योजनाएँ

जनवाद एक आदर्श व्यवस्था है, परन्तु सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप उसमें कई त्रुटियाँ आ गई हैं। आज सभी जनवाद-प्रेमी इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। भिन्न-भिन्न त्रुटियों को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न योजनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। कुछ योजनाएँ केवल शासन के ढाँचे से ही सम्बद्ध हैं और कुछ मूलाधारों से।

१६वीं सदी से अद्वैतवादी परम्परा चली आ रही थी। इस परम्परा ने एकात्मक राज्यों में राज्य निरंकुशता एवं उग्र केन्द्रीकरण को प्रोत्साहन दिया। १९वीं सदी तक

ब्रिटेन और फ्रांस ऐसे एकात्मक देशों में केन्द्रीय सरकार का बोलबाला पूर्णतया स्थायी बन गया था। यूरोप के जिन देशों (मुख्यतः जर्मनी) में एकात्मक प्रणाली न थी, उनमें राज्य निरपेक्षता को आदर्शवादी एवं राष्ट्रवादी विचारधारा से पुष्टि मिली। ऐसे वातावरण के विपरीत अराजकतावादी, संघवादी एवं श्रेणी-समाजवादी विचारधारा और आन्दोलन पनपा।

अराजकतावाद तो केवल दर्शनमात्र ही रहा। उसका प्रभाव निरपेक्षता-विरोधी आन्दोलन पर अवश्य पड़ा। परन्तु उसने स्वयं भीषण आन्दोलन का रूप धारण न किया। संघवादी आन्दोलन १९वीं सदी के अन्त में आरम्भ हुआ और उसने फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया। इस आन्दोलन ने एकात्मक अद्वैतवादी प्रणाली का विरोध किया और साथ ही साथ संसद, संसदीय नीति, प्रतिनिधि प्रथा और राजनीतिक दल का भी। इसके अनुसार आदर्श जनवादी व्यवस्था वह है जो शोषण और राज्य-रहित हो और जिसका संगठन व्यवसायिक संघों के आधार पर हो। ऐसी व्यवस्था में नागरिक का सक्रिय भाग सम्भव होगा और प्रजातंत्र वास्तविक बनेगा। जैसा संघवाद के सम्बन्ध में बताया गया है इस आन्दोलन का क्रान्तिकारी रूप इतिहास का विषय बन गया है। परन्तु इसका निरपेक्षता-विरोधी अंश अभी तक किसी न किसी रूप में फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन के कुछ भाग में वर्तमान है। ऐसे आन्दोलन के फलस्वरूप फ्रांस में विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी कई योजनाएँ बनीं।

ब्रिटेन में भी एकात्मक प्रणाली है। वहाँ संसद और उसकी सत्ता को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यह राष्ट्रीय संस्था जनवाद की प्रतीक मानी जाती है। यहीं हाब्स, बेन्थम और आस्टिन के अद्वैतवाद का प्रादुर्भाव हुआ था। राष्ट्रीय या संसदीय आदर एवं अद्वैतवादी परम्परा ने केन्द्रीय सरकार को सर्वेसर्वा बना दिया। इसके विपरीत २०वीं सदी में प्रथम महायुद्ध के पूर्व श्रेणी-समाजवाद कुछ वर्षों तक श्रमिक आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करता रहा। जैसा श्रेणी-समाजवाद के अध्याय में बताया गया है यह दर्शन पूर्णतया अद्वैतवाद और केन्द्रीकरण का विरोधी है। हाब्सन और कोल द्वारा कई योजनाएँ प्रस्तुत की गईं जिनका ध्येय व्यावसायिक अस्तित्व की वृद्धि था। केन्द्रस्थ राज्य की आलोचना कोल की उस काल की कृतियों में स्पष्ट है। सच्चे जनवाद के हेतु संघों का अस्तित्व आवश्यक और अनिवार्य समझा गया है। श्रेणी-समाजवादी आलोचना से प्रभावित हो कुछ समाजवादी एवं

जनवादी नेताओं ने विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी योजनाएँ बनाईं। वेब की द्वि-संसदीय योजना सुप्रसिद्ध है (समष्टिवाद और श्रेणी-समाजवाद वाला अध्याय देखिये)। यह व्यवसायिक विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थी। इसके विपरीत प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी योजनाएँ भी बनीं। ये योजनाएँ भी आज इतिहास के विषय बन गईं। परन्तु इनका प्रभाव जनवादी विचारधारा पर स्पष्टतया अंकित है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व :—संघवादी एवं श्रेणी-समाजवादी योजनाओं का प्रभाव रूस के सोवियत शासन एवं इटली के फासिस्ट शासन पर पड़ा। रूस की १६१७ अक्तूबर की क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीवाद एवं सामन्तशाही का अन्त हुआ। क्रान्ति के सिलसिले में जगह-जगह पर श्रमिकों, सैनिकों और किसानों के सोवियत बन गये थे। इन्हीं सोवियतों द्वारा क्रान्ति सफल हुई थी। जब बोल्शेविक पार्टी (रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी) ने केन्द्रीय सरकार को अपने हाथों में लिया तो उन्होंने अपने आश्वासन—सब सत्ता सोवियटों के (All powers to the Soviets) को कार्यान्वित किया। इस आधार पर १६३६ तक व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रथा रूस में व्याप्त रही। जगह-जगह पर श्रमिकों सैनिकों, एवं किसानों के सोवियत होते थे। एक कारखाने या एक गाँव में श्रमिकों या किसानों का संघ होता था। ये संघ स्थानीय विषयों का संचालन केन्द्रीय सरकार की नीति के अनुसार करते थे। ये संघ निर्वाचन राशि भी थे। केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय राजकीय संस्थाओं के निर्वाचन इन्हीं व्यवसायिक संघों द्वारा होते थे। श्रेणी समाजवादियों का कहना था कि ऐसी व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली पर संघवादी और श्रेणी-समाजवादी विचार-धारा का प्रभाव पड़ा था। यह विवादास्पद विषय है। परन्तु यह सत्य है कि १६३६ तक सोवियत रूस में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रथा थी।

फासीवाद के सम्बन्ध में बताया गया है कि मुसोलिनी युवावस्था में संघवादी रह चुका था। उसने संघवादी व्यावसायिक संघों के सिद्धान्त को फासीवादी व्यवस्था में कार्यान्वित किया। इटली के आर्थिक संचालन के हेतु व्यवसाय सम्बन्धी संघ बने। इन संघों में श्रमिकों, पूँजीपतियों और फासिस्ट दल के प्रतिनिधि हुआ करते थे। इन संघों द्वारा फासिस्ट पार्टी की अर्थ नीति को कार्यान्वित किया जाता था। कुछ हद तक आर्थिक क्षेत्र में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रथा का अनुकरण किया गया। वस्तुतः यह प्रथा संघवादी योजना के केवल ढाँचे के अनुकूल थी, ध्येय की नहीं।

क्योंकि इन संघों द्वारा श्रमिकों तथा किसानों की दासता को स्थायी बनाने की चेष्टा की गई थी।

यह तो सत्य है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व द्वारा नागरिक का आर्थिक क्षेत्र में सक्रिय भाग सम्भव हो सकता है। यदि व्यावसायिक प्रतिनिधित्त्व पर समाजवादी पुट हो तो स्वतः शोषण का अन्त हो जायगा और आर्थिक निश्चिन्तता सम्भव होगी। जीवन के एक क्षेत्र में प्रतिनिधित्व प्रथा की उपस्थिति का प्रभाव स्वतः अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ेगा। नागरिक सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर भी विचार प्रकट कर सकेंगे। उनको एक स्थान पर एकत्र होने का और विचार विमर्श का अवसर प्राप्त होगा। एक पहलू के जनतंत्र का प्रभाव अन्य पहलुओं पर भी पड़ेगा। जीवन के सभी पहलू, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। १७वीं सदी में सम्राट् जेम्स प्रथम ने ठीक ही कहा था कि यदि पादड़ी न होगा तो सम्राट् भी न होगा (No bishop,no king)। अर्थात् यदि आज प्रेसबिटेरियन जनवादी प्रथा द्वारा धार्मिक विषयों का संचालन पादड़ी-रहित या जनवादी रीति से होगा, तो कल नागरिक राजनीतिक क्षेत्र में भी सम्राट्-रहित या जनवादी व्यवस्था स्थापित करेंगे। यह आज के युग में लागू हो सकता है। यदि नागरिक का आर्थिक जीवन जनवादी प्रणाली से व्यवस्थित होगा तो थोड़े समय बाद राजनीतिक जीवन का संचालन भी जनवादी हो जायेगा।

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में पूंजीपतियों का बोलबाला होता है। वस्तुओं का उत्पादन, क्रय-विक्रय आदि सभी पूंजीपति की स्वेच्छानुसार होता है। उपयोगितावादी पूंजीपति का एक मात्र लक्ष्य धनोपार्जन है। व्यवसाय का संचालन इसी दृष्टि से होता है। राष्ट्रोन्नति पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रथा के विपरीत समाजीकरण एवं राष्ट्रीकरण का प्रचार होता है। राष्ट्रीकरण द्वारा व्यवसायों का संचालन सरकार द्वारा होगा, उसमें श्रमिकों का भी हाथ होगा। कहा जाता है कि ऐसी व्यवस्था में व्यवसायों का ध्येय राष्ट्रोन्नति होगा, पूंजीपति का लाभ नहीं। यह व्यवस्था अवश्य ही पूंजीवादी वैयक्तिक एकाधिकार से कई गुनी अच्छी है। परन्तु यह पूर्णतया जनवादी नहीं कही जा सकती। व्यवसायों की प्रबन्धकारिणी समिति में श्रमिकों के प्रतिनिधि तो अवश्य होंगे परन्तु संभवतः सरकारी नौकरशाहों का बोलबाला होगा। नौकर-शाही की विशेषतायें हैं संकुचित एवं रूढ़िवादी दृष्टिकोण, अहम्मन्यता, अपरिवर्तनशीलता,

आदि। ऐसी परिस्थिति में व्यवसाय का संचालन पूर्णतया राष्ट्रीय एवं समाजहित की दृष्टि से सम्भव नहीं है। वस्तुतः सर्वोत्तम संचालन व्यावसायिक प्रतिनिधित्व द्वारा ही हो सकता है। श्रमिकों से व्यवसाय, समाज एवं राष्ट्र के हित के ज्ञान की आशा की जा सकती है। वे इन दृष्टिकोणों से व्यवसाय का संचालन करेंगे। यह स्वाभाविक भी है। वे इन व्यवसायों में पलते हैं। वे अपने व्यवसाय सम्बन्धी समस्याओं को एक पूँजीपति या नौकरशाह की अपेक्षा भली भाँति समझ सकते हैं। अतः केवल जनवाद के नाते ही नहीं वरन् राष्ट्रहित के नाते भी व्यावसायिक प्रतिनिधित्व अत्यन्त हितकर है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी व्यावसायिक जनवाद लाभप्रद है। जैसा श्रेणी-समाजवाद के सम्बन्ध में बताया गया है आधुनिक व्यवसायों में श्रमिकों की मनो-वैज्ञानिक सन्तुष्टि का पूर्णतया अभाव होता है। वे मशीन पर काम करते-करते स्वयं भी मशीन तुल्य हो जाते हैं। उनका व्यवसाय से सम्बन्ध केवल आजीविका प्राप्ति का है। परिणामस्वरूप वे उत्पादन सम्बन्धी विषयों में उत्साहहीन होते हैं। वे सोचते हैं कि उत्पादित वस्तुएँ भली हों या बुरी हों हम से क्या मतलब। परन्तु जब श्रमिकों को व्यवसाय संचालन का अधिकार एवं अवसर प्राप्त होता तो उन्हें मनो-वैज्ञानिक सन्तुष्टि होगी। वे उत्साहित होंगे, वस्तुओं को निजी कृति समझेंगे, उनके गुण सौन्दर्य की वृद्धि अपना लक्ष्य मानेंगे। फलतः व्यवसाय की प्रगति होगी।

व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रथा त्रुटिपूर्ण भी है। इसमें समाज का कृत्रिम एवं व्याव-सायिक रूप से विभाजन होता है। व्यक्ति के जीवन में आर्थिक पहलू को सर्वोच्च स्थान मिलता है। फलतः सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र गौण से हो जाते हैं। यह अस्वाभाविक है और सम्भवतः घातक भी सिद्ध हो सकता है। व्यक्ति केवल आर्थिक प्राणी ही नहीं अपितु सामाजिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक आदि भी है। उदाहरणार्थ यदि देश में सभी लोग साधु या संन्यासी हो जायँ तो आध्यात्मिकता को प्रश्रय अवश्य मिलेगा। किन्तु जीवन के अन्य क्षेत्र बिल्कुल अछूते ही रह जायेंगे। इसी प्रकार आर्थिक पहलू को विशिष्ट स्थान देने से आध्यात्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक पहलुओं का गौण स्थान हो जायगा। ऐसी बेमेल एवं कृत्रिम परिस्थिति जीवन के लिए अत्यन्त घातक है।

वास्तव में व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के फलस्वरूप केवल उत्पादन को ही प्रधान

स्थान मिलता है, वितरण को नहीं। यह प्रणाली आर्थिक जीवन के भी केवल एक ही पहलू से सम्बद्ध है। श्रेणी-समाजवादियों ने कहा था कि वितरण से सम्बद्ध समस्याएँ सहकारी समितियों द्वारा हल होंगी। उसका कहना था कि मतभेद की परिस्थिति में राज्य ऐसी संस्था का निर्णय सभी के लिए अनिवार्य होगा। श्रेणी-समाजवादियों की योजना कार्यान्वित न हो सकी, वह केवल योजनामात्र रही। सोवियत रूस में वितरण सम्बन्धी सहकारी समितियाँ अवश्य हैं, परन्तु वास्तव में उत्पादन और वितरण में राज्य का सर्वोच्च स्थान है। फासिस्ट इटली में भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। अतः व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सारहीन बना।

१९३६ के स्टालिन संविधान से इस प्रथा का अन्त कर दिया गया और परम्परागत प्रतिनिधि प्रणाली को अपनाया गया। इस परिवर्तन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि करीब २० वर्षों की राजनीतिक शिक्षा एवं सर्वांगीण प्रगति के फलस्वरूप सोवियत नागरिक प्रादेशिक इकाई के सदस्य की भाँति मनन करने योग्य बना। इसलिए अब व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सारहीन हो गया है। तात्पर्य यह है कि जब एक नागरिक बौद्धिक दृष्टिकोण से पिछड़ा हुआ है तो उसके लिए व्यावसायिक प्रतिनिधित्व आवश्यक है। वह अपने व्यवसाय सम्बन्धी विषयों पर सरलता से विचार प्रकट कर सकता है। उसका दृष्टिकोण प्रायः वहीं तक सीमित होता है। वह निर्वाचन में सरलता से सोच सकता है कि कौन व्यक्ति व्यावसायिक दृष्टिकोण से योग्य है। उसका मतदान निष्पक्ष एवं हितकर होगा। परन्तु जब व्यक्तियों की शिक्षा के फलस्वरूप उनका दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है तो व्यवसायिक प्रतिनिधित्व प्रथा की आवश्यकता नहीं रहती। तब वे प्रादेशिक इकाई की दृष्टि से मनन कर सकते हैं और निष्पक्ष मतदान भी। अतः व्यावसायिक प्रतिनिधित्व केवल कुछ परिस्थितियों में और अस्थायी रूप से उपयुक्त है। इस प्रथा द्वारा जनवाद की जटिल समस्या—जनस्वीकृति द्वारा राज्य—की पूर्ति नहीं हो सकती।

प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण :—कुछ वेत्ताओं का कहना था कि आज एकात्मक राज्यों (जैसे ब्रिटेन) में केन्द्रीकरण के फलस्वरूप सच्ची जनवादी प्रथा सम्भव नहीं है। केन्द्रीय धारा-सभा के कार्य असीमित से हो गये हैं। १९वीं सदी के "यद्भाव्यम् नीति" वाले राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित था, तब यह सम्भव था कि केन्द्रीय संसद राज्य के सीमित कार्यों से सम्बन्धित विषयों में नियम-निर्माण करे और कार्यपालिका

शासन पर नियंत्रण रख सके। परन्तु आज राज्य के कार्य असीमित से हो गये हैं। उसे केवल शान्ति तथा सुव्यवस्था के सम्बन्ध में ही नहीं वरन् जीवन के सभी विषयों में नियम-निर्माण करना पड़ता है। असीमित कार्यों के फलस्वरूप संसद् का शासन पर पूर्ण नियंत्रण कठिन ही नहीं असम्भव भी है। आज वास्तव में ब्रिटिश संसद् नहीं अपितु कार्यपालिका सत्ताधारी है। कार्यपालिका की आड़ में रूढ़िवादी नौकरशाही का बोलबाला होता है। आज जनवादियों के लिए यह पेचीदा विषय बन गया है—कैसे संसदीय सत्ता का पुनः स्थापन हो, कैसे जनता के प्रतिनिधियों का शासन पर नियंत्रण हो?

कुछ वेत्ताओं ने कहा कि यह समस्या प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण द्वारा हल हो सकती है। ब्रिटेन ऐसे देश में एक संसद् के स्थान पर तीन संसदें होनी चाहिये—एक केन्द्रीय, एक वेलस और एक स्काटलैंड के लिए। प्रादेशिक सम्बन्धी कार्यों को वेलस और स्काटलैंड की संसदें कर सकेंगी। केन्द्रीय संसद के कार्य कम हो जायेंगे। वह शासन एवं कार्यपालिका पर अपना नियंत्रण सुदृढ़ बना सकेगी। वेब की दो संसदों (एक राजनीतिक विषयों से सम्बद्ध और दूसरी आर्थिक एवं सामाजिक विषयों से) की योजना की भाँति यह योजना भी कार्यान्वित न हुई। प्रायः सभी देशों में परम्परागत केन्द्रीय धारा-सभा का राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसको इस स्थान से वंचित कर देने का अर्थ है एक महान् परम्परा का अन्त। अन्य संवैधानिक कारणों के अतिरिक्त राष्ट्रीय परम्परा के नाते इन योजनाओं ने राष्ट्र को आकर्षित न किया।

अन्य सुधार योजनाएँ:—संसदीय सत्ता को कार्यान्वित करने के लिए आज संसदीय कमेटियों की संख्या में वृद्धि आवश्यक मानी जाती है। कहा जाता है कि इन कमेटियों द्वारा संसद का कार्यपालिका पर नियंत्रण सम्भव है। इन समितियों द्वारा नौकरशाही का बोलबाला कम होगा और नियम-निर्माण में संसद् का पर्याप्त नियंत्रण भी। आशा की जाती है कि इन कमेटियों द्वारा संसद वास्तविकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी।

परन्तु सर्वप्रधान समस्या यह है कि जनता का सक्रिय भाग शासन में कैसे सम्भव हो सके? अर्थात् जनसत्ता कैसे वास्तविक बनाई जाय? यह जनता के सक्रिय भाग द्वारा सम्भव है। परम्परागत संसदीय जनवादी प्रथा में जनस्वीकृति का अवश्य

महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु कभी-कभी इस स्वीकृति सिद्धान्त का उल्लघन किया जाता है। जनस्वीकृति के वास्तवीकरण के हेतु नागरिक का राजनीति में सक्रिय भाग आवश्यक है। यह सक्रिय भाग जनसंघों द्वारा सम्भव हो सकता है। इसलिए लॉस्की ऐसे जनवादी वेत्ता संघों के अस्तित्व पर ज़ोर देते आये हैं। लॉस्की का कहना था कि सच्चा जनवाद केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है। इन संघों द्वारा नागरिक अपने विचार भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रकट कर सकेंगे। उनकी जनवादी शिक्षा, सच्चा जनमत और इस जनमत के आधार पर नियम-निर्माण सम्भव होगा। ऐसी परिस्थिति में नागरिक सोचेगा कि नियम-निर्माण कार्य में उसकी भी सम्मत्ति ली गई है। ऐसे नियम का वह हृदय से पालन करेगा। "जनस्वीकृति द्वारा" राज्य की समस्या की पूर्ति हो सकेगी।

लॉस्की ने कहा कि जनवाद को जनवादी बनाना चाहिये। वह तथा अन्य जनवादी वेत्ता यह स्वीकार करते हैं कि आधुनिक प्रतिनिधि जनवाद का आधार जनस्वीकृति है। परन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वास्तविक जनस्वीकृति केवल संघीय व्यवस्था एवं आर्थिक निश्चिन्तता के वातावरण में ही सम्भव हो सकती है। आर्थिक निश्चिन्तता के लिए पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का अन्त होना नितान्त आवश्यक है। अतः सच्चे जनवाद के हेतु बहुलवादी एवं समाजवादी व्यवस्था नितान्त आवश्यक है।

परन्तु ऐसे समाज का निर्माण कैसे किया जाय! समष्टिवादी योजनाओं द्वारा व्यवसायों का राष्ट्रीकरण अनिवार्य माना जाता है। राष्ट्रीकरण का अर्थ है राज्य द्वारा अर्थ-व्यवस्था का संचालन। राज्य के कार्यों की वृद्धि से नौकरशाही की संख्या में वृद्धि होती है। राष्ट्रीकरण द्वारा उसी नौकरशाही का अर्थ-व्यवस्था में बोलबाला होगा जिसकी वृद्धि को जनवाद के लिए अत्यन्त घातक माना जाता है। हाँ, श्रमिकों के प्रतिनिधियों का भी व्यवसाय के संचालन में कुछ हाथ अवश्य होगा, परन्तु इसकी मात्रा केवल "कुछ" ही तक सीमित रहती है और रहेगी।

सोवियत रूस और अन्य देशों के कम्यूनिस्टों का कहना है कि रूस, चीन आदि देशों में सच्चा जनवाद है। वहाँ शोषण-रहित समाज है और अन्य संघों द्वारा जनता का राजनीति में सक्रिय भाग है। जैसा साम्यवाद और "समाजवाद की समीक्षा" वाले अध्यायों में बताया गया है कि यदि कम्यूनिस्टों की परिभाषा को सत्य माना जाय तो अवश्य ही सोवियत रूस एक आदर्श जनवादी राज्य है। परन्तु परिभाषा का

प्रश्न सदा ही जटिल रहा है। रूस में परम्परागत दलबन्दी प्रथा का, जो प्रतिनिधि जनवाद के प्राणस्वरूप मानी जाती है, का पूर्ण अभाव है। इस दृष्टि से सोवियट व्यवस्था आदर्श जनवादी नहीं मानी जा सकती।

सोवियत रूस के उदाहरण से प्रेरित होकर जनवादियों का कहना है कि सच्चा जनवाद आर्थिक निश्चिन्तता के वातावरण में ही सम्भव हो सकता है। वेब और लॉस्की जैसे जनवादी सोवियत रूस की प्रशंसा करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि वहाँ जनता का शासन में सक्रिय भाग है। परन्तु वहाँ एकदलीय सरकार है। ये जनवादी वेत्ता सोवियट आर्थिक निश्चिन्तता और जनता के सक्रिय भाग की प्रथा को पश्चिमी परम्परागत प्रतिनिधि जनवादों पर लागू करना चाहते हैं। ऐसे समन्वय द्वारा एक आदर्श समाज के प्रादुर्भाव की आशा की जाती है। अभी यह केवल आशामात्र ही है।

सारांश

जनवाद एक विवादास्पद विषय है। भिन्न-भिन्न दल इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं। परन्तु अब्राहम लिंकन कृत परिभाषा—प्रजातंत्र जनता का, जनता के लिए एवं जनता द्वारा शासन है—प्रामाणिक मानी जाती है।

प्रतिनिधि जनवाद का मूल आधार यह है कि राष्ट्र का—"सामान्य हित" होता है और विवेकशील होने के नाते प्रत्येक नागरिक उसे जान सकता है और जानता है। सुशासन के हेतु कुछ प्रतिनिधियों को इस "सामान्य हित" को कार्यान्वित करने के लिए निर्वाचित किया जाता है। अर्थात् परोक्ष जनवाद का तथ्य है कि जन-शासन की अनुपस्थिति में भी जन-सत्ता संभव है। आलोचकों की दृष्टि में परम्परागत जनवाद का अर्थ, मूर्खों (जनता) पर उनकी अनुमति द्वारा शासन करना है।

जनवाद की सफलता के लिए जन-शिक्षा, निष्पक्ष-जनमत, राजनीतिक-दलबन्दी, नागरिक का सक्रिय-भाग, नागरिक-सतर्कता और आदर्श-निर्वाचन-व्यवस्था अनिवार्य हैं। किन्तु आधुनिक जनवाद में इन विशेषताओं का पूर्ण एवं आदर्श रूप प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी नाते जनवाद के शत्रु जनवाद को असंभव तथा सारहीन बताते हैं। परन्तु रचनात्मक आलोचक एवं सच्चे जनवादी सुधार की दृष्टि से त्रुटियों की व्याख्या करते हैं।

राजनीतिक दलबन्दी प्रथा को आधुनिक जनवाद का प्राण माना जाता है। परन्तु कुछ त्रुटियों के कारण राजनीतिक दल जनवाद की सफलता में बाधक बन गये

है। इन दलों में गुटबन्दी, अर्ध-सैनिक अनुशासन, स्वतंत्रता का अभाव एवं नेता का बोलबाला होता है। रूढ़िवादी दलों में पूँजीपतियों का परोक्ष रूप से एकाधिक होता है। निर्वाचन सफलता के हेतु ये दल कभी-कभी जनता को वर्गलाते एवं उभा है। स्वतंत्रता की अनुपस्थिति में संसदीय वादविवाद अस्तित्वहीन हो जाता है। स ही साथ नागरिकों को सुशिक्षित बनाने के बजाय ये दल कुशिक्षित बनाते हैं।

निष्पक्ष जनमत द्वारा ही सच्चा जनवाद संभव है। जनमत का आधार ज शिक्षा है। नागरिकों की जनवादी शिक्षा एक जटिल समस्या है। आधुनिक युग जन-शिक्षा के यंत्र इस कार्य में असफल सिद्ध होते हैं। क्योंकि इन यंत्रों (समाच पत्र, रेडियो, सिनेमा, आदि) में तटस्थता का अभाव है। समाचार पत्रों राजनीतिक दलों या अर्थ-स्वामियों का एकाधिकार होता है। फलतः निष्पक्ष सूचनाएँ, लेख आदि जनता को उपलब्ध नहीं होते। विवेकशीलता का, जो सच्चे जनमत के लिए नितान्त आवश्यक है, अभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

नागरिक सतर्कता एवं शिक्षा के हेतु नागरिक का शासन में सक्रिय भाग नितान्त आवश्यक है। यह सक्रिय भाग केवल विकेन्द्रीकरण एवं बहुलवादी व्यवस्था में ही संभव हो सकता है। इसलिए स्थानीय स्वशासन जनवाद की प्रथम एवं प्रमुख पाठशाला मानी जाती है। इसलिए लॉस्की ने जनवाद और अद्वैतवाद को विरोधात्मक व्यवस्था बताया था। आधुनिक राज्यों में सत्ता का केन्द्रीकरण एवं एकत्रीकरण बढ़ता हो जाता है, जो आदर्श जनवाद के लिए अत्यन्त घातक है।

प्रतिनिधि जनवाद में निर्वाचन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्वाचन सम्बन्धी कई समस्याएँ विद्यमान हैं। ये हैं योग्य उम्मीदवारों की उपस्थिति, स्वतंत्र मतदान, निर्वाचकों की योग्यता, निर्वाचन पद्धति एवं निर्वाचन व्यय आदि। योग्य तथा स्वतंत्र विचारक राजनीतिक और दलबन्दी के दल-दल से अलग ही रहना उचित समझते हैं। आधुनिक वर्गीय व्यवस्था में स्वतंत्र मतदान कठिन ही नहीं असंभव भी है। अमेरिका की जेरिमेन्डरिंग प्रथा से स्पष्ट हो जाता है कि शासक दल निर्वाचन पद्धति को कैसे अपने स्वार्थ के लिए उपयोगी बना सकते हैं। देखने में आता है कि रूढ़िवादी दल निर्वाचनों में कभी-कभी रुपये पानी की तरह बहाते हैं। ऐसी परिस्थिति में प्रतिनिधि शासन सारहीन ही नहीं वरन् कभी-कभी अयोग्य व्यक्तियों का सम्प्रदाय बन जाता है।

इन त्रुटियों को दूर करने के लिए कई योजनाएँ प्रस्तुत की गई हैं; व्यवसायिक प्रतिनिधित्व, आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं प्रादेशिक विकेन्द्रीकरण आदि योजनाएँ

उल्लेखनीय हैं। कार्यपालिका एवं शासन पर प्रतिनिधि संसद के वास्तविक अनुशासन के हेतु संसदीय समितियों की संख्या में वृद्धि आवश्यक मानी जाती है। परन्तु सच्चे जनवाद के हेतु सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्गठन अनिवार्य है। राजनीतिक जनवाद के लिए सामाजिक एवं व्यावसायिक जनवाद नितान्त आवश्यक है। तभी सच्चा जनमत, सच्ची जन-शिक्षा, एवं स्वतंत्र निर्वाचन संभव होंगे। स्वतंत्र संघों का अस्तित्व और विकेन्द्रीकरण जनवाद की सफलता के लिए अनिवार्य हैं। ऐसी व्यवस्था में ही परम्परागत जनवाद आदर्श बन सकता है।

त्रुटियुक्त होते हुए भी जनवाद ही मानव प्रगति के लिए सर्वोत्तम व्यवस्था है। क्योंकि जनवाद की अनुपस्थिति में अधिनायकवादी नरक अनिवार्य है।
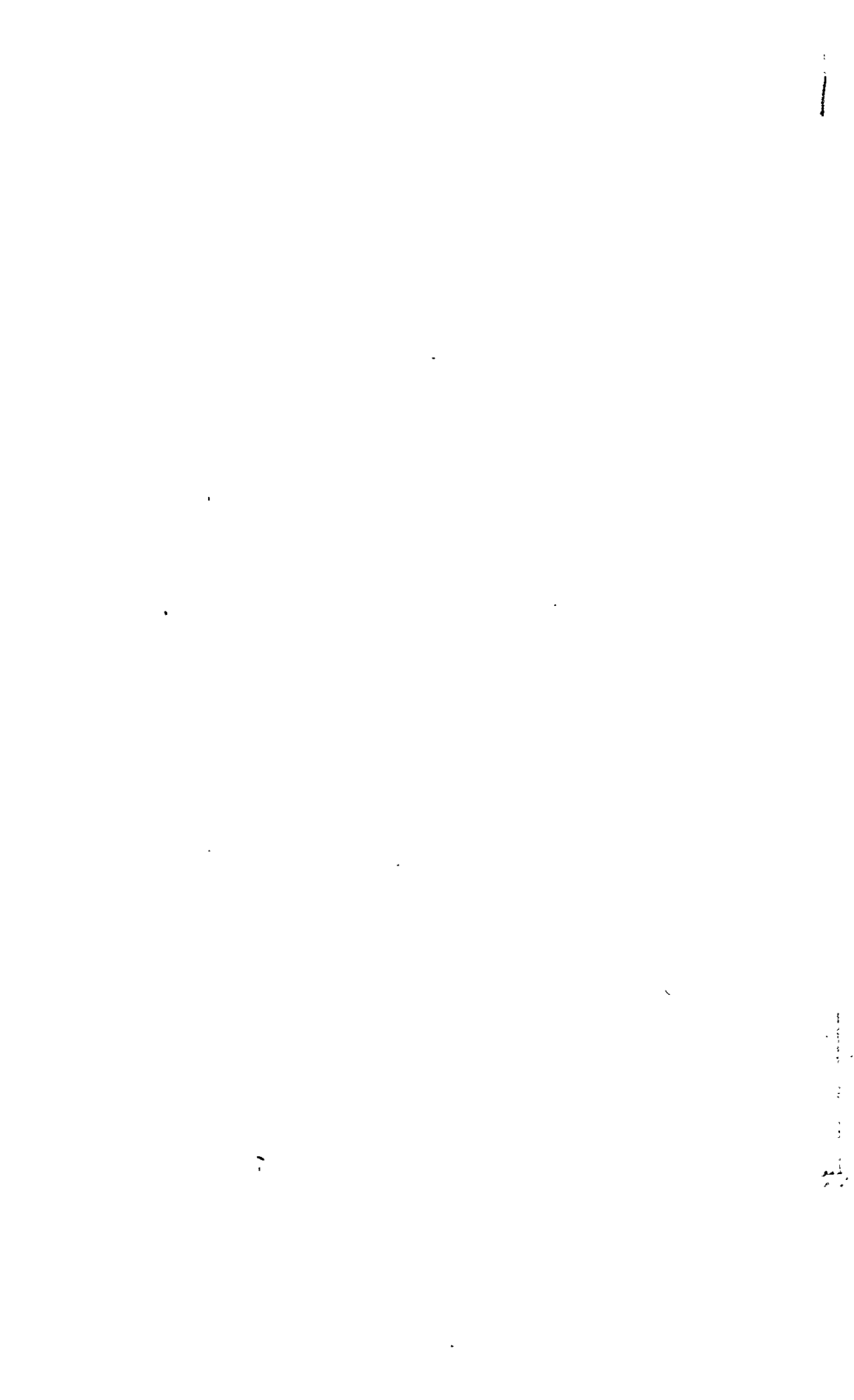
परिशिष्ट

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता का राजनीति दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव जीवन में सदैव स्वतंत्रता को उच्च स्थान प्राप्त है। रूसो ने ठीक ही कहा था कि स्वतंत्रता का परित्याग तथा मानवता का परित्याग दोनों पर्यायवाचक हैं। स्वतंत्रता-प्रेम मानव की प्रत्येक नस में व्याप्त है। इसीलिए हिटलर जैसा अधिनायक भी नात्सी राज्य को स्वतंत्रता का संरक्षक घोषित करता था। प्रायः सभी दार्शनिकों ने इस विषय में अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। परन्तु स्वतंत्रता की परिभाषा सदैव विवादास्पद रही है। अन्य समाजशास्त्रीय विषयों की भाँति इस शब्द की भी कोई पूर्ण निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती। सम्भवतः कोई भी दो लेखक ऐसे नहीं हुए हैं जिनकी स्वतंत्रता की परिभाषा ठीक एक जैसी हो।

तब भी सुविधा के लिए यहाँ उन परिभाषाओं का संक्षिप्त उल्लेख पर्याप्त है जो भिन्न भिन्न दर्शनों द्वारा की गयी हैं। ये दर्शन दो प्रकार के हैं—प्रथम वे जो नकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं तथा दूसरे वे जो सकारात्मक के।

अराजकतावाद तथा संघवाद पूर्ण नकारात्मक स्वतंत्रता के प्रचारक थे। इन दर्शनों के अनुसार केवल राज्य-विहीन समाज में ही वास्तविक तथा पूर्ण स्वतंत्रता सम्भव हो सकती है। इसी प्रकार व्यक्तिवादी दर्शन भी नकारात्मक स्वतंत्रता का समर्थक है। इसके अनुसार राज्य तथा समाज के न्यूनतम हस्तक्षेप की स्थिति में ही स्वतंत्रता का अस्तित्व सम्भव है (इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए व्यक्तिवाद वाला अध्याय देखिये)।

सकारात्मक स्वतंत्रता की दो प्रकार के दर्शनों द्वारा पुष्टि हुई है—प्रथम आदर्शवाद, फासीवाद, नात्सीवाद और अधिनायकवाद ; तथा द्वितीय साम्यवाद, समष्टिवाद और अन्य समाजवाद या प्रगतिवाद। उपरोक्त दोनों पक्ष राज्य हस्तक्षेप को स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए आवश्यक समझते हैं। परन्तु दोनों में ३ और ६ का सा भेद विद्यमान है।

आदर्शवाद के अनुकूल राजाज्ञा के पालन द्वारा ही वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव है। इस विचाराधारा को पुष्टि के हेतु हीगेल ने राज्य को "विश्व-आत्मा" तथा "सर्वव्यापक विचारतत्त्व" का प्रतीक बताया था। बोसांके ने भी राज्य को "सामान्य इच्छा" का प्रतिनिधि कहा था। कॉट तथा ग्रीन जैसे उदार आदर्शवादियों के अनुसार नैतिक कार्य करने की स्वतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है। इस नाते परोक्ष रूप से पर्याप्त सीमा तक इन दार्शनिकों ने राज्य-भक्ति को स्वतंत्रता का द्योतक बताया। (इस सम्बन्ध में आदर्शवाद वाला अध्याय देखिये)। फासीवाद तथा नात्सीवाद ने खुलेआम घोषित किया कि अधिनायकवादी-राज्य की, वस्तुतः अधिनायक की, आज्ञा के अनुसार जीवन यापन करने में ही वास्तविक स्वतंत्रता है। (इस विषय के लिए फासीवाद और नात्सीवाद वाले अध्याय द्रष्टव्य हैं)।

समाजवादी दार्शनिकों के मतानुकूल यथार्थ स्वतंत्रता तभी सम्भव है जब कि राज्य द्वारा नागरिकों को ऐसे पर्याप्त साधन उपलब्ध हो सकें जिनकी उपस्थिति में वे अपने निष्क्रिय अधिकारों को सक्रिय बना सकें। साम्यवादी एंगिल्स "आवश्यकता के ज्ञान" को ही स्वतंत्रता मानता है। लॉस्की तथा अन्य जनवादी-समाजवादियों के मतानुसार स्वतंत्रता के वास्तवीकरण के निमित्त राज्य द्वारा नागरिक को समुचित सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिये—जिससे कि वह स्वतंत्रता की रक्षा कर सके। ये दार्शनिक स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए आर्थिक और सामाजिक साधनों का राज्य द्वारा संचालन आवश्यक मानते हैं। (इस विषय की विस्तृत जानकारी के लिए साम्यवाद तथा समष्टिवाद वाले अध्याय देखिये)।

इस प्रकार स्वतंत्रता को भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। परन्तु संप्रति तीन प्रकार के विचार प्रचलित हैं—१—अधिनायकवादी विचारक राज्यभक्ति पर अधिक ज़ोर देते हैं। २–व्यक्तिवादी परम्परा के अनुसार रूढ़िवादी वेत्ता वैयक्तिक स्वतंत्रता की दुहाई देते हुए राज्य को आर्थिक एवं सामाजिक संचालन से परे रखने की चेष्टा करते हैं। ३—समाजवादी एवं प्रगतिशील वेत्ता तथा नेता आर्थिक एवं सामाजिक सुव्यवस्था और निश्चिन्तता को वैयक्तिक स्वतंत्रता का जनक मानते हैं और इस

नाते ये राज्य से आर्थिक और सामाजिक संचालन का अनुरोध करते हैं।

अस्तु नैतिक, वास्तविक, सच्ची तथा उच्च स्वतंत्रता केवल आदर्श सुव्यवस्था में ही सम्भव है। आधुनिक भौतिक जगत में आदर्श-सुव्यवस्था का अर्थ है—प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रगति के लिए पर्याप्त साधनों की प्राप्ति। यह तभी सम्भव है जब राज्य द्वारा राष्ट्र के आर्थिक साधनों का न्याययुक्त संचालन हो।

समानता और स्वतंत्रता का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। समानता का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान वेतन मिले अपितु प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार प्रगति का अवकाश प्राप्त होना ही समानता है। केवल ऐसी समानता की उपस्थिति में ही सच्ची स्वतंत्रता सम्भव है। तभी एक नागरिक अपने भाषण, लेख, संगठन, मत आदि की स्वतंत्रता को कार्यान्वित कर सकता है। अन्यथा ये सभी स्वतंत्रताएँ नाम-मात्रीय एवं थोथी हैं। उदाहरणार्थ एक भिक्षाजीवी के लिए स्वतंत्रता केवल स्वप्न की ही वस्तु रह जाती है। (इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए साम्यवाद तथा समष्टिवाद वाले अध्याय देखिये)।

स्वतंत्रता और सुव्यवस्था का भी अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। स्वतंत्रता का अस्तित्व केवल सुव्यस्था में ही सुरक्षित रह सकता है। इस सिद्धान्त को राज्य के प्रबल शत्रु—अराजकतावादी और संघवादी—भी स्वीकार करते हैं। ये दर्शन राज्य-नियंत्रण के विरोधी हैं, सुव्यवस्था के नहीं। इससे स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के लिए सुव्यवस्था आवश्यक है।

केवल सुव्यवस्था की सीमा निर्धारण में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों में परस्पर मतभेद है और यह विषय सदैव तर्कपूर्ण एवं जटिल बना रहा है। सदैव राजनीतिशास्त्र की यह समस्या रही है कि किस प्रकार बिना अंडा-रूपी-स्वतंत्रता को तोड़े हुए सुव्वस्था रूपी-आमलेट बनाया जाय? प्रायः सभी दार्शनिकों ने इस समस्या के समाधान के लिए यथा सम्भव प्रयत्न किये। किन्तु अभी तक वे किसी सर्वसम्मत निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके हैं। आशा है कि भविष्य में भी इस विषय में किसी निश्चित सर्वमान्य विधि का निर्माण सम्भव न हो सकेगा। राजनीतिशास्त्र अन्य समाज-शास्त्रों की भांति एक प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। इसीलिए प्राकृतिक विज्ञानों की भांति समाज विज्ञान में सभी विषयों की सर्वमान्य परिभाषा भी असम्भव है। अतएव न तो स्वतंत्रता की परिभाषा, और न उक्त समस्या की पूर्तिसर्वमान्य रूप से की जा सकती है।

यह होते हुए भी कुछ सामान्य विशेषताएँ स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य मानी जा सकती हैं। स्वतंत्रता के लिए सुव्यवस्था का होना अनिवार्य है। परन्तु वास्तविक (सच्ची)

स्वतंत्रता के लिए वास्तविक जनवादी सुव्यवस्था आवश्यक है। रूसो ने ठीक ही कहा था कि—'स्वतंत्रता का अर्थ है ऐसे नियमों के अनुसार जीवन यापन करना, जिनका निर्माण व्यक्तियों ने स्वयं किया हो'।— ऐसा आधुनिक विशाल राज्यों में प्रायः असम्भव सा है। अतएव एक आदर्श राज्य में स्वतंत्र संघों का विस्तार होना चाहिये। इन्हीं संघोंद्वारा नागरिक अपना मत प्रकट कर पुष्ट जनमत को जन्म देगा। फलतः राज्य-विधियाँ एक पुष्ट तथा प्रबल जनमत का प्रतिनिधित्व करेंगी। ऐसी विधियों के अनुसार जीवन यापन करने में ही पूर्ण स्वतंत्रता है। तभी लॉस्की ने बहुलवादी व्यवस्था को जनवाद एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए नितान्त आवश्यक बतलाया था। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता तथा मानव प्रगति के लिए सामाजिक तथा आर्थिक स्वतंत्रताएँ भी उपेक्षणीय नहीं हैं। इसीलिए समाजवाद के वेत्ताओं का कहना अत्यन्त उपयुक्त है कि राजनीतिक जनवाद बिना आर्थिक और सामाजिक जनवाद के सम्भव नहीं है। अस्तु, वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए बहुलवाद और समाजवाद आवश्यक हैं।

स्वतंत्रता कई प्रकार की मानी जाती हैं—नैसर्गिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय स्वतंत्रता. राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, नागरिक स्वतंत्रता, नैतिक स्वतंत्रता आदि। इनके अन्तर्गत निम्नांकित वैयक्तिक स्वतंत्रताएँ स्वतः आ जाती हैं—१—राज्य तथा शासन की आलोचना, २—मुद्रणालय तथा लेख प्रकाशन, ३—विचार तथा भाषण, ४-व्यक्तिगत सुरक्षा, ५—जीविका के साधन, ६—धार्मिक, ७—व्यक्तिगत तथा सामूहिक कार्य, ८—राज्य विरोध, ९—मतदान आदि।

अधिकार

प्रायः सभी दार्शनिकों ने व्यक्ति के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। अन्य समाजशास्त्रीय विषयों की भाँति यह विषय भी सदैव विवादास्पद रहा है। किन्हीं दो लेखकों ने इस विषय में एक से विचार प्रकट नहीं किये हैं। आधुनिक युग में अधिकारों की सुरक्षा के हेतु कितने ही संघर्ष हुए हैं। इन संघर्षों में अधिकारों के अनेक दर्शन प्रस्तुत किये गये हैं। सत्ताधारियों ने अपने अधिकारों की रक्षा के हेतु अधिकारों के कुछ मूल आधारों का विवेचन किया। शोषित तथा प्रगतिशील पक्ष ने मूलाधारों को सार्वजनिक हित की दृष्टि से प्रस्तुत किया।

नैसर्गिक अधिकार का सिद्धान्त—आधुनिक युग में सत्ताविहीन जनता ने

सत्ताप्राप्ति के हेतु सदैव नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त को अपनाया। इस सिद्धान्त का प्रादुर्भाव १६ वीं सदी, जो कि आधुनिक काल का प्रारम्भिक काल है, में हुआ था। नैसर्गिक अधिकारों का तथ्य है कि मनुष्य के कुछ अधिकार जन्मसिद्ध हैं। ये सुव्यवस्था से परे हैं, ये राज्य तथा समाज के पूर्व से ही चले आ रहे हैं। इन्हीं की रक्षा के हेतु राज्य की उत्पत्ति हुई है। राज्य का ध्येय इनकी सुरक्षा है, उल्लंघन नहीं। इनके बिना मानव, मानव नहीं है। ये ही सर्वोपरि हैं न कि राज्य या समाज।

१६ वीं सदी में प्रगतिशील मध्यम वर्ग ने (सौदागरों आदि) पुराने सामन्तशाही ढाँचे के विपरीत परोक्ष रूप से नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त को अपनाया था। अनुबन्धवाद के अध्याय में बताया गया है कि उस युग में अनुबन्धवाद का आधुनिक रूप दृष्टिगोचर हो रहा था। सभी नरेश-विरोधी आन्दोलनों के नेताओं तथा वेत्ताओं का कहना था कि अनुबन्ध द्वारा नरेश को जनता ने कुछ अधिकार प्रदान किये थे। नरेश ने इन अधिकारों का दुरुपयोग किया है। इसलिए अपने अधिकारों की सुरक्षा के हेतु जनता का राज्य-विरोध न्याययुक्त है। १७ वीं सदी में ब्रिटेन के संसदीय नेताओं ने नरेशों के विपरीत कहा था कि इन नरेशों को नागरिक की सम्पत्ति पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। इस विचारधारा की पृष्ठभूमि में यह धारणा व्याप्त थी कि जीवन तथा सम्पत्ति का अधिकार राज्य से परे है, अर्थात् नैसर्गिक है।

अनुबन्धवादी दार्शनिक हाब्स, लॉक, रूसो आदि ने भी नैसर्गिक अधिकारों को स्वीकार किया था; भले ही रूसो यह कहे कि अधिकार केवल राज्य में ही सम्भव है। अतः १६ वीं और १७ वीं सदियों में नैसर्गिक अधिकार तथा उसका मूलाधार नैसर्गिक नियम का युग था। यह मान लिया जाता था कि कुछ नैसर्गिक नियम हैं। ये नियम सर्वोपरि हैं। इन नियमों के आधार पर कुछ नैसर्गिक अधिकार हैं। ये भी समाज तथा राज्य से परे माने जाते थे। इन अधिकारों में सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति का अधिकार था। जॉन लॉक ने, जो १६८८ की रक्तहीन क्रान्ति का प्रमुख दार्शनिक था और इस नाते बढ़ते हुए पूँजीवाद का भी, सम्पत्ति के अन्तर्गत जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति को माना था। लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को जीवन के अधिकार से उच्च स्थान दिया था। उसका कहना था कि फौजी ऑफिसर भले ही कोर्ट मार्शल का दंड किसी सिपाही को दे सकता है, परन्तु वह उससे एक पैसा भी नहीं ले सकता।

१८ वीं सदी में अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध के नेता तथा वेत्ता नैसर्गिक अधिकार के सिद्धान्त के अनुगामी थे। उनका मूल नारा था—बिना प्रतिनिधित्व के कर अवैध हैं।

अपनी घोषणाओं तथा संविधान में उन्होंने नैसर्गिक अधिकार का उल्लेख किया। इस प्रकार एक नई संवैधानिक प्रथा का बीजारोपण हुआ। फ्राँस की राज्य क्रान्ति (१७८९) में भी नैसर्गिक अधिकारों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। "स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व" के नारे की पृष्ठभूमि में नैसर्गिक अधिकारों का सिद्धान्त था।

अन्य जन आन्दोलनों ने भी इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से अपनाया। साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों ने भी इसे स्वीकार किया। लोकमान्य तिलक का ऐतिहासिक कथन—"स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है"—की पृष्ठभूमि में भी यही धारणा थी। मुसोलिनी, हिटलर जैसे अधिनायक-वादियों ने भी इस सिद्धान्त के आधार पर घोषित किया कि बलवान् इटली तथा जर्मन जाति का अन्य बलहीन जातियों पर प्रभुत्व नैसर्गिक अधिकारों के दृष्टिकोण से न्यायसंगत है। यही नहीं श्रमिक-आन्दोलन के नेताओं ने सर्वदा प्रचार किया कि श्रमिकों का राष्ट्रीय अर्थ पर नियंत्रण नैसगिक अधिकारों की दृष्टि से न्यायपूर्ण है।

श्रम सिद्धान्त—यह सिद्धान्त उक्त सिद्धान्त से सम्बद्ध है। ये दोनों एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। जॉन लॉक इस सिद्धान्त का जन्मदाता है। उसने कहा कि विधाता ने मनुष्य को सामान्य वस्तुएँ, विवेक तथा श्रम दिये हैं। नैसर्गिक श्रम द्वारा व्यक्ति सामान्य वस्तुओं में से कुछ वस्तुओं को वैयक्तिक सम्पत्ति बनाता है। इस वैयक्तिक सम्पत्ति की सुरक्षा के हेतु नागरिक-समाज एवं राज्य की स्थापना हुई। इस श्रम सिद्धान्त के आधार पर सम्पत्ति के अधिकार को नैसर्गिक एवं सर्वोपरि माना गया। यह सिद्धान्त १८ वीं सदी के पूँजीपतियों के लिए गले के हार की भाँति था। (इसके विस्तृत वर्णन के लिए प्रथम अध्याय देखिये)। इसी सिद्धान्त के आधार पर १९ वीं सदी के समाजवादी लेखकों ने, मुख्यतः मार्क्स ने, श्रमिक आधिपत्य को न्याययुक्त बतलाया। मार्क्स ने कहा कि श्रमिक मूल्य बनाता है। इसलिए श्रमिक का अर्थ-व्यवस्था पर अधिकार होना चाहिये, पूँजी-पति का नहीं। जब समाजवादियों ने श्रम सिद्धान्त तथा नैसर्गिक अधिकारों के द्वारा आधुनिक सभ्यता के स्वामियों के एकाधिकार पर आघात किया, तब इन स्वामियों के पक्षपाती दार्शनिकों ने इन सिद्धान्तों की आलोचना की तथा नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये।

इन आलोचनाओं का सार यह है कि अधिकार केवल सुव्यवस्था में ही सम्भव हैं; वे इससे परे नहीं हैं। यह शत प्रतिशत सत्य है। फिर नैसगिक शब्द की निश्चित परिभाषा सम्भव नहीं है। इन आलोचनाओं की उपस्थिति में भी व्यक्तिगत नैसर्गिक अधिकारों की पुष्टि के विषय में सभी दार्शनिक सहमत हैं। जहाँ तक श्रम सिद्धान्त का प्रश्न है यह

कहा जाता है कि केवल श्रमद्वारा अधिकार सम्भव नहीं है ; सामाजिक तथा वैधानिक स्वीकृति भी आवश्यक है।

ऐतिहासिक सिद्धान्त—फ्रांस की राज्य क्रान्ति की विचारधारा पर नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त का प्रभाव पड़ा था। शोषित जनता के लिए रूसो का ऐतिहासिक कथन—मनुष्य स्वतंत्र जन्मा है और आज सभी ओर परतंत्रता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है—आकाशवाणी की तरह था। पीड़ित जनता में यह धारणा प्रबल थी कि समाज के पूर्व व्यक्ति सुखी थे और उनके नैसर्गिक-अधिकार सुरक्षित थे। इस राज्य क्रान्ति से प्रभावित होकर ब्रिटेन के प्रगतिशील वेत्ताओं ने जनता की दशा सुधारने के लिए आन्दोलन किया। टाम पेन (Tom Paine) ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक (Rights of man) में उक्त क्रान्ति की विचारधारा को न्यायसंगत बतलाया।

रूढ़िवादी बर्क ने ब्रिटिश पूँजीवाद एवं प्रतिक्रियावाद को जन आन्दोलन से बचाने के हेतु नैसर्गिक अधिकारों के सिद्धान्त की कटु आलोचना की। उसने कहा था कि बिना सामाजिक देन के व्यक्ति का जीवन नीरस है ; वह मक्खियों के समान है। अधिकार केवल समाज में ही सम्भव हैं। समाज एक सावयव की भांति है जिसकी ऐतिहासिक परम्परा है। ऐसी परम्परा की अनुपस्थिति में समाज का अस्तित्व असम्भव है। अधिकार वही वास्तविक है जो समाज की दृष्टि से उपयुक्त हो। उपयोगिता का अर्थ है—ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी। अर्थात् वही अधिकार न्यायसंगत है जिसका आधार परम्परा हो, कोई भी अधिकार नैसर्गिक नहीं है।

ऐसे दर्शन द्वारा फ्रांस की राज्य क्रान्ति के ब्रिटिश समर्थकों की आलोचना की गयी। परन्तु यह सिद्धान्त अधिक समय तक न टिक सका। इसका स्थान वैधानिक तथा उपयोगितावादी एवं आदर्शवादी दर्शनों ने लिया। ये दर्शन सत्ताधारियों के लिए अधिक पुष्टिकारक तथा प्रामाणिक प्रतीत हुए। यह तो सत्य है कि अधिकार का परम्परा से सम्बन्ध है, किन्तु सभी परम्परागत प्रथाएँ अधिकार नहीं मानी जा सकतीं। हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों में स्त्री-पुरुष अधिकार परम्परागत हैं। ऐसे अधिकार मानवता की दृष्टि से पूर्णतया न्यायसंगत नहीं माने जा सकते।

वैधानिक सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का जन्मदाता बेन्थम था। उसने भी नैसर्गिक अधिकारों की तथा फ्रांसीसी राज्य क्रांति की आलोचना की। उसका कहना था कि नैसर्गिक अधिकार सार हीन हैं तथा उनका आधार निर्बल है। अधिकार नियम की देन हैं। कोई भी अधिकार नियम की अनुपस्थिति में या उसके विरुद्ध नहीं हो सकता। अधिकार

नियम से परे नहीं है। सम्पत्ति और नियम का जन्म साथ-साथ हुआ है। उनका अन्त भी साथ-साथ होगा। अतः अधिकार सुव्यवस्था एवं राज्य की देन है।

उपयोगितावादी सिद्धान्त—बेन्थम उपयोगितावाद का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक था। उसके मतानुकूल उपयोगिता ही मानव जीवन में सत्ताधारी है। मनुष्य के सभी कार्य उपयोगिता पर आश्रित हैं। एक आदर्श व्यवस्थापक को उपयोगिता की दृष्टि से नियम बनाने चाहिये तथा उचित अधिकार प्रदान करने चाहिये। उपयोगितावाद के अनुसार आदर्श राज्य वही है जो न्यूनतम हस्तक्षेप करे। राज्य-विधि का आधार उपयोगिता होना चाहिये। अतः बेन्थम के वैधानिक-अधिकारों के सिद्धान्त का मूल आधार उपयोगिता का सिद्धान्त था।

१९ वीं सदी के ब्रिटिश तथा अन्य पूँजीपतियों को ये वैधानिक तथा उपयोगितावादी सिद्धान्त अत्यन्त लाभप्रद साबित हुए। अब उन्होंने लॉक के नैसर्गिक तथा श्रम अधिकार जिसको दलित तथा क्रान्तिकारी-वर्ग ने अपना लिया था, का परित्याग किया और इन सिद्धान्तों को अपनाया। विख्यात अर्थशास्त्र वेत्ता मार्शल (Alfred Marshal) और तौसिग (F. W. Taussig) आदि उपयोगितावाद को प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप से अधिकारों का मूल आधार मानते हैं। वही अधिकार न्यायसंगत है जो अधिकाधिक उपयोगिता एवं सुख का जनक हो। इस आधार पर पूँजीवादी व्यवस्था, अर्थात् पूँजीपति के एकाधिकार, को न्याययुक्त बताया जाता है। क्योंकि कहा जाता है कि ऐसी व्यवस्था में अधिकाधिक उत्पादन सम्भव है और फलतः अधिकाधिक उपयोगिता एवं सुख भी।

वैधानिक-सिद्धान्त का यह दृष्टिकोण सत्य है कि सुव्यवस्था एवं विधि की अनुपस्थिति में कोई भी अधिकार सम्भव नहीं है। परन्तु क्या व्यवस्थापक मनमानी नियमों को बना सकता है? क्या एक तानाशाह की आज्ञाएँ नैतिकता के दृष्टिकोण से अधिकार का स्रोत मानी जा सकती हैं? हां, यह सत्य है कि वही अधिकार न्यायसंगत है जो समाज के लिए उपयोगी हो। परन्तु वस्तुतः बेन्थम तथा उसके अनुयायियों का उपयोगितावाद, पूँजीपतियों का उपयोगितावाद था। फलतः ऐसा उपयोगितावाद तथा उस पर आश्रित अधिकार सर्व-साधारण के लिए उपयोगी नहीं माना जा सकता।

आदर्शवादी सिद्धान्त—आदर्शवादियों के अनुसार अधिकार राज्य की देन है। वही अधिकार न्यायसंगत माना जा सकता है जो आध्यात्मिकता तथा नैतिकता की पुष्टि करे। क्योंकि राज्य इन दोनों का प्रतीक है; इसलिए वही अधिकार न्यायसंगत है जो राज्य की देन हो। फासीवादियों तथा नात्सीवादियों ने भी कुछ ऐसी ही विचारधारा का प्रचार

किया। (इस सम्बन्ध में आदर्शवाद, फासीवाद, तथा नात्सीवाद के अध्याय देखिये)। यह तो सत्य है कि अधिकार द्वारा नैतिकता की पुष्टि होनी चाहिये। परन्तु नैतिकता के नाते नागरिकों को दासतुल्य बनाना न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता।

समाज-हित का सिद्धान्त—यह सिद्धान्त उपयोगितावाद का वामपक्षीय संस्करण कहा जा सकता है। इसका प्रमुख प्रचारक मिज्तू (Senor De Moeztu) था। ब्रिटेन में टानी (R. H. Tawney) इसका सर्वप्रमुख वेत्ता था। अब सभी समाजवादी दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को अपना लिया है। जहाँ आधुनिक पूँजीवाद के समर्थक उपयोगितावाद के नाते पूँजीपति की वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को न्यायसंगत बताते आये हैं, वहाँ समाजवादी दार्शनिक ऐसे अधिकार को समाज-हित के नाते न्यायहीन बताते हैं। उनका कहना है कि समाज-हित के दृष्टिकोण से पूँजीपति का अर्थ-व्यवस्था पर एकाधिकार नहीं होना चाहिये। क्योंकि वैभव-पूर्ण पूँजीपति सट्टेबाजी के अतिरिक्त कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता जिसमें सामाजिक सुख निहित हो। इसलिए उसका राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर प्रभुत्व रहना अनुचित है; क्योंकि वही अधिकार न्यायपूर्ण है जो सामाजिक प्रगति के लिए हितकर हो। इस नाते समाजवादी आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था को न्याययुक्त बताया जाता है।

यह सिद्धान्त मानवता की दृष्टि से उचित है। इसके विपरीत केवल यह कहा जा सकता है कि समाज-हित को कौन निर्धारित करेगा।

राज्य के कार्य

परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राज्य के कार्यों को अनिवार्य तथा ऐच्छिक में विभाजित किया जाता है। इस विभाजन की पृष्ठभूमि कुछ ऐसी है। अठारहवीं सदी में व्यक्तिवाद का बोलबाला था। लॉक की परम्परा के अनुसार व्यक्ति को प्रकृति से विवेकशील तथा नैतिक माना जाता था। विवेकशील होने के नाते मनुष्य से आशा की जाती थी कि वह अपना हित तथा अहित स्वयं जान सकता है। बेन्थम के उपयोगितावाद ने इस विचारधारा को पुट दी और मनुष्य को उपयोगिता की कठपुतली-स्वरूप बनाया। नैतिक होने के नाते यह मान लिया जाता था कि व्यक्ति स्वयं ही अपनी बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सफलता प्राप्त कर सकता है। इस विचारधारा के वातावरण में यह माना जाता था कि राज्य की स्थापना नैतिक, अध्यात्मिक तथा बौद्धिक वृद्धि के लिए नहीं हुई

है और न यह राज्य का ध्येय ही है कि वह ऐसी वृद्धि में सहायक हो। राज्य की स्थापना केवल सुरक्षा के हेतु हुई थी। फलतः उसके कार्य रक्षा तथा न्याय तक ही सीमित होने चाहिये।

इस आधार पर "यद् भाव्यम् नीति" वाले राज्य को आदर्श व्यवस्था माना जाता था। सर्वोत्तम राज्य वह था जो कम से कम शासन करे। राज्य को आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र से वंचित किया जाता था। इस विचारधारा को अर्थ-शास्त्र, उपयोगितावाद, वैयक्तिक-स्वतंत्रता और जीव-शास्त्र द्वारा न्यायसंगत बताया गया। (व्यक्तिवाद वाला अध्याय देखिये)। वस्तुतः ऐसी नीति तथा विचारधारा बढ़ते हुए पूँजीपतियों के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुई। औद्योगिक सभ्यता की बुराइयाँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयीं। गरीबी, बेरोजगारी आदि समाज की विशेषताएँ बनीं। श्रमिक-आन्दोलन का प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ। व्यक्तिवादी सिद्धान्त तथा राज्य की कटु आलोचना हुई। सामाजवादी सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था एवं व्यक्तिवादी नीति का विरोध किया। इन सबका आदर्श ऐसी व्यवस्था थी जिसमें उत्पादन के साधनों का समाजीकरण या राष्ट्रीकरण हो। श्रमिक-आन्दोलन ने सदा राज्य से अनुरोध किया कि वह नैतिक, शारीरिक एवं बौद्धिक प्रगति सम्बन्धी योजनाएँ बनाये और उन्हें कार्यान्वित करे। उधर आदर्शवादी दर्शन ने भी व्यक्तिवादी परम्परा का खण्डन किया।

फलतः पुराने व्यक्तिवाद में संशोधन हुआ। श्रमिक-आन्दोलन के फलस्वरूप राज्य ने धीरे-धीरे कई समाज-सेवक योजनाओं को अपनाया। शासक वर्गों ने सिद्धान्ततः व्यक्तिवाद का तो विरोध नहीं किया, किन्तु परोक्ष रूप से व्यवहार में उसके विपरीत कार्य किये। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के पश्चात् श्रमिक-आन्दोलन अधिक शक्तिशाली बना। राज्य के कार्य-क्षेत्र में वृद्धि हुई। अब आर्थिक तथा सामाजिक जीवन का संचालन उसके क्षेत्र से परे न रहा। सन् १९२९-३१ के विश्व-आर्थिक-संकट के परिणामस्वरूप पुराने व्यक्तिवादी गढ़ ब्रिटेन ने "यद् भाव्यम् नीति" का पूर्णतया परित्याग किया। अमेरिका में रुजवेल्ट की New Deal व्यक्तिवादी परम्परा के प्रतिकूल थी। यूरोप में फासीवाद की प्रगति भी व्यक्तिवादी परम्परा के प्रतिकूल थी। अतः अब व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अवशेष भी बाकी न रहे।

आज आदर्श राज्य समाज-सेवक राज्य माना जाता है। राज्य से आशा की जाती है कि वह नागरिक की जन्मकाल से मृत्यु पर्यन्त सेवा करे। यह तभी सम्भव है जब राज्य आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं को व्यक्ति के हाथों नहीं छोड़े। वे कार्य जो परम्परा-

नुसार ऐच्छिक माने जाते थे, आज अनिवार्य हो गये हैं। यातायात, स्वास्थ्य, शिक्षा, विद्युत, जल आदि का प्रबन्ध राज्य द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से होता है। कोई भी समाज-सेवा का कार्य राज्य की योजनाओं से परे नहीं माने जाते। रेडियो, समाचार-पत्र, शिक्षा आदि विषय आज वैयक्तिक नहीं रह गये। वैसे तो वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रचार किया जाता है, परन्तु वस्तुतः वह आवरण सा प्रतीत होता है। अमेरिकामें, जो वैयक्तिक-स्वतंत्रता को आदर्श घोषित करता है, कुछ व्यक्तियों को भाषण, लेख तथा शिक्षण कार्य से राज्य द्वारा हाल ही में वंचित किया गया है।

ऐसी परिस्थिति में राज्य के कार्यों का परम्परागत विभाजन—अनिवार्य तथा ऐच्छिक—काल्पनिक सा विदित होता है। आज राज्य के कार्य नैतिकता प्रगति की बाधाओं को रोकने तक सीमित नहीं है, जैसा ग्रीन का मत था। आज नागरिक की समस्त समस्याएँ राज्य के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। तो फिर मतभेद किस विषय पर है? वे दार्शनिक, नेता तथा राज्य जो व्यक्तिवाद को दुहाई देते हैं, उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार की परम्परा के अनुयायी हैं। उनके अनुसार इन साधनों का स्वामित्व व्यक्ति-विशेष के हाथों में रहना चाहिये। परन्तु आवश्यकतानुसार वेतन-निर्धारण, कार्यकाल तथा श्रमिकोद्धार सम्बन्धी विषयों में राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिये। साधारणतया व्यवसायों का संचालन तथा संगठन उनके स्वामियों की स्वेच्छानुसार होना चाहिये। दूसरी ओर फासीवादी प्रथा में अर्थ-स्वामियों का स्वामित्व सुदृढ़ होता है। वे लाभ के भोगी होते हैं, परन्तु व्यवसायों का संचालन राज्य तथा फासीवादी दल द्वारा होता है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक अधिकार नहीं रहता है। उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी सभी कार्य राज्य द्वारा होते हैं। (चीन में पूँजीपति अभी विद्यमान हैं परन्तु उनका अर्थ-व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वे पूर्णतया राज्याधीन हैं। उनका लाभ राज्य द्वारा सीमित है। वे बलहीन हैं तथा शासक वर्ग बलवान है)।

अस्तु, आज राज्य के कार्यों का क्षेत्र असीमित हो गया है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि सुरक्षा तथा न्याय राज्य के सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम कार्य हैं। परन्तु प्रगतिशील एवं समाजवादी दार्शनिक सुरक्षा तथा न्याय के अन्तर्गत श्रमिकोद्धार सम्बन्धी आर्थिक तथा सामाजिक योजनाएँ भी सम्मिलित करते हैं। लॉस्की तथा अन्य समाजवादी वेत्ता सामाजिक और आर्थिक न्याय को भी परम्परागत न्याय का प्रमुख अंग मानते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक तथा सामाजिक सुव्यवस्था (जो परम्परागत ऐच्छिक कार्यों के अन्तर्गत हैं) राज्य के अनिवार्य-कार्यों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

राज्योत्पत्ति-विषयक सिद्धान्त

राज्योत्पत्ति का विषय राजनीति शास्त्र में सदैव विवादास्पद रहा है। वास्तव में सभी राज्यों की उत्पत्ति एक प्रकार नहीं हुई है। इसलिए राज्योत्पत्ति के भी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं। कोई भी निश्चित सिद्धान्त सभी राज्यों की उत्पत्ति के विषय में लागू नहीं हो सकता।

दैवांश-सिद्धान्त—यह अतिप्राचीन तथा सर्वप्रथम सिद्धान्त है। आधुनिक युग के पूर्व धर्म का प्राधान्य था। प्रत्येक सत्ताधारी, चाहे लौकिक हो या धार्मिक, अपनी सत्ता को पुष्टि के हेतु धर्मभीरु जनता के सन्मुख अपनी सत्ता का श्रेय ईश्वर तथा देवताओं को देता था। इन सत्ताधारियों के समर्थक भी यही बताने की चेष्टा करते थे।

प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में राजा की तुलना उसके कार्यानुसार अन्य देवताओं से की गयी थी। महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा की इन्द्र तथा यम से तुलना की गयी है। मनुस्मृति में लिखा है कि राजा इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के समान है। उसी ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि एक नाबालिग नरेश को भी मनुष्य समझ कर घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये, क्योंकि वस्तुतः वह नर रूप में देव-तुल्य है। प्रायः सभी ग्रन्थों में यह बताया गया है कि मानव-जाति सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग की परम्पराओं के अनुकूल उत्तरोत्तर अवनति की ओर अग्रसर होती गयी। इनमें कलियुग की तुलना मात्स्य-न्याय से की गयी है। तथा प्रायः सभी ग्रन्थों (महाभारत, मनुस्मृति, अर्थशास्त्र, बौद्ध साहित्य आदि) में भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। परन्तु इन सभी का सार यह है कि मात्स्य-न्याय की दुःस्थिति के निवारण के लिए ही ईश्वर द्वारा राज्य की स्थापना तथा राजा की नियुक्ति की गयी थी।

मध्यकालीन यूरोप में धर्म का प्राधान्य था। राजनीति, अर्थशास्त्र इत्यादि पर धर्म को अमिट छाप थी। सभी सत्ताधारियों को देवतुल्य तथा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। कहा जाता था कि जब मनुष्य पतित हुए तो ईश्वर ने राज्य की स्थापना तथा राजा की नियुक्ति की। राज्य तथा राजा का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य धर्म को रक्षा करना था। वस्तुतः राज्य को धर्म-संचालक यंत्र समझा जाता था। सारांश में यह वर्णन उक्त प्राचीन-भारतीय ग्रन्थों के वर्णनों से अधिकाधिक साम्य रखता था।

मध्यकालीन यूरोप में दो प्रमुख तथा व्यापक संस्थाएँ थीं—धार्मिक तथा लौकिक।

धार्मिक-दृष्टि से पोपशाही का बोलबाला था तथा लौकिक-दृष्टि से पवित्र-रोमन-सम्राट सर्वोच्च था। इन दोनों शक्तियों में परस्पर सर्वोच्चता के लिए निरन्तर संघर्ष होता रहता था। धर्म प्राधान्य तत्कालीन यूरोप की दोनों सत्ताएँ अपने एकाधिकार का श्रेय ईश्वर को देती थीं। यह स्वीकार किया जाता था कि राज्य और धर्म दोनों ही ईश्वरीय देन हैं। मतभेद केवल इस बात का था कि ईश्वर ने किसको उच्चतम माना है। इस आधार पर दो प्रकार के दर्शन विद्यमान थे—प्रथम वे जो धर्म को सर्वोच्च स्थान देते थे, तथा द्वितीय वे जो धर्म के इस स्थान को स्वीकार करते हुए भी राज्य को इससे सर्वथा स्वतंत्र मानते थे। इस सम्बन्ध में दोनों पक्ष धर्मग्रन्थों, मुख्यतः ओल्ड टेस्टामेन्ट (Old Testament) के उद्धरण प्रस्तुत करते थे।

१६ वीं सदी से आधुनिक युग आरम्भ होता है। इसका श्रेय पुनर्जागरण तथा १६वीं सदी के धर्म-सुधार को है। धर्म सुधार (१५२५) के फलस्वरूप पोप की सत्ता की व्यापकता समाप्त हुई। प्रायः इसी समय पवित्र-रोमन-सम्राट् की नाममात्रीय सत्ता भी धीरे-धीरे लुप्त हो रही थी। पश्चिमी यूरोप (ब्रिटेन, फ्रांस, तथा स्पेन) में राष्ट्रीय राज्यों का जन्म हुआ। यह राष्ट्रीयता की भावना उत्तरोत्तर प्रगति करती रही। राष्ट्रीय नरेश इन राज्यों की राष्ट्रीय भावनाओं की विद्युत तरंगों के प्रतीक थे। धर्म-सुधार के फलस्वरूप अन्य संप्रदायों का जन्म हो गया था। फलतः १६ वीं और १७ वीं सदियों ने राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्षों ने धर्म का बाह्य आवरण धारण किया।

आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक मतभेदों के फलस्वरूप फ्रांस में ८ गृहयुद्ध (१५६२-से ९८ तक) हुए। राजतंत्र के अनुयायियों ने राज्यभक्ति के प्रति श्रद्धा व्यक्त की। इस हेतु उन्होंने बाइबिल जैसे धर्मग्रन्थों की आड़ में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि बतलाया। अतः राज्य के दैवांश-सिद्धान्त ने राजा के दैवी-अधिकार के सिद्धान्त का रूप धारण किया।

१७ वीं सदी में ब्रिटेन के प्रथम स्टुअर्ट नरेश, जेम्स प्रथम, ने तत्कालीन परिस्थितिवश दैवी-अधिकार के सिद्धान्त की व्याख्या की तथा उसके आधार पर अपने निरंकुश शासन को न्यायसंगत बतलाया। जेम्स निरंकुश शासन के प्रबल समर्थक के साथ-साथ निरपेक्षता का दार्शनिक भी था। संसद की बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध उसने खुले-आम घोषित किया कि नरेश ईश्वर द्वारा नियुक्त हुआ है। इसलिए वह केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है। राज-वाणी, देव-वाणी-तुल्य है। राजा का प्रजा की जान व माल पर पूर्ण अधिकार है। राज्य के सभी कर्मचारी, न्यायाधीशों सहित, उसके अधीन हैं। जैसे देव-वाक्य का उल्लंघन

करना पाप है वैसे ही राजाज्ञा के विपरीत कार्य विद्रोह का प्रतीक है। राजा परम्परा से परे है। वह किसी भी रूढ़िगत-प्रथा तथा नियम में परिवर्तन करने के लिए स्वतंत्र है। वह नये अपराध या नियम भी घोपित कर सकता है। संसद या निर्णायक-गण उसकी दैवी सत्ता को सीमित नहीं कर सकते। (जेम्स ने ये घोपणाएँ समय समय पर की थीं)। इन घोपणाओं का दार्शनिक सार The True Law of Free Monarchies (१५९८) में मिलता है। गूच (G. P. Gooch) ने दैवी-अधिकार के सिद्धान्त की चार विशेपताएँ बतलायी थीं— १—राजतंत्र दैवी-संस्था है। २—वंशागत-अधिकार अपरिवर्त्तनशील है। ३—राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। ४—राज्याविरोध पाप है।

ब्रिटिश-गृहयुद्ध (१६४२-४६) के पश्चात् यह सिद्धान्त धीरे-धीरे अस्तित्व-हीन होता गया। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप ब्रिटेन में केवल थोड़े से रूढ़िवादी ही इस सिद्धान्त के गुप्त रूप से अनुयायी रहे। केवल फिलमर (Sir Robert Filmer) ने १६८१ में अपनी पुस्तक पैट्रिआर्का में दैवी-अधिकार को विवेक द्वारा न्यायसंगत बताने की चेष्टा की थी। उसका कहना था कि जो प्राकृतिक है वह ईश्वर प्रदत्त है। राजतंत्र प्राकृतिक है। इसलिए वह ईश्वर प्रदत्त है। वस्तुतः फिलमर के इस विवेकपूर्ण विश्लेपण ने इस सिद्धान्त की अवनति का मार्ग प्रस्तुत किया। क्योंकि जब राजतंत्र को प्राकृतिक होने के नाते दैवी तथा निरपेक्ष संस्था बतलाया जा सकता है; तो इसी विवेचन के आधार पर राजतंत्र को सीमित तथा संरक्षक बताया जा सकता है। जैसा कि जान लॉक ने किया था।

दैवांश-सिद्धान्त के फलस्वरूप राज्य-स्थायित्व को पर्याप्त बल मिला। अति प्राचीन मानव जीवन में धर्म ही सर्वेसर्वा था। व्यक्ति प्रायः वस्तुओं की उत्पत्ति का श्रेय ईश्वर को ही देता था। इसीलिए वह उनकी पूजा भी करता था। ऐसे वातावरण में राज्य-भक्ति तथा राज्य अनिवार्यता केवल दैवोत्पत्ति के ही आधार पर सम्भव हो सकती थी। इस आवश्यकता की पूर्ति इस सिद्धान्त द्वारा हुई। अतः राज्य तथा सुव्यवस्था ने मानव-जीवन में स्थायी स्थान धारण किया। साथ ही साथ अबोध जनता के वातावरण में राजा की निरपेक्षता को धर्म (मोक्ष, ईश्वर, परलोक आदि) द्वारा सीमित तथा प्रतिबंधित किया गया। प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों तथा पश्चिमी धार्मिक ग्रन्थों में इस बात पर जोर दिया जाता था कि यदि राजा धर्म के अनुसार राज्य नहीं करेगा तो वह मुक्ति का भागी नहीं हो सकता। अतः इस सिद्धान्त द्वारा राज्य तथा राजा पर नैतिक प्रतिबन्ध लगाया गया।

आधुनिक युग में विवेकवाद का उच्च स्थान रहा है। मध्यकालीन सभ्यता का आधार-अन्ध विश्वास था। केवल वैसे वातावरण में राज्य-निरपेक्षता तथा पोपशाही का

योलवाला सम्भव था। पुनर्जागरण ने विवेक को उच्च स्थान दिया। विवेक द्वारा उक्त सभ्यता का खंडन किया गया। यह कार्य कई सदियों में सम्भव हो सका। राजनीति की दृष्टि से हाब्स के अनुबन्धवाद ने राज्य को पूर्णतया मानवीय संस्था बताया। जान लॉक ही शायद पहला दार्शनिक था जिसने अपने राजनीतिदर्शन को बाइबिल के उद्धरणों से मुक्त किया। अतः धीरे-धीरे दैवांश-सिद्धान्त तथा दैवी-अधिकार के सिद्धान्त का एवं अन्धविश्वास के वातावरण का लोप हुआ। साथ ही साथ धीरे-धीरे राजनीतिक संघर्षों से धर्मरूपी आवरण हटा। जहाँ १६ वीं सदी में फ्रांस के गृहयुद्धों में धार्मिक आवरण से आर्थिक एवं राजनीतिक मतभेद पूर्णतया छिपे हुए थे, वहाँ १७ वीं सदी के ब्रिटिश गृहयुद्ध में ये मतभेद महत्त्वपूर्ण थे, तथा धार्मिक मतभेद उपेक्षित। इस प्रकार राजनीतिक जीवन में धर्म का ह्रास हुआ और फलतः दैवांश-सिद्धान्त का भी।

अनुबन्धवादी-सिद्धान्त—इस सम्बन्ध में प्रथम अध्याय देखिये।

शक्ति-सिद्धान्त – ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि देवों (आर्यों) और असुरों (अनार्यों) के युद्ध में देवों की पराजय हुई। उन्हें विदित हुआ कि उनकी पराजय का कारण राजा की अनुपस्थिति, तथा असुरों की विजय का कारण राजा की उपस्थिति थी। उन्होंने राजतंत्र की स्थापना की अतः राजतंत्र का जन्म युद्ध के परिणामस्वरूप हुआ। सभी प्राचीन भारतीय लेखकों ने दंड का (शक्ति) अनिवार्य स्थान स्वीकार किया। सुव्यवस्था का साध्य धर्म था तथा उसका साधन दंड। अतः शक्ति को सामाजिक संचालन में सर्वोच्च स्थान मिला।

मध्यकालीन यूरोप में राज्य का आधार शक्ति माना जाता था। यह शक्ति धर्म की सुरक्षा के हेतु अनिवार्य मानी जाती थी। १६वीं सदी में लूथर ने भी इसी परम्परानुसार कहा था कि जन-साधारण को राजतंत्र के बल द्वारा ही सच्चा ईसाई बनाया जा सकता है। ग्रोसस ने (Hugo Grotius) राज्योत्पत्ति का श्रेय बाहुबल को दिया था।

१९वीं सदी में इस सिद्धान्त ने उग्र रूप धारण किया। जर्मनी अन्य साम्राज्यवादी देशों से पिछड़ा हुआ था। कुछ परिस्थितियों के फलस्वरूप वहाँ के शासकों को सैनिक शक्ति राष्ट्रीय संगठन तथा साम्राज्य-वृद्धि के लिए नितान्त आवश्यक प्रतीत हुई। फलतः कुछ उग्र राष्ट्रवादी दार्शनिकों ने राज्योत्पत्ति का श्रेय बाहुबल को दिया और उसे राज्य संचालन में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। ट्रिट्स्के ने बताया कि राज्य कोई सट्टेबाजी का स्थान या कला भवन नहीं है, वह शक्ति का प्रतीक है। ऐसी विचारधारा जर्मनी के सैनिक शासकों के रग-रग में भरी हुई थी; ऐसी मनोवृत्ति तथा परम्परा के वातावरण में ही हिटलर

का नात्सीवाद पनप सका। इसी वातावरण में हो हिटलर की घोषणाओं :--जर्मन जाति सर्व-शक्तिमान् है, उसका बलहीन जातियों पर आधिपत्य स्वाभाविक है आदि—का जर्मन जाति ने हार्दिक समर्थन किया।

अन्य देशों में इस विचारधारा को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो सका। परन्तु सभी निरपेक्ष शासकों की मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में यह विचारधारा प्रबल थी कि राज्य का एक-मात्र आधार बाहुबल है। कुशल शासक भले ही अपनी मनोवृत्ति को डंके की चोट से घोषित न करें। यह कहना अनुचित न होगा कि प्रायः सभी साम्राज्यवादी इस मनोवृत्ति के हैं, भले ही वे अन्य शब्दजालों द्वारा अपने शोषण तथा शासन को आदर्श रूप देते हों। जॉनसन हिक्स (Joynson-Hicks) ने कहा था कि हमने भारतवर्ष को तलवार से जीता है और तलवार के बल पर अपने अधीन रखेंगे।

हाँ, यह तो प्रायः सत्य है कि अहिंसा द्वारा न किसी राज्य का संचालन हुआ है और न होगा ही। राज्य के संचालन के लिए बाहुबल नितान्त आवश्यक है। परन्तु राज्य के स्थायित्व का श्रेय केवल बाहुबल को ही नहीं है। यदि ऐसा होता तो शायद ब्रिटिश साम्राज्यवाद अभी तक ज्यों का त्यों बना रहता और हिटलरशाही विश्व में व्यापक रहती। जन-स्वीकृति राज्य के लिए नितान्त आवश्यक है। अन्य जनवादी दार्शनिकों ने भी इस विचार का प्रचार किया। रूसो ने कहा था कि बाहुबल अधिकार का आधार नहीं है। ग्रीन के मतानुकूल जन-इच्छा ही, न कि बाहुबल, राज्य का आधार है। बहुलवादी लॉस्की के मतानुकूल—राज्य-भक्ति नैतिक क्षमता की पूर्ति पर आश्रित है। अतः राज्य के लिए बाहुबल आवश्यक है, परन्तु बाहुबल का ध्येय उच्चतम होना चाहिये। बाहुबल साधन है, जनहित साध्य। यदि साध्य न्याययुक्त नहीं होगा तो साधन के आधार पर कोई भी राज्य अधिक समय तक नहीं टिक सकता।

जनस्वीकृति का सिद्धान्त - अनुबन्धवाद की पृष्ठभूमि में यह विचारधारा थी कि राज्य का जन्म जन-स्वीकृति द्वारा हुआ है। इस सिद्धान्त का आज प्रतिवाद हो गया है। (अनुबन्धवाद वाला अध्याय देखिये)। रूसो, ग्रीन तथा लॉस्की ने भी जनहित तथा जनस्वीकृति को उच्च स्थान दिया। इस सम्बन्ध में यह कहना पर्याप्त होगा कि बिना बाहुबल के सुव्यवस्था असम्भव है। (इस सम्बन्ध में लॉस्की के दर्शन की आलोचना उपयुक्त होगी—बहुलवाद वाला अध्याय देखिये)।

उपयोगितावादी सिद्धान्त—मध्य १८वीं सदी में ह्यूम (David Hume) ने राज्योत्पत्ति का श्रेय उपयोगिता को दिया था। अनुभव से व्यक्ति को एक वस्तु

उपयोगी लगती है। वह उसे ग्रहण करता है। इसी प्रकार अति प्राचीन मनुष्य को सामाजिक-जीवन उपयोगी लगा। उसने सामाजिकता अपनायी और राज्य की स्थापना की, यह सिद्धान्त अधिक प्रचलित न रहा। वैसे तो, १८ तथा १९वीं सदी के कई वेत्ताओं ने ह्यूम तथा बेन्थम का अनुकरण करते हुये उपयोगिता को सुव्यवस्था का ध्येय दिया तथा उसका ध्येय बताया था।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त—प्रथम अध्याय में कहा गया था कि रूसो के मतानुकूल वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप शोषक और शोषित वर्गों का जन्म हुआ। शोषक-वर्ग ने अपनी आर्थिक सत्ता को दृढ़ करने के लिए राज्य की स्थापना की। इस सम्बन्ध में रूसो ने परम्परागत अनुबन्ध को नाममात्रीय श्रेय दिया। कार्ल मार्क्स ने अतिप्राचीन व्यवस्था को साम्यवादी बतलाया था। कृषि तथा गो-पालन के प्रादुर्भाव के फलस्वरूप वर्गों का जन्म हुआ, तथा वर्गों के जन्म के परिणाम-स्वरूप राज्योत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् राज्य की सत्ता अर्थ-पतियों के हाथ में गयी। (इस सम्बन्ध में साम्यवाद वाला अध्याय देखिये)। आलोचकों का कहना है कि राज्य तथा इतिहास वर्ग-सहयोग का भी प्रतीक है, केवल वर्ग-संघर्ष का ही नहीं। (समष्टिवाद वाला अध्याय देखिये)।

पैतृक तथा मातृक सिद्धान्त—१६ वीं, १७ वीं तथा १८ वीं सदियों में यूरोप वासियों ने कई पिछड़े हुए देशों में प्रवेश किया। इन देशों से सम्बद्ध कई यात्रिक रचनायें भी प्रकाशित की गयी। इन यात्रिक वर्णनों के फलस्वरूप यूरोपीय वेत्ताओं ने अतिप्राचीन मनुष्य के जीवन की कल्पना की थी। लॉक तथा रूसो के वर्णनों से यह स्पष्ट है। १८ वीं सदी में पूँजीपतियों को अपनी सत्ता दृढ़ बनाने के लिए उपयोगितावादी-सिद्धान्त अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुए। १९ वीं सदी की औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप वर्ग संघर्ष ने भीषण-रूप धारण किया। ऐसे वातावरण में मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष का जन्म हुआ। १९ वीं सदी में नृतत्व विज्ञान (Anthropology) का विकास हुआ। असभ्य तथा अर्ध-सभ्य जातियों का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया। इसी वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर अति प्राचीन मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन की कल्पना की गयी। इस आधार पर दो मुख्य—पैतृक तथा मातृक—सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी।

सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) पैतृक-सिद्धान्त का प्रमुख दार्शनिक था। उसने अतिप्राचीन भारतीय आर्य परिवार का अध्ययन किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि कुटुम्ब ही मनुष्य जाति की सर्वप्रथम सामाजिक संस्था थी। कुटुम्ब में पिता सर्वश्रेष्ठ

एवं सर्वाधिकारी था। क्रमशः एक कुटुम्ब का कई कुटुम्बों में विकास हुआ। इस प्रकार वंश प्रथा का जन्म हुआ। प्रमुख वृद्ध ही वंश का मुखिया होता था। वंशों ने धीरे-धीरे जन (जाति) का रूप धारण किया।

पहले ये जन किसी निश्चित स्थान पर नहीं रहते थे। कृषि प्रथा तथा गोपालन के प्रादुर्भाव से ये जन एक निश्चित भूभाग में रहने लगे। इन्होंने जनपदों की स्थापना की। प्राचीन भारत में ऐसे कई जनपद थे। बौद्ध काल में हिमालय की तराई में नव प्रसिद्ध जनपद थे। महात्मा बुद्ध शाक्य जनपद के सदस्य थे। इन जनपदों का शासन कुलीनतंत्र द्वारा होता था। कुलीन जन प्रजातंत्रीय ढंग से महत्वपूर्ण निर्णय एवं शासन करते थे। बौद्ध साहित्य इसका साक्षी है। यही जनतंत्रीय कुलीन शासन इन जनपदों की शक्ति का आधार था। भगवान बुद्ध ने इसकी प्रशंसा की थी और इसी के आधार पर अपने धर्म का संगठन एवं संचालन किया था। यही जनवादी सहयोग लिच्छवि जनपद को गुप्त काल तक समृद्ध बनाये रख सका। पंजाब तथा राजपूताना में भी ऐसे शक्तिशाली जनपद विद्यमान थे। ग्रीक-साहित्य इसका साक्षी है। महात्मा बुद्ध के पिता शाक्य जनपद के नेता थे। कुछ जनपदों ने बाहुबल द्वारा अपनी सत्ता का प्रादेशिक क्षेत्र बढ़ाया। ये महाजनपद के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। बौद्ध काल में ऐसे छोटे-बड़े १६ जनपद विद्यमान थे। मगध और कौशल इनमें उल्लेखनीय हैं। इन महाजनपदों में प्रायः राजतंत्र ही स्थापित था। अतः समयानुकूल धीरे-धीरे परिवार से कुल, कुल से जन, जन से जनपद तथा जनपद से महाजनपद का विकास हुआ। जनपद की स्थिति में राज्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। महाजनपद साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का निर्देशक हैं। फलतः मौर्य काल में साम्राज्य की स्थापना हुई। कुछ ऐसा ही इतिहास प्राचीन ग्रीक-युग का भी था। स्पार्टन जन से स्पार्टा, एथीनियन जन से एथेन्स और कोरिन्थियन जन से कोरिन्थ नामक जनपदों की स्थापना हुई।

इस सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि राज्य कुटुम्ब का विकसित प्रतिबिम्ब है तथा शासक का राज्य में वही स्थान है जो परिवार में पिता का। रुधिर की एकता ही समाज तथा राज्य की जननी है।

पैतृक-सिद्धान्त के विपरीत कुछ समाज-शास्त्रियों ने मातृ-प्रधान कुटुम्ब को अति प्राचीन एवं सर्व-प्रथम संस्था बताया। ये वेत्ता यह भी स्वीकार करते हैं कि राज्य परिवार का विकसित प्रतिबिम्ब है। परन्तु इनके मतानुकूल अति प्राचीन असभ्य समाज में अस्थायी समागम की प्रथा व्याप्त थी। बहुपतित्व की प्रथा विद्यमान थी। पत्नीत्व-प्रथा ने, जो पितृ-प्रधान परिवार की विशेपता थी, कालांतर में मानव इतिहास में प्रवेश किया। ये

समाजशास्त्री वेत्ता इस परिणाम पर आस्ट्रेलिया तथा भारतवर्ष आदि देशों के मूल निवासियों के जीवन के अध्ययन द्वारा पहुंचे। उनका कहना था कि माता ही, पिता नहीं, परिवार की एकता का प्रतीक थी। वही संगठन कर्त्ता थी। बच्चे माता को ही जानते थे, पिता को नहीं और उसी की छत्र-छाया में फलते-फूलते थे। शायद इसी परम्परा के आधार पर भारतवर्ष में कई स्त्री-राज्य पाये जाते थे। कहीं-कहीं अभी भी मातृ सम्पत्ति प्रथा प्रचलित है। इस सिद्धान्त का प्रमुख वेत्ता जेंक्स (Jenks) था।

राज्य को परिवार का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता। दोनों ध्येय, रूप तथा संचालन की दृष्टि से भिन्न हैं। परिवार का आधार प्रेम तथा सहयोग है। राज्य का आधार ऐसा नहीं। यह भी निश्चित नहीं है कि अति प्राचीन परिवार किस प्रकार का था—पितृ-प्रधान या मातृ-प्रधान। ये सिद्धान्त अन्य सामाजिक प्रवृत्तियों, जिन्होंने राज्योत्पत्ति में योग दिया, को महत्व नहीं देते।

विकासवादी-सिद्धान्त—कुछ वेत्ताओं का मत है कि राज्योत्पत्ति शनैः शनैः हुई। बर्जेस, (Burgess) मैकआइवर (Mc Iver) आदि इस विचार के हैं। कई प्रवृत्तियों के योग से राज्य जैसी उत्कृष्ट सामाजिक संस्था का प्रादुर्भाव हुआ होगा। राज्य मानव की सामाजिक चेतना की चरम सीमा का प्रतीक है। ऐसी संस्था का जन्म न तो एक दिन में, न किसी एक प्रवृत्ति द्वारा और न कुछ मुट्ठी भर व्यक्तियों द्वारा ही सम्भव है। ऐसी सामाजिक संस्था के जन्म का श्रेय अन्य सभी सामाजिक प्रवृत्तियों को है। इन प्रवृत्तियों में विवेकशीलता, सजातीयता, धर्म, राजनीतिक चेतना, भौतिक प्रगति आदि उल्लेखनीय हैं।

मनुष्य विवेकशील प्राणी है। विवेक द्वारा वह प्रकृति को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न ही मानव जाति के इतिहास की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। अति प्राचीन मनुष्य ने धीरे-धीरे विज्ञान की दृष्टि से प्रगति की। उसने उत्पादन के यंत्रों का आविष्कार किया। कृषि तथा गोपालन का प्रादुर्भाव हुआ। शोषक और शोषित श्रेणियों का जन्म हुआ। साथ ही साथ जन संख्या की वृद्धि भी निरन्तर होती रही। सजातीयता, जो मानव की विशेषता है, के फलस्वरूप कुछ लोग एक जन में एकत्र हुए। विज्ञान, उत्पादन और जन संख्या की वृद्धि के फलस्वरूप एक जन ने अन्य जनों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की या अन्य जनों का मुकाबला करने का प्रयत्न किया। इस सिलसिले में यह आवश्यक विदित हुआ होगा कि सामाजिक एवं राजनीतिक संगठन तथा सुव्यवस्था अनिवार्य है। इस राजनीतिक चेतना के परिणाम-स्वरूप अन्य सुव्यवस्था के

यंत्रों की धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार स्थापना हुई होगी। कालांतर में राज्य का जन्म हुआ होगा। ऐसे विकास में राज्योत्पत्ति की कोई भी तिथि निश्चित् नहीं की जा सकती है। सुव्यवस्था को स्थायी बनाने के लिए धर्म का भी प्रयोग अवश्य किया गया होगा। उस की आड़ में शासक तथा शोषक वर्ग अपना आधिपत्य स्थायी रूप से स्थापित कर सका होगा। अति प्राचीन मनुष्य के जीवन में धर्म का प्राधान्य था।

अतः राज्य का जन्म धीरे-धीरे हुआ होगा। राज्योत्पत्ति का श्रेय किसी भी एक घटना या मनोवृत्ति को नहीं दिया जा सकता। उक्त मनोवृत्तियों में से कोई मनोवृत्ति किसी देश में प्रबल रही होगी तो कोई अन्य देश में। सभी राज्यों की उत्पत्ति बिल्कुल समान रूप से नहीं हुई होगी। उपरोक्त संक्षिप्त वर्णन केवल उदाहरण मात्र है। वस्तुतः न तो राज्य ही और न मनुष्य ही मशीन की भाँति है। वे एक ही ढाँचे में नहीं ढाले जा सकते और न उनका जन्म, संचालन, संगठन आदि एक ही प्रकार का है।

सहायक पुस्तकें

CHAPTER I

Barker, E.—*Social Contract (Locke, Hume and Rousseau).*
Bowle, John—*Hobbes and his Critics.*
Catlin, G. E. G.—*Thomas Hobbes.*
Cobden, A—*Rousseau and Modern State.*
Dunning, W. A.—*A History of Political Theories (Vols. II & III).*
Graham, W.—*English Political Philosophy from Hobbes to Maine.*
Hearnshaw, F. J. C.—*The Social and Political Ideas of Some Great Thinkers of the 16th and 17th Centuries.*
Hobbes, T.—*The Leviathan.*
Laird, John—*Hobbes.*
Laski, H. J.—*Political Thought in England (Locke to Bentham).*
Locke, J.—*The Two Treatises on Civil Government.*
Osborn,—*Rousseau and Burke.*
Rousseau, J. J.—*The Social Contract.*
Rolland, R.—*Rousseau.*
Sabine, S. G.—*A History of Political Theory.*
Strauss, Leo—*The Political Philosophy of Hobbes.*
Stephen, Leslie—*Hobbes.*
Vaughan, C. E.—*Studies in the History of Political Philosophy.*
—*Political Writings of J. J. Rousseau.*
Wright, E. H.—*The Meaning of Rousseau.*

CHAPTER II

Barker, E.—*Political Thought in England from Herbert Spencer to the Present Day.*
Bentham, J.—*A Fragment on Government.*
Brinton, C.—*English Political Thought in the 19th Century.*
Burns, C. D.—*Political Ideas*
Coker, C. D.—*Recent Political Thought.*
Davidson, W. L.—*Political Thought in England from Bentham to Mill.*
Dunning, W. A.—*A History of Poltical Theories (Vol. III).*
Graham, W.—*English Political Philosophy from Hobbes to Maine.*

Hearnshaw, F. J. C.—*Social and Political Ideas of the Revolutionary Era.*
Joad, C. E. M.—*Introduction to Modern Political Theory.*
Laski, H. J.—*The Rise of European Liberalism.*
MacCunn, J.—*Six Radical Thinkers.*
Mill, J. S.—*Utilitarianism, Liberty and Representative Government.*
Ritchie, D. G.—*Principles of State Interference.*
Sabine, S. G.—*History of Political Theory.*
Stephen, L.—*The English Utilitarians.*
—*History of English Thought in the 18th Century.*
Wallas, G.—"*Bentham as Political Inventor*" *in the Contemporary Review.*
—"*Bentham*" *in the Political Science Quarterly.*

CHAPTER III

Austin, J.—*The Province of Jurisprudence Determined.*
Brown, J.—*The Austinian Theory of Law.*
Dicey, A. V.—*Law of the Constitution.*
Duguit, L.—*Law in the Modern State.*
Dunning, W. A.—*A History of Political Theories (Vol. III).*
Graham, W.—*English Political Philosophy from Hobbes to Maine.*
Gray, J. C.—*The Nature and Source of Law.*
Maine, H. S.—*Early History of Institutions.*
Pound, Roscoe—*An Introduction to the Philosophy of Law.*
Ridges—*Constitutional Law of England.*
Vinogradoff, P.—*An Introduction to the Philosophy of Law.*

CHAPTER IV

Barker, E.—*Political Thought in England from Spencer to the Present Day.*
Bosanquet, B.—*Philosophical Theory of the State.*
Bradley, F. H.—*Ethical Studies.*
Carritt, E. F.—*Morals and Politics.*
Chin, Y. L.—*The Political Theory of T. H. Green.*
Dewey, J.—*German Philosophy and Politics.*
Dunning, W. A.—*A History of Political Theories (Vol. III).*

Green, T. H.—*Principles of Political Obligation.*
Haldar, H.—*Neo-Hegelianism.*
Hearnshaw, F. J. C.—*Representative Thinkers of the Victorian Age.*
Hegel, G. F. W.—*Philosophy of History.*
—*Philosophy of Rights.*
Hobhouse, L. T.—*Metaphysical Theory of the State.*
Kant, E.—*Critique of Pure Reason.*
MacCunn, J.—*Six Radical Thinkers*
McGovern, W. M.—*From Luther to Hitler.*
Muirhead, J. H.—*The Service of State.*
Murray, R. H.—*English Social and Political Thinkers of the 19th Century*
Ritchie, S. G.—*The Principles of State Interference.*
Sabine, S. G.—*A History of Political Theory.*
Vaughan, C. E.—*Studies in the History of Political Philosophy (Vol. II).*

CHAPTER V

Coker, F. W.—*Recent Political Thought.*
Dobb, M.—*Political Economy of Capitalism.*
Engels, F.—*Socialism, Utopian and Scientific.*
The Origin of Family, Private Property and State.
Ludwig Feuerbach.
Anti-Duehring.
Johnson, H.—*The Socialist Sixth of the World.*
Lenin, V. J.—*The State and Revolution.*
Imperialism.
Life and Teachings of Karl Marx.
Collected Works in Two Volumes.
Mao-Tse-Tung—*Prcople's Democracy.*
Marx, K.—*Revolution and Counter-Revolution.*
Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte.
Critique of Political Economy.
Value, Price and Profit.
Wage, Labour and Capital.
Capital.
The Poverty of Philosophy.

Marx, K. and Engels F.—*The Communist Manifesto.*
Sloan, P.—*How the Soviet State is run.*
Stalin, J.—*Problems of Leninism.*
Marxism and National Question.
Strachey, J.—*The Nature of the Capitalist Crisis.*
Theory and Practice of Socialism.
Trotsky, L.—*The History of Russian Revolution.*
Revolution Betrayed.
Varga, E.—*Two Systems.*
Webb, S. and B.—*Soviet Communism.*

CHAPTER VI

Bakunin, M.—*God and the State.*
Coker, F. W.—*Recent Political Thought.*
Dunning, W. A.—*A History of Political Theories (Vol. IV).*
Joad, C. E. M.—*Introduction to Modern Political Theory.*
Godman, E.—*Anarchism and Other Essays.*
Kropotkin, P. A.—*The Conquest of Bread.*
Memoirs of a Revolutionist.
Fields, Factories and Workshops.
Mutual Aid, a Factor of Evolution.
Proudhon, P. J.—*What is Property.*
Tolstoi, Count Leo—*What I believe.*
The Kingdom of God within You.

CHAPTER VII

Attlee, C. R.—*Labour Party in Perspective.*
Attlee, C. R. and others—*Labour's Aim in War and Peace.*
Beer, M.—*History of British Socialism.*
Bernstien, E.—*Evolutionary Socialism.*
Bevin, E.—*The Balance Sheet of the Future.*
Borkenau, F.—*Socialism, National and International.*
Citrine, W. M.—*The Trade-Union Movement of Great Britain.*
Cole, G. D. H.—*Fabian Socialism.*
A short History of the British Working Class Movement.
British Trade Unionism Today.
What Marx Really Meant.

Coker, F. W.—*Recent Political Thought.*
Cripps, S.—*Democracy Up to Date.*
Dalton, H.—*Practical Socialism for Britain.*
Durbin, E. F. M.—*The Politics of Democratic Socialism.*
Fabian Essays
Graves, Sally—*A History of Socialism.*
Grey, A.—*The Socialist Tradition.*
Jenning, I.—*Parliamentary Reform.*
Kautsky, K.—*The Labour Revolution.*
Laidler, H. W.—*Social-Economic Movements.*
Laski, H. J.—*The Labour Party, the War and the Future.*
Marx and Today
Reflections on the Revolution in our Time.
Democracy in Crisis.
Faith, Reason and Civilisation.
State, in Theory and Practice.
MacDonald, J. R.—*The Socialist Movement.*
Pease, E.—*The History of the Fabian Society.*
Power, A New Social Analysis.
Shaw, G. B. S.—*The Intelligent Women's Guide to Socialism and Capitalism.*
Saposs, David J.—*The Labour Movement in Post-war France.*
Socialism, the British Way—*edited by D. Munro.*
Strachey, J.—*Theory and Practice of Socialism.*
How Socialism Works.
Program for Progress.
Socialism Looks Forward.
Sweezy, P. M.—*The Theory of Capitalist Development.*
Tawney, R. H.—*The Acquisitive Society.*
Webb, Sidney & Beatrice—*The History of Trade Unionism.*
A Constitution for the Socialist Commonwealth of Great Britain.

CHAPTER VIII

Coker, F. W.—*Recent Political Thought.*
Cole, G. D. H.—*World of Labour.*
Dunning, W. A.—*A History of Political Theories (Vol. IV.)*
Estey, J. A.—*Revolutionary Syndicalism,*

Joad, C. E. M.—*Introduction to Modern Political Theory.*
Laidler, H. W.—*Social-Economic Movements.*
Levine, Louis—*Syndicalism in France.*
MacDonald, R.—*Syndicalism.*
Pouget, M.—*Sabotage.*
Russell, B.—*Roads to Freedom.*
Saltau, R.—*French Political Thought in the 19th. Century.*
Saposs, D. J.—*Labour Movement in Post-war France.*
Sorel, G.—*Reflections on Violence.*

CHAPTER IX

Beer, M.—*History of British Socialism.*
Carpenter, N.—*Guild Socialism.*
Coker F. W.—*Recent Political Thought.*
Cole, G. D. H.—*Labour in the Commonwealth.*
Guild Socialism Restated.
Self-Government in Industry.
Social Theory.
Dunning, W. A.—*A History of Political Theories (Vol. IV)*
Figgis, J. N.—*Churches in the Modern State.*
Hobson, S. G.—*National Guilds.*
National Guilds and the State.
Guild Principles in War and Peace.
Joad, C. E. M.—*Introduction to Modern Political Theory.*
Laidler, H. W.—*Social-Economic Movements.*
MacDonald, J. R.—*Socialism, Critical and Constructive.*
Orage, A. R.—The *Alphabets of Economics.*
Penty, A. J.—*Old Worlds for New.*
Reckett, M. B. and Bichhoffer, C. E.—*Meaning of National Guilds.*
Russell, B.—*Roads to Freedom.*
Tawney, R. H.—*The Acquisitive Society.*

CHAPTER XI

Barker, E.—*Political Thought in England from Herbert Spencer to the Present Day.*
Coker, F. W.—*Recent Political Thought.*

Cole, G. D. H.—See List under Chapter IX.
—*The Future of Local Government.*
Dunning, W. A.—*A History of Political Theories*, (*Vol. IV.*)
Figgis, J. N.—*Churches in the Modern State.*
Follett, M. P.—*The New State.*
Hsiao, Kung-Chuan—*Political Pluralism.*
Krabbe, H.—*The Modern Idea of the State.*
Laski, H. J.—*The Problem of Sovereignty.*
Authority in the Modern State.
Foundations of Sovereignty and Other Essays.
A Grammar of Politics.
Lindsay, A. D.—'*The State in Recent Political Theory*' in *Political Quarterly, 1914.*
MacIver, R. M.—*The Modern State.*
Maitland, F. W.—*Introduction* in Gierke's *Political Theories of the Middle Ages.*
Pal, B. C.—*The Soul of India.*
Nationality and Empire.
Ray, P. C.—*The Life and Times of C. R. Das.*

CHAPTER XII & XIII

Ashton, E. B.—*The Fascist, His State and His Mind.*
Brady, R.—*The Spirit and Structure of German Fascism.*
Coker, F. W.—*Recent Political Thought.*
Dutt, R. P.—*Fascism, Social Revolution.*
Elliot, W. Y.—*The Pragmatic Revolt in Politics.*
Fimer, Dr. H.—*Mussolini's Italy.*
Heiden, K.—*History of National Socialism.*
Hitler, A.—*Mein Kampf.*
Marx, F. M.—*Government in the Third Reich.*
McGovern, W. M.—*From Luther to Hitler.*
(इस पुस्तक से लेखक को अध्याय ४, १२ एवं १३ के कुछ भागों के स्पष्टीकरण में पर्याप्त सहायता मिली है)
Mussolini, B.—*My Autobiography.*
Oakshot, M.—*Social and Political Doctrines of Contemporary Europe.*
Rocco, A.—*The Political Doctrine of Fascism.*

Sabine, S. G.—*A History of Political Theory.*
Salvemini, G.—*Under the Axe of Fascism.*
Schuman, F. L.—*The Nazi Dictatorship.*
Spencer, H. R.—*Government and Politics of Italy.*

CHAPTER XIV

Barker, E.—*Reflections on Government.*
Brown, I.—*The Meaning of Democracy.*
Bryce, J.—*Modern Democracies.*
Burns, C. D.—*Democracy, Its Defects and Advantages.*
Carpenter, W. S.—*Democracy and Representation.*
Coker, F. W.—*Recent Political Thought.*
Cripps, S —*Democracy Up to date.*
Faguet, E.—*The Cult of Incompetence*
Jennings, I.—*Parliamentary Reform.*
Laski, H. J.—*Democracy at the Crossroads*
Parliamentary Government in Great Britain.
Lecky, W. E. H.—*Democracy and Liberty.*
Lindsay, A. D.—*The Essentials of Democracy.*
Mill, J. S.—*Considerations on Representative Government.*
Schumpeter, J. A.—*Capitalism, Socialism and Democracy.*
Smith, T. V.—*The Democratic Way of Life.*
Wells, H. G.—*Democracy under Revision.*

विशिष्ट शब्दों की सूची

अ

अतिरिक्त मूल्य—Surplus value
अर्थक्रिया-कारित्ववाद—Pragmatism
अदेय—Inalienable
अद्वैतवाद—Monism
अधिनायकवाद—Dictatorship
अनमनीय—Rigid
अनुपार्जित धन—Unearned income
अनुपातिक प्रतिनिधित्व—Proportional Representation
अनुबन्ध—Contract
अनुबन्धवाद—Contractualism
अन्धश्रद्धा—Myth
अराजकता—Anarchy
अराजकतावाद—Anarchism
अवश्यम्भावी—Inevitable
अविभाज्य—Indivisible
अविवेकवाद—Irrationalism

आ

आचार शास्त्र—Ethics
आत्मगत (व्यक्ति विषयक)—Subjective
आदर्शवाद—Idealism
आवश्यक विकार—Necessary evil
आश्रय—Sanction

इ

इच्छा (सब की)—Will of All
इच्छा (स्वार्थी)—Actual Will
इच्छा (सामाजिक या विवेकशील)—Real Will
इच्छा (सामान्य)—General Will
इतिहासवादी—Historical

उ

उदारवाद—Liberalism
उपक्रम—Initiative

ए

एकात्मक राज्य—Unitary State
एकाधिकारवाद—Dictatorship
एकाधिकारी—Dictator
एकत्रीकरण—Concentration

क

कर—Tax
कार्यकाल—Term of office
काल्पनिक—Utopian
कुलीनतंत्र—Aristocracy
केन्द्रीकरण—Centralisation

ग

गण राज्य—Republican State

गुट—Clique

गुणात्मक—Qualitative

छ

छापामार युद्ध-प्रणाली—Guerilla Warfare

ज

जन—Tribe

जनतंत्रीय केन्द्रीकरण—Democratic Centralism

जनमत—Public Opinion

जनमत-संग्रह—Referendum

जनवाद—Democracy

जातिवाद—Racialism

जाति सिद्धान्त—Racial Theory

जीवशास्त्र—Biology

त

तोड़फोड़—Sabotage

द

दीर्घकाय—Leviathan

दैवांश सिद्धान्त—Divine Origin Theory of State

दैवी अधिकार का सिद्धान्त—Divine Right Theory

द्वन्द्ववाद—Dialectic

द्वन्द्वात्मक—Dialectical

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—Dialectical Materialism

ध

धर्म-सुधार आन्दोलन—The Reformation

धारा सभा (छोटी)—Lower House

धारा सभा (बड़ी)—Upper House

न

नकारात्मक स्वतंत्रता-Negative Liberty

नमनीय—Flexible

नागरिक समाज—Civil Society

नागरिक भावना—Civic Sense or Consciousness

नात्सीवाद—Nazism

नाममात्रीय—Nominal

नियमप्रधान शासन—The Rule of Law

निरंकुश—Absolutist

निरपेक्षता—Absolutism

निर्वाचक—Elector

निष्पक्ष लेख—Trust Deed

निश्चित जनश्रेष्ठ—Determinate Human Superior

नैतिक क्षमता—Moral Adequacy

नैसर्गिक नियम—Natural Law

नैसर्गिक या प्रकृतिदत्त अधिकार—Natural Right

नौकरशाही—Bureaucracy

न्यायपरायणता—Sense of Justice

प

परम्परावाद—Traditionalism

पंचगामी या पांचवा दस्ता—Fifth Column

पितृ सिद्धान्त —Patriarchal Theory

पुनः जागरण—The Renaissance

पुनरावर्तन—Recall

पुनरुत्थान—Revival

पूँजीवाद, व्यापारिक—Commercial Capitalism

पूँजीवाद, व्यावसायिक—Industrial Capitalism

पूँजीवाद, महाजनी—Finance Capitalism

प्रगतिशील—Progressive

प्रतिवाद—Anti-thesis

प्रतिक्रियावादी या रूढ़िवादी-Conservative or Reactionary

प्रत्यक्ष चुनाव—Direct Election

प्रथाएँ —Schools of Philosophy

प्राकृतिक स्थिति—State of Nature

फ

फासी दल —Fascist Party

फासीवाद—Fascism

ब

बहुलवाद—Pluralism

बाहुबल—Force

भ

भ्रातृत्व—Fraternity

भोक्ता—Beneficiary or Consumer

भौतिकवाद—Materialism

म

मनोविज्ञान —Psychology

मानवतावाद—Humanitarianism

मानव-उन्नति-विषयक शास्त्र—Eugenics

मातृ सिद्धान्त—Matriarchal Theory

मात्रात्मक या परिमाणात्मक—Quantitative

मीमांसा—Jurisprudence

मुक्त व्यापार—Free Trade

य

यथार्थ-युक्त—Positive Good

यद्भाव्यम् नीति—The Laissez Faire Policy

र

रक्तहीन क्रान्ति-Bloodless or Glorious Revolution

रक्तमिश्रण—Mixture of Blood

रक्षित व्यापार—Protection

राजतंत्र—Monarchy

राज शास्त्र—Political Science

राज्य विधि—State Law

राजसत्ता—Sovereignty

रासि, राशि—Unit

ल

लार्ड सभा—The House of Lords

लौकिक नियम—Customary Law

व

वर्ग संघर्ष—Class Struggle
वर्ग सहयोग—Class Cooperation or Class Colaboration
वयस्क मताधिकार—Adult Franchise
वस्तुगत (पदार्थ विषयक)—Objective
वाद—Thesis
वामपक्षी दल—Leftist Party
वास्तविक सत्ताधारी—Actual Sovereign
विकासवाद—Evolutionary
विकेन्द्रीकरण—Decentralisation
विवेकवाद—Rationalism
विश्लेषणवादी—Analytical
विश्वबन्धुत्व—Universal Brotherhood
विश्वशान्ति—Universal Peace
विश्वात्मा—World Spirit
विशुद्ध विवेक—Pure Reason
वैधानिक नीति—Constitutional Method
व्यक्तिवाद—Individualism
व्यक्तिवादी—Individualist
व्यवस्थापिका सभा—Legislature
व्यावसायिक क्रान्ति—Industrial Revolution
व्यावसायिक सभ्यता—Industrial Civilisation

श

शक्ति सिद्धान्त—Force Theory
शक्ति विभाजन—Separation of Powers
शनैः-शनैः-वाद—Gradualism
श्रम सिद्धान्त—Labour Theory
श्रम-जन्य-मूल्य-सिद्धान्त—Labour Theory of Value
श्रमिक संघ—Trade Union
श्रेणी-समाजवाद—Guild Socialism

स

संकट (आर्थिक)—Economic Crisis
सकारात्मक स्वतंत्रता-Positive Liberty
संक्रमण काल—Transitional Period
संघवाद—Syndicalism
संघ राज्य वा संघात्मक राज्य—Federal State
सत्ताधारी—Sovereign
समष्टि—Whole
समष्टिवाद—Callectivism
समाजवाद—Socialism
समाजीकरण—Socialisation
समाजशास्त्र—Social Science
संरक्षण—Trust
सर्वश्रेष्ठ—Supreme
सर्वव्यापक नैतिक नियम—Universal Moral Law
सर्वाधिकारवाद—Totalitarianism
सर्वव्यापक विचारतत्व—Universal Mind
सर्वहारा—Proletariat
संवाद—Synthesis
संसदीय—Parliamentary

संशोधनवाद—Revisionism
साधन—Means
साध्य—End
सामन्तवादी—Feudalist
सामन्तशाही—Feudalism
साम्यवाद—Communism
सामाजिकता—Sociability
सामाजिक-परिस्थिति-जन्य मूल्य सिद्धान्त—Theory of Community-created Value
सामाजिक डारविनवाद—Social Darwinism
साम्राज्यवाद—Imperialism
सावयव—Organism
सावयव सिद्धान्त—Organic Theory
सार्वजनिक विधेयक—Public Bill
सुप्त सत्ताधारी—Sleeping Sovereign
सुधारवाद—Reformism
सुव्यवस्था—Order
सैन्यवाद—Militarism
स्थायित्व—Permanence
स्थानवाद—Localism

ह

हिटलरशाही—Hitlerism

अनुक्रमणिका